स्वतंत्रता परवर्ती हिन्दी विज्ञान लेखन

खण्ड-2

(1971-2000)

सम्पादक

डॉ. शिवगोपाल मिश्र

डॉ. विष्णुदत्त शर्मा

शोध प्रकाशन अकादमी

5/48, वैशाली

गाजियाबाद

स्वतंत्रता परवर्ती हिन्दी विज्ञान लेखन

(भाग-2)

(1971-2000)

संपादक

डॉ. शिवगोपाल मिश्र

डॉ. विष्णुदत्त शर्मा

शोध प्रकाशन अकादमी

5/48, वैशाली

गाजियाबाद

प्रायोजक :

विज्ञान परिषद् प्रयाग

महर्षि दयानंद मार्ग

इलाहाबाद (उ.प्र.)-211002

प्रकाशक :

शोध प्रकाशन अकादमी

5/48, वैशाली,

गाजियाबाद (उ.प्र.)-201010

एकमात्र वितरक :

भारतीय प्रकाशन संस्थान

4855/24, अंसारी रोड, दरियागंज,

नई दिल्ली-110002

ISBN : 81-88402-03-6

मूल्य : 450.00 रुपये

प्रथम संस्करण : 2003

शब्द-संयोजन : क्वालिटी प्रिंटर्स, शाहदरा, दिल्ली-93

मुद्रक : त्रिवेणी ऑफसेट, नवीन शाहदरा,

दिल्ली-32 फोन : 2288175

SWATANTRATA PARAVARTI HINDI VIGYAN LEKHAN

(1971-2000) *[An Anthology of selected articles on Popular Science]*

Editors : Dr. Shiv Gopal Mishra

Dr. Vishnu Datt Sharma

Price : Rs. 450.00

भूमिका

।वगत 50 वर्षों में हिन्दी में प्रचुर विज्ञान साहित्य प्रकाशित हुआ है। स्वतन्त्रता प्राप्ति के पूर्व यद्यपि विज्ञान विषयक एकमात्र पत्रिका 'विज्ञान' थी किन्तु सुधा, सरस्वती, माधुरी, वीणा, विशाल भारत इत्यादि साहित्यिक पत्रिकाओं में विज्ञान से सम्बन्धित सामग्री लगातार छप रही थी। इसका विस्तृत विवरण हमने 'हिन्दी में विज्ञान लेखन के सौ वर्ष' (प्रकाशक विज्ञान प्रसार, नयी दिल्ली, 2000) में दे चुके हैं।

स्वतन्त्रता प्राप्ति के बाद हिन्दी में नयी-नयी वैज्ञानिक पत्रिकाएँ प्रकाश में आती रहीं और कुछ साप्ताहिक पत्रों ने भी विज्ञान सामग्री को प्रमुखता दी। फलस्वरूप अनेक नये विज्ञान लेखक लेखन-क्षेत्र में—पत्रकारिता क्षेत्र में उतरे। इसका परिणाम यह हुआ कि स्वतन्त्रता परवर्ती विज्ञान साहित्य की पुष्कल राशि प्रकाशित रूप में उपलब्ध है। अतः हमने आवश्यक समझा कि स्वतन्त्रता परवर्ती प्रतिनिधि रचनाओं को संग्रहीत किया जाए। इसके लिए हमने हिन्दी में विज्ञान लेखन को जिन **चार काल** खण्डों में नियोजित करने का प्रस्ताव रखा था वे थे—

(1) प्रारम्भिक बीज वपन काल	1840-1914 तक
(2) प्रस्फुटन या आलोडन काल	1915-1949 तक
(3) सर्वोत्थान काल	1950-1970 तक
(4) आधुनिक/परिपक्वन काल	1971 से आगे

इनमें से प्रथम **दो कालखण्डों** की सामग्री की झाँकी, जो एक सौ वर्षों की है, 'हिन्दी में विज्ञान लेखन के सौ वर्ष' (प्रकाशन वर्ष 2000 ई.) में प्रस्तुत की जा चुकी है।

अगले **दो कालखण्ड** जो स्वतन्त्रता परवर्ती हैं, उनमें से तृतीय काल खण्ड (1950 से 1970 तक) से सम्बद्ध प्रकाशित वैज्ञानिक रचनाओं में से 59 निबन्धों को चुनकर डॉ. शिवगोपाल मिश्र तथा डॉ. विष्णु दत्त शर्मा के सम्पादकत्व में विज्ञान परिषद, प्रयाग की ओर से 'स्वतन्त्रता परवर्ती हिन्दी विज्ञान लेखन भाग-1' (1950-70) प्रकाशित किया जा चुका है (प्रकाशक : शोध प्रकाशन अकादमी गाजियाबाद, 2002)। चतुर्थ काल खण्ड जो 1971 से प्रारम्भ होता है आगे तक के वर्षों को समेटे है। किन्तु सुविधा की दृष्टि से हमने 2000 ई. तक को ही सम्मिलित किया है। इस काल खण्ड में नवनीत (8), कादम्बिनी (3), वीणा (1), अतएव (1), जनमोर्चा (1) सुमन सौरभ (1) जैसी साहित्यिक

पत्रिकाओं तथा पत्रों में, और विज्ञान प्रगति (21), विज्ञान (28), आविष्कार, किसान भारती, खेती (1), वैज्ञानिक (1), विज्ञान गरिमा सिन्धु (5), मलेरिया पत्रिका (1) बी.एच.यू. पत्रिका, ऊर्जा दीप्ति (12), प्रतियोगिता दर्पण (2) जैसी वैज्ञानिक पत्रिकाओं में से कुल 81 निबन्ध, 7 कविताएँ, 2 कहानियाँ, एक नाटक तथा एक यात्रा विवरण सम्मिलित हैं। इस तरह 90 प्रतिनिधि रचनाएँ चुनी गईं। ये रचनाएँ 83 लेखकों की हैं और भाग-2 में संकलित की जा रही हैं।

इस चतुर्थ कालखण्ड को हमने 'आधुनिक काल' या 'परिपक्वन काल' कहा है। इस काल में विज्ञान कथाओं का सर्वाधिक उत्थान हुआ है। हमने नमूने के तौर पर अरविन्द मिश्र, राजीव रंजन उपाध्याय तथा इरफान ह्यूमन की कहानियों को स्थान दिया गया है। इस कालखण्ड में कविताएँ भी खूब लिखी गई हैं किन्तु नाटक, यात्रा वर्णन पर कम ध्यान गया है। एक अच्छी बात और है—हिन्दी के विज्ञान लेखक जैव प्रौद्योगिकी तथा सूचना प्रौद्योगिकी जैसे नवीनतम विषयों में प्रतिलेखन के प्रति सतर्क रहे हैं।

इस खण्ड के निबन्ध एक ओर जहाँ शैली की विविधता के सूचक हैं वहीं विषय-वस्तु की व्यापकता को भी दर्शाने वाले हैं। ये निबन्ध प्राचीन रसायन की परम्परा, स्वास्थ्य, चिकित्सा, प्रदूषण, सूचना तकनीकी, जैव प्रौद्योगिकी के अलावा विज्ञान की भाषा एवं अनुवाद जैसे विषयों को लक्षित करने वाले हैं। इन निबन्धों के लेखकों में कुछ द्वितीय कालखण्ड के हैं, तो कुछ तृतीय कालखण्ड के। किन्तु विशेष बात है कुछ नये लेखकों का उदय। ये हैं—सुभाष लखेड़ा, चक्रेश जैन, शिव प्रसाद कोस्ठा, काली शंकर, सतीश कुमार शर्मा, विजय कुमार उपाध्याय, विजय चितौरी, डी.डी. ओझा, रामचन्द्र मिश्र, चन्द्रशेखर पाण्डेय, शिवेन्द्र कुमार पाण्डेय, प्रेमचन्द्र श्रीवास्तव तथा हेमचन्द्र जोशी।

हिन्दी में विज्ञान लेखन की अपार सम्भावनाएँ हैं। आशा है यह संग्रह हिन्दी के विज्ञान लेखकों को ऐसे क्षेत्रों में लेखनी चलाने के लिए प्रेरित करेगा, जो अभी भी रिक्त हैं।

इस संकलन के लिए 1971-2000 के मध्य प्रकाशित विविध पत्र-पत्रिकाओं में से विज्ञान विषयक निबन्धों को ढूँढकर उनकी सूची बनाने और उनकी प्रतिलिपि करने में भी देवव्रत द्विवेदी तथा उमेश कुमार शुक्ल ने हमारी सहायता की है। इसके लिए वे साधुवाद के पात्र हैं। हम आभारी हैं उन समस्त पत्रिकाओं के जिनमें विज्ञान लेखकों की रचनाएँ प्रकाशित होती रही हैं और पाठकों का ज्ञानवर्धन करती रही हैं। हम उनमें से ही 90 प्रतिनिधि रचनाएँ छाँटकर इक्कीसवीं सदी के प्रबुद्ध पाठकों के मनोरंजनार्थ पुनः प्रस्तुत कर रहे हैं। आशा है पाठकों को इस सामग्री से हिन्दी में विज्ञान लेखन की सही दिशा का बोध हो सकेगा।

हम आभारी हैं डॉ. विष्णु दत्त शर्मा के जिन्होंने विज्ञान परिषद, प्रयाग द्वारा चलाई गई हिन्दी में विज्ञान लेखन की योजना को पूर्ण कराने का बीड़ा उठाया और विज्ञान परिषद् द्वारा प्रदत्त सामग्री का परिष्कार करके मेरे साथ सम्पादक का कर्त्तव्य-निर्वाह

ही नहीं किया अपितु शोध प्रकाशन अकादमी से 'स्वतन्त्रता परवर्ती हिन्दी विज्ञान लेखन' के दोनों खण्डों को प्रकाशित करने का पुण्य कार्य किया। एतदर्थ हम उनके प्रति भी धन्यवाद ज्ञापित करते हैं।

शिवगोपाल मिश्र
प्रधानमंत्री
विज्ञान परिषद प्रयाग

दिनांक : फरवरी 28, राष्ट्रीय विज्ञान दिवस 2003

भारतीय भाषाओं में विज्ञान-लेखन की परंपरा*

विज्ञान-लेखन की परंपरा आदिकाल से है। समय-समय पर बदलती भाषा के साथ यह विधा अन्य साहित्यिक विधाओं के साथ सन्निद्ध रही। प्रागैतिहासिक काल में यह चित्र रूप में थी और शनैः-शनैः मौखिक रूप से लिपिबद्ध होती गई। इस प्रकार विभिन्न भाषाओं और शैली को अपनाता हुआ यह लोक-विज्ञान निरंतर बढ़ता और समृद्धशाली होता रहा। अतः आरंभ में चित्रात्मक शैली और तदनंतर क्रमशः पद्य, पद्य-गद्य और गद्य रूप में अधिक विकसित हुआ। मानव के अंतर्मन में सन्निहित जिज्ञासा या कौतुहल की बलवती मनोवृति उसको विभिन्न ज्ञान-विज्ञान की ओर अनुप्राणित करती रही है। यह एक स्वाभाविक प्रवृत्ति है। इसके पीछे कोई निश्चित कारण का होना भी आवश्यक नहीं। जिज्ञासा की अतृप्त पिपासाओं को शांत करने के अतिरिक्त अज्ञान-सुलभ संदेह के निवारण हेतु मानव विविध ज्ञान की ओर उन्मुख होता है। इनमें लेखन-कला भी एक विज्ञान है। सुगमता की दृष्टि से विज्ञान-लेखन के इतिहास को निम्न पांच कालों में विभाजित किया जा सकता है :

आर्य काल	(2500 ई.पू....500 ई.पूर्व)
प्राकृत काल	(500 ई.पू....1000 ई.)
अपभ्रंश काल	(1000 ई....1300 ई.)
हिंदुस्तानी काल	(1300 ई....1800 ई.)
हिंदी काल	(1800 ई....)

भाषा व्यक्ति को समाज की ही देन है। भारतीय आर्य-भाषा का प्राचीनतम लिखित रूप 'ऋग्वेद' में उपलब्ध होता है। संसार के किसी भी भाषा-परिवार का इतना लंबा और अविच्छिन्न इतिहास नहीं है जो निरंतर लगभग 5000 वर्षों से अधिक का हो, साथ ही जिसमें संहिता-ग्रंथों, ब्राह्मण, उपनिषद्, रामायण, महाभारत, जैन-ग्रंथों, बौद्ध-ग्रंथों, प्राकृत-अपभ्रंश साहित्य के अतिरिक्त अनेक ज्ञान-विज्ञान, साहित्य, काव्य-शास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष, छंद-शास्त्र आदि के रूप में लिखित पुष्कल प्रमाण उपलब्ध हों।

* **'संकल्प'** हिंदी दिवस-1989 अंक, (हिंदी अकादमी, दिल्ली का वार्षिक प्रकाशन)

प्राचीन आर्य-भाषा को **'वैदिक संस्कृत'** अथवा **'छान्दस'** कहते हैं। विज्ञान-लेखन के इस काल का नामकरण **'आर्यकाल'** किया है। इसका साहित्य अत्यंत समृद्ध है। इस काल में यास्क, बौधायन, कात्यायन, आपस्तम्ब, वसिष्ठ, पाणिनी, जैमिनी आदि विद्वानों का प्रादुर्भाव हुआ। संहिताएं, ब्राह्मण, अरण्यक, उपनिषद्, वेद आदि इसके विकास के सूचक हैं। इस काल का विज्ञान-लेखन पद्य शैली में है। कालांतर में 'वैदिक संस्कृत' अत्यधिक जटिल और क्लिष्ट हो गई। जनसाधारण इसको समझने में कठिनाई अनुभव करने लगा अतः महर्षि पाणिनी ने व्याकरण द्वारा उसका पुनः संस्कार किया और फलस्वरूप 'संस्कृत' कहलाई। विविध ज्ञान-विज्ञान, काव्य, छंद शास्त्र, आयुर्वेद, ज्योतिष आदि की दृष्टि से इसका साहित्य अत्यंत समृद्ध है।

प्राचीन आर्य-भाषा के पश्चात् प्राकृत भाषा का प्रादुर्भाव हुआ। इसकी व्युत्पत्ति 'पल्लि' अथवा ग्राम या ग्रामीण भाषा से मानते हैं और इसीलिए इसको पालि भाषा भी कहते हैं। बौद्ध धर्म का अधिकांश इसमें ही निबद्ध है। इस काल में कौटिल्य का अर्थशास्त्र, भगवद्गीता, मनुस्मृति, याज्ञवल्क्यस्मृति, वराहमिहिर की पंच-सिद्धांतिका तथा विविध पुराणों की रचना की गई है। विष्णु पुराण (1/13/38-39) में राजा बेनु की बांह मथकर उससे पृथु की जन्म-कथा स्वस्थ कोशिकाओं से प्रतिरूप पैदा करने की एक विज्ञान-कथा है। मत्स्य पुराण (130वां अध्याय 28 से 30 श्लोक) में अंतरिक्ष युद्ध का वर्णन है। इस काल में अनेक वैज्ञानिक कथाएं यथा-निषेचित भ्रूण, यौन परिवर्तन, अंग प्रत्यारोपण, विमान निर्माण, सुपरसोनिक विमान आदि विस्तार से वर्णन की गई हैं।

प्राकृत काल में अपभ्रंश साहित्य का भी विकास हुआ। भारतीय परंपरानुसार इसको आभीरों की भाषा कहा जाता है। साहित्य का यह काल 1000 ई. से 1300 ई. तक रहा। कुछ विद्वान इस अवधि को प्राचीन हिंदी काल भी कहते हैं। यद्यपि हिंदी पर अपभ्रंश का प्रभाव है किंतु इसकी उत्पत्ति अपभ्रंश से नहीं मानी जा सकती। इस काल में कल्हण, भास्कराचार्य, श्रीधर, कुल्लूक, हेमाद्रि, अनिरुद्ध भट्ट, गोमेश्वर देव आदि अनेक विद्वान पैदा हुए जिन्होंने विज्ञान-लेखन कार्य किया। भास्कराचार्य **सिद्धांत-शिरोमणि** के प्रणेता हैं और यह रचना गणित की मूल्यवान धरोहर है। हेमाद्रि की **चतुर्वर्ग चिंतामणि** एक वैज्ञानिक निधि है जिसकी रचना लगभग 1270 ई. में हुई। वास्तव में अपभ्रंश, प्राकृत और आधुनिक आर्य भाषाओं की कड़ी न होकर आभीर, गुर्जर आदि जातियों के देश में बोली जाने वाली प्राकृत ही थी।

आधुनिक भारतीय आर्य भाषा का उद्‌भव 1000 ई. के लगभग माना जाता है यद्यपि इसका प्रारंभ इससे भी पूर्व हो चुका था। इस अवधि को दो कालों में विभाजित किया जा सकता है—**हिंदुस्तानी भाषाकाल** तथा **हिंदी भाषाकाल।**

हिंदुस्तानी-काल—यह नाम योरोपीय धर्म-प्रचारक पादरियों का दिया हुआ है। कुछ भाषा साहित्यकारों ने इसको गंवारी-भाषा कहते हुए आगरा और दिल्ली के आसपास की हिंदी फारसी तथा अन्य विदेशी शब्दों के मिश्रण से विकसित माना है। जनसाधारण

अपने दैनिक जीवन में हिंदुस्तानी का प्रयोग करते हैं। हिंदुस्तानी भाषा काल की अवधि सन् 1300 ई. से सन् 1800 ई. तक मानी जा सकती है। साहित्य-रचना की दृष्टि से यह काल अंधकार का युग कहा जा सकता है क्योंकि यह अवधि भारतीयों के लिए पराधीनता की थी। सन् 1192 ई. में मुहम्मद गौरी प्रथम ने अंतिम हिंदू राजा पृथ्वीराज चौहान को पराजित कर भारत में मुस्लिम वंशों—गुलाम वंश (1206), खिलजी वंश (1232), तुगलक वंश (1325), सैयद एवं लोदी वंश (1414), मुगल वंश (1526) ने अपने-अपने शासनों की स्थापना की। इस काल में भारतीय भाषाओं को नष्ट कर अरबी-फारसी तथा तुर्की भाषाओं में पुस्तकें लिखी गईं। औषधि विज्ञान की कुछ संस्कृत पुस्तकों का फारसी अनुवाद किया गया। इनमें प्रमुख पुस्तकें थीं—दस्तूर-उल-अतिब्बा, तालिफ-ए-शरीफ़ और तुहफ़त-अल-मोमिन।

सन् 1600 ई. में ईस्ट-इंडिया कंपनी का भारत में पदार्पण हुआ और तदुपरांत अनेक पाश्चात्य मिशनरियों (पुर्तगाली, डच, फ्रांसीसी, डेन, ईसाई) ने हमें दासता की बेड़ियों में जकड़ लिया। भारतीय साहित्य और संस्कृति को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया। सन् 1780 ई. में अरबी माध्यम से 'कलकत्ता मदरसा' और हिंदुओं के लिए सन् 1791 ई. में 'बनारस संस्कृत कालेज' की स्थापना की गई। इसके बाद सन् 1800 ई. में कलकत्ता का 'फोर्ट विलियम कॉलेज' की स्थापना हुई जहां पर अरबी, फारसी, संस्कृत तथा भारतीय भाषाओं में पुस्तकों की रचना प्रारंभ की गई। अतः यह 500 वर्ष का अंतराल न केवल विज्ञान-साहित्य अपितु भारतीय साहित्य के लिए एक अंधकार का युग था। सन् 1808 ई. में लार्ड मिण्टो ने देशी भाषाओं में पाठ्य-पुस्तकों, शब्दकोशों तथा व्याकरणों की रचना का शुभारंभ किया। इस प्रकार सन् 1835 ई. में लार्ड मैकाले ने अपनी रिपोर्ट में अंग्रेजी दृष्टिकोण स्पष्ट किया कि 'हमें भारत में एक ऐसा वर्ग बनाना चाहिए, जो रक्त और वर्ण में भारतीय हो, किंतु पसंद, विचार, आचरण और विद्वता में अंग्रेज हो'। इस घोषणा ने हमें अंग्रेजी भाषा का गुलाम बना दिया। हम भारतीय अपनी मातृभाषा को छोड़ अंग्रेजी में व्याख्यान और भाषण देते हैं जो हमारी मानसिक गुलामी का प्रतीक है। पिछले वर्ष हिंदी अकादमी, दिल्ली द्वारा आयोजित हिंदी दिवस के अवसर पर बोलते हुए हिंदी कवि श्री बालस्वरूप 'राही' ने व्यंग्य किया कि आज भारतीय राष्ट्रीय नहीं बल्कि अंतर्राष्ट्रीय होते जा रहे हैं क्योंकि उनका माध्यम अंग्रेजी है।

हिंदी-काल—प्राचीनता की दृष्टि से यह काल अत्यंत ही महत्त्वपूर्ण है। हिमालय तथा विंध्यपर्वत के बीच के प्रदेश में कभी संस्कृत, पालि तथा शौरसेनी आदि प्राकृत, अपभ्रंश भाषाओं का प्रयोग होता था। कालक्रम से इस प्रदेश में 'हिंदी' का विकास हुआ। लार्ड वेलेजली ने कलकत्ता में सन् 1800 ई. में फोर्ट विलियम कॉलेज की स्थापना अंग्रेज कर्मचारियों को भारतीय भाषाओं, विशेषकर हिंदी का ज्ञान कराने के लिए की थी। जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है कि विज्ञान-लेखन की परंपरा आदिकाल से है किंतु आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं, जो मुख्य रूप से संस्कृत से आविर्भूत हुई हैं, अपनी-अपनी

ढपली अपना-अपना राग अलापने लगीं। वैदिक संस्कृत, संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश भाषाओं में विज्ञान-लेखन उनका अभिन्न अंग था। यह दूध और पानी के मिश्रण समान था। जब से आधुनिक भारतीय आर्य भाषाएं हिंदी भाषा के रूप में विकसित हुई हैं तब से हिंदी साहित्यकार विज्ञान-लेखन से दूर होते गए और अपना वर्चस्व सिद्ध करने के लिए भारतीयता के स्थान पर क्षेत्रीयता को अपनाते गए। फलस्वरूप हिंदी विज्ञान-लेखकों का प्रादुर्भाव हुआ और उन्होंने कश्मीर से कन्याकुमारी तथा गुवाहाटी से गुजरात तक सभी भाषाओं के विज्ञान लेखकों को संगोष्ठी के माध्यम से एक मंच पर ला दिया। जिसका प्रमाण है विज्ञान परिषद्, इलाहाबाद द्वारा 11-13 दिसंबर, 1988 को अखिल भारतीय संगोष्ठी 'भारतीय भाषाओं में विज्ञान लेखन' का आयोजन। इस संगोष्ठी में न केवल हिंदी-भाषा वालों ने भाग लिया अपितु कन्नड़, मराठी, गुजराती तथा तेलुगू साहित्यकारों ने भी अपने आलेख प्रस्तुत किए।

वस्तुस्थिति यह है कि आज हिंदी-साहित्य की एक नवीन विधा (विज्ञान-लेखन) अंकुरित हुई है और हिंदी-साहित्य का ह्रास हुआ है। साहित्य के ह्रास को देखते हुए किसी कवि ने कहा है—

सूर ससि तुलसी रवि उड़गन केशवदास।
अबके कवि खद्योतसम जहं-तहं करें प्रकास।

हिंदी साहित्य के इतिहास काल-निर्धारण के अवलोकन से ज्ञात होता है कि यह शताब्दी आधुनिक-काल से संबोधित की गई है जिसमें पहले प्रगतिवाद और तदुपरांत प्रयोगवाद आरंभ हुआ। यदि इसका काल-निर्धारण वैज्ञानिक परिप्रेक्ष्य में किया जाता तो पहले प्रयोगवाद और तत्पश्चात प्रगतिवाद होता। कारण कि वैज्ञानिकों का विकास-क्रम-कल्पना, अनुमान, प्रयोग, परीक्षण तथा प्रगति होता है। दूसरा कारण आधुनिक काल के पश्चात् क्या भावी साहित्य को हिंदी साहित्यकार भविष्य काल का नाम देंगे ? कुछ साहित्यकारों ने द्विवेदी युग एवं भारतेन्दु युग भी नाम दिया है जो वैज्ञानिक नहीं है। अतः यदि साहित्यकार विज्ञान-लेखकों का सहयोग लें तो इन विसंगतियों से बचा जा सकता है और हिंदी का अहित भी नहीं होगा। किंतु इस परंपरा से हिंदी साहित्यकारों के अहं को चोट लगेगी। अतः हिंदी का अहित करनेवाले और इसके प्रसार में बाधक हम हिंदी-भाषा के साहित्यकार हैं।

हिंदी के वयोवृद्ध सेवी पं. श्रीनारायण चतुर्वेदी (1857-1908) अपनी पुस्तक 'आधुनिक हिंदी का आदिकाल' के पृष्ठ 243 में लिखते हैं—"जब तक हिंदी साहित्यकार संकुचित रहेगा और अर्थशास्त्रियों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, तकनीकी विषयों के लेखकों को अपनी बिरादरी में बराबर का दर्जा नहीं देगा तब तक स्थिति में सुधार होने की संभावना कम है। साहित्य संसार में उनकी उतनी ही प्रतिष्ठा होनी चाहिए जितनी सर्जनात्मक साहित्य के रचयिताओं की होती है'। आज का साहित्यकार विज्ञान-लेखन से कतराता है क्योंकि उसे विज्ञान का ज्ञान नही है। यही कारण है कि साहित्यकार विज्ञान-लेखकों के

साथ सौतेला व्यवहार करते हैं, उन्हें अपने से हीन समझते हैं। वास्तविकता यह है कि एक साहित्यकार सामान्यतः वैज्ञानिक नहीं होता जबकि एक वैज्ञानिक साहित्यकार हो सकता है। आपको शायद एक भी उदाहरण ऐसा नहीं मिलेगा जहां किसी साहित्यकार ने वैज्ञानिक कृति का साहित्यिक विश्लेषण किया हो जबकि इसके विपरीत अनेक वैज्ञानिक ऐसे हैं जिन्होंने साहित्य-कृति का वैज्ञानिक विश्लेषण किया है। हां, इसमें अपवाद अवश्य हैं क्योंकि इसी वर्ष मैंने एक वैज्ञानिक उपन्यास **'नियोगिता नारी'** की समीक्षा लिखी थी और प्रस्तुत उपन्यास के एक लेखक एक विद्वान साहित्यकार हैं। यह समीक्षा **'आविष्कार'** पत्रिका के फरवरी, 1989 अंक में प्रकाशित हुई है।

भारतीय मनीषी चाहते थे कि अन्वेषण-वृत्ति जनसाधारण में भरपूर जग जाए। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए उन्होंने नाना प्रकार से कार्य किए। वर्णनात्मक शैली में उनकी रचनाएं सन् 1000 ई. तक लोकप्रिय रहीं परंतु सन् 1900 ई. तक विज्ञान-लेखन प्रायः सुप्तावस्था में रहा क्योंकि साहित्य परिवर्तनशील है और इस अवधि में अपभ्रंश एवं अन्य विविध आर्यभाषाओं की, विदेशी आक्रमणों के कारण, काया पलट होती रही। धीरे-धीरे **कहानी विधा** का विकास हुआ और कार्य-प्रधान कहानियां लिखी जाने लगीं। इस श्रेणी के अंतर्गत जासूसी, रहस्यपूर्ण, साहसिक तथा वैज्ञानिक कहानियां आती हैं। इन कहानियों में चरित्र का कोई महत्त्व नहीं होता, उनके कार्य ही अधिक महत्त्वपूर्ण होते हैं। इस प्रकार की कहानियों के प्रतिनिधि कहानीकार गोपालराम गहमरी (1866-1946) तथा देवकीनंदन खत्री (1861-1913) और उनके पुत्र दुर्गादास खत्री उल्लेखनीय हैं। अतः यहीं से विज्ञान-लेखन में कथाओं का श्रीगणेश होता है।

शनैः-शनैः विज्ञान-लेखन परंपरा का पुनर्जीवन हुआ। विविध विज्ञान क्षेत्रों में विभिन्न विज्ञान संबंधित स्फुट सामग्री को विज्ञान, विज्ञान प्रगति, विज्ञान लोक, वैज्ञानिक, आविष्कार, विज्ञान जगत, धर्मयुग, विज्ञान वीथिका आदि लोकप्रिय पत्रिकाओं ने एक सूत्र में पिरोया। सन् 1935 में जगपति चतुर्वेदी की 'आविष्कार की कहानी' तथा सन् 1936 में व्यथित-हृदय की 'जीव-जंतुओं की कहानियां' पुस्तक रूप में प्रकाशित हुई। आरंभ में निबंध स्वच्छंद शैली में या अनूदित रूप में पठनीय थे। सन् 1949 ई. में उमेशचंद्र मिश्र की लिखी पुस्तक 'सफलता' में ऐसे ही आलेखों का संकलन किया गया। मेरी वैज्ञानिक कहानियां 'प्रतिध्वनि' और 'अपकर्षण' सन् 1951-1953, सईस 1985 में प्रकाशित हुई। 20वीं शताब्दी के मध्य से विज्ञान-लेखन में काफी प्रगति पाई गई।

सन् 1953 ई. में संपूर्णानंद का 'पृथ्वी से सप्तर्षि मंडल' वैज्ञानिक उपन्यास, प्रसाद परिषद् काशी से प्रकाशित हुआ। सन् 1959 ई. में डॉ. ओमप्रकाश शर्मा का 'मंगल ग्रह', डॉ. नवल बिहारी मिश्र का 'अपराध का पुरस्कार', कैलाश शाह के 'अंतरिक्ष के पार' और 'हरे दानवों का देश' आदि वैज्ञानिक उपन्यास प्रकाशित हुए। प्रो. दिवाकर के दर्जनों उपन्यास प्रकाशित हुए जिनमें 'पांच यमदूत' तथा 'समय के स्वामी' मुख्य हैं। इनके अतिरिक्त दुर्गादास खत्री के सफेद शैतान, सुवर्ण रेखा, सवर्गपुरी, सागर सम्राट, साकेत,

बलिदान, कलंक कालिमा, संसार चक्र, काला चोर तथा आकृति विज्ञान आदि वैज्ञानिक उपन्यास बनारस से प्रकाशित हुए। मराठी विज्ञान कथाकारों और उपन्यासकारों में डॉ. जयंत विष्णु नारलीकर, डॉ. बाल फोंडके, श्री निरंजन घाटे, श्री लक्ष्मण लोढ, श्री जावडेकर, डॉ. सुखटणकर आदि उल्लेखनीय हैं।

अनूदित उपन्यासों का युग आया तो न केवल संस्कृत अपितु अंग्रेजी, जर्मनी, रूसी तथा फ्रेंच भाषाओं से भी वैज्ञानिक उपन्यासों के अनुवाद किए गए। इनमें प्रमुख 'पाताल लोक की यात्रा' (अनु.—डॉ. नवल बिहारी मिश्र) और इनका ही 'समुद्र गर्भ की यात्रा' तथा 'आकाश में युद्ध', 'रहस्यमय द्वीप' 'चंद्रलोक की परिक्रमा', 'द्वीप का रहस्य', 'उड़ते अतिथि' आदि हैं। गुणाकर मुले द्वारा अनूदित उपन्यास 'शिशु रोबोट' और रमेश दत्त शर्मा द्वारा अनूदित उपन्यास 'क्षुद्र ग्रह : गोर बिड़ाल' सन् 1981 में प्रकाशित हुए। सन् 1982 के पश्चात् तो विज्ञान-लेखन की ऐसी लहर आई कि अनेक लेखकों ने बाल विज्ञान-कथाएं, कविताएं, विज्ञान पहेलियां, विज्ञान-नाटक आदि लिखे। अतः विज्ञान-लेखन में ऐसी कोई विधा नहीं जिस पर रचनाएं प्रकाशित न हुई हों। स्वच्छंद विज्ञान लेखन में प्रो. शिवगोपाल मिश्र तो सर्वोपरि उत्प्रेरक हैं। किंतु यह दुर्भाग्य है कि हिंदी साहित्यकार अभी भी विज्ञान लेखकों से न परिचित हैं और न ही उनको मान्यता देते हैं। यह उनके अहं भाव का द्योतक है। अतः हिंदी वाङ्मय तभी बढ़ेगा जब हिंदी में मौलिक ग्रंथ रचे जाएंगे और उनके रचने वालों को वही आदर प्राप्त होगा जो अन्य साहित्यकारों को मिलता है। अतः साहित्यकार यदि राष्ट्रभाषा का हित चाहते हैं और उसका अधिकाधिक प्रसार चाहते हैं तो अपना दृष्टिकोण बदलें क्योंकि बिना तकनीकी ज्ञान के कोई भाषा, जाति, धर्म, संस्कृति और राष्ट्र उन्नति नहीं कर सकता।

—डॉ. विष्णुदत्त शर्मा

5/48, वैशाली
गाजियाबाद-201012 (उ.प्र.)

अनुक्रमणिका

1

खाद्यों के कारखाने*

देवेन्द्रनाथ भटनागर

मनुष्य ने जब से इस पृथ्वी पर पदार्पण किया है उस समय से लेकर अब तक उसकी आवश्यकताएं निरंतर बढ़ती रही हैं। इन आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए उसे पृथ्वी के लगभग हर कोने में जाना पड़ा है। आज ऐसे व्यक्तियों की संख्या काफी है जिन्हें देश की रक्षा, औद्योगीकरण, साहसिक कार्यों के करने की लालसा तथा अन्य कारणवश, निर्जन जंगलों, मरुस्थलों में रहना पड़ता है अथवा लंबी-लंबी समुद्री यात्राएं करनी पड़ती हैं। इन व्यक्तियों को लगातार महीनों तक ऐसे स्थानों पर रहना पड़ता है जहां ताजे फल, सब्जियां, दूध, मांस आदि नहीं मिल पाते। मध्ययुग में लंबी समुद्री यात्रा करने वाले व्यक्ति अक्सर इन वस्तुओं की कमी के कारण स्कर्वी, बेरी-बेरी, रिकेट्स आदि से पीड़ित हो जाते थे। उपरोक्त व्यक्तियों की स्वास्थ्य रक्षा के लिए यह आवश्यक है कि उन्हें भी ताजी सब्जियां, फल, दूध, मांस आदि निरंतर मिलता रहे पर मिले कैसे? इसका हल किया उद्योगों ने। उद्योगों ने इनकी डिब्बाबंदी की और उपभोक्ताओं को ताजे खाद्य नहीं तो 'ताजे-तुल्य' खाद्य उपलब्ध करा दिए।

खाद्यों को काफी दिनों तक ताजे-तुल्य बनाने रखने के लिए उन्हें अनेक प्रकार से उपचारित करना पड़ता है। इन उपचारित खाद्यों का 'संसाधित खाद्य' (प्रोसेस्ड फूड्स) कहते हैं। यद्यपि अचार, चटनी, मुरब्बे, आदि के रूप में फलों सब्जियों आदि का संसाधन प्राचीन काल से ही होता आया है पर अब अन्य अनेक प्रकार के खाद्यान्नों के संसाधन की आवश्यकता ने नए उद्योगों को जन्म दे दिया है। नाश्ते में इस्तेमाल किए जाने वाला मक्खन, डबल रोटी, बिस्कुट, डिब्बों में बंद फल, मांस, जमा हुआ डिब्बाबंद दूध संसाधित खाद्यों के उदाहरण हैं।

संसार की बढ़ती हुई जनंसख्या के लिए खाद्य पदार्थ जुटाने की समस्या के समाधान में संसाधित खाद्य उद्योगों का विशेष योगदान है।

---

* विज्ञान प्रगति, फरवरी 1971

खाद्यों को नष्ट करने में बैक्टीरिया, फफून्द और एंजाइम आदि विशेषरूप से भाग लेते हैं। अतः खाद्यों में संसाधन में ऐसी तकनीकों का प्रयोग किया जाता है कि या तो खाद्यों को नष्ट करने वाले बैक्टीरिया नष्ट हो जाएं और यदि वे नष्ट न भी हों तो भी कम से कम उनका बढ़ना रुक जाए। ऐसी तकनीकों में फल, सब्जियों आदि को सुखाना ठण्डा करना (-12^0 सें.) या खूब तेजी से गर्म करना (100-120^0 सें.) और फिर ठण्डा करना, उनका आचार आदि बनाना, चीनी या शहद में रखना और बोतलों या डिब्बों में बंद करना आदि सम्मिलित हैं। इन तकनीकों में से अनेकों प्राचीन समय से प्रयुक्त की जा रही हैं।

शीतन से फल, सब्जियां तथा मांस, मछली ताजे बने रहते हैं और उनका रंग व सुगंध पूर्ववत बने रहते हैं। फल व सब्जियों से बनाए हुए पदार्थ अधिकतर खूब तेज गर्म करके संसाधित किए जाते हैं। यह तकनीक विभिन्न फलों के लिए अलग-अलग होती है। जिन फलों को पोषक तत्वों के उन्हें देर तक गर्म करने के कारण नष्ट होने की आशंका होती है उन्हें एकदम तेजी से गर्म करके ठण्डा कर लिया जाता है।

विकसित देशों में जहां साधारण व्यक्ति के पास आमतौर से समय का अभाव होता है संसाधित खाद्यों का इस्तेमाल किया जाता है। वहां संसाधित खाद्य उद्योग बहुत पनपे हैं। औद्योगीकरण के साथ-साथ हमारे देश में भी इन उद्योगों का तेजी से विकास हुआ है। इनको मुख्य रूप से हम निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं। (1) फल व सब्जी संसाधन उद्योग, (2) डेरी उद्योग, (3) संसाधित मांस उद्योग, (4) सागर से उपलब्ध खाद्य उद्योग, (5) अल्पाहार (ब्रेकफास्ट) उद्योग तथा (6) अन्य खाद्य उद्योग। इन में फल व सब्जी संसाधन उद्योग सबसे बड़ा है और इसी में सबसे अधिक धन लगा है।

फल व सब्जी संसाधन उद्योग

खाद्य संसाधन उद्योग का विकास विश्व महायुद्धों के दौरान सेना के लिए खाद्य पदार्थों को जुटाने के लिए विशेष रूप से हुआ। देश में पहला कैनिंग कारखाना 1928 में स्थापित हुआ। धीरे-धीरे 1940 के आस-पास कई कारखाने चालू हुए जो फलों और सब्जियों की कैनिंग, जाम, मारमालेड, मुरब्बा, चटनी, अचार और रस (जूस) आदि तैयार करते थे। द्वितीय महायुद्ध के दौरान जब देश में इन वस्तुओं का आयात बंद कर दिया गया और आंतरिक मांग बढ़ गई तब इस उद्योग ने काफी तेजी से प्रगति की। 1945 तक फल सब्जियों की डिब्बाबंदी करने वाले देश में 186 कारखाने हो गए। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश में फल व सब्जी संसाधन उद्योग को सरकार ने प्रोत्साहन दिया और 1966 में 946 लाइसेंस प्राप्त कारखाने फल-सब्जियों की डिब्बाबंदी कर रहे थे तथा जाम, जैली, मारमालेड, जूस आदि तैयार कर रहे थे। भारत में यह उद्योग लघु उद्योग के रूप में पनपा है। अधिकतर कारखाने इसी क्षेत्र में हैं। कुछ बड़ी फैक्ट्रियां भी हैं। यह उद्योग महाराष्ट्र, उत्तर प्रदेश, दिल्ली, पश्चिमी बंगाल और पंजाब व हरियाणा में फैला है।

फल व सब्जी संसाधन उद्योग को जिन वस्तुओं की आवश्यकता होती है वे हैं—अच्छे पके हुए फल व सब्जियां, चीनी, पेक्टिन, रासायनिक परिरक्षक, खाद्य रंग और पेक्टिन, वाष्पशील तेल और मसाले। इनके अलावा पैकिंग के लिए डिब्बों, बोतलों तथा पोलिथीन आदि के थैलों की भी आवश्यकता होती है।

फल अधिकतर जाम, जैली, मारमालेड, मुरब्बा बनाने के लिए उपयोग किए जाते हैं। फलों का रस भी डिब्बों में बंद किया जाता है। अंगूर, खजूर आदि फल सुखाए जाते हैं। देश में आम, अमरूद, पपीता, संतरा और लीची आदि फलों की विशेषरूप से डिब्बाबंदी की जाती हैं। आम का तैयार जूस और गूदा विदेशों में बड़े शौक से खाया जाता है। हमारे देश में आम के बने पदार्थ अन्य सब फलों व सब्जियों से अधिक मात्रा में निर्यात किए जाते हैं।

आमतौर पर सब्जियों को पका कर डिब्बों में बंद किया जाता हैं। अथवा उनका सूप, चटनी, सास और अचार आदि तैयार किए जाते हैं। मटर, आलू, गोभी, गाजर, परवल, टिण्डे, भिण्डी और टमाटर काफी मात्रा में डिब्बों में बंद किए जाते हैं। सुखाई जाने वाली सब्जियों में गोभी, करेला, गाजर, भिण्डी, मटर और प्याज मुख्य हैं। सुखाई हुई प्याज बड़ी मात्रा में विदेशों को निर्यात की जाती है।

देश की फल व सब्जी की कुछ पैदावर का केवल 0.25 प्रतिशत भाग संसाधित किया जाता है जो अन्य देशों में संसाधित माल से बहुत कम है। देश में उत्पादित संसाधित फल व सब्जियों के आंकड़े सारणी-1 में दिए गए हैं। 1966 में कुल उत्पादन 95,143 मी.टन फल और सब्जियां संसाधित की गई जिनमें 11.5 प्रतिशत माल की अचार या चटनी बनाई गई, 10.1 प्रतिशत फलों और सब्जियों की डिब्बाबन्दी की गई और 60.7 प्रतिशत के पेय बनाए गए।

सारणी-1 देश में संसाधित फल व सब्जियों का उत्पादन

वर्ष	उत्पादन (मी.टन)	मूल्य (लाख रुपयों में)
1963	62120	636.55
1964	72610	118.55
1965	90210	1471.47
1966	95143	1727.15

डेरी उद्योग

डेरी उद्योग देश का सबसे प्राचीन रोजगार है। दूध व दूध से बनी चीजें मांसाहारी और शाकाहारी सभी के लिए समान रूप से उपयोगी हैं। देश में पैदा होने वाले कुल दूध का केवल 5 प्रतिशत ही संसाधित किया जाता है। दूध से बनने वाले उदाहरणार्थ दूध पाउडर, बेबी फूड, संसाधित पनीर, कन्डेन्स्ड दूध, माल्टेड दूध आदि का तो दूसरी पंचवर्षीय

योजना काल से पहले तक आयात किया जाता था।

प्रथम पंचवर्षीय योजना में डेरी उद्योग के विकास के लिए अनेकों योजनाएं चालू की गईं। इनमें मुख्य थी : बम्बई दूध योजना, कैरा डिस्ट्रिक्ट कोआपरेटिव मिल्क प्रोड्यूसर्स यूनियन लिमिटेड, आनंद गुजरात और केन्द्रीय पशुपालन अनुसंधान-सहप्रजनन केन्द्र हशिंघाता।

इनके अलावा तमिलनाडु, मेरठ, हलद्वानी, अल्मोड़ा और बिहार में पटना तथा मुजफ्फरपुर में सहकारी यूनियनें शुरू की गईं। उड़ीसा व मध्य प्रदेश में डेरी फार्म चालू किए गए।

द्वितीय योजना में 36 डेरी चालू की गई। तीसरी योजना में 55 नई डेरियां, 6 दूध-पाउडर तैयार करने वाले तथा 2 संसाधित पनीर तैयार करने वाले कारखाने स्थापित किए गए।

संसाधित मांस उद्योग तथा समुद्री भोजन

मांस यद्यपि प्रोटीन का बढ़िया स्रोत है पर हमारे देश की जनता का एक बड़ा भाग उसका भक्षण नहीं करता। मांस खाने वाले अधिकांश व्यक्ति ताजा व कच्चा मांस घरों में ही पकाकर खाते हैं। मांस का संसाधन अभी देश के लिए नया है और अधिकतर यह कार्य बड़े-बड़े शहरों तक ही जहां पश्चिमी सभ्यता का असर है, सीमित है। देश में मांस अधिकतर बकरे, भेड़, गाय-भैंसे, मुर्गी आदि जानवरों से उपलब्ध होता है।

संसाधन के लिए आमतौर से सुअर का मांस प्रयोग किया जाता है। उससे अनेक प्रकार के संसाधित पदार्थ यथा बेकज हैम, सासेज, सलामी आदि तैयार किए जाते हैं। डिब्बाबंदी मांस का सबसे अधिक उपयोग सेना में किया जाता है। मांस को नमक लगाकर तथा धुआं देकर भी संसाधित किया जाता है।

भारत में यद्यपि सागर से मछली पकड़ने का उद्योग बड़ा पुराना है फिर भी उत्पादन बहुत ही कम है। 4,000 किलोमीटर से भी लम्बे तट से केवल लगभग 8 लाख टन मछलियां प्रति वर्ष पकड़ी जाती है। हाल में ही इस उद्योग को आधुनिक तरीकों पर ढालने की जो कोशिश की जा रही है उसने इस उद्योग को एक नई दिशा दी है और उत्पादन धीरे-धीरे बढ़ रहा है, हमारे देश में पकड़ी जाने वाली मुख्य मछलियां हैं—सारडीन, मैकरेल आदि। मछलियों के अतिरिक्त विशेष रूप से केरल के तट पर प्रॉन्न, श्रिंप आदि भी बड़ी मात्रा में पकड़े जाते हैं।

समुद्री खाद्यों का संसाधन उद्योग विशेषकर भारत के पश्चिमी तट पर है। वहां घरेलू पैमाने पर नमक लगाकर या बिना नमक के ही सुखाकर मछलियों को बड़ी मात्रा में भंडारित किया जाता है। केवल और गुजरात में श्रिम्प सुखाए जाते हैं और उन का निर्यात किया जाता है।

श्रिम्प सुखाने और डिब्बों में बंद करने के कारखाने कोचीन, कालीकट और बंबई

में हैं। मछलियों को ठंडा करके जमाने के कारखाने पश्चिमी तट बंबई, मंगलोर, कालीकट में हैं। अधिकतर प्रानों को ठंडा करके जमाया जाता है। बंबई के मछली जमाने के कारखाने में पोम्फ्रेट, ज्यू आदि मछलियां जमाई जाती हैं। मछली सुखाने के कारखाने गुजरात, मद्रास, केरल, पश्चिमी बंगाल, असम और उड़ीसा में स्थित हैं। धूमन विधि द्वारा संसाधन करने के केन्द्र उड़ीसा और तमिलनाडु में हैं। मछली कैनिंग केन्द्र केरल, महाराष्ट्र, गुजरात और मैसूर में हैं। देश में इस समय लगभग 30 कैनिंग केंद्र हैं जिनमें आमतौर से प्रानों की डिब्बाबंदी की जाती है। इन डिब्बों को अमेरिका, ब्रिटेन, कनाडा आदि देशों को निर्यात किया जाता है।

बेकरी व अल्पाहार

स्वतंत्रता प्राप्ति से पूर्व देश में डबल रोटी और बिस्कुट बनाने के केवल कुछ ही कारखाने थे। अधिकतर कारखाने पिछले 10-15 वर्षों में लगाए गए हैं। अभी हाल में ही भारत सरकार ने मार्डन बेकरी लिमिटेड के नाम से 1 करोड़ रुपए की लागत से 6 स्वचालित बेकरियां, दिल्ली, बंबई, मद्रास, कलकत्ता, अहमदाबाद और कोचीन में स्थापित की हैं। तीन और बेकरियां हैदराबाद, कानपुर और चण्डीगढ़ में स्थापित की जाएंगी। मार्डन बेकरी की स्थापना बेकरी उद्योग की महत्वपूर्ण घटना है। इसके कारखानों में डबल रोटी बनाते समय उनमें पर्याप्त मात्रा में विटामिन, लवण, प्रोटीन और अन्य पोषक तत्व मिलाए जाते हैं। जब ये कारखाने पूरी तरह उत्पादन करने लगेंगे तब इनकी कुछ उत्पादन क्षमता 400 ग्राम की 1,000 लाख डबल रोटियां प्रति वर्ष हो जाएंगी।

बिस्कुटों का उत्पादन भारत में लगभग तीन शताब्दी पूर्व शुरू हुआ था और उस समय बिस्कुट बनाने के अधिकांश कारखाने तटवर्ती प्रदेशों में स्थित थे। 1897 में कलकत्ता में बिस्कुट बनाने के एक कारखाने के स्थापित होने के बाद इस कारखाने का आधुनिकीकरण प्रारंभ हुआ। 1946 में भारत में 33 कारखाने थे। इस समय देश में हजारों बेकरियां डबल रोटी और बिस्कुट बनाने में लगी हैं पर बड़े कारखाने केवल 37 हैं। इन सब कारखानों की कुल उत्पादन क्षमता 44,000 मी.टन हैं। ब्रिटानिया फैक्ट्री सबसे बड़ी है और देश में बनाए जाने वाले बिस्कुटों का 38 प्रतिशत भाग उसमें बनता है।

देश में प्रोटीन की कमी पूरी करने के लिए केंद्रीय खाद्य प्रौद्योगिकी अनुसंधान संस्थान, मैसूर, ने मूंगफली के आटे से एक विशेष प्रकार के न्यूट्रो बिस्कुट भी तैयार किए हैं।

प्राचीन भारत में रसायन की परंपरा*

स्वामी सत्यप्रकाश सरस्वती

मानव सभ्यता का आरंभ उस युग से हुआ, जब से मनुष्य ने आग उत्पन्न करना सीखा; अश्व, गाय, भेड़ और बकरी जैसे पशुओं को पालतू बनाया; खेती द्वारा यव और धान्य प्राप्त किया; घर बनाए, कपड़ा बुनना सीखा; मधुमक्खी के छत्ते से या गन्ने के रस से मीठा द्रव्य प्राप्त किया और नमक का उपयोग सीखा। यदि सभ्यता के उदय के ये लक्षण स्वीकार किए जाएं तो स्पष्ट है कि भारतवर्ष में वैदिक काल में ही सभ्यता की समस्त भूमिकाएं पड़ चुकी थीं। अथर्वांगिरस ऋषि ने अरणियों के संघर्षण से अग्नि प्राप्त की विधि प्रचलित की और विश्वामित्र ने इस कार्य के लिए अधिमन्थ नाम का यंत्र तैयार किया। भारतीय पूर्वजों ने यजुर्वेद के समय में ही हिरण्य, अयस; श्याम, लोह, सीस और त्रपु धातुओं का उपयोग सीखा। उन्हें व्रीहि, यव, माष, तिल, मुद्ग, खल्व, प्रियंगु, अणु, श्यामकाक, नीवार, गोधूम और मसूर, इतने अन्नों से परिचय हुआ। यज्ञ के प्रकरण में उन्होंने स्रुक्, चमस, द्रोण, कलश, ग्रावाण, अधिषवण आदि उपकरण बनाए जिनका उपयोग बाद की पाठशाला और औषध निर्माणशाला दोनों में हुआ। दूध या पयस् से उन्होंने वैदिक काल में ही दधि, आभिक्षा, पीयूष (पेवसी), नवनी (लौनी), और घृत प्राप्त किए। लाजा और सक्तु भी बनाए। यजुर्वेद के अठारहवें और उन्नीसवें अध्याय में इन सब का उल्लेख है। इसी वेद के तीसवें अध्याय में भिषज, सुराकार, रजयित्र (रंगने वालों); अग्ज्जनीकारी, हिरण्यकार, और अयस्ताप (लोहा आदि धातु गलाने वालों) का उल्लेख है।

यह वह युग था जब रसायन शास्त्र नाम का कोई पृथक शास्त्र तो नहीं माना जाता था, किंतु निश्चय ही इस युग में रासायनिक प्रक्रियाओं का उपयोग आरंभ हो गया था।

प्राचीन भारत में रसायन का उपयोग आयुर्वेद के साथ-साथ बढ़ा। रोग मनुष्य का पुराना शत्रु है। अथर्ववेद का दूसरा सूक्त ही रोगापशमन का है। हृदरोग, श्वेतकुष्ठ, ज्वर, और यक्ष्मा मनुष्य के पुराने शत्रु हैं। अपामार्ग, पृश्निपर्णी, पिप्पली और मधुला एवं इसी

* विज्ञान प्रगति, मार्च 1972

प्रकार की अन्य वनस्पतियों का उपयोग अथर्ववेद काल में रोग-निवारण में होने लगा था। केशवर्धनी औषधियों की भी चर्चा रही।

आयुर्वेद युग के प्रसिद्ध ग्रन्थ चरक और सुश्रुत के समय में तो रसायन शास्त्र अनुभव और प्रयोग का विषय बन गया। आत्रेय पुनर्वसु की अध्यक्षता में संसार की सर्वप्रथम ऐतिहासिक संगोष्ठी इस बात के निर्णय के लिए हुई कि प्रकृति में प्राप्त उपलब्धियों से रोगों का शमन कैसे हो, और रोगोत्पति के मूल कारण क्या हैं, यह भी ज्ञात हो। पाश्चात्य जगत् में जो स्थान हिप्पोक्रेटीज का है, वही अपने देश में चरक का है। चरक ने अधिक विस्तार से अपने विषयों की भी मीमांसा की है। चरक के समय तक पारद और गंधक से भारतीयों को परिचय न था, किन्तु वानस्पतिक द्रव्यों द्वारा रोगों के शमन में यह देश अग्रणी रहा। औषधि-निर्माण के प्रक्रम और उपकरण रासायनिक युग के अग्रदूत थे। सुश्रुत के समय में क्षारों और लवणों के उपयोग को और भी अधिक श्रेय मिला। कास्टिक सोडा तैयार करने की सर्वप्रथम और सबसे प्राचीन विधि सुश्रुत काल की है।

रसराज : पारद

नागार्जुन के समय के आस-पास हमारे देश का परिचय गंधक और पारद से हुआ। वैदिक काल में हम इन दोनों से अपरिचित थे। गंधक, पारद और अभ्रक इन तीनों ने रसायन शास्त्र को एक नई दिशा दी। विदेशों में भी पारद से लोग परिचित थे और इस द्रव धातु के विचित्र गुणों पर मुग्ध थे। पर इसके संबंध में जितना ज्ञान भारतीय रसाचार्यों को धीरे-धीरे हुआ, उतना अन्य को नहीं। पारद से हमें तीन आशाएं थीं—(क) इसकी सहायता से अधम धातुओं को सोने में परिवर्त्तित किया जा सकेगा; (ख) इससे ऐसी औषधियां तैयार की जा सकेंगी जिनसे मनुष्य रोग, जरा और मृत्यु पर विजय प्राप्त कर सकेगा; (ग) क्योंकि पारा वाष्पवान् द्रव धातु था, अतः आशा हुई कि इसके सेवन से या तो मनुष्य पक्षियों की भांति उड़ने में समर्थ होगा, अथवा वह इसकी वाष्पों से वायुयान चला सकेगा। पारे द्वारा वस्तुतः इन तीनों में से कोई भी सिद्धि हम प्राप्त न कर सके। किंतु एक लाभ यह हुआ कि इन तीनों अभीष्टों की पूर्ति के लिए समस्त भारत में उत्तर से दक्षिण तक और पूर्व से पश्चिम तक पारे, अभ्रक और गंधक पर अनुभूत प्रयोग आरंभ हो गए और पारे की एक-एक दशा का बोध किया गया—पारा किस तरह मरता है, किस तरह जीर्ण होता है, किस तरह फिर जग उठता है, किस प्रकार अधमरा होता है, कैसे इसकी चपलता-चंचलता दूर होती है—एक-एक लक्षण पर गंभीरता से विचार हुआ।

पारे के काम ने अन्य धातुओं की ओर भी ध्यान आकर्षित किया। पारे को रसराज, रसेन्द्र आदि नाम दिए गए। महारस, रस, उपरस इस प्रकार द्रव्यों का वर्गीकरण हुआ। धातुओं के मारण-जारण की विधियां निकलीं। उनकी भस्में तैयार की गयीं। मकरध्वज और चन्द्रोदय के समान स्फूर्ति देने वाली औषधियां बनीं। रस कर्म के

अध्यवसायी आचार्यो का रस-संबंधी संप्रदाय ही नहीं, एक दर्शन बन गया। सर्वदर्शनसंग्रह में रस-दर्शन को मुख्य स्थान प्राप्त हुआ। अनेक प्रकार के लवण, काजी, आसव, सिरके आदि बनाए गए। किण्वों पर सुरा और आसव के संबंध में प्रयोग हुए। वर्तमान रसायन शास्त्र के सभी उपयोगी अंगों की नींव पड़ गई। अधःपातन, ऊर्ध्वपातन, सत्वपातन, आदि अनेक विधियों का एवं खल्व, तप्त खल्व, विविध प्रकार की मूषाएं, और अग्नि-परीक्षा आदि विधियों का आविष्कार हुआ। मणियों और रत्नों के संबंध में रासायनिक-ज्यामिति का भी सूक्ष्म परिचय प्राप्त हुआ।

धातु रसायन

सांसारिक वैभव और भोगविलास की सामग्री तैयार करने की ओर भी लोगों का ध्यान गया। तरह-तरह की मिश्रधातुएं तैयार की गई। सोना, चांदी, तांबा, वंग और यशद इन पांच के प्रसंग में लोगों की रुचि बढ़ी। पीतल और कांसे का उपयोग इसी समय लोगों ने सीखा और लोहे और ताम्र के पात्र (चम्मच से लेकर कलश और कड़ाहों तक) इसी समय तैयार हुए। लोहे के संस्कार में भारतीयों को जो दक्षता प्राप्त हुई उसका जीता जागता उदाहरण दिल्ली का प्रसिद्ध लोह-स्तम्भ है। संग्रहालयों में रखी हुई धातु की मूर्तियां शिल्प और रसायन दोनों की साक्षी हैं। पुराने मंदिर और किले भवन-निर्माण सामग्री की ओर संकेत करते हैं। इष्टियों और वेदियों के प्रसंग में इ़ष्टक (ईंट) का आविष्कार हुआ, और ईंटों को पकाने की प्रथा इसी देश में आरंभ हुई। चांदी और सोने के आभरण और मणि-मुक्तों और रत्नों की परख भारत की विश्वविख्यात विशेषता थी। दक्षिण अफ्रीका और अमरीका की सोने की खानों का परिज्ञान तो अभी हाल की बात है। इससे पूर्व समस्त विश्व को अधिकांश सोना भारत से ही मिलता था। सोने के पतले-पतले पत्र बनाना और दूसरी चीजों पर सोने के पत्र मढ़ना ब्राह्मण काल और कौटिलीय काल में प्रसिद्ध व्यवसाय था। सूती, रेशमी और ऊनी कपड़ों की रंगायी इस देश की प्रसिद्ध रही है।

वैशेषिक के आचार्य कणाद ने सर्वप्रथम 'अणु' की कल्पना दी। रासायनिक और भौतिक परिवर्त्तनों को समझने का प्रयत्न किया। कार्य और कारण के संबंध को बताया। द्रव्य के विभिन्न गुणों की चर्चा की। इस प्रकार मौलिक सिद्धांतों में से कुछ का प्रतिपादन इस युग में हो चुका था। सोलहवीं शती के आरंभ तक भारत रसायन के क्षेत्र में किसी से भी पिछड़ा न था। इसी बीच यूरोप में नई वैज्ञानिक पद्धतियों का आविर्भाव हुआ, और विदेशी हम से आगे बढ़ गए। आश्चर्य की बात है कि भारत भूमि पर अनेक यूरोपीयों के रहते हुए भी सत्रहवीं और अठारहवीं शती में हमारे देश का ध्यान यूरोप की इस नई प्रवृत्ति की ओर क्यों न गया।

3

देश तथा व्यक्ति के जीवन में रसायनशास्त्र का महत्व*

डॉ. रामचरण मेहरोत्रा तथा डॉ. राजकुमार बंसल

किसी भी देश या समाज की संपन्नता या सभ्यता का स्तर इस बात से आंका जा सकता है कि वहां कितनी मात्रा में सल्फ्यूरिक अम्ल का उत्पादन होता है अथवा वहां साबुन की खपत कितनी है। इस जनश्रुति से देश तथा व्यक्ति के जीवन में रसायनशास्त्र का महत्व स्पष्टतया परिलक्षित होता है। आज के वैज्ञानिक युग में किसी भी देश की संपन्नता इस पर निर्भर करती है कि वहां के औद्योगिक कल-कारखानों में विज्ञान की आधुनिकतम उपलब्धियों का कैसा उपयोग हो रहा है। अनुमान किया जाता है कि साधारणतः 70-75 प्रतिशत उद्योग रसायनशास्त्र के ज्ञान पर आधारित है। अमरीका, जर्मनी तथा इंग्लैण्ड सदृश समृद्ध देशों के उत्थान में ड्यूपॉण्ट, बायर तथा इम्पीरियल कैमिकल इण्डस्ट्रीज आदि रासायनिक उद्योग प्रतिष्ठानों का महत्व सर्व विदित है।

बीसवीं शती में मानव प्रगति की सबसे उल्लेखनीय विशेषता यह है कि विज्ञान केवल पुस्तकों या प्रयोगशाला तक ही सीमित न रहकर मनुष्य की दिनचर्या के प्रत्येक क्षेत्र में प्रवेश कर गया है। विज्ञान की विभिन्न शाखाओं में से रसायनशास्त्र का मानव जीवन में विशेष स्थान है। इसने मनुष्य के आहार, स्वास्थ्य, जीवन-अवधि, परिधान, आवास, सुविधा, यातायात, मनोरंजन तथा शृंगार आदि सभी क्षेत्रों में क्रांतिकारी परिवर्तन ला दिए हैं।

अधिक उपज देने वाले रसायन

वर्तमान या कल के आने वाले संसार की समस्याओं में सबसे अधिक चिंता का विषय है—बढ़ती हुई आबादी और उसके लिए आहार का प्रबंध। परिवार नियोजन पर अत्यधिक बल दिए जाने के बावजूद हमारे देश की आबादी पिछले दशक में 44 से बढ़ कर 55 करोड़ हो गई है। ऐसी स्थिति में आवश्यक है कि भारत तथा अन्य विकासशील देश प्रत्येक इकाई क्षेत्रफल भूमि से अधिकतम उपज प्राप्त करें। अन्न उत्पादन बढ़ाने के

* विज्ञान प्रगति, मार्च 1972

लिए उर्वरकों का महत्व आज अशिक्षित किसान भी समझता है। प्राकृतिक स्रोतों से उपलब्ध तत्व आवश्यकता के लिए अतिअल्प अंश की ही पूर्ति कर पाते हैं। इसके अतिरिक्त इनसे उत्पादन में तीव्र गति से तथा कोई अधिक वृद्धि नहीं हो पाती। रसायनशास्त्र ने इस दिशा में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है। आज नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा पोटैशियम युक्त संश्लेषित उर्वरक उपलब्ध हैं। कृषि क्षेत्र में हरित-क्रांति लाने का श्रेय उर्वरकों तथा उन्नत किस्म के बीजों को है। खाद्यान्नों को खेत तथा खलिहानों व भण्डारों में नष्ट होने से बचाने का कार्य भी उतना ही महत्वपूर्ण है जितना उत्पादन बढ़ाने का। शायद आपको विश्वास न हो कि उपज का लगभग आधा भाग कीड़े-मकोड़ों तथा चूहों द्वारा नष्ट कर दिया जाता है। प्रत्येक करने पर भी विश्व की उपज का 20 प्रतिशत भाग नष्ट हो ही जाता है। इस क्षति पर नियंत्रण करने के लिए कीटनाशी तथा कवकनाशी रसायन तैयार किए गए हैं। इनमें डी.डी.टी. तथा गैमेक्सेन (अथवा बी.एच. सी.) प्रमुख है। आर्गेनोफास्फोरस यौगिक, जैसे फास्फेमाइड आदि भी अत्यंत प्रभावी कीटनाशी पाए गए हैं।

रसायनशास्त्र ने न केवल उपज को बढ़ावा और उसको नष्ट होने से बचाया है अपितु कृषक के कार्य को सुगम बनाने में भी सहायता की है। 'डिफोलिएण्ट' पदार्थों जैसे मैग्नीशियम क्लोरेट के अति तनु विलयन को फसल पक जाने के पश्चात पौधों पर छिड़कने से उनकी पत्तियां शीघ्रतापूर्वक झड़ जाती हैं तथा कपास जैसी घनी फसलों को आसानी से काटा जा सकता है।

रोगोपचार

अलकीमिया युग से ही रसायनज्ञ जीवनामृत की खोज में लगे रहे, जीवनामृत तो वे अवश्य नहीं खोज पाए परंतु उनके द्वारा संश्लेषित औषधियों ने न केवल मानव के दुःख-दर्द को हल्का किया है वरन् उसकी जीवन अवधि को भी बढ़ा दिया है। भारत में प्रचलित आयुर्वेद प्रणाली में रोगापचार हेतु विभिन्न प्रकार के काढ़ों तथा निष्कर्षों का उपयोग सफलतापूर्वक किया जा रहा है। परंतु इस पद्धति में औषधि का उपयोग मुख्यतः अनुभव पर ही आधारित रहा है। रसायनशास्त्र और विशेष रूप से कार्बनिक रसायनशास्त्र के क्षेत्र में प्रगति होने पर इन पौधों के काढ़ों तथा रसों से वास्तविक सक्रिय-घटकों को प्राप्त किया गया। रसायनज्ञों ने अपने उद्देश्य की इतिश्री यहीं पर नहीं समझी बल्कि उन्होंने इन सक्रिय घटकों को कृत्रिम रूप से तैयार करने का भी प्रयत्न किया। इस कार्य में सफलता मिलने पर औषधि विज्ञान के क्षेत्र में एक क्रान्किारी परिवर्तन हुआ जिसने एलोपैथी चिकित्सा प्रणाली को जन्म दिया। इस चिकित्सा प्रणाली में प्रयुक्त होने वाली औषधियों में से 75 प्रतिशत को रासायनिक क्रियाओं द्वारा संश्लेषित किया जाता है। 1874 के पश्चात अगणित दर्दरोधी, ज्वररोधी तथा प्रतिजीवाणु औषधियों का संश्लेषण

किया गया है। 1940 में रसायनज्ञों ने मानव को एक नया उपहार प्रदान किया—यह था पैनिसिलिन। पेनिसिलिम नोटेटम नामक फफूंद से पेनिसिलिन प्राप्त किया गया। यही प्रथम एण्टीबायोटिक था। तदनन्तर अनेक एण्टीबायोटिक औषधियां तैयार की गई हैं, जिनमें से मुख्य स्ट्रेप्टोमाइसीन, टेरा-माइसिन, टेट्रासाइक्लीन इत्यादि हैं। यद्यपि पेनिसिलिन आज भी मुख्यतः प्राकृतिक स्रोतों से प्राप्त किया जाता है किन्तु अन्य एण्टीबायोटिक पदार्थों को अर्द्ध संश्लेषित कहा जा सकता है। सिन्टोमाइसिन नामक एण्टीबायोटिक तो पूर्णतः रासायनिक प्रक्रियाओं द्वारा ही संश्लेषित किया गया है। एण्टीबायोटिक औषधियों के रूप में रसायन-शास्त्र ने मानव को एक ऐसा अस्त्र प्रदान किया है जिससे वह अनेक रोगों पर विजय पाने में सफल हो सका। इसी प्रकार प्राकृतिक स्रोत से उपलब्ध क्विनीन का उपयोग मलेरिया के उपचार के लिए काफी समय पूर्व से होता रहा है। किंतु अब उसके स्थान पर उससे कहीं अधिक प्रभावी अनेक 'एण्टीमलेरियल' रसायनों का संश्लेषण किया जा चुका है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि संश्लेषित औषधियों के रूप में रसायनशास्त्र ने मानव मात्र का अवर्णनीय उपकार किया है। किंतु संश्लेषित औषधि के उपयोग से पूर्व अनेक महत्वपूर्ण परीक्षण करने आवश्यक होते हैं। जरा-सी चूक भीषण दुर्घटना का कारण भी बन सकती है। इस संदर्भ में 'थैलिडोमाइड-दुर्घटना' का उल्लेख करना असंगत नहीं होगा। एक जर्मन प्रतिष्ठान द्वारा उत्पादित यह औषधि अनिद्रा को दूर करने के लिए अत्यंत लोकप्रिय हुई। परंतु कुछ समय पश्चात ही ज्ञात हुआ कि यह औषधि गर्भस्थित भ्रूण पर अत्यधिक हानिप्रद प्रभाव डालती है। इस प्रकार तनिक-सी असावधानी से लाखों बच्चे जन्म से पूर्व ही काल कवलित हो गए।

संश्लेषण युग

इस युग की एक अन्य विशेषता है संश्लेषण तथा संश्लेषित वस्तुओं की लोकप्रियता। रसायनशास्त्र ने अस्वस्थ मनुष्य के लिए औषधि ही प्रदान नहीं की बल्कि स्वस्थ मनुष्य के लिए भी विभिन्न प्रकार के संश्लेषित आहार तैयार किए हैं, यथा प्रोटीन युक्त विस्कुट, शक्तिदायक टॉनिक आदि।

संश्लेषित धागों ने तो मानव के रहन-सहन में क्रांति ही ला दी है। लगभग 30 वर्ष पहले विलियम कैरोथर्स ने प्रथम बार नाइलोन का संश्लेषण करके रसायनशास्त्र के एक अन्य उपयोग की ओर मानव का ध्यान आकर्षित किया था। आज अनेक प्रकार के संश्लेषित धागे तैयार किए जा चुके हैं। संश्लेषित धागों में डेकरॉन, नाइलोन, ऑरलोन, रेयन, टेरीलीन इत्यादि के नाम उल्लेखनीय हैं। वस्त्र से संबंधित ही एक अन्य उद्योग—रंजक द्रव्य—की बात यहां अप्रासंगिक न होगी। रसायनज्ञों ने प्रकृति से उपलब्ध रंजक पदार्थों की कमी को कृत्रिम रंग बना कर दूर कर दिया है। इनमें एजो, थैलीन तथा ट्राइफेनिल मीथेन समूहों में रंजक द्रव्य प्रमुख हैं।

आज के युग को 'प्लास्टिक-युग' कहा जा सकता है अनेक प्रकार के प्लास्टिकों का संश्लेषण किया जा चुका है। अब तो कहीं-कहीं धातुओं के स्थान पर भी प्लास्टिक का उपयोग होने लगा है। इसके अतिरिक्त ऐसे कार्यों के लिए जहां सुचालक होने के कारण धातु का उपयोग करना खतरनाक होता था, प्लास्टिक के उपयोग ने जीवन को सुरक्षा भी प्रदान की है। कुछ समय पूर्व ही फ्लोरोप्लास्टिक संश्लेषित किए गए हैं जो उच्च ताप पर भी स्थायी होते हैं तथा अम्ल एवं क्षारों का उन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। प्रयोगशाला तथा अन्य कार्यों के लिए उपकरण बनाने हेतु फ्लोरोप्लास्टिक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुए हैं। अत्यंत चिकने होने के कारण इनका उपयोग 'बियरिंग' बनाने के लिए भी होता है।

आधुनिक जीवन में प्लास्टिक के साथ-साथ रबर का महत्व भी कम नहीं। खेल के मैदान की गेंद से लेकर स्वचालित वाहन के टायर तक, सर्जन के दस्तानों से लेकर ऊष्ण-जल की बोतल तक दैनिक उपयोग की अनेक वस्तुएं बनाने के लिए रबर का उपयोग किया जाता है। कुछ दशक पूर्व रबर केवल प्राकृतिक स्रोतों से ही प्राप्त की जाती थी और इसका उत्पादन आवश्यकता से कहीं कम होता था। इसके अतिरिक्त प्राकृतिक रबर, तेल, ऊष्मा तथा आक्सीजन द्वारा शीघ्र प्रभावित हो जाने के कारण अधिक स्थायी नहीं होती थी। विश्लेषण करने पर प्राकृतिक रबर आइसोप्रिन का बहुलक पायी गई। अतः इस रासायनिक पदार्थ को लेकर संश्लेषित रबर बनाने के प्रयास प्रारंभ हुए। आज विभिन्न प्रकार की इच्छित-गुण-युक्त संश्लेषित रबर तैयार कर ली गई है। बूना-एस., निओप्रिन ब्यूटिल तथा पॉलियूरिथेन आदि संश्लेषित रबरों के संश्लेषण से आज मनुष्य रबर प्राप्त करने के लिए प्रकृति पर निर्भर नहीं रह गया है।

अपस्फोटक व नोदक रसायन

विश्व में अरब देशों की आय का मुख्य स्रोत पेट्रोल उत्पादन है। वर्तमान युग में औद्योगिक उन्नति, वैयक्तिक सुख सुविधा तथा राष्ट्र की सुरक्षा, सभी के लिए पेट्रोल का अत्यधिक महत्व है। यही कारण है कि पेट्रोल को सुगमतापूर्वक प्राप्त करने के लिए विश्व के विकसित देश अरब देशों में किसी न किसी रूप में अपना प्रभुत्व जमाए रखने के लिए प्रयत्नशील रहते हैं। अपरिष्कृत पेट्रोल को उपयोगी बनाने तथा उससे अनेक उपोत्पाद तैयार करने में रासायनिक सिद्धांतों का ही सहारा लिया जाता है। इसके अतिरिक्त पेट्रोल की बचत करने तथा इंजन की दक्षता को बढ़ाने के लिए लेड टेट्रा एथिल (टी.ई.एल.) का उपयोग प्रति अपस्फोटक के रूप में किया जाता है। ऐसा अनुमान है कि टी.ई.एल. के उपयोग से विश्व में प्रति वर्ष करोड़ों रु. के मूल्य के पेट्रोल की बचत होती है। परंतु यह विषैला होने के कारण वातावरण को दूषित करता है, अतः इसके स्थान पर सी.एम.टी. (साइक्लो पेण्टा डाइइनाइल मैंगनीज ट्राइ कार्बोनिल) का उपयोग किया जाने लगा है। टी.ई.एल. तथा सी.एम.टी. दोनों ही आर्गेनोमेटेलिक यौगिक हैं। इनके अतिरिक्त कई अन्य

आर्गेनोमैटेलिक यौगिक भी बड़े उपयोगी सिद्ध हए हैं। उदाहरणस्वरूप आर्गेनोसिलिकान यौगिकों को अनेक कार्यों के लिए प्रयुक्त किया गया है और इस वर्ग के सिलिकान नामक बहुलक तो विशेषरूप से उल्लेखनीय है।

अनुमान किया जाता है कि समुद्र में लगभग सभी तत्व यौगिकों के रूप में उपस्थित हैं। परंतु इनको पृथक करना एक कठिन समस्या है। कुछ समय पूर्व एक नए प्रकार के रासायनिक पदार्थों को संश्लेषित किया गया है जिनको आयन-विनिमायक (आयन-एक्स्चेंजर) नाम दिया गया है। ऐसी संभावना व्यक्त की गई है कि समुद्र से धातुओं को इन आयन-विनिमायकों की सहायता से पृथक किया जा सकता है।

पिछले दशक में अंतरिक्ष अनुसंधान की दिशा में महत्वपूर्ण उपलब्धियां हुई हैं। वैज्ञानिकों के भगीरथ प्रत्यनों के फलस्वरूप मनुष्य का स्वप्न साकार हुआ है। अंतरिक्ष यानों को पृथ्वी से सफलतापूर्वक दागने तथा अपना लक्ष्य पूरा करने के लिए विशिष्ट प्रकार के विस्फोटक पदार्थ तथा उच्च आवेग उत्पन्न करने वाले नोदक-पदार्थ (प्रोपेलेण्ट) तैयार किए गए हैं। आवश्यकतानुसार ठोस तथा द्रव दोनों ही प्रकार के नोदक जैसे टैट्राजिन, लेड स्टिफ्नेट तथा लेड एजाइड इत्यादि तैयार किए जा चुके हैं।

रसायन शास्त्र की सहायता से जहां औद्योगिक उन्नति को बल मिला वहीं कुछ समस्याएं भी उठ खड़ी हुईं। इनमें से आजकल जिस समस्या को अति गंभीर समझा जा रहा है वह है वायुमण्डल का प्रदूषण। इसके ही कारण सन् 1948 में पेन्सिल्वानिया के डोनोरा नामक औद्योगिक नगर में एक भीषण दुर्घटना हुई जिसके फलस्वरूप अनेक व्यक्ति मर गए तथा लगभग आधी आबादी अस्वस्थ हो गई। इसी प्रकार दिसम्बर 1962 में लंदन में एक दूसरी दुर्घटना हुई जिसमें लगभग 750 व्यक्तियों की मृत्यु हो गई। औद्योगिक दृष्टि से उन्नत देशों में वायु प्रदूषण की समस्या गंभीर रूप धारण करती जा रही है। किन्तु रसायन-शास्त्री इस समस्या को सुलझाने के लिए भी प्रयत्नशील हैं।

इस प्रकार यदि यह कहा जाए कि वर्तमान युग 'संश्लेषण का युग' है तो अतिशयोक्ति न होगी। आज मनुष्य प्रत्येक क्षेत्र में प्रकृति पर अपनी निर्भरता को शनैः-शनैः दूर करता जा रहा है। कहने की आवश्यकता नहीं कि इस कार्य में रसायनशास्त्र के ज्ञान ने महत्वपूर्ण सहायता की है।

अलबरूनी और हिंदू-रसायन*

डॉ. भगवतशरण उपाध्याय

बुतशिकन महमूद गजनवी का दरबारी विद्वान अलबरूनी ज्योतिष, गणित, दर्शन और पुराणों का अच्छा जानकार था। महमूद के खूनी हमलों के समय वह अनेक बार भारत आया। मध्यदेश-मालवा तक के नगरों में घूमा फिरा और भारत के ज्ञान-विज्ञान के संबंध में उसने पांडित्यपूर्ण वृत्तांत लिखे। उस ने हिंदू पंडितों के ज्ञान को सहारा भी और उनके अंधविश्वास का मखौल भी उड़ाया। हिंदू रसायन, विशेषकर सोना बनाने के संबंध में उसने कुछ विचार प्रकट किए हैं जो नीचे दिए जा रहे हैं।

वह लिखता है कि प्रपंच द्वारा वास्तविकता को अलौकिक दिखा देना अभिचार कहलाता है। इस में भारतीयों का गहन विश्वास है, इस विश्वास की कोई सीमा नहीं। पर जो असंभव है वह संभव नही किया जा सकता; इस से संबंधित सारा व्यापार शुद्ध इंद्रजाल है जिस का वास्तविक ज्ञान या विज्ञान से कोई वास्ता नहीं।

रसायन को अलबरूनी इंद्रजाल का ही एक अंग मानता है। वह कहता है कि अभिचार केवल आंखों को धोखा देने वाली प्रक्रिया है। रुई और चांदी का उदाहरण देता हुआ वह लिखता है कि यदि रुई को ऐसा बना दिया जाए कि वह सोना दिखने लगे या चांदी के टुकड़े को सोने के टुकड़े-जैसा दिखा दिया जाए तो वह जादू या इंद्रजाल के सिवा और क्या कहलाएगा!

सारी जातियों में कुधातु से सोना बनाने की क्रिया की खोज जारी है; हिंदुओं में भी है, यद्यपि रसायन के प्रति उनका विशेष प्रयत्न नहीं। पर इससे उनके ज्ञान-अज्ञान का कोई संबंध नहीं। देखने में आता है कि बुद्धिमान रसायन में श्रद्धा रखते हैं, मूर्ख उस की हंसी उड़ाते हैं। रसायन के प्रति अपने अनुराग के कारण भारतीय पंडितों की निंदा भी नहीं की जा सकती। कारण कि वे संकट को दूर करने और संपत्ति के अर्जन के लिए ही रसायन के प्रति अनुरक्त हैं।

उदाहरण प्रस्तुत करता हुआ वह खुरासानी पंडित लिखता है कि एक बार किसी ने एक साधु से पूछा, ''बात क्या है कि पंडित तो धनिकों के पास दौड़े हुए जाते हैं, पर

---

* कादम्बिनी, अप्रैल, 1972

धनी पंडितों के द्वार झांकते तक नहीं?"

साधु बोला, "बात यह है कि पंडित धन का उचित उपयोग जानते हैं, पर धनी ज्ञान की विशेषता को न समझ सकने के कारण उससे उदासीन रहते हैं।"

अलबरूनी लिखता है कि जानकार रसविद्या को गुप्त रखना चाहते हैं, जिस से उसे मैं उन से सीख न सका। पता नहीं रस-क्रिया में जिस मूल पदार्थ का वे उपयोग करते हैं वह धातु है या जीव या वनस्पति है! मैं ने 'तालक' (हड़ताल) द्वारा शोधने, मोम बनाने, मारने-जिलाने की बातें उन से सुनी हैं, जिस से खनिज-विद्या-संबंधी उन की जानकारी का पता चलता है। वे रसायन द्वारा—जड़ी-बूटियों, ओषधियों, विशेष प्रक्रियाओं द्वारा—मरणोन्मुख रोगियों को रोगमुक्त भी करते हैं, जराग्रस्तों को तरुण भी बना देते हैं। उनकी इस प्रक्रिया से सफेद केश काले हो जाते हैं, इंद्रियों में नई शक्ति आ जाती है, रति-क्रिया की विनष्ट शक्ति फिर लौट आती है, बूढ़ों में तरुणोचित उत्साह भर आता है, उनकी आयु बढ़ जाती है। मैंने इस संबंध में पतंजलि का प्रमाण देते हुए अन्यत्र लिखा है कि मोक्ष-प्राप्ति का एक मार्ग रसायन भी है। भला कौन ऐसा है जो इस रसायन की शक्ति में विश्वास न करे और मूढ़ हो कर इस के जानकार को अपना सर्वस्व न सौंप दे?

अलबरूनी लिखता है कि इस विद्या का जानकार सोमनाथ के निकट दैहक कोट का निवासी नागार्जुन था, जिस ने रसायन-क्रिया में निष्णात हो कर उस पर अपनी पुस्तक लिखी। वह पुस्तक अब अप्राप्य है। नागार्जुन मुझ से प्रायः सौ साल पहले हुआ था। (यह नागार्जुन, यदि अलबरूनी का बयान सही है, बौद्ध दार्शनिक नागार्जुन से भिन्न कोई रहा होगा, कारण कि महायान का प्रवर्तक इस नाम का दार्शनिक अलबरूनी से प्रायः हजार साल पहले कुषाणराज कनिष्क के समय हुआ था।) इस खुरासानी पंडित ने सोने-चांदी के रसायन के संबंध में कुछ कहानियों द्वारा उदाहरण भी दिए हैं। इन में से एक विक्रमादित्य से संबंध रखती है, दूसरी राजा भोज से तथा तीसरी रंक नाम के एक फल बेचने वाले से। कहानियां इस प्रकार हैं—

राजा विक्रमादित्य के समय उज्जैन में व्याडि नामक एक व्यक्ति रहता था। रसायन के फेर में पड़ उसने अपना सर्वस्व लुटा दिया था। दरिद्र हो जाने पर नदी-तट पर बैठा एक दिन वह निराशा के उच्छ्वास छोड़ने लगा। वह वैद्य था, उसने ओषधियों के नुस्खों वाले ग्रंथ के पन्ने फाड़-फाड़ कर नदी की धारा में बहाना शुरू किया। पास ही तट पर बैठी एक वेश्या ने दौड़ कर जलधारा में बहते पन्नों को बचा लिया और व्याडि से उस ने ग्रंथ को नष्ट करने का कारण पूछा। वह बोला, "कारण इस का यह है कि इस रसायन से मैं ने जो पाने की इच्छा की थी वह मुझे नहीं मिल सका। मेरा सारा धन इस पर स्वाहा हो गया और आज मैं इसी के कारण दरिद्र बन गया हूं।" वेश्या ने उसे विश्वास दिलाया कि यदि वह अपनी प्रक्रिया में विश्वास के साथ फिर लग जाएगा तो उसे निश्चय सफलता मिलेगा और उसकी साधना सिद्ध होगी। उस ने अपना अतुल धन भी उसे दे दिया और वह व्यक्ति साधना में लग गया।

किंतु ग्रंथ पहेलियों के रूप में लिखा हुआ था, जिससे उसे साधने में धोखा हो सकता था। उसके एक शब्द का अर्थ समझने में, जो तेल और मानव-रक्त दोनों हो सकता था, भूल हो गई। इससे साधना विफल हो गई। फिर भी वह रसायन-प्रक्रिया में लगा रहा, ओषधियां पकाता रहा। इसी प्रकार उसने रक्तामल को लाल आमलक (आंवला) समझ गलत प्रयोग किया और उससे निकली अग्नि की ज्वाला ने उसका मस्तक झुलस दिया। उसने मस्तक पर तेल मला और भट्ठी के पास से उठकर काम से बाहर चला। कुटी की छत से निकली लकड़ी का तीखा सिरा उसके सिर से लगा जिस से चोट से निकले रक्त की कुछ बूंदें, सिर के तेल में सनी, कड़ाह में गिर गयीं। साधक ने उन्हें गिरते नहीं देखा। पक जाने पर क्वाथ की परीक्षा के लिए व्याडि और उसकी पत्नी ने अपने तन पर उसका लेप लगाया। लेप लगाते ही दोनों आकाश में उड़ चले। राजा विक्रम ऐसा घटित होना सुन कर उन्हें उड़ते देखने चौक में जा पहुंचा। उड़ते हुए व्याडि ने राजा से कहा, "मुंह खोलो, उस में थूकूंगा।" घृणा से विक्रम ने मुंह फेर लिया, उसे खोला नहीं। थूक महल की देहरी पर गिरा और देहरी सोने से भर गई। व्याडि अपनी पत्नी के साथ उड़ कर अन्यत्र चला गया। उसने रसायन पर अनेक ग्रंथ लिखे। लोगों का कहना है व्याडि और उसकी पत्नी आज भी जीवित हैं।

रसायन-संबंधी दूसरी कहानी अलबरूनी ने इस प्रकार लिखी है—मालवा की राजधानी धारा नगरी है। इस समय वहां का राजा भोजदेव है। उसके महल की देहरी में चांदी का एक ऐसा गोलाकार टुकड़ा पड़ा है जिस के भीतर आदमी की शक्ल दिखाई पड़ती है। उसके संबंध में कहा जाता है कि प्राचीन काल में एक आदमी राजा के पास एक ऐसा रसायन ले कर गया जिस में राजा को अपराजित और अमर बना देने की शक्ति थी। पर उस ने उस राजा को वहां न दे कर उसे ही अपने पास बुलाया और कड़ाह में क्वाथ बनाने लगा। जब तेल जल कर खूब गाढ़ा हो गया तब रासायनिक ने राजा से कहा कि प्रयोग शीघ्र ही सिद्ध होने वाला है, कड़ाह में कूद पड़ो। राजा डर गया, उसे उबलते तेल में कूदने का साहस न हुआ। राजा की कायरता देख उस ने स्वयं उस में कूदने की तैयारी की। राजा को अनेक ओषधियां दे कर पहले उसने समझाया कि अमुक स्थिति में अमुक ओषधि डालना। फिर वह कड़ाह में कूद गया और शीघ्र ही लेप बन गया। राजा को जैसा कहा गया था वैसा ही उसने किया, पर जब एक पुड़िया बच रही तो उसके मन में एक विचार उठा—अगर वह व्यक्ति अमर और अपराजित हो कर जी उठा तो मेरी क्या स्थिति होगी? फलत उस ने वह पुड़िया कड़ाह में न डाली। इस बीच क्वाथ जम कर चांदी हो गया जिसमें उस आदमी की घुली आकृति चमकने लगी।

तीसरी कहानी एक राजा और रंक की है जो वलभी में घटी बतायी जाती है। एक सिद्ध ने एक गड़रिये से पूछा—क्या तुम ने कोई ऐसा पौधा देखा है जिस से दूध की जगह खून निकलता हो? गड़रिये के 'हां' कहने पर उसे कुछ रुपए दे कर सिद्ध ने उससे पौधा दिखा देने को कहा। गड़रिये ने उसे पोधा दिखा दिया। सिद्ध ने पौधे में आग लगा दी

और उस में गडरिये के कुत्ते को फेंक दिया। गड़रिये ने क्रोध में आ कर सिद्ध को ही आग की लपटों में डाल दिया। आग बुझ जाने पर उसने देखा कि कुत्ते और सिद्ध दोनों की देह सोने की हो गई है। उसने कुत्ते की देह उठा ली और सिद्ध की देह वहीं पड़ी रहने दी। वह तन अब एक किसान को मिल गया जिस ने उसकी एक अंगुली काट कर उससे रंक नामक फल बेचनेवाले से फल खरीदे। फिर सोने के शरीर से और भी सोना लेने के लिए किसान जब वहां पहुँचा तो देखता क्या है कि काटी हुई अंगुली की जगह नई सोने की एक अंगुली उग आयी है। उसने अंगुली काट कर फिर फल खरीदे। फल वाले ने कुतूहलवश उससे पूछा कि सोने की अंगुली वह कहां से लाता है। मूर्ख किसान ने उसे वह जगह बता दी।

रंक ने बताई हुई जगह पर जा कर सिद्ध का स्वर्णीभूत शरीर उठा लिया और गाड़ी पर रख उसे घर लाया। फिर धीरे-धीरे उस सोने के शरीर से अंग काट-काट कर उसने वह समूचा नगर ही खरीद लिया। राजा बल्लभ भी उस नगर को लेना चाहता था। राजा ने धन दे कर उससे नगर लेना चाहा पर रंक ने उसे बेचना अस्वीकार कर दिया। राजा के क्रोध का पारावार न रहा। उसके क्रोध से बचने के लिए रंक ने अलमनसूरा के मालिक से मदद के लिए सेना मांगी। अमलनसूरा के मालिक ने धन के बदले उसे सेना दे दी। उस सेना को ले कर रंक ने रात के समय राजा वल्लभ पर चढ़ाई कर दी। युद्ध में राजा मारा गया और उसकी प्रजा और नगर को रंक ने नष्ट कर दिया। लोग आज भी उन स्थानों को बताते हैं जो उस युद्ध में नष्ट हो गए थे।

उदाहरण की कहानियां समाप्त कर अलबरूनी लिखता है कि मूर्ख हिंदू राजाओं के लोभ का कोई अंत नहीं। अगर उसे सोना बनाना हो और कोई उससे कहे कि छोटे-छोटे सुंदर बच्चों की हत्या से ही सोना बन सकता है तो राजा को उनकी हत्या करते देर नहीं लगेगी। वह उन्हें तत्काल साधना की आग में झोंक देगा। बहुत अच्छा हो अगर इस अमूल्य रसायन-ज्ञान को धरती से परे फेंक दिया जाए जिस से यह सदा के लिए अप्राप्त हो जाए।

अलबरूनी इसी सिलसिले में ईरानी जनविश्वास का भी जिक्र करता है। वह कहता है कि अपनी मौत के समय इस्फंदियाद ने कहा था कि धर्म-ग्रंथ में अलौकिक वस्तुओं का जो बयान है वह काऊस को दे दिया गया। अपनी वृद्धावस्था में काऊस कोहे काफ (काकेशस पर्वत) पर गया। वहां उस का कूबड़ सीधा हो गया और वहां से वह तरुण शक्तिशाली शरीर धारण कर भगवान के आदेश से बादलों पर चढ़े स्वदेश लौटा।

नन्हे परमाणु की विराट शक्ति*

गुणाकर मुले

वर्तमान सदी के आरंभ में **आइंस्टीन** ने एक समीकरण प्रस्तुत करके हमें जानकारी दी थी कि कितने द्रव्य से कितनी ऊर्जा प्राप्त की जा सकती है। अतः मुख्य चीज है द्रव्य, परमाणु के भीतर का द्रव्य, जिसे विचलित करने से ऊर्जा प्राप्त होती है।

सब से पहले यह जान लेना जरूरी है कि परमाणु कितना बड़ा होता है। परमाणुओं को एक-दूसरे से सटा कर यदि एक पंक्ति में रखा जाए तो एक सेंटीमीटर लंबाई में 10,00,00,000 परमाणु रखे जा सकते हैं।

पिछले सदी के अंतिम वर्षों तक वैज्ञानिकों का खयाल था कि परमाणु ही द्रव्य की सब से छोटी इकाई है। फिर, पिछली सदी के अंतिम दशक में, बेक्वेरेल और **क्यूरी-दंपती** के अनुसंधानों से ज्ञात हुआ कि कुछ तत्त्वों के परमाणुओं से विकिरणों का उत्सर्जन होता है। रेडियम ऐसा ही एक तत्त्व है। यह भी ज्ञात हुआ कि ऐसे तत्त्वों के परमाणुओं से विकिरण बाहर आने के बाद धीरे-धीरे ये परमाणु दूसरे हलके तत्त्वों के परमाणुओं में रूपांतरित हो जाते हैं।

फिर **आइंस्टीन** के समीकरण से स्पष्ट हो गया कि द्रव्य का क्षय होने से ऊर्जा प्राप्त होती है। किंतु परमाणु के भीतर क्या है, इसके बारे में वैज्ञानिकों को अभी स्पष्ट जानकारी नहीं थी। ब्रिटिश वैज्ञानिक **रदरफोर्ड** एवं उनके सहयोगियों के अनुसंधानों से वर्तमान सदी के दूसरे दशक में जानकारी मिली कि परमाणु के भीतर एक नाभिक होता है जिस में परमाणु की अधिकांश द्रव्यराशि निहित है। इस नाभिक के इर्द-गिर्द इलेक्ट्रोन चक्कर काटते रहते हैं।

परमाणु के भीतर ये नाभिक बहुत थोड़ी जगह घेरते हैं। नाभिक और इलेक्ट्रोन के बीच में काफी रिक्त जगह रहती है। ऊपर हम बता ही चुके हैं कि परमाणु का अधिकांश द्रव्य नाभिक में ही निहित रहता है। केवल इन नाभिकों को एक-दूसरे से खूब सटा कर दबोचा जाए तो ऐसे एक घन-सेंटीमीटर द्रव्य का भार दस करोड़ टन से ज्यादा होगा।

रदरफोर्ड को नाभिक को तोड़ने में भी सफलता मिली। पता चला कि परमाणु का

* कादम्बिनी, अप्रैल, 1972

नाभिक मुख्यतः दो छोटे कणों से बना होता है। ये कण हैं—प्रोटोन और न्यूट्रोन। इलेक्ट्रोन नाभिक का चक्कर लगाते हैं। इलेक्ट्रोनों की खोज बहुत पहले हो चुकी थी। ये विद्युत के ऋणावेशी कण हैं। नाभिक के प्रोटोन धनावेशी होते हैं और न्यूट्रोन आवेशरहित कण हैं।

परमाणु के बारे में यह जानकारी प्राप्त होने के बाद रदरफोर्ड के प्रतिभाशाली शिष्य डेनिश वैज्ञानिक **नील्स बोर** ने परमाणु के बारे में एक व्यवस्था प्रस्तुत की। यह व्यवस्था एक मॉडल थी। इस मॉडल के अनुसार परमाणु की रचना हमारे सौर-मंडल की तरह मानी गई। सूर्य की तरह परमाणु के केंद्र में एक भारी नाभिक होता है और इस के इर्द-गिर्द, ग्रहों की तरह, विभिन्न कक्षाओं में इलेक्ट्रोन चक्कर काटते रहते हैं। उदाहरण के लिए, सब से हलके तत्त्व हाइड्रोजन के परमाणु को लीजिए। इस के नाभिक में एक प्रोटोन होता है और एक इलेक्ट्रोन इस की परिक्रमा करता है। प्रोटोन इलेक्ट्रोन से 1,836 गुना भारी होता है। एक अन्य प्रकार का भी हाइड्रोजन हैं जिसे 'भारी हाइड्रोजन' या 'ड्यूटेरियम' कहते हैं। ड्यूटेरियम के नाभिक में एक प्रोटोन एवं एक न्यूट्रोन होता है। एक इलेक्ट्रोन इस नाभिक की परिक्रमा करता है। न्यूट्रोन भी लगभग प्रोटोन-जितना भारी होता है।

हाइड्रोजन के बाद दूसरा भारी तत्त्व हीलियम है। हीलियम के नाभिक में दो प्रोटोन एवं दो न्यूट्रोन होते हैं और दो इलेक्ट्रोन इस नाभिक का चक्कर काटते हैं। अधिकाधिक भारी तत्त्वों में इस प्रकार प्रोटोन, इलेक्ट्रोन तथा न्यूट्रोनों की संख्या बढ़ती जाती है। यूरेनियम के परमाणु में 92 इलेक्ट्रोन होते हैं और कुल मिला कर 235 या 238 प्रोटोन तथा न्यूट्रोन होते हैं।

न्यूट्रोन अद्भुत कण हैं। इन की खोज 1930 के आस-पास हुई। ये कण आवेश-रहित होते हैं, इसलिए धनावेशी प्रोटोन या ऋणावेशी इलेक्ट्रोन इनकी गति में बाधा नहीं डालते। बताया जा चुका है कि परमाणु के नाभिक में प्रोट्रोन एवं न्यूट्रोन होते हैं। बाहर से भेजा गया न्यूट्रोन आसानी से इस नाभिक में पहुंच जाता है। तब यह नाभिक विचलित होता है या विखंडित होता है। विखंडन की इसी प्रक्रिया में नाभिक के भीतर से ऊर्जा का उत्सर्जन होता है—शक्तिशाली विकिरण के रूप में।

किंतु परमाणु के भीतर सिर्फ प्रोटोन, न्यूट्रोन तथा इलेक्ट्रोन नहीं हैं। इन के अलावा, परमाणु के नाभिक के भीतर और भी बहुत-से कणों की खोज हुई है। दरअसल, अब तक परमाणु के भीतर सौ से भी अधिक कणों की खोज हो चुकी है। इन कणों को 'प्राथमिक कणों' का नाम दिया गया है। पहली बात यह है कि इन कणों की गतियों पर न्यूटन के गति-नियम लागू नहीं होते। न्यूटन के गति-नियमों से हम किसी भी पिंड का वेग एवं स्थिति एक-साथ मालूम कर सकते हैं। हम बता सकते हैं कि अमुक समय बाद पृथ्वी की परिक्रमा करने वाले चंद्र-पिंड का वेग और उसकी स्थिति क्या होगी।

सामान्य भौतिक का यह एक चिर-परिचित नियम है कि समान आवेश-वाले कण एक-दूसरे को दूर धकेलते हैं और अ-समान आवेश वाले कण एक-दूसरे को समीप

खींचते हैं। ऐसी स्थिति में परमाणु के नाभिक के भीतर के धनावेशी प्रोटोन एकसाथ केसे रह सकते हैं? इस से स्पष्ट होता है कि नाभिक के भीतर गुरुत्त्वाकर्षण-बल या विद्युत-चुंबकीय बल काम नहीं करता। नाभिक के भीतर धनावेशी प्रोटोनों को एक साथ बनाए रखने के लिए उसमें कोई अधिक शक्तिशाली बल मौजूद होना चाहिए। वैज्ञानिकों ने इस बल को 'नाभिकीय बल' का नाम दिया है। यह बल विद्युत-चुंबकीय बल से काफी शक्तिशाली होता है और गुरुत्त्वाकर्षण से तो और भी अधिक शक्तिशाली। अब तक खोजे गए बलों में सब से शक्तिशाली यह नाभिकीय बल है। गुरुत्त्वाकर्षण सब से कमजोर बल है।

परमाणु कणों के बारे में और एक विचित्र बात है। ये कणों के साथ-साथ, अपनी तीव्र गतियों के कारण, तरंगों—जैसा भी व्यवहार करते हैं। इन सब विचित्रताओं के कारण इन प्राथमिक कणों के गुणधर्मों को न्यूटन के गति-नियमों से या आइंस्टीन के सापेक्षवाद के समीकरणों से समझना संभव नहीं था। इन के लिए हमें एक नयी यांत्रिकी की जरूरत थी। इस यांत्रिकी को आज हम **'क्वांटम-सिद्धांत'** के नाम से जानते हैं।

परमाणु के नाभिक के भीतर प्रोटोन एवं न्यूट्रोन की खोज हो जाने पर भी इसकी रचना के बारे में अनेक बातें अस्पष्ट थीं। अतः जब भी कोई नई उलझन सामने आती, वैज्ञानिक एक नए कण की कल्पना करते। सैद्धांतिक रूप से उसके गुणधर्म निर्धारित करते और तब इन कणों को खोजा जाता। इसी प्रकार परमाणु के भीतर नए कणों की खोज हुई।

जापानी वैज्ञानिक **युकावा** ने 1935 में सिद्धांत प्रस्तुत किया कि नाभिकीय बल के लिए जिम्मेदार कोई कण होना चाहिए। इसे उन्होंने 'मेसोन' का नाम दिया और इस के गुणधर्म निर्धारित किए। बाद में ऐसे अनेक कणों की खोज हुई।

और एक उदाहरण लीजिए। ब्रिटिश भौतिकवेत्ता **पॉल डिराक** 1928 में क्वांटम-सिद्धांत के कुछ नए समीकरणों का अध्ययन कर रहे थे। इन्हीं समीकरणों से वे इस नतीजे पर पहुंचे कि परमाणु के भीतर इलेक्ट्रोन-जैसा, पर विपरीत आवेश वाला, कोई कण अवश्य होना चाहिए। ऐसा कण धनावेशी होगा। समीकरणों के आधार पर कल्पित इस कण को उन्होंने 'प्रति-इलेक्ट्रोन' का नाम दिया। और, सचमुच ही 1932 में अमरीकी भौतिकवेत्ता **कार्ल ऐंडरसन** ने इस कण की खोज की। अब इस कण को हम 'पॉजिट्रोन' के नाम से जानते हैं। यह कण इलेक्ट्रोन-जैसा ही है, पर आवेश की दृष्टि से यह इलेक्ट्रोन से ठीक उलटा है। इसलिए इसे इलेक्ट्रोन का प्रतिकण कहते हैं। अब एक-दो कणों को छोड़ कर शेष सभी कणों के प्रतिकण खोजे जा चुके हैं। इस खोज ने द्रव्य और प्रतिद्रव्य की धारणा को भी जन्म दिया है।

सामान्य परमाणु के नाभिक में प्रोटोन एवं न्यूट्रोन होते हैं और इलेक्ट्रोन इन का चक्कर लगाते हैं। अब यदि परमाणु के नाभिक में प्रति-प्रोटोन एवं प्रति-न्यूट्रोन होंगे और पॉज़िट्रोन ऐसे नाभिक का चक्कर काटेंगे तो यह प्रतिद्रव्य का परमाणु होगा। विशेष बात

यह है कि कण और प्रतिकण जब एक-दूसरे के नजदीक आते हैं तो उन का विध्वंस हो कर ऊर्जा का निर्माण होता है। इसीलिए पृथ्वी पर प्रतिद्रव्य का अस्तित्व संभव नहीं है। पर बहुत-से वैज्ञानिकों का मत है कि ब्रह्मांड की दूरस्थ सीमाओं में प्रतिद्रव्य से निर्मित तारे एवं मंदाकिनियां होनी चाहिएं। सोवियत रूस के वैज्ञानिक धरती की प्रयोगशालाओं में प्रति-हाइड्रोजन के निर्माण में प्रयत्नशील हैं और उन्हें सफलता की आशा है। प्रति-हाइड्रोजन के परमाणु के केंद्र में एक प्रति-प्रोट्रोन होगा और एक पॉजिट्रोन इस की परिक्रमा करेगा।

अधिकाधिक वेग वाले कणों से नाभिक का या अन्य कणों का विखंडन करने से ही हमें नए-नए प्राथमिक कणों के बारे में जानकारी मिली है। कणों को अधिक वेग देने के लिए अधिक ऊर्जा की जरूरत होती है। इसलिए दूसरे महायुद्ध के बाद कणों को तीव्र वेग देने के लिए विशेष संयंत्रों का निर्माण हुआ। इन्हें हम 'साइक्लोट्रोन' तथा 'सिंक्रोट्रोन' नाम से जानते हैं। इन के निर्माण में बहुत खर्च होता है।

दूर के तारों एवं मंदाकिनियों से शक्तिशाली ब्रह्मांडीय-किरणें धरती के वायुमंडल में सतत पहुंचती रहती हैं। इन के आघातों के कारण वायुमंडल के परमाणुओं के नाभिकों का विखंडन होता है और इस प्रक्रिया में नए-नए कण जन्म लेते हैं, जिन की हमारे धरातल पर सतत वर्षा होती रहती है। ऊपरी वायुमंडल में यंत्रयुक्त गुब्बारे भेज कर कणों की इस बौछार का अध्ययन किया जाता है। इस विधि से भी कई नए कण खोजे गए हैं। भारत में भी ऐसे अध्ययन की व्यवस्था है।

परमाणु के भीतर खोजे गए कुछ कण बड़े ही विचित्र हैं। 'न्यूट्रिनो' नामक कण को ही लीजिए। नाभिक के विखंडन की कुछ उलझनों के कारण वैज्ञानिकों को बहुत पहले एक नए कण की कल्पना करनी पड़ी। वैज्ञानिक **एनरिको फर्मी** ने इसे न्यूट्रिनों (छोटा न्यूट्रोन) नाम दिया और इस के गुणधर्म निश्चित किए, पर करीब तीन दशकों तक इस कण को खोज पाना संभव नहीं हुआ। कारण यह है कि फोटोन (प्रकाश के कण) की तरह न्यूट्रिनो का स्थिर द्रव्यमान भी शून्य होता है। इस कथन का अर्थ यही है कि स्थिर न्यूट्रिनो नाम की कोई चीज नहीं है। जन्म लेते ही ये प्रकाश-वेग (एक सेकंड में 3,00,000 किलोमीटर) से दौड़ने लगते हैं। अतः अन्य कणों के साथ इन का टकराव सहज संभव नहीं है। ये पृथ्वी-पिंड से भी आरपार हो सकते हैं। इसी कारण इन्हें पकड़ना आसान काम नहीं था, पर अंत में 1956 में इन्हें भी पकड़ने में वैज्ञानिकों को सफलता मिली।

न्यूट्रिनो और अन्य कणों की प्रक्रियाओं के संदर्भ में परमाणु के सूक्ष्म-जगत में वैज्ञानिकों ने एक नए बल की खोज की है। यह बल नाभिकीय और विद्युत-चुंबकीय बलों से कमजोर है, इसलिए इसे 'मंद बल' का नाम दिया गया है।

परमाणु के भीतर खोजे गए इन ढेर-सारे प्राथमिक कणों के निश्चित द्रव्य-मान हैं, आवेश हैं। इलेक्ट्रोन, प्रोटोन, फोटोन एवं न्यूट्रिनो-जैसे कुछ कण चिर-स्थायी बने रहते हैं,

तो शेष बहुत-से कण एक सेकंड के अरबवें-खरबवें हिस्से से भी कम समय में अपनी जीवन-लीला समाप्त कर देते हैं। सभी प्राथमिक कण अपनी धुरी पर चक्कर लगाते हैं। इसे इन कणों की 'भ्रमि' कहते हैं। इसके अतिरिक्त, प्रत्येक कण के लिए एक प्रतिकण, अर्थात् कण का दर्पण-प्रतिबिंब भी मौजूद है—यह बता ही चुके हैं।

परमाणु के भीतर खोजे गए ये सारे कण 'प्राथमिक कण' नहीं हो सकते। प्राथमिक कण एक ही हो सकता है, जिस से दूसरे कणों का संगठन संभव हो, पर अभी तक ऐसे एक कण की पहचान नहीं हो पाई हैं।

6

तारापथ के तपस्वी-पुच्छल तारे*

डॉ. रमाकान्त पाण्डेय

एक समय था जब मनुष्य प्रकृति की हर घटना को आतंकित दृष्टि से देखता था और उसे भावी उत्पात का सूचक समझता था। इन्द्रधनुष के उगने से लेकर तारा टूटने (उल्कापात) तक की सारी आकाशीय घटनाएं अज्ञान और अंधविश्वास के कारण दैवी अभिशाप की अभिव्यक्ति मानी जाती थी। उल्कापात हुआ, तो लोगों ने समझा कोई पुण्यक्षीण आत्मा स्वर्ग से पृथ्वी पर आ गिरी; रात में चांद के चारों ओर प्रभा-मण्डल बना और देवताओं की सभा बैठ गई और इस प्रस्ताव पर विचार करने लगी कि धरती के मनुष्यों को अपराधों की क्या सजा दी जाए? सबके मन में भय की लहरें दौड़ गई कि कुछ-न-कुछ अपशकुन जरूर होगा। ब्रिटेन में तो एक बार ऐसा भी हुआ कि बिजली चमकी और लोगों ने उसे दैत्य समझ कर उस पर बन्दूक दाग दी।

आकाश में पुच्छल तारे का उगना भी एक अस्वाभाविक और अशुभ सूचक घटना मानी जाती थी। रात के चिर-परिचित नभमण्डल में अचानक किसी पूंछ वाले तारे का उदय होना आकस्मिक तो था ही एक भयमिश्रित विस्मय का भी विषय था। कुछ लोग इसे देश के शासन में भीषण विप्लव या तत्कालीन शासक के अचानक अपदस्थ होने की पूर्व-सूचना मानते थे। किंग लुइस ने पुच्छल तारे को देख कर कहा था "आह! मेरा तो अन्त आ गया। मैं जानता हूं, आकाश में पुच्छल तारे की उपस्थिति राज्याध्यक्ष के पतन की प्रागुक्ति है।" 1527 ई. में एक इतिहासकार ने पुच्छल तारे की चर्चा करते हुए लिखा है "इसे देख कर लोग इतने भयाक्रांत हुए कि कई मृत्यु को प्राप्त हुए और अनेक लोग बीमार पड़ गए। खगोलीय घटनाओं की वास्तविकता से अपरिचित लोग इसे आकाश में देखते ही भयमिश्रित क्रोधवश घूंसा तान कर खड़े हो जाते थे। कई इसे दानव समझ करके गालियां देने लगते थे और कई तो आसमान में धूल फेंकने लगते थे।

कभी-कभी संयोगवश कुछ आकस्मिक सामाजिक या राजनैतिक घटनाएं जरूर ऐसी घटीं जो पुच्छल तारे के उदय-काल में हुईं और अन्धविश्वास में डूबे जनसमूह ने उन्हें

* विज्ञान प्रगति, दिसम्बर 1973

पुच्छलतारे का अशुभ प्रभाव मान लिया। जैसे, 1665 में लन्दन का महाप्लेग, 1666 में लन्दन का भयानक अग्नि काण्ड और हेली के पुच्छल तारे के उगने के दो दिनों बाद किंग एडवर्ड सप्तम की अचानक मृत्यु आदि तथ्यों की इसी संदर्भ में व्याख्या की गई। वस्तुतः पुच्छलतारे को अपशकुन सूचक मानना केवल निराधार प्राकृतिक भय की अभिव्यक्ति है।

अरस्तू जैसे दार्शनिक मानते थे कि ये पुच्छलतारे पृथ्वी से निकल कर आसमान में जाने वाली गर्म गैसों के पुंजीभूत रूप हैं। कुछ लोगों की मान्यता थी कि ये पृथ्वी से चन्द्रमा की अपेक्षा अधिक दूर नहीं होते। सर्वप्रथम, खगोलज्ञ **टाइको ब्राहे** ने 1577 में बताया कि ये पुच्छलतारे आकाश की करोड़ों मील की गहराई से उभर कर नैश क्षितिज पर आते हैं और सौर मण्डल की परिक्रमा करके पुनः शून्य की अतल गहनता में डूब जाते हैं।

'आकाश-सिंधु' की 'मछलियां'

जैसे-जैसे विज्ञान के ज्योति-पंखों पर मनुष्य का चिन्तन ऊपर उठता गया और खगोल-विज्ञान ने अंतरिक्ष के द्वार पर दस्तक देना आरंभ किया वैसे-वैसे अंधविश्वास का कुहासा छंटता गया। अज्ञान-पूर्ण भविष्यवाणियों का स्थान वैज्ञानिक प्रागुक्तियों ने ले लिया और 1758 में पुच्छल तारे के उदय से पहले ही उसकी पूर्वसूचना हेली ने दे दी थी। यह पुच्छल तारा प्रत्येक 76 वर्षों के बाद एक पुराने मेहमान की तरह सूर्य के पास आ जाता है। इस वृहत् पुच्छलतारे को **हेली का धूमकेतु** कहते हैं। 1843 में हेली पुच्छलतारे की पूंछ करीब 5,000 लाख मील लंबी थी। पिछली बार इसका उदय 1910 में हुआ था और 1986 में इसे पुनः देखा जा सकेगा। यह क्रम ईसा पूर्व 240 से देखा जा रहा है। लेकिन, अनुमानतः पहली बार इसका उदय ईसा पूर्व 467 में हुआ था। अभी तक कुल करीब 900 पुच्छल तारों की सूची बनाई जा चुकी है और इनमें से 584 की कक्षाओं का भी परिकलन किया जा चुका है। प्रसिद्ध खगोलशास्त्री **कैप्लर** का कहना था कि "आकाश में उतने की पुच्छल तारे हैं जितनी समुद्र में मछलियां हैं।" वैसे खगोलवेत्ताओं का अनुमान है कि सूर्य की परिक्रमा करने वाले पुच्छलतारों की संख्या करीब 100 अरब है। सचमुच, 'आकाश-सरोवर' में पुच्छलतारों की खोज 'मछली मारने' जैसा ही है। एक मछली मारने के बाद उससे बड़ी मछली मारने के लिए जैसी उतावली होती है वैसी ही जिज्ञासा एक पुच्छल तारा खोजने के बाद दूसरे पुच्छल-तारे की खोज में खगोलज्ञों को होती है।

ये पुच्छल तारे न केवल ग्रहों के सपाट मण्डल में चक्कर काटते हैं, बल्कि सौर निकाय के परिवेशी गोलीय प्रभा-मण्डल में भी घूमते रहते हैं और उनकी कक्षा सूर्य के निकटवर्ती तारों तक (करीब 100,000 करोड़ मील) पहुंच जाती है। ऐसे बहुत कम पुच्छलतारे हैं जो सूर्य के तप्त ज्योति-प्रान्त में पहुंचते हैं और अधिकतर वे खगोलवेत्ताओं के दूरदर्शी 'टेलिस्कोप' की दृष्टि-परिधि से बाहर ही रह जाते हैं।
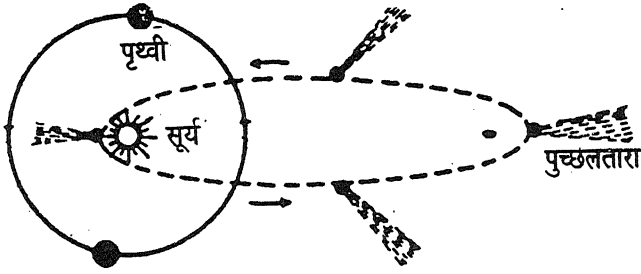
सूर्य के चारों ओर पुच्छल तारे की परिक्रमा का पथ

दूरदर्शी के दृष्टि-विस्तार में आने वाले पुच्छलतारों से पता चलता है कि ये केवल संघनित गैस और शितकणों (ग्रिट) के पुंज होते हैं। संघनित गैसों में मुख्यतः मीथेन, अमोनिया और कार्बनडाइ-आक्साइड होती हैं जिनमें 'बालू' के कण संस्तरित रहते हैं। इनका व्यास कुछ ही मील लंबा होता है और इनका घनत्व पानी के घनत्व से भी कम होता है। पुच्छलतारों के पास अपनी रोशनी नहीं होती। उनकी चमक सूर्य के प्रकाश के परावर्तन के कारण होती है। पुच्छल-तारे के अनिबिड़ ठोस कण और इसके विरल गैसीय पदार्थों से टकराकर सूरज का प्रकाश पृथ्वी तक पहुंचता है। हाल ही में पाया गया है कि पुच्छलतारे के कण एक तरह की प्रतिदीप्ति (फ्लुओरोसेन्स) भी प्रदर्शित करते हैं।

सिर पीछे-पूंछ आगे

सूर्य के प्रभाव-क्षेत्र से दूर पुच्छलतारे की दुम दबी होती है और उसका पता नहीं चलता, लेकिन सूरजं के पास गुजरते ही इसकी पूंछ बाहर निकल आती है। विचित्र बात तो यह है कि पुच्छलतारे की पूंछ उसके सिर से आगे होती है। वस्तुतः यह पूंछ पुच्छलतारे के सिर और सूर्य को मिलाने वाली सरल रेखा पर होती है और सदा सूर्य से दूर फैली रहती है। जर्मन खगोलवेत्ता **केप्लर** की मान्यता थी कि दीप्त पिण्डों पर सूर्य की किरणों द्वारा उत्पन्न दबाव इन खगोलीय यायावरों की पूंछ सूर्य से दूर होने का कारण हो सकता है। **मैक्सवेल** ने अपने परिकलनों द्वारा सिद्ध भी कर दिया कि किसी पूर्णतः काली वस्तु पर (अर्थात् जिससे बिल्कुल परावर्तन न हो) लम्बवत् पड़ने वाली सूर्य की किरणें प्रति वर्ग मीटर 0.4 मि.ग्रा. दबाव डालती हैं। और, किसी चमकीली वस्तु पर यह दबाव 0.8 मिलीग्राम प्रति वर्गमीटर होता है। साथ ही, उसने यह भी सिद्ध किया कि विकिरण का स्रोत और वस्तु के बीच दूरी जितनी ही अधिक होगी दबाव उतना ही कम होगा। सूर्य के पास पहुंचते ही सौर-ऊर्जा के कारण संघनित गैसें वाष्पीभूत होकर पुच्छलतारे के सिर पर फैल जाती है और फिर प्रकाश के दबाव से एक दीप्त गैसीय पुच्छ के रूप में मीलों पीछे तक बिखर

जाती है। ऐसी स्थिति में पुच्छलतारे का आकाशीय विस्तार सूर्य से भी बड़ा हो जाता है, लेकिन उसका भार सूर्य से करोड़ों गुना कम होता है। यदि पुच्छलतारा सूर्य के और निकट पहुंचे तो सौर ऊर्जा से इस स्पंजी पदार्थ में गैस के अनेक विस्फोट स्थल उत्पन्न होते हैं और इसकी पूंछ आकाश में और दूर तक फैल जाती है।

पुच्छलतारे की पूंछ के सूर्य से दूर हटे होने का एक और कारण, वह बल है जिसे 'सौर-वात' की संज्ञा दी जाती है। **सौर-वात** आवेश-युक्त कणों, विशेषरूप से प्रोटानों, की वेगवती झंझा होती है और ये कण विद्युत आवेश से युक्त हाइड्रोजन के नाभिक होते हैं। सूर्य के इन आवेशित कणों की आंधी में उड़ती पुच्छलतारे की गैस ही एक झबरीली पूंछ की आकृति धारण कर लेती है।

पुच्छल तारों की पूंछें लाखों मील लंबी होती हैं। 1811 में देखे गए पुच्छलतारे की पूंछ पृथ्वी से सूर्य तक की दूर से भी अधिक थी। लेकिन, ये पूंछें अत्यंत विरल गैस की रोमिल रेखाओं से बनी होती हैं। इनके घनत्व की तुलना गेहूं के एक दाने के चूर्ण के किसी बहुत बड़े हाल में बिखराब से तुलना की जा सकती है। इसी विरलता के कारण पुच्छलतारे को दृश्य पदार्थ की भी संज्ञा दी जाती है। इन पूंछों की गति भी कभी-कभी बड़ी विचित्र होती है। जब 1959 में **बर्नहाम** नामक पुच्छलतारा सूर्य के पास पहुंचा तो वस्तुतः उसकी पूंछ हिलने लगी। इस पूंछ के दोलन का आयाम 15 डिग्री और आवर्त्तकाल करीब 4 दिन था। जब तक पुच्छलतारा आकाश में देखा गया उसकी पूंछ हिलती पाई गई और इस दुम के हिलने का रहस्य खुलने से पहले ही वह पुच्छलतारा दृष्टि के पार आकाश की अंधेरी घाटियों में डूब गया।
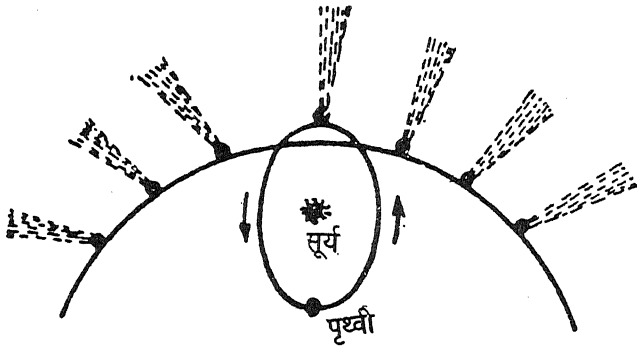
पुच्छल तारे की पूंछ सदैव सूर्य से दूर रहती है।

पुच्छलतारों की गति : अपना-अपना भाग्य

एडमण्ड हेली (1656-1742) ने सबसे हपले यह बताया कि पुच्छलतारे सौरमण्डल के ही सदस्य हैं जो दीर्घवृत्तीय कक्षाओं में घूमते रहते हैं। अधिकांश पुच्छलतारे संभवतः सौर

निकाय के मौलिक सदस्य हैं जो अनंत काल से सूर्य की परिक्रमा कर रहे हैं। एक ठण्डे विक्षुब्ध दिक्प्रदेश से सूर्य की ओर इनके खिंचे आने का कारण अनुमानतः इनके पास से गुजरने वाले तारों का प्रभाव ही है। एक बार ग्रहों के बीच में पड़ जाने पर ये पुच्छलतारे अनाहत रूप से अपनी करोड़ों वर्ष की लंबी यात्रा के बाद भी सूर्य के समीप से गुजरने के लिए विवश होते हैं या, किसी बृहत् ग्रह के गुरुत्वकीय झटके से ये ऐसी कक्षा में आ जाते हैं जिसके अधीन इन्हें सूर्य के पास होकर जाना पड़ता है।

करीब 100 अरब पुच्छल तारे सूर्य के चारों ओर प्रभा मण्डल के रूप में कम-से-कम 1200 करोड़ मील की दूरियों में चक्कर काटते रहते हैं। इनमें से अधिकतर प्रभा मण्डल में ही रहते हैं, लेकिन कभी-कभी कुछ पुच्छलतारे किसी ग्रह या तारे के गुरुत्वकीय झटके से अपनी लीक छोड़ देते हैं। ऐसी स्थिति, में किसी पुच्छलतारे की तीन गतियां संभव हैं : (1) यह सूर्य के चारों ओर एक छोटी-सी नई कक्षा में घूमना आरंभ कर सकता है, जैसे हेली का पुच्छलतारा जो प्रत्येक 76 वर्षों में सौर-निकाय की परिक्रमा करता है, (2) यह सूर्य के गिर्द एक कुण्डली (लूप) बनता हुआ पुनः अपने प्रभामण्डल में लौट जा सकता
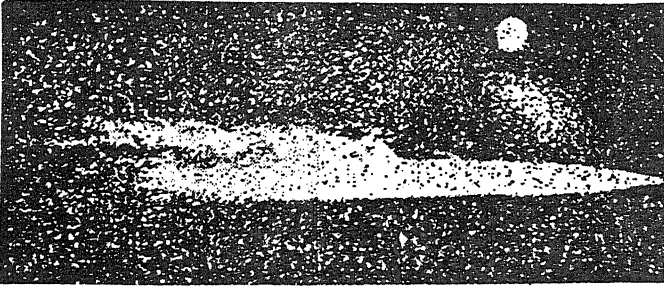
हेली का धूमकेतु जिसकी पूंछ से होकर 13 मई 1910 को पृथ्वी गुजरी थी, लेकिन कोई दुर्घटना नहीं हुई। इस धूमकेतु का आवर्त्त काल 76 वर्ष है। 1986 में यह धूमकेतु (पुच्छलतारा) पुनः देखा जा सकेगा।

है, या (3) वह सूर्य के गोलक में इतने भीतर तक प्रवेश कर सकता है (खंडित रेखा, चित्र ऊपर) जहां सारा पुच्छलतारा सौर-ज्वाला में अंतिम रूप से विचूर्णित हो जाए।

अंतिम क्षणों की व्यथा

सामान्यतः सूर्य की परिक्रमा करते हुए पुच्छलतारे हजारों लाखों वर्ष दूर चले जाते हैं, लेकिन कई पुच्छलतारे ऐसे भी हैं जो 3-10 वर्षों में पुनः सूर्य के समीप लौट आते हैं। लेकिन, यह सूर्य नमस्कार उन्हें काफी महंगा पड़ता है। उनकी दीप्ति क्रमशः कम होती जाती है और एक दिन प्रकाश के धुंधले धब्बे के रूप में गगन-गुहा में खो जाते हैं। ऐसे 64 पुच्छलतारों में से आधे पहले ही दृष्टि से ओझल हो चुके हैं। ये तारे जितनी ही बार

सूर्य के समीप आते हैं उतनी ही बार उनका 'हृदय-प्रदेश' वाष्पीभूत होकर पूंछ के रूप में विरल होकर विनष्ट होता जाता है फिर कई दशकों के बाद ये पुच्छलतारे निर्द्रव्य होकर आकाश में बिखर जाते हैं। अपेक्षित कालान्तराल के बाद भी वे नहीं लौटते तब उन्हें सदा के लिए खोए हुए पुच्छलतारों की सूची में दर्ज कर लिया जाता है।

कभी-कभी पुच्छलतारे सूर्य से अंतिम विदा लेते समय एक अजीब हालत से गुजरते हैं। इसका एक अच्छा उदाहरण **बाइला का पुच्छलतारा** है जो 1846 में दो हिस्सों में बट गया। दोनों हिस्से आकाश में साथ-ही-साथ गतिशील रहे और जब उन्हें 1852 में देखा गया तो उनके बीच की दूरी कुछ बढ़ गई थी और उनकी रोशनी धुंधली हो गई थी। धीरे-धीरे वे सूर्य के सान्निध्य में जाकर उसके प्रकाश-वृत्त में खो गए। फिर उन्हें 1859
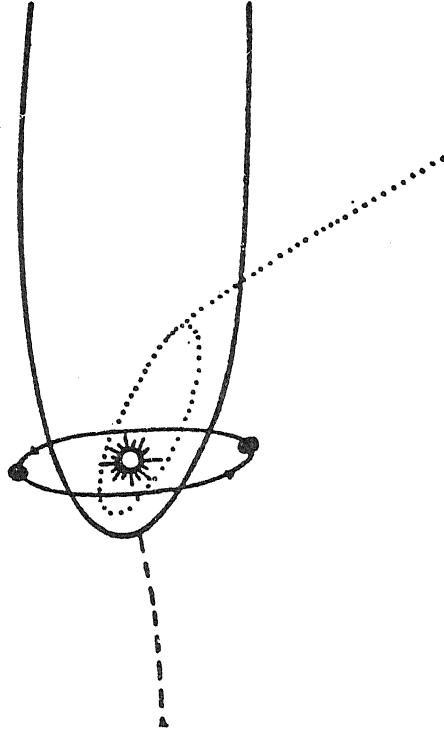
सूर्य के निकट पहुंचने पर पुच्छलतारे की संभावित गतियां।

और 1865 में नहीं देखा गया, लेकिन 27 नवंबर 1872 की रात में एक विचित्र उल्का-वर्षण हुआ जब प्रति मिनट 100 से भी अधिक तारे टूटते देख गए और

ज्योति-कणों की बौछार बाइला के पुच्छलतारे की कक्षा के अपेक्षित बिंदु पर ही हुई। बाइला का पुच्छलतारा अपनी आखिरी दीप्ति के साथ शून्य में सदा के लिए विलीन हो गया। अन्य अनेक पुच्छलतारों का अंत ऐसी ही स्थिति में हुआ है जिनमें टेलर का पुच्छलतारा (1916), पेपराइन-पुच्छलतारा (1897) वेस्टफाल-पुच्छलतारा (1930) और एन्सर-पुच्छलतारा (1926) विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

पृथ्वी से टक्कर : कदाचित्, मगर कस कर

सामान्यतः, पुच्छलतारे की पृथ्वी से टकराने की संभावना अत्यंत कम है। संभव है कि एक करोड़ वर्ष में कोई पुच्छलतारा एक बार पृथ्वी से टकरा जाए। फिर भी, बीसवीं सदी के पहले दशक में एक पुच्छलतारे के पृथ्वी से टकराने का प्रमाण मिला है। 30 जून 1908 में साइबेरिया के तुंगुस्का नदी के आस-पास के बीहड़ जंगलों में एक भयानक विस्फोट
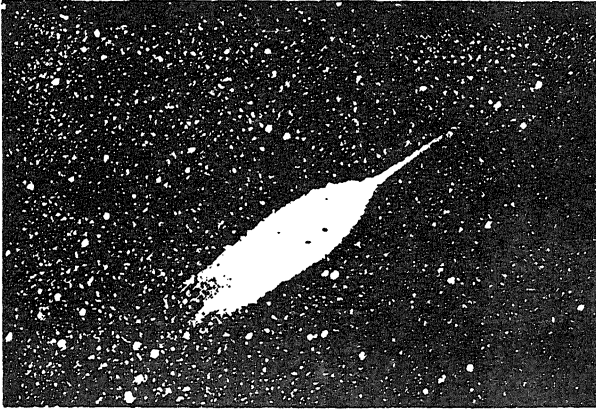
1956 में दृष्टिगोचर हुआ एरेण्ड रोलैण्ड पुच्छल तारा। चित्र में सूच्याकार दिखने वाला भाग एक पंखे की आकृति का होता है। यह पुच्छल तारा कभी भी प्रगट हो सकता है।

हुआ। किसानों ने आसमान में आग का बहुत बड़ा गोला देखा और मीलों तक धरती कांप उठी थी। विस्फोट स्थल से 30 मील की दूरी तक वृक्ष जड़ से उखड़ गए थे। उस परिक्षेत्र के लोगों ने जबर्दस्त धक्का महसूस किया और 100 मील दूर तक खिड़कियों के शीशे फूट गए थे। जंगल में चरते हुए 5,000 बारहसिंघों के प्राण-पखेरू उड़ गए और 400 मील दूर चलने वाली एक ट्रेन झटके से अचानक रुक गई। विस्फोट के दबाव का प्रभाव बैरोमीटरों पर इंग्लैण्ड तक पड़ा था। फिर भी, आश्चर्य का विषय था कि किसी व्यक्ति की जान नहीं गई। सारे उत्तरी यूरोप में पूरे सात दिन तक संध्याएं काफी लंबी

और मनोहर दीखती रहीं। रात्रि के 10 से 12 बजे तक भी इतनी रोशनी रहती थी कि उसमें किताबें आसानी से पढ़ी जा सकती थीं। इस विस्फोट के कारण धरती पर न तो कोई विवर (क्रेटर) पाया गया और न कोई उलकापिण्ड ही देखा गया। यह घटना कई वर्षों तक एक रहस्य बनी रही अन्ततः 1960 में रूसी वैज्ञानिक **फ्रेजेन्काफ** ने सिद्ध किया कि वह विस्फोट निस्संदेह किसी पुच्छलतारे की पृथ्वी से सीधी टकराहट के कारण हुआ था जिसका व्यास कुछ मील और भार करीब दस लाख टन रहा होगा। इस टकराहट का वेग लगभग 25 मील प्रति सेकेण्ड था। रात्रिकालीन दीप्ति की वजह यह थी कि पुच्छलतारे की पूंछ पृथ्वी के वायुमण्डल के ऊर्ध्व-प्रदेश में बिखर गई थी और इन बिखरे कणों से सूर्य का प्रकाश परावर्तित होकर पृथ्वी पर नैश-ज्योति की अनुपम छटा की सृष्टि करता था।

पुच्छलतारों का जन्म : एक जटिल पहेली

पुच्छलतारों का अन्त जितना मनोरंजक है उनकी उत्पत्ति उतनी ही रहस्यपूर्ण है। अभी तक यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता कि ये पुच्छलतारे किस रहस्य-लोक से आते हैं। **आर.ए. लिटिल्सन** के अनुसार जब सूर्य अंतर-तारकीय आकाश से गुजरा तो उसके साथ तारकीय गैस और धूलि के दबाल भी सिमट आए और इन्हीं गैसों और रजकणों के संगुंफन से पुच्छलतारे उत्पन्न हुए, अर्थात्, पुच्छलतारे सूर्य की ही संतति हैं। यदि इन्हें सूरज के नाती की संज्ञा दी जाए तो कोई अत्युक्ति नहीं होगी। नीदरलैण्ड के खगोलशास्त्री **जे.एच. ऊर्ट** की मान्यता है कि किसी समय मंगल और बृहस्पति की कक्षाओं के बीच एक अन्य ग्रह था जो आंतरिक प्रतिबल या किसी वाह्य विस्फोट के कारण चूर-चूर हो गया और उसके कुछ टुकड़े सूर्य के गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्र से बाहर चले गए तथा कुछ हिस्से अपनी वृत्तीय कक्षा में क्षुद्र ग्रहों (ऐस्टेरायड) के रूप में घूमते रहे। इस विखण्डित ग्रह के शेष भाग सूर्य के चारों ओर विशाल दीर्घवृत्तीय कक्षाओं में चक्कर काटने लगे, जिन्हें पुच्छलतारा कहा गया। ऊर्ट का मत है कि उस काल्पनिक ग्रह का 5 प्रतिशत अंश सौरमण्डल से 150,000 खगोलीय एकक (एक खगोलीय एकक 9.3 करोड़ मील होता है) की दूरी पर थे। सामान्यतः पुच्छलतारे अपने मेघ-मण्डल में सूर्य के सापेक्ष अत्यंत मंदगति से चलते हैं या स्थिर-प्राय रहते हैं। लेकिन, उनमें से कुछ, तारों के गुरुत्वीय विक्षोभ के कारण सौर-मण्डल में प्रवेश कर जाते हैं। यह विक्षोभ इतना प्रबल होता है कि पुच्छलतारों की कक्षाएं अक्सर परवलय का रूप ले लेती हैं। कुछ वैज्ञानिकों की धारणा है कि पुच्छलतारे ग्रहों द्वारा शून्य में उद्‌गीर्ण (इरप्टेड) द्रव्य की परिणति है। अभी तक निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है कि अंतरिक्ष के ये यायावर किस तमस-लोक से भटकते चले आते हैं।

एक और दानव पुच्छलतारा

विशाल दूरदर्शियों और रेडियो-टेलिस्कोपों से असीम आकाश का अवलोकन करते समय खगोलवेत्ताओं को प्रतिवर्ष औसत छः पुच्छलतारे मिलते हैं जिनमें प्रायः सभी इतने छोटे होते हैं कि उन्हें दूरबीनों द्वारा ही देखा जा सकता है। लेकिन, कभी-कभी बृहत् प्रकाशमान और नंगी आंखों से दीख पड़ने वाले पुच्छलतारे रात्रिकालीन आकाश में उगने से वर्षों या महीनों पहले ही पहचान लिए जाते हैं। हाल ही में हेम्बर्ग वेधशाला के खगोलवेत्ता **कोहोउटेक** ने पिछले 2 मार्च को एक ऐसे पुच्छलतारे के उदय की सूचना दी जो हेली के पुच्छलतारे से भी दसगुना अधिक प्रकाशमान होगा। इस पुच्छलतारे का नाम कामेटएफ रखा गया है, क्योंकि यह इस वर्ष खोजे गए पुच्छलतारों में छठवां (अंग्रेजी के अक्षर क्रम से) है।

आज के विज्ञान-युग में अंधविश्वास और भय का स्थान सहज अबौद्धिक विस्मय ने ले लिया है। पुच्छलतारे तारा-पथ के जटिल तपस्वी है जो कभी-भी अन्तरिक्ष के अज्ञात प्रदेश से सौर परिवार का आतिथ्य ग्रहण करने चले आते हैं। वे किसी देवी प्रकोप का पूर्वाभास नहीं देते। उन्हें तटस्थ और भ्रान्तिहीन भाव से ही देखते हैं। आशा है, कोहोउटेक का पुच्छलतारा किसी खगोलीय पक्ष पर प्रकाश डालेगा। खगोलवेत्ता अपनी-अपनी वेधशालाओं में इस रहस्यमय आकाशीय पिण्ड के प्रेक्षण के लिए सतर्क और संबद्ध है। भारत में कोडाईकनाल वेधशाला में भी इस धूमकेतु का अध्ययन किया जा रहा है।

7

इक्कीसवीं सदी का आहार : शैवाल*

पृथ्वीनाथ पाण्डेय

शैवाल पृथ्वी पर जीवन के प्रारंभिक रूपों में से एक है। इसमें जड़ें, तना अथवा पत्तियां नहीं होतीं। ये लाखों सूक्ष्मदर्शी इकाई कोशिकाओं के बने होते हैं जिन्हें बिना सूक्ष्मदर्शी यन्त्र की सहायता के नहीं देखा जा सकता। यह समुद्री केकड़ों, सीपियों, मछली की कुछ जातियों और सूक्ष्म प्राणियों का प्रिय खाद्य है। शैवाल 0.5 माइक्रोन से लेकर सैकड़ों फुट तक लंबे हो सकते हैं। गहरे हरे रंग के ये पौधे पृथ्वी से भुखमरी मिटा कर मानव जाति के लिए वरदान सिद्ध हो सकते हैं। यह हिसाब लगाया गया है कि यदि सन् 2050 में पूरे विश्व की 70,000 लाख जनसंख्या की खाद्य तथा ऊर्जा आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए शैवाल उगाया जाए तो विश्व के केवल 19 प्रतिशत क्षेत्रफल की आवश्यकता होगी।

नए प्रयास

इन लघु कोशिकाओं को महत्वपूर्ण एवं भावी भूमिका का आभास पहले-पहले द्वितीय विश्व-युद्ध के कुछ पूर्व प्रयोगशाला परीक्षणों से प्राप्त हुआ था। इसके बाद इस दिशा में अनुसंधान बड़ी तेजी से हुए। संयुक्त राज्य अमेरिका की वायु सेना का अन्तरिक्ष औषधि विभाग काफी समय से अन्तरिक्षयानों में आक्सीजन तथा आहार के स्रोत के रूप में शैवाल उत्पादन की संभावना की खोज कर रहा है। परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि अंतरिक्षयान में उन पारदर्शी कुण्डों में शैवाल उगाया जा सकता है जिन्हें धूप मिलती हो। कैलिफोर्निया विश्वविद्यालय के वैज्ञानिक संयुक्त राज्य जल सेना के लिए यह ज्ञात करने का प्रयास कर रहे हैं कि क्या शैवाल का उपयोग वायु रुद्ध स्थानों तथा नई परमाणुविक पनडुब्बियों में आक्सीजन पहुंचाने तथा वहां से कार्बन डाइआक्साइड दूर करने के लिए किया जा सकता है। यही नहीं कुछ वैज्ञानिक शैवाल में बहुमूल्य औद्योगिक पदार्थों के विपुल भण्डार की संभावनाओं की खोज कर रहे हैं। कैलिफोर्निया में कुछ वैज्ञानिक इस बात की खोज कर रहे हैं कि शैवाल का उपयोग कुक्कुट आहार में किस सीमा तक किया

* विज्ञान प्रगति, फरवरी 1974

जा सकता है।

शैवाल की खेती

शैवाल की हजारों जातियां ऐसी हैं जिन्हें सुगमता से उगाया जा सकता है किंतु क्लोरेला के प्रति वैज्ञानिक काफी आशावान है। इसके बारे में पिछले दो दशकों से अध्ययन किया जा रहा है। कार्बनिक विलयन अथवा प्राकृतिक जल में शैवाल उगाने की अनेक विधियां विकसित की गई हैं। जल से भरा पात्र, खनिज विलयन, ह्यूमस पदार्थ युक्त तत्व तथा कार्बनिक माध्यम मौजूद हो तो इसे उगाना कठिन नहीं। शैवाल का एक अल्पअंश लेकर इसे जल से भरे कल्चर-युक्त पात्र में रख कर इष्टतम प्रकाश, साथ ही कार्बन डाइआक्साइड तथा अन्य पोषक तत्व उपलब्ध कराइए; कुछ सप्ताहों में पर्याप्त मात्रा में शैवाल तैयार हो जाएगा। शैवाल बहुत तेजी से वृद्धि करता है। इसे समुद्र, झील, कहीं भी उगाया जा सकता है। मौसमी भिन्नताएं इसके मार्ग में बाधक नहीं हैं इसलिए इसे पूरे वर्ष उगाया जा सकता है। शैवाल का उत्पादन मुख्यतः उसकी प्रकाश संश्लेषण क्रिया पर निर्भर होता है।

तुलनात्मक अध्ययन

समझा जाता है कि शैवाल अनाज के पौधों की तुलना में आहार के बेहतर स्रोत है। उच्चवर्गीय पादप प्रकाश संश्लेषण द्वारा जीवित रहते हैं। इनका केवल कुछ भाग ही मानव अथवा पशुओं के काम आता है। कृत्रिम-संवर्ध की दशा में पोषक कार्बन डाइआक्साइड तथा प्रकाश ऊर्जा में वृद्धि करके प्रकाश-संश्लेषण की दर बढ़ाई जा सकती है किन्तु अनाज के पौधे संवर्ध माध्यम में बड़े पैमाने पर नहीं लगाए जा सकते। शैवाल में संश्लेषण की आधारभूत प्रक्रिया क्लोरोफिलधारी जीवों में होने वाली संश्लेषण प्रक्रिया सदृश ही होती है और क्लोरेला कोशिका में ठीक वही प्रक्रिया होती है जैसी गेहूं अथवा धान के पौधों में।
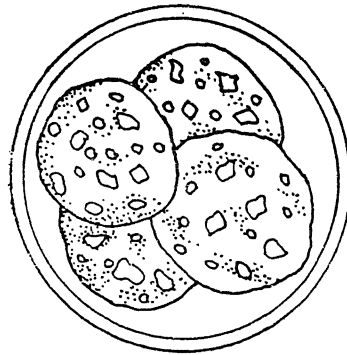
क्लोरेला की वानस्पतिक कोशिकाएं

उच्चवर्गीय पौधों की पत्तियां उन पर पड़ने वाली केवल 1.5 से 2 प्रतिशत प्रकाश ऊर्जा का उपयोग करने में ही सक्षम होते हैं जबकि क्लोरेला संपर्क में आने वाली 2.5 से 13.5 प्रतिशत ऊर्जा को कार्बनिक पदार्थ के रूप में आबद्ध कर सकता है। क्लोरेला

की विभिन्न किस्में 5 से लेकर 35° सें. ताप तक भी उगाई जा सकती हैं जबकि फसलों के संबंध में ऐसा संभव नहीं है।

प्रत्येक शैवाल कोशिका स्वयं में एक आहार उत्पादन कारखाने की भांतिकार्य करती है। यह अपनी भित्तियां द्वारा कार्बन डाइआक्साइड अवशोषित करती है और अपने निकटवर्ती वातावरण से नाइट्रोजन, फास्फोरस तथा अन्य तत्व प्राप्त करती है।
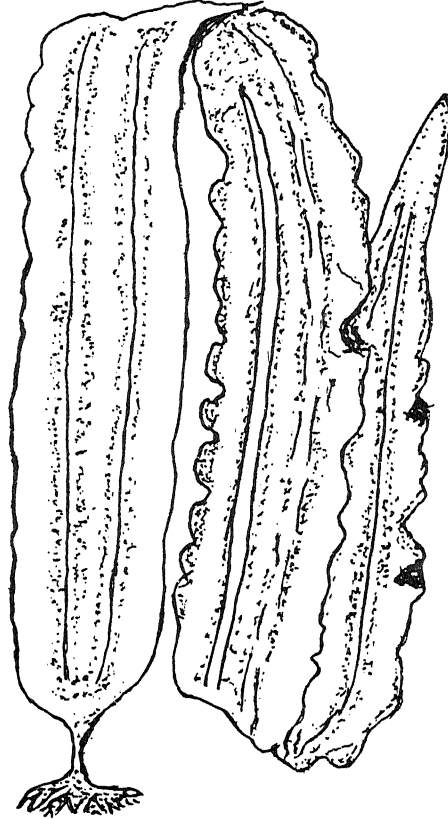
लेमिनेरिया जेपोनिका शर्करा अंश से परिपूर्ण है। जापानी इसका उपयोग मांस के मीठे उत्पाद तैयार करने के लिए करते हैं।

इसके बाद उपलब्धि क्लोरोफिल की सहायता से सूर्य के प्रकाश की उपस्थिति में इन रासायनिक पदार्थों को प्रोटीन, वसा, कार्बोहाइड्रेट तथा प्रत्येक अन्य जटिल यौगिकों में परिवर्तित कर देती है।
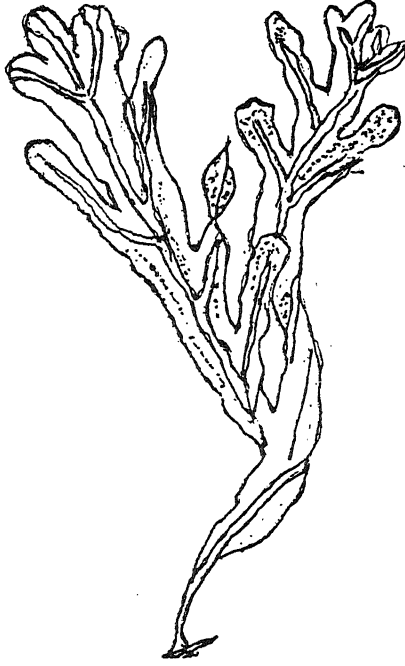
रॉक वीड, जो पत्थरों के साथ संलग्न पाया जाता है।

एक आदर्श खाद्य पदार्थ

समुद्री शैवाल के कोलाइडी तत्वों का प्रयोग काफी समय से आहार के रूप में होता आ रहा है। हाल के परीक्षणों से ज्ञात हुआ है कि कुछ एक कोशिका हरे शैवाल यथा क्लोरेला का उपयोग मानव तथा पशुओं के आहार हेतु प्रोटीन स्रोत के रूप में भी किया जा सकता है। इसमें वसा, स्टार्च, विटामिन तथा जीवन के लिए आवश्यक अन्य पोषक तत्व भी होते हैं। वैज्ञानिकों का विश्वास है कि शैवाल से हर प्रकार के स्वाद का मजा मिल सकता है। कोशिकाओं को जल से अलग करने के लिए शैवालयुक्त हरे द्रव की अल्प मात्रा लेकर अपकेन्द्रण यंत्र में रख कर कुछ मिनट तक घूर्णित करते हैं। अवशिष्ट पदार्थ जैतून के रंग का हरा पेस्ट होता है। यह स्वाद में कुछ अक्षोभक तथा थोड़ा तेलीय होती है। यह उल्लेखनीय है कि ताजे अथवा संसाधित शैवाल का स्वाद कृत्रिम सुगंधियों द्वारा आसानी से बदला जा सकता है। शैवाल अन्य प्रोटीनधारी ताजे पदार्थों के समान ही आसानी से विघटित हो जाता है, पर कोशिकाओं को सुखा कर पाउडर बना कर काफी समय तक सुरक्षित रखा जा सकता है।

क्लोरेला के बारे में पाक संबंधी कुछ रोचक तथ्य सामने आए हैं। तोक्यो के टोकूगावा जीवशास्त्रीय अनुसंधान संस्थान ने शैवाल से चपाती, लपसी, सूप तथा आइसक्रीम इत्यादि तैयार की है। समझा जाता है कि आटे में क्लोरेला चूर्ण मिला कर चपाती बनाने से उसके प्रोटीन तथा वसा अंश में 20 प्रतिशत की वृद्धि हो जाती है। ऐसे आहार में विटामिन **ए** तथ **सी** की भी प्रचुरता होती है। दूसरे शब्दों में शैवाल से बने खाद्य पदार्थ मांस जैसे पोषक होते हैं। जब क्लोरेला पाउडर आइसक्रीम में मिलाया जाता है तो शैवाल के गहरे रंग के कारण आइसक्रीम का रंग बड़ा आकर्षक हो जाता है।

अधिक जन-संख्या वाले कुछ देश शैवाल का उपयोग एक प्रोटीन बहुल पदार्थ के रूप में करने भी लगे हैं। जापानी विभिन्न प्रकार की लगभग 20 शैवाल जातियों का उपयोग कर रहे हैं। संयुक्त राज्य अमेरिका, इंग्लैंड, नीदरलैंड तथा जापान में आहार के एक नए स्रोत के रूप में एक-कोशिकीय शैवाल क्लोरेला के बारे में सक्रिय अनुसंधान हो रहे हैं। इस संदर्भ में उल्लेखनीय है कि अब तक हुए अनुसंधानों से यह संकेत मिलता है कि क्लोरेला का उपयोग मानव तथा पशु आहार के रूप में किया जा सकता है।

पाठकों को जानकर आश्चर्य होगा कि भारत के कुछ पिछड़े इलाकों में शैवाल का उपयोग खाद्य पदार्थ के रूप में एक काफी समय से होता आ रहा है। मणिपुर राज्य के लोग एक प्रकार का शैवाल तल कर बड़े चाव से खाते हैं। बाजार में इसकी बिक्री 'नुगशम' नाम से होती है। इस शब्द का अर्थ 'पत्थर का लोम' है। यह नाम संभवतः इसीलिए पड़ा क्योंकि यह शरद् ऋतु में पत्थरों के साथ संलग्न पाया जाता है। इसके तन्तु काफी लंबे होते हैं और लंबे बालों की एक मोटी तथा उलझी हुई लट जैसे दिखाई देते हैं। इस ताजे शैवाल का रंग गहरा हरा होता है तथा सूखने पर बैंगनी-हरे रंग का हो जाता है।

पैलियो इंजीनियरी*

मनहर चौहान

प्रत्येक प्राणी का ढांचा निर्मित और विकसित करते समय प्रकृति ने इंजीनियरों की तरह सोच-विचार एवं कार्य किया है। चूंकि अधिकांश प्राणी चल-फिर सकते हैं, उनका ढांचा लाजिमी तौर पर ऐसा होना चाहिए, जिससे वे अपने शरीर को व्यर्थ ही लुढ़कने अथवा झूल जाने से बचा सकें और आवश्यकतानुसार, आवश्यक गति से उसे इधर-उधर ले भी जा सके। हड्डियों का आकार-प्रकार, जोड़ों की बनावट, मांसपेशियों की मजबूती आदि हर दृष्टि से प्रत्येक प्राणी इंजीनियरी का सुंदर उदाहरण होता है। वे प्राणी भी, जो अति प्राचीन काल में जीवित थे, किंतु आज लुप्त हो चुके हैं, जब फॉसिल के रूप में धरती में से खुद कर निकलते हैं, तो वास्तव में हमारे सामने तत्कालीन इंजीनियरी का शानदार नमूना प्रस्तुत करते हैं—ऐसा नमूना, जिसकी जांच यदि इंजीनियरी की दृष्टि से की जाए, तो उस युग की अनेकानेक बातों के रहस्य खुलते चलें।

किंतु विडंबना यह है कि आधुनिक फॉसिल-विज्ञानी फॉसिल के प्राप्त नमूनों को इंजीनियरी की कसौटी पर कसने के आदी नहीं हैं। फॉसिल का परीक्षण करते समय वे रसायन, भौतिकी और भू-विज्ञान का आश्रय लेते हैं, किन्तु इंजीनियरी की उपेक्षा कर जाते हैं—जबकि किसी इंजीनियर का यांत्रिकी ज्ञान जीवित अथवा लुप्त दोनों श्रेणी के प्राणियों का अध्ययन करने में अद्‌भुत सहायता दे सकता है। इंजीनियरों के इस महत्व को प्राणि-विज्ञानियों ने तो निस्संकोच स्वीकार किया है, किन्तु फॉसिल-विज्ञानी संकोचशील रहे हैं।

प्रसन्नता की बात है कि यह संकोच अब क्रमशः टूट रहा है। फॉसिल-विज्ञानियों के सामने भी इंजीनियरी का महत्व स्पष्ट होने लगा है और **'पैलियोइंजीनियरी'** नाम से विज्ञान की एक नई शाखा खुल गई है।

डिप्लोडोकस

प्राणियों की शरीर-रचना में प्रकृति किस प्रकार इंजीनियरों का आश्रय लेती है, इसके

* विज्ञान प्रगति, मई 1974

उदाहरणस्वरूप हम डिप्लोडोकस नामक डाइनोसॉर की चर्चा करें। डिप्लोडोकस लगभग 28 मीटर लम्बा हुआ करता था। उसका वजन 40 टन से कम कदापि न रहा होगा। उस आकार और वजन को सहारा देने के लिए प्रकृति ने उसे चार पैर दिए—दो पैरों से उसका काम नहीं चल सकता था। डिप्लोडोकस का शरीर, बीच से, झूल क्यों नहीं जाता था?
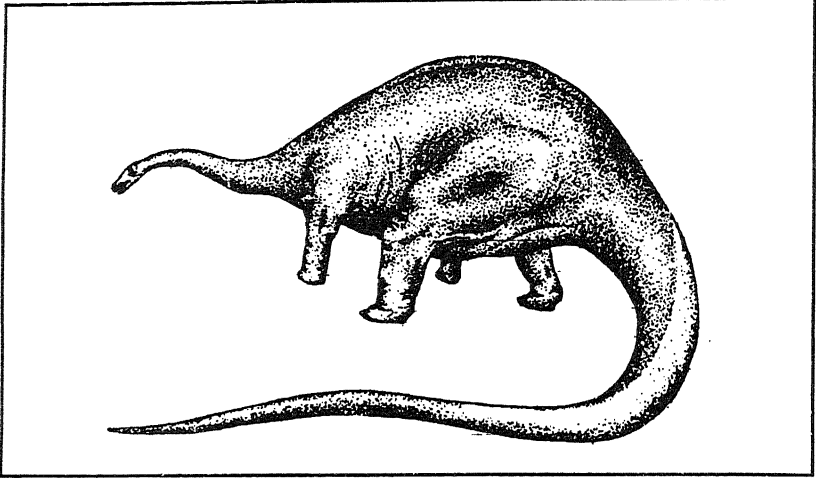
छोटे सिर पर विशाल शरीर वाला जन्तु डिप्लोडोकस : यह 28 मीटर तक लम्बा और 40 टन जैसा भारी तक होता था।

क्या डिप्लोडोकस सूखी धरती का नहीं, बल्कि पानी का प्राणी था? पानी की उत्प्लावकता, उस के पैरों पर, वजन आने ही न देती होगी... किंतु डिप्लोडोकस पानी का प्राणी था ही नहीं। यदि उसके ढांचे पर इंजीनियरी की दृष्टि से विचार करें, तो प्रकट हो जाएगा कि डिप्लोडोकस का ढांचा ऊपर से मेहराबी पुल जैसा और नीचे से झूला पुल जैसा था। आगे लंबी गर्दन और पीछे लंबी दुम का विस्तार बाहुधरन की तरह हुआ करता था। इन हिस्सों में मेरु-स्तंभ की स्थिति संपीडन-[illegible] जैसी थी। उसके ऊपर से तंत्रिका कण्टक के समानान्तर, एक कण्डरा गुजरती थी। उसने तनाव अवयव का काम किया। अंस एवं श्रोणि प्रदेशों में कण्टक का विस्तार सर्वाधिक था, क्योंकि इन्हीं प्रदेशों पर वजन भी सर्वाधिक पड़ता है।

डिप्लोडोकस के शरीर, दुम और गर्दन की शक्तियों का अभिसरण मेखला में होता था और वहां से वजन का स्थानान्तर होता था चारों पैरों की ओर—जो धरती से समकोण बनाते हूए सीधे खड़े रहते थे। समकोण पर सीधी खड़ी स्थिति भारी वजन सहने के लिए आदर्श है। यह आदर्श स्थिति ही बता देती है कि डिप्लोडोकस को अपना भारी वजन 'भारी' नहीं पड़ता था—वह पानी में निवास नहीं करता था।
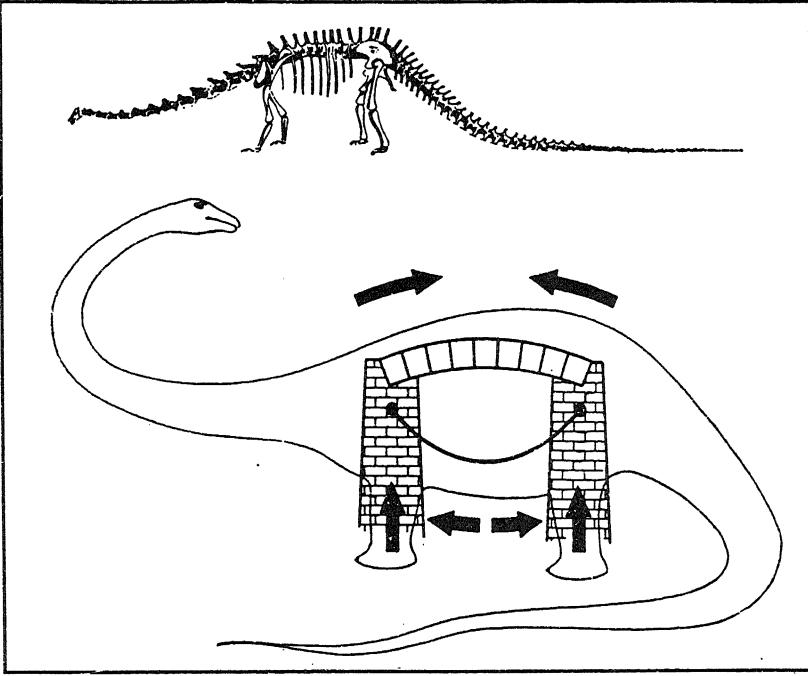
(ऊपर) डिप्लोडोकस का ढांचा; (नीचे) इंजीनियरी के विद्यार्थी की दृष्टि में डिप्लोडोकस के शारीरिक ढांचे की बनावट मेहराब (आर्च) और झूला (सस्पेंशन) पुलों के तुल्य ढांचों का समन्वय

सौरोपाड्स

सन् 1971 के प्रारंभिक दिनों में येल विश्वविद्यालय के राबर्ट बैक्कर ने सौरोपाड्स के अस्थिपंजरों का पुनः अध्ययन करने के बाद निष्कर्ष निकाला कि डिप्लोडोकस की तरह सौरोपाड्स भी थल का प्राणी था, न कि पानी का। यह निष्कर्ष उन्होंने रक्त अस्थि-पंजरों का इंजीनियरी की दृष्टि से अध्ययन करके प्राप्त किया। उन्होंने सामान्य शरीर-रचना को ही नहीं, दुम और दांतों को भी इस कसौटी पर कसा। डिप्लोडोकस की चर्चा करते हुए उन्होंने कहा कि उसका आकार-प्रकार उन दीर्घ प्राणियों जैसा ही था जो सूखी धरती पर हैं—जैसे, हाथी आदि। डिप्लोडोकस की अनुप्रस्थ-काट (क्रास सेक्शन) गहरी और अपेक्षाकृत संकरी है। वह उस तरह चपटी नहीं है, जैसी कि पानी में बिहार करने वाले प्राणियों को होती है—यथा दरियाई घोड़ा।

प्राणियों के ढांचों की अनुप्रस्थ-काट का अध्ययन तुरन्त ही इस क्षेत्र में इंजीनियरी का महत्व उजागर करता है। इंजीनियरी के सिद्धांत के अनुसार भारी वजन को सहारा देने के लिए संपीडन अवश्य (मेरुदण्ड) को शीर्ष पर होना चाहिए और तनाव अवयव नीचे होना चाहिए—अधिकतम संभव दूरी पर। पानी में चूंकि उत्प्लावकता का लाभ मिल जाता है अतः भारी वजन कोई समस्या नहीं बनता। इसीलिए मछली का मेरुदण्ड शीर्ष पर न

होकर मध्य में होता है, जोकि लचीलेपन के लिए सर्वश्रेष्ठ स्थिति है। लचीलापन, तैरने की क्षमता के लिए, अत्यंत आवश्यक है। दरियाई घोड़ा चूंकि पानी और सूखी धरती, दोनों का प्राणी है, उसकी शरीर-रचना में प्रकृति ने 'समझौते' से काम लिया है।

अंडा : इंजीनियरी दृष्टि में

इंजीनियरी की दृष्टि से, अब हम अण्डे की चर्चा करें। इंजीनियरी के सिद्धांतानुसार– कोई भी बड़ा आकार, अपने विकास के प्रत्येक चरण में, इतना मजबूत अवश्य होना चाहिए कि स्वयं अपना भार वहन कर सके। यह नियम जिस प्रकार प्राणियों पर लागू होता है, उसी प्रकार अण्डे पर भी। अण्डे के भीतर एक तरल स्थैतिक दाब, निरंतर बना रहता है। अण्डा अपना अस्तित्व बनाए नहीं रख सकता, यदि इस दाब को वह झेल न सके। छोटे अंडे के भीतर तरल-स्थैतिक दाब कम रहता है, अतः उसका खोल पतला होता है। आकार बढ़ने के साथ दाब बढ़ता है और उसे झेलने के लिए खोल भी मोटा होता जाता है। किंतु खोल इस सीमा तक मोटा नहीं हो सकता कि भीतर का प्राणी जब बाहर निकलना चाहे, तो अण्डे को भीतर से फोड़ ही न सके। खोल की मोटाई एक निश्चित सीमा से आगे नहीं बढ़ सकती। इसलिए, इसी अनुपात में, अण्डे का आकार भी एक निश्चित सीमा से आगे नहीं बढ़ सकता–चाहे वह अण्डा कितने ही बड़े प्राणी का क्यों न हो।

पक्षी

इंजीनियरी के नियम, उड़ने वाले प्राणियों में, और भी ज्यादा कठोरता से लागू होते हैं। अव्वल तो, उनका आकार ही वायुगतिकीय होना चाहिए, जिसके नियम काफी उलझनपूर्ण हैं। दूसरी शर्त, उनका वजन कम हो और कम वजन के बवजूद उन में शक्ति कम न हो। ज्यों-ज्यों प्राणी का आकार बढ़ता है, त्यों-त्यों यह दूसरी शर्त कठिन से कठिनतर होती जाती है। बड़े आकार के कारण वह प्राणी ग्लाइडिंग की क्षमता को बढ़ा लेता है, किंतु जब डैने फटकार कर उड़ान भरने का सवाल उठता है, तो समस्याएं गहरी होने लगती है। इस संदर्भ में, सहसा, टेरानोडोन-इन्गेन की याद आ जाती है, तो दुनिया का सबसे बड़ा उड़ने वाला प्राणी रहा है। आज वह केवल फॉसिल के रूप में, खुदाइयों में, मिलता है और इसी आधार पर उसकी उड़ान संबंधी इंजीनियरी आवश्यकताओं का अध्ययन किया गया है। टेरानोडोन का इंजीनियरी डिजाइन खासा बढ़िया है। दरअसल बीस करोड़ वर्षों के विकास के बाद उक्त डिजाइन को उतना बढ़िया होना ही था। टेरानोडोन, उतनी लम्बी अवधि तक जीवित रहने के बाद भी, आज क्यों लुप्त हो गया? किन विपत्तियों में उसका सर्वनाश हुआ? उसके इंजीनियरी डिजाइन के अध्ययन से इसका उत्तर मिल सकता है।

टेरानोडोन के सैकड़ों फासिल एकत्र किए गए हैं, किंतु शत-प्रतिशत पूर्णता किसी में नहीं है। कुछ टूट-फूटे हैं, कुछ कुचले हुए, कुछ अधूरे। अपूर्ण अवशेषों के आधार पर
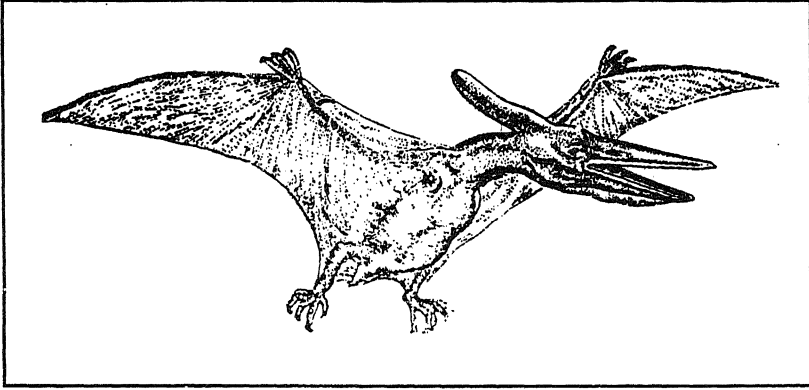
प्रागैतिहासिक पक्षी : टेरानोडोन

किसी प्राणी के पूर्ण स्वरूप की कल्पना करना, किसी ध्वस्त हवाई-जहाज का पुनर्निर्माण करना जैसा ही है। अंतर केवल इतना है कि फॉसिल-विज्ञानी को, विभिन्न आकारों के अनेक फॉसिल मिल जाते हैं। एक नमूने की अपूर्णता किसी अन्य नमूने में उपस्थित मिल सकती है और इस प्रकार उक्त प्राणी का पूरा खाका सामने आ सकता है। इसके इंजीनियरी डिजाइन का आभास पृष्ठ 90 के चित्रों से मिल सकता है। ये चित्र जार्ज व्हिटफील्ड और चेरी ब्रैमवेल के अध्ययनों पर आधारित है। उन्होंने लिखा है :

'सभी प्रमाणों का योग उसके हम टेरानोडोन का प्राथमिक खाका बनाने की स्थिति में आ गए। उस दीर्घाकार पक्षी के पंख ग्लाइडिंग के समय किस पोजीशन में रहते होंगे और सप्रयास उड़ान के समय किस प्रकार मुड़ते होंगे, इसे हम रेखांकित कर सके। टूटी हुई किंतु कुचली जाने से बच गई हड्डियों के अध्ययन से पता चला कि टेरानोडोन, के जोड़ों पर किस दिशा से किस दिशा में, किस कोण के साथ हरकत हो सकती होगी। यह अध्ययन हमने कैम्ब्रिज ग्रीनसैण्ड से प्राप्त हड्डियों के आधार पर किया है। तमाम अलग-अलग हिस्सों का वजन मिला कर हम ने परिगणना कर देखी कि टेरानोडोन का वजन कितना रहा होगा। उत्तर मिला-16 किलोग्राम। यह वजन उस पक्षी का है, जिसके डैने फैलाने पर 7.5 मीटर तक पहुंचते थे।

डैने : सर्वाधिक नाज़ुक यंत्र

किसी भी उड़न-यंत्र में सर्वाधिक नाज़ुक हिस्सा उसके डैने ही होते हैं। टेरानोडोन की दोनों भुजाओं, और चतुर्थ उंगली की हड्डियों पर एक-एक पतली, लचीली झिल्ली चढ़ी रहती थी। जिस तरह हवा में नाव का पाल चढ़ता है, उसी तरह ये झिल्लियां खिंच कर तन सकती थीं। ये ही थे टेरानोडोन के डैने।

खींची गई झिल्ली को सम्भालने वाली हड्डी यदि ऊपर की तरफ मुड़ने लगे, तो वायु-भार का सामना करने की क्षमता घट न जाए? लिहाजा, छड़ी की तरह लम्बी उक्त

हड्डी की नोंक नीचे की तरफ झुकती स्थिति में रखी गई। इसी झुकाव के साथ झिल्ली भी नीचे झुकती थी। डैने की तमाम हड्डियों की बनावट ही ऐसी थी कि यह अधोगामी झुकाव संभव हो सके।

फॉसिलों के अध्ययन से ज्ञात हुआ कि टेरानोडोन के डैने की झिल्ली के दो तरह से खुलने की संभावना थी। एक तो भीतर-बाहर और दूसरे दाएं-बाएं; भीतर-बाहर याने गुब्बारे की तर। दाएं-बाएं पलंग जैसे फैले क्षेत्रफल में। आखिर पता कैसे लगाया जाए कि झिल्ली किस तरह खींची जाती थी? इसका उत्तर पाने के लिए डैनों की हड्डियों पर, इंजीनियरी की दृष्टि से, पुनर्विचार हुआ। झिल्ली चाहे भीतर-बाहर खींची जाए, चाहे दाएं-बाएं—उसे संभालने वाली हड्डी ऊपर जरूर मुड़ने लगती। इससे बचने के लिए ही प्रकृति ने हड्डी की बनावट नीचे की तरफ झुकाव वाली रखी। अर्थात्—हड्डी अगर नीचे की तरफ झुकाव वाली है, तो इस आधार पर पता नहीं चल सकता कि झिल्ली भीतर-बाहर खींची जाती थी या दाएं-बाएं।

किंतु झिल्ली यदि भीतर-बाहर खिंचती थी, तो वायु भार के कारण वह गुब्बारे-सी फूलने लगती होगी... ऐसी सूरत में, झिल्ली को सम्भालने वाली हड्डी पर कितना जोर पड़ता? निश्चय ही इतना अधिक कि हड्डी टूट जाती। कण्डरा भी टूटे बिना न रहती। उक्त हड्डी और कण्डरा का इंजीनियरी-डिजाइन है ही ऐसा कि उतना जोर झेला न जा सके। याने—झिल्ली गुब्बारे की तरह भीतर-बाहर न खिंच कर पतंग की तरह दाएं-बाएं ही अपना क्षेत्र विस्तार करती थी।

टेरानोडोन के डैने निस्संदेह खूबसूरत ढंग से निर्मित हुए थे। भार न्यूनतम बना रख कर भी वे बढ़िया शक्ति-संचय कर सकते थे। डैनों की हड्डियां इतनी पतली थीं कि औसत मोटाई एक मिलीमीटर से अधिक न निकले—हालांकि यह मोटाई सब जगह एक-जैसी नहीं थी। आगे चित्रों में डैने की बाहरी हड्डियों की उप-तिकोनी अनुप्रस्थकाट प्रदर्शित की गई है। उससे पता चलता है कि कोनों पर हड्डियों अपेक्षाकृत मोटी थी—डैनों को शक्तिशाली बनाने के लिए आवश्यक भी यही था।

फैले हुए डैने को दो तरह के अवनमन झेलने पड़ते थे—पश्चगामी और ऊर्ध्वगामी। डैनों के छोर पर वायु-दबाव शून्य होता था। डैने के मूल के पास वह अत्यधिक बढ़ जाया करता। पश्चगामी अवनमन का दबाव डैनों के छोर की तरफ ज्यादा होता था। डैनों के मूल की तरफ क्रमशः ऊर्ध्वगामी अवनमन का दबाव बढ़ता था। डैने का बाहरी आधा हिस्सा उंगली की गांठ पर से मुड़ कर वापस सिमट सकता था। इस बिंदु से एक मजबूत कण्डरा शुरू होकर डैने के सामने की कोर के समानानतर बढ़ती थी और एक पेशी से प्रगण्डिका (ह्यूमेरस) के साथ जुड़ जाती थी। तनी हुई स्थिति में यह कण्डरा डैने को फैलाकर रखती थी, ताकि डैने के भीतरी विस्तार की अधिकांश शक्ति का जुगाड़ हो सके। इस कण्डरा की स्थिति, अपनी संपूर्ण लंबाई में इस प्रकार परिवर्तनशील थी कि डैने की कोर पर वायु-दाब को सही दिशा में नियंत्रित रखा जा सके। उंगली की गांठ पर यह

कण्डरा डैने की हड्डियों के ठीक सामने स्थित थी, ताकि पश्चगामी दाब का प्रतिकार किया जा सके। ऊर्ध्वगामी दाब के प्रतिकार के लिए भी यह कण्डरा खिसक कर डैने की हड्डियों के नीचे तक जा पहुंचती थी।

कलगी

टेरानोडोन की एक ध्यानाकर्षण विशेषता थी, उसकी कलगी। हड्डी का एक पतला और लंबा टुकड़ा, बिल्कुल किसी ब्लेड की तरह, सिर के पीछे से शुरू होकर ऊपर उठता था।
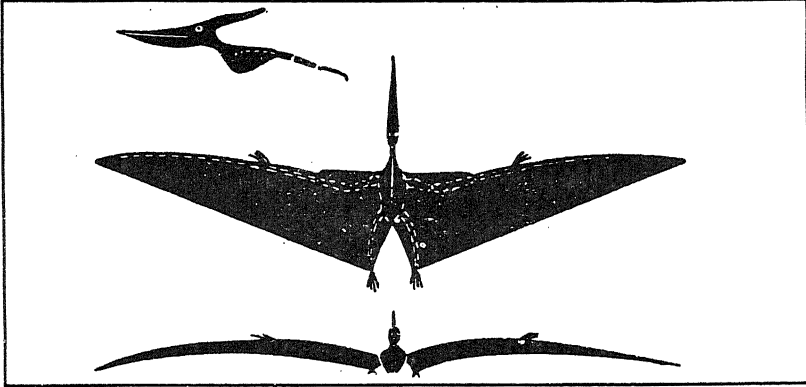
टेरानोडोन के पंखों और चोंच की विभिन्न काटें

इस कलगीनुमा हड्डी के कई उपयोगों की कल्पना की गई है—यौन-अभिव्यक्ति से लेकर स्टियरिंग तक। किन्तु किसी वैमानिक इंजीनियर की नजर से देखें, तो हड्डी की यह
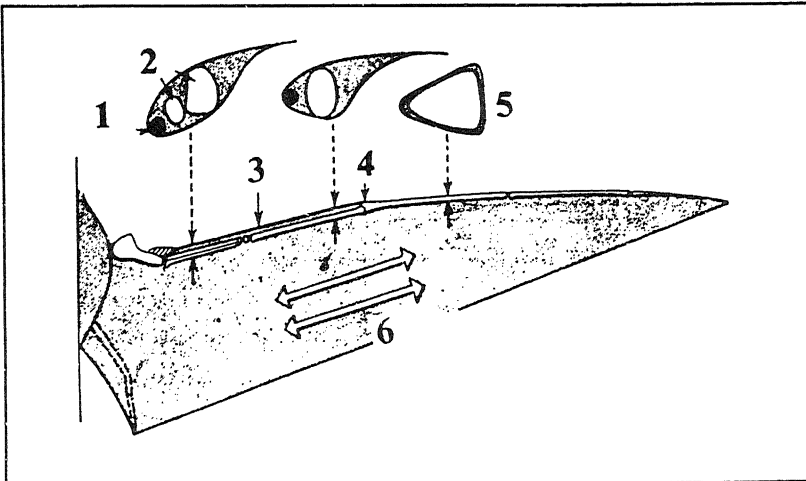
उसके पंखों की बनावट : 1. टेन्डन; 2. हड्डियां; 3. टेन्डन; 4. जोड़ (नकल); 5. झिल्ली में तनाव।

कलगी वास्तव में, उस पक्षी की चोंच पर से वायुगतिक भार कम करने के लिए संतुलन-तुला के ही रूप में इस्तेमाल होती थी, ताकि जब सिर इधर-से-उधर घुमाया जाए, तो गर्दन की पेशियों पर ज्यादा जोर न पड़े। ज्यादा जोर झेलने की मजबूरी न होने के कारण गर्दन की पेशियां अपना वजन कम रख सकती थीं।

अब प्रश्न किया जा सकता है कि क्या स्वयं कलगी के कारण सिर का वजन बढ़ नहीं गया? परिगणना करने पर स्पष्ट होता है कि यदि कलगी न होती, तो गर्दन की पेशियों को अपना वजन इतना बढ़ाना पड़ता (शक्ति-संचय के लिए) कि वह वजन, कलंगी के वजन से ज्यादा ही बैठता। इस प्रकार वह कलंगी वजन घटाने में एक ऐसे पक्षी को सहायता पहुंचाती थी, जिसने वजन घटाने के अन्य सारे उपाय पहले ही से अपना रखे थे।

इस धारणा की पुष्टि के लिए वैज्ञानिकों ने टेरानोडोन के सिर का वात-सुरंग में परीक्षण किया—उक्त कलगी लगा कर और बिना लगाए। पाया गया कि सिर को 70° के कोण तक घमाने पर कलगी विशेष प्रभावशाली सिद्ध नहीं होती थी। कलगी के साथ सिर का युग्म लगभग एक-सा रहता था, किन्तु जब सिर को 90° (या अधिक) के कोण
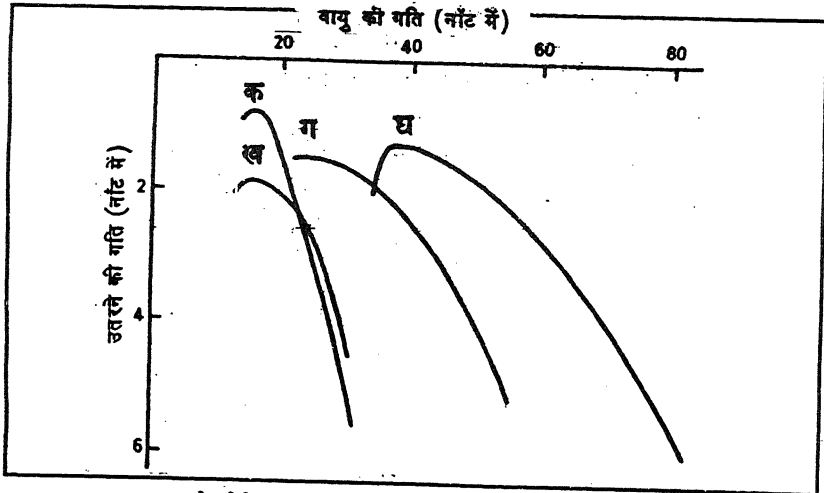
क. टेरानोडोन; ख. बाज; ग. एलबेट्रास घ. के-6 सी.आर. ग्लाइडर

पर घुमाया गया, तो कलगी तुरंत ही चोंच का भार-संतुलन करने लगी और युग्म अत्यधिक संक्षिप्त हो गया।

वैज्ञानिकों ने, वास्तव में, एसी आशा नहीं रखी थी। छोटे कोणों के घुमाव पर कलगी शायद इसलिए निष्प्रयोजन रही कि सिर के पीछे की अनुवायु उस पर आवरण की तरह घिर आती थी और आगे परिगणना करने पर स्पष्ट हुआ कि जब पेशियां पूर्णतया खिंची हुई स्थिति में रहती हैं, तो उनकी शक्ति न्यूनतम होती है। यानी—जब सिर

अधिकतम घूमता है, तब गर्दन की पेशियां अपनी न्यूनतम शक्ति का ही प्रयोग कर पाती हैं। इसी कारण, कलगी की उपयोगिता, अधिक घूमी हुई स्थिति में ही उजागर होती है—चोंच के भार-संतुलन के लिए। सचमुच यह बड़ी नाजुक स्थिति है, जिसमें चोंच के संतुलन के लिए हड्डी की कलगी लगाने की जरूरत पड़े।

जमीन पर टेरानोडोन अपनी उंगलियों और पैरों के बल खड़ा तो हो सकता था, किंतु उसके भुजा-जोड़ आगे-पीछे की हरकत करने में विशेष सक्षम नहीं थे। अतः जमीन पर चलना-फिरना उसके लिए सभी आसान नहीं रहा। चूंकि उसकी उड़ान-पेशियां भी खासी कमजोर थीं, स्वयं की शक्ति से उड़ानें भरने का जब भी अवसर आता, टेरानोडोन का हाल बुरा हो जाता। वैज्ञानिकों ने उस की ग्लाइडिंग क्षमता का हिसाब लगाया और उसकी तुलना ''के—6 सी-आर'' मॉडल के ग्लाइडर और दो तेज उड़ाके पक्षियों—बाज तथा एल्बेट्रास से की। जैसा कि संलग्न चित्र से प्रकट है, टेरानोडोन 'दक्ष ग्लाइडर' था। उसकी उड़ान-गति धीमी और उतरने की गति बहुत कम थी। इस आधार पर यह बखूबी समझा जा सकता है कि उसकी जीवन-चर्या क्या रही होगी। यह समुद्र सान्निघ्य में रहता और मछलियां खाता था। लहरों के ऊपर से बहती हवाओं पर सवार हो, ग्लाइडिंग करता हुआ वह ऊपर उठता था। घोंसला वह ऐसी चट्टानों पर बनाया करता था, जो बहती हवाओं के बीच पड़ती हों। कल्पना की जा सकती है कि किस प्रकार वह ग्लाइडिंग करता हुआ हवा में उठता होगा, किस प्रकार धीमे से चट्टान के शिखर पर उतरता होगा, किस प्रकार खिसक-खिसक कर चट्टान के कगार तक पहुंचता और चमगादड़ की भांति आराम की मुद्रा में लटक जाता होगा।

स्पष्ट है कि टेरानोडोन विश्वसनीय और मंद हवाओं का पक्षी था। तीव्र हवाएं उसे कहीं-का-कहीं उड़ा ले जा सकती थीं, किंतु मंद हवाएं उसकी साथिन थीं। उसकी पारिस्थितिक आवश्यकताओं को देखते हुए यही निष्कर्ष निकलता है कि वह क्रिटेशियस युग का पक्षी था। उस युग के समुद्र विशेष गहरे नहीं थे और उन पर से मंद हवाओं के खुशनमा झोंके बहा करते थे। समय की दौड़ में टेरानोडोन जरूरत-से-ज्यादा नाजुक साबित हुआ। हवा का जरा भी तेज बहना, झोंकों का बार-बार आना और समुद्री लहरों का जल्दी-जल्दी उठना ऐसे मामूली कारण भी उसके लिए जान लेवा सिद्ध हो सकते थे—और यथा संभव ऐसे ही क्षुद्र कारणों से उसका सर्वनाश भी हुआ।

पैलियोइंजीनियरी और जीव अभियंता

पैलियोइंजीनियरी की सहायता से ये बातें और भी स्पष्ट से सिद्ध होती हैं कि एक जीव-अभियन्ता को इंजीनियरी का जितना ज्ञान होना चाहिए, उतना ही पैलियोइंजीनियरी का भी होना आवश्यक है, किन्तु पैलियोइंजीनियरी की समस्याएं, जीव-अभियन्ता की तुलना में, बहुत भिन्न हैं। जीव-अभियन्ता जिस प्राणी का अध्ययन करता है, वह उसे जीवित, पूर्ण एवं प्रत्यक्ष उपलब्ध होता है, जबकि पैलियोइंजीनियर को यदि कोई

अस्थिपंजर भी अखंड मिल जाए, तो स्वयं को वह भाग्यशाली समझता है। प्रायः उसे भग्न और अपूर्ण अवशेष ही प्राप्त होते हैं, जिसे वह अपनी परिगणना एवं परिकल्पना के सहारे पूर्णता देने का प्रयास करता है। पैलियोइंजीनियर यह मान कर चलता है कि प्राणियों का निर्माण जिन तत्वों से हुआ है, वे आज भी वहीं हैं, जो प्राचीन युग में थे। वह यह भी मान कर चलता है कि प्रत्येक प्राणी का डिजाइन व्यवस्थित होता है–प्रकृति उसका प्रत्येक अंग किसी न किसी विशेष उपयोगिता को ध्यान में रख कर ही विकसित करती है। ऐसी प्रत्येक उपयोगिता को इंजीनियरी के सिद्धांतों की कसौटी पर खरा उतारा जा सकता है।

पैलियोइंजीनियरी और जीव-अभियन्ता की समस्याओं की भिन्नता पर ज्यों-ज्यों गौर किया जाएगा, त्यों-त्यों स्पष्ट होता जाएगा कि पैलियो-इंजीनियर की उपयोगिता कितनी अधिक है। जीवन की दौड़ में जीतने के लिए प्रत्येक प्राणी के लिए अनिवार्य है कि वह इंजीनियरी के नियमों का पालन करने में सक्षम हो। इसीलिए पैलियोइंजीनियरी के आधार पर पृथ्वी के वर्तमान और बीते हुए युगों के अध्ययन की नई दिशाएं खुल सकती हैं–खुल रही हैं। वर्तमान सजीव संसार से भी आगे, प्रागैतिहासिक युग के निर्जीव संसार को भी, पैलियोइंजीनियरी की सहायता से समझना आसान हो जाता है। विभिन्न ज्ञान-क्षेत्रों की कड़ियां जब बीच-बीच में टूटी मिलती हैं, तो उन्हें पैलियोइंजीनियरी से ही जोड़ा जा सकता है।

स्वचालित यंत्र*

बिष्णुदत्त शर्मा

आपने बिना ड्राइवर की (स्वचालित) मोटर, वायुयान और टैंकों के बारे में सुना होगा तथा आपने ऐसे स्वचालित यंत्रों के बारे में पढ़ा होगा, जो दाम लेकर वस्तुएं बेचते हैं, हिसाब रखते हैं और बिना हल्ला किए चोर पकड़ लेते हैं। साथ ही ऐसे यंत्र भी विकसित्त हो चुके हैं जो विद्यार्थियों को पढ़ा सकते हैं। अब पढ़िए 'स्वचालित रोग निदानक' के बारे में संयुक्त राज्य अमेरिका में एक ऐसे यंत्र का आविष्कार किया गया है जो रोगी का पूर्ण रूप से परीक्षण करता है तथा उसका पूर्ण विवरण सहित स्थायी रिकार्ड भी रखता है।

इस यंत्र में एक परदा (स्क्रीन) होता है, जिस पर टेलीविजन की भांति एक-एक करके प्रश्नों की कतारें आती रहती हैं। परदे के पास ही 'हां' और 'नहीं' के सूचक बटन लगे होते हैं। मान लीजिए कि आप यंत्र से अपनी छाती की परीक्षा कराना चाहते हैं और स्क्रीन पर प्रदर्शित प्रश्न इस प्रकार आ सकते हैं।

"क्या आप रात्रि में गहरी नींद सोते हैं "

"क्या आपको भूख ठीक लगती है?"

"क्या आपकी छाती में दर्द है?" ...आदि।

यदि आप निरंतर नकारात्मक बटन दबा रहे हैं तब परदा आगे की ओर बढ़ता रहेगा। पर आप तो 'हां' बटन दबाने पर एक 'उपयंत्र' आप से मुख्य प्रश्न के संबंध में प्रश्न पूछने लगेगा।

उपयंत्र

उदाहरणार्थ यंत्र आपसे यह प्रश्न करता है कि 'क्या आपको खांसी आती है?' और आप इसका उत्तर 'हां' में देते हैं तब तत्काल ही मुख्य यंत्र के स्थान पर एक उपयंत्र आपसे पूछने लगेग 'आपको कितने दिनों से खांसी है। क्या आप छाती को जकड़ी हुई अनुभव करते हैं?' आदि।

---

* विज्ञान प्रगति, जुलाई 1974

आप इन प्रश्नों का जो उत्तर देंगे वह उपयंत्र में स्वतः रिकार्ड हो जाएंगे। मजेदार बात यह है कि इस विषय में प्रत्येक रिपोर्ट गुप्त रखी जाएगी—केवल आपके स्वास्थ्य विशेषज्ञ ही उसे देख पाएंगे।

उपयंत्र आपका कार्य समाप्त करने के बाद आपसे दूसरे कमरे में अन्य परीक्षणों हेतु जाने के लिए अनुरोध करेगा। दूसरे कमरे में प्रवेश करते ही आपको एक प्रकाश-पुंज के बीच से गुजरना होगा। उसमें से गुजरते ही इलेक्ट्रॉनिक-स्विच स्वतः चालू हो जाएगा और पहले यंत्र द्वारा रिकार्ड किया गया आपको रोग-परीक्षण-इतिहास का वर्णन आरंभ हो जाएगा। कमरे में लाउडस्पीकर द्वारा दिए गए निर्देश पर आप पास ही अलमारी (सैल्फ) में रखे मुखौटे को अपने मुंह पर पहनेंगे और अपनी पूर्ण शक्ति से हवा भरेंगे। यह मुखौटा एक नली द्वारा श्वासमापी (स्पाइरोमीटर) से जुड़ा होता है। हवा भरने पर यह यंत्र पता लगाएगा कि आपके फेकड़ों में एक बार में कितनी हवा लेने की क्षमता है।

तदुपरांत लाउडस्पीकर द्वारा ही आपको निर्देश होगा कि "छाती से कपड़ा हटाइए, कपड़ों को हाथ में लेकर दूसरे कमरे में एक्स-रे परीक्षा हेतु जाइए।" चिकित्सक यंत्र द्वारा तैयार किए गए इस रोग-परीक्षण परिणामों के सारांश का पुनरीक्षण करेंगे।

लाभ

इस प्रकार के यंत्रों के आविष्कार तथा उनके व्यावहारिक उपयोग से सबसे बड़ा लाभ यह होगा कि चिकित्सक प्रत्यक्ष रूप में रोगी से बात नहीं करेंगे और परिणामस्वरूप अधिक समय नष्ट नहीं होगा। चिकित्सक को यदि कोई संक्रामक रोग है तो रोगी उससे भी बच सकेगा।

कुछ रोगी चिकित्सक के प्रश्न करने पर घबरा जाते हैं। फलस्वरूप रोगी की उचित ढंग से परीक्षा नहीं हो पाती क्योंकि घबराहट से श्वास जल्दी-जल्दी आना आरंभ हो जाता है। इस पद्धति से चिकित्सक स्वयं भी संक्रामक रोगों से बचे रह सकते हैं।

यंत्र के साथ लगा कम्प्यूटर रोगी के पूर्व विवरण का रिकार्ड रखेगा और आवश्यकता पड़ने पर कभी भी उसे एकदम प्रस्तुत कर देगा। कम्प्यूटर में रिकार्ड करने की पर्याप्त क्षमता होने के कारण रोगी का विवरण विस्तार में रखा जा सकता है।

यदि कोई व्यक्ति समय-समय पर अपने स्वास्थ्य की परीक्षा कराता रहे तो कम्प्यूटर उसके स्वास्थ्य में आने वाले सूक्ष्म अंतरों को भी स्पष्ट कर देगा और रोग बढ़ने से पूर्व ही उनको रोका जा सकेगा। अतः इस यंत्र द्वारा रोग की पूर्व सूचना भी प्राप्त हो सकती है। इस यंत्र की मदद से पर्यटकों के रोग-इतिहास का अध्ययन करना बहुत आसान हो जाएगा।

मानसिक दुर्बलताओं अथवा व्यवहार कुशलता के अभाव के कारण और चिकित्सक के बीच कटुता उत्पन्न हो जाने पर अनेक भीषण परिणाम हो जाते हैं। कम्प्यूटर इन परिणामों से मरीज की रक्षा कर सकेगा।

10

ऑक्सीजन संकट : अब दूर नहीं*

श्याम सुंदर पुरोहित

अब वह दिन दूर नहीं है जब हमें खाद्य संकट, जनसंख्या संकट, पेट्रोल संकट जैसे कई संकटों की सूची में ऑक्सीजन संकट का नाम भी सम्मिलित करना पड़ेगा। हम जानते हैं कि पर्यावरण में ऑक्सीजन का मुख्य स्रोत केवल पृथ्वी पर विद्यमान हरे पौधे हैं जो प्रकाश संश्लेषण क्रिया द्वारा कार्बन डाई ऑक्सीजन का अवशोषण कर ऑक्सीजन की निर्मुक्ति करते हैं। वास्तव में हरे पौधे ही प्रकृति में ऑक्सीजन के संतुलन को बनाए रखते हैं। जब पृथ्वी पर मानव का उद्भव नहीं हुआ था तो पर्यावरण में पर्याप्त मात्रा आक्सीजन विद्यमान थी लेकिन जब से मनुष्य ने पृथ्वी पर पदार्पण किया है उसने ऑक्सीजन संतुलन में गड़बड़ी आरंभ कर दी है। मनुष्य ने अपनी खेती, जलाने की लकड़ी तथा अन्य उपयोग के लिए जंगलों का काटना आरंभ कर दिया। एक आंकड़े के अनुसार मनुष्य ने पिछले एक लाख वर्षों में हमारी पृथ्वी पर उग रहे 500 से 800 लाख वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में पनप रहे जंगलों के दो-तिहाई भाग को नष्ट कर दिया है। मानव की इस विनाशकारी प्रक्रिया से मनुष्य को तो पर्याप्त लकड़ी आदि की प्राप्ति हो गई लेकिन इसके फलस्वरूप पर्यावरण में आक्सीजन पैदा होने की क्रिया घट गई। यद्यपि बड़े-बड़े पेड़ों के स्थान पर विभिन्न प्रकार की घासें इत्यादि पनप रही हैं लेकिन वे अधिक मात्रा में ऑक्सीजन का निर्माण करने में सक्षम नहीं होती है। मनुष्य ने जब से ईंधन को ऊर्जा-स्रोत के रूप में प्रयोग करना आरंभ किया है ऑक्सीजन की खपत और भी बढ़ गई है। ईंधन आदि जलाने में लगभग 26,30,000 लाख टन ऑक्सीजन की समाप्ति होती है क्योंकि ऑक्सीजन कार्बनयुक्त पदार्थों के दहन में सहायक होती है जिसमें कार्बन-डाई आक्साइड व उसी का निर्माण होता है। पिछले पचास वर्षों में पर्यावरण में कार्बन-डाई-ऑक्साइड की मात्रा में 20 से 12 प्रतिशत वृद्धि हुई है अर्थात् ऑक्सीजन में कमी हुई है।

विश्व के विभिन्न औद्योगिक प्रतिष्ठानों की दहन भट्टियां प्रतिवर्ष 1,13,000 लाख टन ऑक्सीजन भस्म कर रही हैं जिसके फलस्वरूप लगभग 1,14,000 लाख टन कार्बन-

---

* विज्ञान, अक्टूबर 1974

डाई-ऑक्सीजन की निर्मुक्ति हो रही है। ऑक्सीजन की खपत व कार्बन-डाई-आक्साइड की निर्मुक्ति 6 प्रतिशत प्रति वर्ष की दर से बढ़ रही है और यदि कार्बन-डाई-ऑक्सीजन के निर्माण की दर 100 प्रतिशत हो गई तो मनुष्य श्वास के लिए ऑक्सीजन कहाँ से लेगा।

जनसंख्या तेजी से बढ़ रही है, ऑक्सीजन तेजी से घट रही है और यदि मनुष्य इसी प्रकार के विनाशकारी कार्य करता रहा तो विश्व के अन्य संकटों की सूची में 'ऑक्सीजन संकट' का नाम भी जोड़ दिया जाएगा। मनुष्य ने पैट्रोल के कृत्रिम संकट को विश्व के समक्ष प्रस्तुत कर जन-हित को बहुत बड़ा लाभ पहुंचाया है। यदि पेट्रोल अथवा डीजल जैसे दहनकारी पदार्थों का उपयोग किसी सीमा तक कम किया गया तो ऑक्सीजन संकट से बचने में अधिक सहायता मिलेगी। जल प्रपातों अथवा बांधों से निर्मित होने वाली विद्युत इस संकट को दूर करने में हमारी सहातया कर सकती है। यदि पेट्रोल, लकड़ी अथवा दहनकारी पदार्थों से बचने वाली सभी मशीनें विद्युत से चलाई जाएं तो पर्यावरण में उपस्थित ऑक्सीजन की खपत कम होगी। वनों के निर्माण की बात हर कोई करता है, भारत में हर साल वनमहोत्सव मनाया जाता है लेकिन इस दिन लगाए जाने वाले पौधों कि कितनी देख-भाल होती है, ये तो उन पेड़ों से पूछिए या उनके रक्षकों को? यदि इन वनों की ही भली-भांति देखभाल कर ली जाए तो ऑक्सीजन संकट दूर हो सकता है।

प्रगतिशील देश परमाण्वीय-परीक्षणों द्वारा दूषित पर्यावरण को और अधिक दूषित बना रहे हैं। समुद्र में हो रहे उक्त परीक्षण, समुद्र में उपस्थित ऑक्सीजन की कहीं इतनी कमी न कर दें जिससे समुद्र में श्वास ले रही मछलियों एवं जीवों का श्वास लेना कठिन हो जाए। ऑक्सीजन नहीं रहेगी तो मछलियां नहीं रहेंगी व मछलियां नहीं रहेंगी तो मनुष्य को खाना नहीं मिलेगा अर्थात् खाद्य की एक और समस्या का उद्भव होगा।

वातावरण में उपस्थित ऑक्सीजन के शुद्धिकरण के कुछ उपाय निम्नांकित हैं—

भट्टियों अथवा मोटर गाड़ियों के इंजनों से निष्कासित होने वाली गैसों के निष्कासन के पूर्व ही उन्हें इतना शुद्ध कर दिया जाए जिससे उनकी विषाक्ता में कमी हो जावे। अधिकाधिक जंगलों का निर्माण तथा शहर के हर व्यापक क्षेत्र में उद्यानों को बनाना तथा सड़क के दोनों ओर अधिक संख्या में छायादार पेड़ों को लगाना आदि।

लेकिन फिर भी नवागत पीढ़ी के शोधविदों को यह समस्या एक चुनौती के रूप में ललकार रही है। देखते हैं वे इसका क्या हल निकालते हैं। हाल ही में रूस की मास्को रोड इंस्टीट्यूट ने विद्युत से चलने वाली एक ऐसी कार का आविष्कार किया है जिसमें कि विद्युत जनरेटर की सहायता से बैटरियां चालू की जाती हैं। इस कार में न तो पेट्रोल का उपयोग होगा न ऑक्सीजन की खपत। इसी प्रकार इटली में भी एक ऐसी कार का निर्माण किया है जिसके इंजन को चालू करने में ईंधन के रूप में केवल जल की आवश्यकता रहती है। इस कार की डिजाइन इटली निवास इन्सिकोईग्नेस्ति ने बनाई है।

इस कार में सर्वप्रथम जल को हाइड्रोजन एवं ऑक्सजीन में अपघटित किया जाता है। इसके बाद ऊर्जा के स्रोत के रूप में हाइड्रोजन का प्रयोग होता है। कार में जल को अपघटित करने वाले यंत्र को पेट्रोल की टंकी से प्रतिस्थापित किया जाता है। यदि इस प्रकार के आविष्कार निरंतर होते रहे तो पृथ्वी पर कभी भी ऑक्सीजन संकट नहीं आएगा।

11

महिलाओं को नारीत्व प्रदान करने वाले रसायन : स्त्री हार्मोन*

डॉ. (श्रीमती) राधा पन्त

प्राणियों के शारीरिक तथा मानसिक विकास, उनके विभिन्न क्रियाकलापों को नियंत्रित करने आदि के लिए प्रकृति ने प्रत्येक प्राणी के शरीर में एक स्वचालित व्यवस्था बनाई है। इस व्यवस्था के अंतर्गत समय-समय पर शरीर में कुछ ऐसे तरल निकलते रहते हैं जो रक्त में मिल कर अन्य अंगों तक पहुंच जाते हैं और उनकी क्रियाओं को 'संशोधित' कर देते हैं। ये तरल ही प्राणी का लिंग निर्धारित करते हैं। इन महत्वपूर्ण तरलों को वैज्ञानिक **'हार्मोन'** के नाम से पुकारते हैं। 'हार्मोन' का शाब्दिक अर्थ है 'उत्तेजना' और वास्तव में ये प्राणी को विशेष कार्यों के लिए उत्तेजित कर देते हैं।

जटिल संरचनाओं वाले और उससे भी जटिल कार्य करने वाले हार्मोनों की परिभाषा आजकल इस प्रकार दी जाती है : 'शरीर में स्थित अंतःस्रावी ग्रंथियों द्वारा स्रवित पदार्थ जो रक्त में मिलकर विभिन्न अंगों के कार्यों को नियंत्रित तथा उनकी क्रियाओं को प्रभावित करते हैं।' शरीर में ये कोशिकाओं की संरचना व्यवस्था और उनकी कार्य प्रणाली को नियंत्रित करते हैं तथा अन्य कोशिकाओं के कार्यों से उनके कार्यों को समन्वियत करते हैं।

स्तनपाइयों के हार्मोन

स्तनपाइयों के हार्मोनों को उनके रासायनिक गुणों के आधार पर तीन समूहों में विभाजित कर सकते है। प्रोटीन तथा पॉली-पेप्टाइड; फिनोलिक और स्टेरायड। प्रथम वर्ग के हार्मोन हैं एड्रीनोकार्टिको-ट्रापिक हार्मोन (ए.सी.टी.एच.); वृद्धि नियामक हार्मोन-केल्सिटोनिन, इन्सुलिन तथा ग्लूकागोन आदि। द्वितीय वर्ग के हैं थायरोक्सिन, एपिनोफ्रिन, नारएपिनोफ्रिन आदि। तथा तीसरे समूह के हैं एस्ट्रोजन, टेस्टोस्टेरोन, प्रोजेस्टेरोन तथा कोर्टिकोस्टेरोन आदि।

---

* विज्ञान प्रगति, महिला विशेषांक 1975
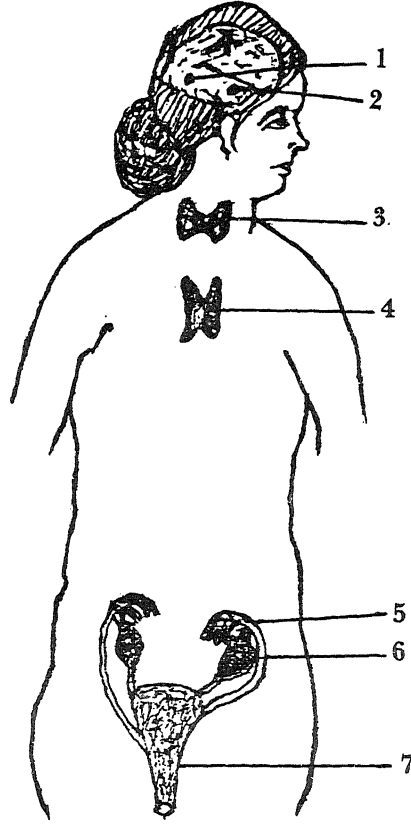
हार्मोन स्रवित करने वाली ग्रंथियां : 1. हाइपोथैलेमथ, 2. पियूष, 3. अवटु (थायरायड), 4. थाइमस, 5. अधिवृक्क, 6. अण्डाशय, 7. गर्भाशय।

इनके अतिरिक्त एक अन्य प्रकार का यौगिक समूह, जिनको **प्रोस्टाग्लेंडिन** कहते हैं, आधुनिक विचारधारा के अनुसार हार्मोनों सदृश ही क्रियाएं करते हैं। परंतु संश्लेषणार्थ ये केवल नलिकाविहीन ग्रंथियां अथवा कुछ विशेष ऊतकों तक ही सीमित नहीं है।

यौन हार्मोन

जैसा कि ऊपर बता चुके हैं हार्मोन ही मनुष्य का लिंग निर्धारत करते हैं। पुरुष इसलिए 'पुरुष' हैं कि उसके शरीर में प्रमुख रूप से 'पुरुष हार्मोन स्रवित होता है और स्त्री इसलिए 'स्त्री' है कि उसका शरीर प्रमुख रूप से 'स्त्री' हार्मोन स्रवित करता है। निश्चय ही मानव में दो प्रकार के हार्मोन पाए जाते हैं—जो उसका लिंग निर्धारण करते हैं। इन्हें 'यौन' अथवा 'लैंगिक' हार्मोन कहते हैं। आश्चर्य की बात है कि ये दोनों प्रकार के हार्मोन स्त्री तथा पुरुष दोनों में उपस्थित होते हैं। साथ ही पुरुष हार्मोन-टेस्टोस्टेरोन, स्त्री हार्मोन एस्ट्रोजन का पुरोगामी भी है। मनुष्य की लैंगिक अवस्था इन पर निर्भर होने के कारण शरीर में इनकी मात्राओं में अथवा इनके संश्लेषण करने वाले एनजाइमों में जरा भी गड़बड़ी होने पर उसके यौन गुणों पर अत्यधिक प्रभाव पड़ता है। इसलिए हमें अनेक बार स्त्रियोचित गुणों से युक्त पुरुष और पुरुषोचित गुणों से युक्त स्त्रियां मिलती हैं।

अण्डाशय संश्लेषण स्थल

आइए स्त्री को नारीत्व प्रदान करने वाले हार्मोनों पर विचार करें। इनका संश्लेषण अण्डाशय में होता है। अण्डाशय में डिम्ब बनता है। यौन हार्मोन ही बालिकाओं में किशोरावस्था में सहायक यौन लक्षणों को विकसित करते हैं और जननेन्द्रियों की वृद्धि एवम् विकास के लिए उत्तरदायी होते हैं। इनमें प्रमुख हैं स्त्री-पुरुषों का पारस्परिक आकर्षण।

अण्डाशय से दो प्रकार के हार्मोन स्रवित होते हैं : फालिक्युलर हार्मोन या एस्ट्रोजन और प्रोजेस्टेरोन। इनमें से एस्ट्रोजन डिम्बकोष (ग्राफिन फालीकिल) द्वारा स्रवित होता है और प्रोजेस्टेरोन डिम्बकोष से विघटित कार्पस ल्यूटिअम से बनता है। एस्ट्रोजन हार्मोन भी तीन प्रकार के होते हैं : एस्ट्रोन, बीटाएस्ट्रोडायाल तथा एस्ट्रियाल। इनमें से कुछ एस्ट्रोडायाल गर्भिणी के अपरा में, एस्ट्रोन गर्भिणी तथा अगर्भिणी स्त्री के मूत्र में तथा एस्ट्रियाल गर्भिणी स्त्री के अपरा तथा मूत्र में पाए जाते हैं।

एस्ट्रोजन स्त्रियों के एन्डोमीट्रियम की झिल्ली की वृद्धि, उसमें स्थित ग्रंथियों का विकास और डिम्बवाही नालियों की मांस-पेशियों को उत्तेजित करता है तथा उनके संकुचन और गति पर नियंत्रण करता है। इसके अतिरिक्त प्रोजेस्टेरोन तथा कुछ अन्य हार्मोनों के साथ मिलकर स्त्रियों के ऋतुस्राव को भी प्रभावित करता है।

एस्ट्रोजन के गुण पुरुष यौन हार्मोनों के गुणों के विपरीत होने के कारण वह स्त्रियों के विशेष गुणों को जैसे कि त्वचा का मुलायमपन, वाणी की कोमलता, बालों का उचित स्थानों पर तथा अधिक मात्रा में उगना, वसा का समुचित वितरण आदि को बनाए रखता है। उन यौगिकों को जो रोग संबंधी गुणों में एस्ट्रोजन की भांति कार्य करते हैं प्रयोगशाला में संश्लेषित किया गया है तथा एस्ट्रोजन की न्यूनता से पीड़ित तथा पुरुषोचित गुणों से

युक्त स्त्रियों पर उनका प्रयोग किया जाता है। ये हैं एथिनाइल एस्ट्रोडॉयाल तथा डायइथिल स्टिलबेस्ट्राल।

एस्ट्रोजन के अतिरिक्त एक अन्य हार्मोन स्त्रियों के शरीर में काफी महत्वपूर्ण कार्य करता है। वह है प्रोजेस्टेरोन जो कि कार्पस ल्यूटिअम द्वारा संश्लेषित होता है और स्त्रियों के ऋतुस्राव की द्वितीय अवस्था (सैकंडरी स्टेज) में तथा गर्भिणी के अपरा में स्रवित होता है। यह स्राव डिम्ब के बनने के पश्चात होता है और एन्डोमीट्रियम को अत्यधिक विकसित कर गर्भाशय को गर्भधारण तथा भ्रूण के पोषण के लिए तैयार करता है और ऋतुस्राव को रोकता है। जब तक इस हार्मोन का अपरा में संश्लेषण होता रहता है तब तक वह स्तनग्रंथियों को दुग्धस्राव से रोकता है और जैसे ही प्रसवन हो जाता है तुरंत दूध का उत्पादन आरंभ करता है।

पिंट्यूटरी से स्रवित हार्मोन जिसके ऊपर डिम्ब की वृद्धि का उत्तरदायित्व होता है उसके संश्लेषण को एस्ट्रोजन तथा प्रोजेस्टेरोन मिलकर रोक देते हैं। इससे डिम्ब नहीं बन पाता। इन हार्मोनों के इस गुण का उपयोग गर्भ निरोध में किया जाता है।

12

गुब्बारे वाले भाई*

डॉ. हरिकृष्ण देवसरे

घटना सन् 1782 की है। फ्रांस के एक नगर में, शाम के समय दो भाई—जोसेफ और एटनी मांटगोल्फियर (Joseph-Michel और Jaques Etienne Montgolfier) घूमने निकले थे। सर्दी के दिन थे, लोग घरों में आग जलाकर कमरों को गरम कर लेते थे और रात भर आराम से सोते थे। ऐसे ही एक घर के छप्पर से निकलते हुए धुएं को देखकर दोनों भाई ठिठक गए। उनके दिमाग में एक विचार आया।

"भाई! जरा देखो तो, इस मकान के छप्पर से कितना धुआं निकल रहा है।" एटनी ने कहा।

"हां, यही तो मैं भी कहने वाला था। लेकिन यह नहीं समझ में आ रहा है कि धुआं ऊपर की ओर ही क्यों जा रहा है, नीचे की ओर क्यों नहीं आता?" जोफेस ने कहा।

सचमुच बात पेचीदा थी। दोनों भाई वहीं खड़े-खड़े उस समस्या के बारे में सोचते रहे। घर लौटते समय उन्होंने सोचा कि अगर धुआं ऊपर उठ सकता है तो उसे किसी थैले में भर देने पर वह थैला भी ऊपर उठ जाएगा। बात मजेदार भी थी और अजीब भी। दोनों भाइयों ने सोचा कि क्यों न इस बात को करके देखा जाए।

घर पहुंचकर उन्होंने कागज का एक थैला बनाया। फिर उन्होंने खूब आग जलायी और उससे निक़लने वाले धुएं को उसमें भरा। धुआं भरते ही गुब्बारा एक हाथ ऊपर उठा और फिर गिर पड़ा।

मॉन्टगोल्फियर बंधुओं के घर से इतनी जोर-से उठते हुए धुएं को देखकर उनका एक पड़ोसी दौड़ा आया। लेकिन जब उसने गुब्बारे का तमाशा देखा तो बहुत खुश हुआ। वह बोला, "वाह! ये भी खूब रही। मैं तो घबराकर यह देखने आया था कि तुम्हारे घर में इतनी जोर से आग क्यों जल रही है। पर तुम लोग तो ये विचित्र तमाशा कर रहे हो।"

एटनी और जोसेफ ने कई गुब्बारों में धुआं भरा। किंतु वे एक हाथ से अधिक

---

* विज्ञान प्रगति, 1975

ऊपर नहीं उड़ पाते थे। वह पड़ोसी भी इस रहस्य को समझने की कोशिश कर रहा था। उसने कहा, ''मेरा ख्याल है कि धुआं एक हाथ उड़ने के बाद ठंडा हो जाता है।''

''हां मुझे भी यही लगता है।'' एटनी ने कहा।

''तो क्यों न हम आग का बर्तन इसमें बांधकर लटका दें जिससे धुएं की गर्मी कम न हो।'' जॉसेफ ने सुझाव दिया।

और फिर उन्होंने वैसा ही किया। इस बार गुब्बारा छत की ऊंचाई तक उड़ गया। यह देखकर दोनों भाईयों की खुशी का ठिकाना न रहा। उन्होंने गुब्बारे उड़ाने के और भी कई प्रयोग किए और उनमें सफलता पाई।

आखिर सन् 1783 के 5 जून को उन्होंने अपने इस प्रयोग को फ्रांस की जनता को दिखाने की घोषणा की। फ्रांस की राजधानी पेरिस के निकट एक खुले मैदान में उन्होंने सत्तर फुट की गोलाई वाले पतले कपड़े से बने गुब्बारे में धुआं भर और उसे उड़ाया। इस गुब्बारे के नीचे भी उन्होंने अंगीठी बांधी थी जिससे धुएं की गर्मी बनती रहे। यह गुब्बारा सात हजार फुट की ऊंचाई तक उड़ा था और ठंडा होने पर दो मील दूर जाकर गिरा था।

इसके बाद से ये दोनों भाई 'गुब्बारे वाले भाई' के नाम से जाने गए। उन्होंने कुछ महीनों बाद फिर एक प्रयोग किया और इस बार गुब्बारे में यात्रियों के बैठने की जगह बनाई। इस गुब्बारे में उड़ने वाले पहले यात्री थे—एक भेड़, एक बत्तख और एक मुर्गा। इस गुब्बारे ने कई मील की यात्रा की और जब नीचे उतारा तो सभी यात्री जिंदा पाए गए।

बस तभी से गुब्बारों का आविष्कार हुआ। इसके लिए 'गुब्बारे वाले भाइयों' को सदा याद किया जाएगा। लेकिन ये दोनों भाई अभी तक यही समझते थे कि शायद धुएं में कोई ऐसी 'गैस' होती है जो गुब्बारे को ऊपर उड़ाती है। किंतु उनका यह सोचना गलत था। वस्तुतः हवा जब गर्म हो जाती है तो हल्की होकर वह ऊपर की ओर उठ जाती है। इसी कारण धुआं ऊपर की ओर जाता है, नीचे नहीं आता। गुब्बारों के अंदर भरा हुआ धुआं भी हल्का होने के कारण ऊपर उठता था और उसके साथ ही गुब्बारा भी ऊपर जाता था। बाद वैज्ञानिकों ने इस सिद्धांत पर आगे भी कई प्रयोग किए और गुब्बारों को काफी ऊंचाई तक उड़ाने में सफल हुए।

पौधों का डॉक्टर

अब से कोई सौ साल पहले जब दुनिया में गुलाम रखने की प्रथा एक आम बात थी। अफ्रीका के आदिवासियों को जबरदस्ती पकड़कर कैद कर लिया जाता और उन्हें अमरीका तथा यूरोप के देशों में बेच दिया जाता। अमरीका के एक ऐसे ही गुलाम दम्पत्ति ने सन् 1864 में एक पुत्र हुआ जिसका नाम था 'जॉर्ज'। दुर्भाग्यवश जॉर्ज के माता-पिता उसे बहुत छोटी उम्र में ही छोड़कर स्वर्ग सिधार गए। यतीम जॉर्ज बेचारा गली-गली ठोकरें खाता फिरने लगा।

एक दिन जार्ज जब यूं भटक रहा था, उसकी मुलाकात एक दयालु महिला से हुई। वह थीं श्रीमती कार्वर। उन्होंने जॉर्ज से बातें की तो लगा कि यह बालक होनहार है। उन्होंने उसी दिन से जॉर्ज को अपना बेटा बना लिया। श्रीमती कार्वर ने जॉर्ज की सुख-सुविधा का पूरा इंतजाम कर दिया। जॉर्ज के अच्छे दिन फिर लौट आए। वह अब अपनी दुनिया का मालिक बन गया। उसे फूल और पत्तियां बहुत अच्छे लगते। श्रीमती कार्वर के घर के पास थोड़ी सी खाली जमीन पड़ी थी। वहां उसने एक सुंदर सी फुलवारी लगा ली। अपना ज्यादा से ज्यादा समय वह इस फुलवारी में ही बिताता। फूल और पत्तियां ही उसके खिलौने थे। वहीं उस के दोस्त थे और वही उसके किस्से-कहानियां। जार्ज घण्टों फुलवारी में घुसा रहता। कभी पौधों पर मिट्टी चढ़ाता, उन्हें पानी देता, कभी फूलों और उन पर बैठने वाली तितलियों से बातें करता और कभी उनका संग्रह करके अपने कमरे में रखता। फुलवारी में इस तरह खेलते-कूदते देखकर श्रीमती कार्वर को अच्छा तो लगता, लेकिन उन्हें यह भी चिंता हुई कि धीरे-धीरे जार्ज का मन पढ़ाई की ओर भी लगाना चाहिए। वह फुलवारी के पेड़-पौधों और फूलों-पत्तियों के बारे में इतनी बातें करता था कि श्रीमती कार्वर के यहां आने वाले मित्र उसे 'पौधों का डॉक्टर' कहने लगे थे।

एक दिन श्रीमती कार्वर ने उसे समझाया, 'जार्ज, अगर तुम सचमुच 'पौधों के डॉक्टर' बनना चाहते हो तो तुम्हें स्कूल भी जाना चाहिए। अगर तुम स्कूल में जाकर पढ़ने लगोगे तो पोधों, फूलों आदि के बारे में और भी मजेदार बातें तुम्हें जानने को मिलेंगी।''

श्रीमती कार्वर की बात जार्ज को पसंद आई। वह अगले ही दिन से स्कूल जाने लगा। वह मन लगाकर पढ़ता था, लेकिन अब फूल-पौधों के साथ-साथ वह छोटे-छोटे कीड़ों और पक्षियों को भी प्यार करने लगा था। वह यही सोचता रहता कि दुनियां में इन से सुंदर भला और क्या चीज हो सकती है?

धीरे-धीरे जॉर्ज बड़ा होने लगा। उसका पूरा नाम रखा गया जॉर्ज वाशिंगटन कार्वर। (George Washington carver) वह खूब मेहनत से पढ़ता और दुनिया की हर नई चीज के बारे में जानने की कोशिश करता। उस जमाने में एक गुलाम हब्शी के बेटे को गोरी चमड़ी वाले अमेरीकन कभी प्यार नहीं करते थे। लेकिन जॉर्ज की तेज बुद्धि के सामने उन्हें झुकना पड़ता। जब जॉर्ज वाशिंगटन ने कालेज में प्रवेश लेना चाहा, उस समय भी इस कारण काफी दिक्कत हुई कि वह हब्शी का बेटा है।

इधर जॉर्ज की आर्थिक हालत बिगड़ने लगी थी, क्योंकि श्रीमती कार्वर की छाया उस पर से उठ चुकी थी। जॉर्ज मजदूरी करने लगा। फिर कुछ दिनों तक एक होटल में बैरे का भी काम किया। इस तरह मेहनत से पैसे कमाने के बाद जब वह हाईलैण्ड विश्वविद्यालय में प्रवेश लेने गया तो हब्शी होने के कारण वहां उसे घुसने भी न दिया गया। इस व्यवहार से जॉर्ज का मन बहुत दुखी हुआ। किंतु वह हिम्मत नहीं हारा। वह पढ़ना चाहता था, क्योंकि उसे दरअसल 'पौधों का डॉक्टर' बनना था।

आखिर जॉर्ज अपने गांव लौट आया। वहां कुछ दयालु लोगों की सिफारिश से उसे

स्थानीय कालेज में प्रवेश मिल गया। इसके बाद जॉर्ज ने एक कृषि विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया और वहां से बी.एस-सी परीक्षा पास की। अब जॉर्ज की उन्नति का मार्ग खुल चुका था। फूल-पत्तियों के बारे में बचपन में जो प्यार जागा था, वह अब उसके अध्ययन का विषय बन चुका था। जॉर्ज कार्वर ने जो खोजें की उनके आधार पर उस समय के वैज्ञानिकों में उनका सम्मान बढ़ गया।

कुछ ही दिनों बाद जॉर्ज कार्वर ने अपनी एक प्रयोगशाला स्थापित की, जिसका नाम रखा 'ईश्वर की प्रयोगशाला' इस प्रयोगशाला में जार्ज कार्वर ने कई तरह के फूलों, पत्तियों और पौधों के बारे में खोजें कीं और उनकी रहस्यपूर्ण बातों का पता लगाया। इतना ही नहीं, उन्होंने अनेक तरह के पौधों में लगने वाली बीमारियों तथा उनके इलाज के तरीके भी खोज निकाले। इससे खेती-बाड़ी के काम में बहुत सहायता मिली और फसलों को नष्ट होने से बचाया जाने लगा। उन्होंने एक ही वनस्पति से कई वस्तुएं बनाने के तरीके भी खोजे। उनकी-खोजों ने वनस्पति-विज्ञान में क्रांति-सी ला दी। इसीलिए जब 5 जनवरी, 1943 को जार्ज कार्वर की मृत्यु हुई तो लोगों ने कहा, "पौधों का डॉक्टर अब चला गया।"

विज्ञान शिक्षा का स्वरूप*

डॉ. अजित राम वर्मा

मैं उन सब छात्रों को बधाई देता हूं जिन्होंने परीक्षा में सफलता प्राप्त की और जो आज उपाधियां प्राप्त करने वाले हैं। यह समय उनके जीवन का ऐसा बिंदु है जहां उनके जीवन का एक अध्याय समाप्त होता है और जहां से जीवन-संघर्ष आरंभ होता है। जिस समय एक छात्र विश्वविद्यालय में प्रवेश लेता है उस समय उसके मन में एक मात्र विचार, एक मात्र समस्या होती है—परीक्षा में सफलता प्राप्त करना। परीक्षा में उत्तीर्ण होने के पश्चात् प्रश्न उठता है कि 'अब हमें आगे क्या करना है?' यह एक बड़ा उलझा हुआ प्रश्न है जिसका कोई सीधा सरल उत्तर नहीं दिया जा सकता।

विकट समस्या

हम अवश्य जानते हैं कि हम एक कठिन समय से गुजर रहे हैं। आगे चंद मिनटों में मैं आपके साथ इस समस्या पर विचार विनियम करना चाहता हूं। भले ही हम इस समस्या का कोई समाधान न खोज पाएं, फिर भी इस ओर ध्यान देना अनिवार्य हो जाता है।

सबसे पहले जरा देखें कि यह समस्या है कितनी बड़ी, और हममें से कितनों को इसका सामना करना पड़ रहा है? मैं ज्यादा आंकड़े देकर आप लोगों को बोर नहीं करना चाहता। अपनी बात स्पष्ट करने के लिए मैं कुछ तथ्य अवश्य रखना चाहूंगा। 1950-51 में विश्वविद्यालयों में कुल 4 लाख विद्यार्थी थे। आज विद्यार्थियों की संख्या 40 लाख है और उनमें से एक चौथाई विज्ञान के विद्यार्थी हैं। सन् 1950 में देश में कुल जमा वैज्ञानिक 60 हजार ग्रेजुएट और 16 हजार पोस्टग्रेजुएट थे। आज उनकी संख्या उससे लगभग 10 गुनी है। 1951 में देश में 27 विश्वविद्यालय थे आज देश में लगभग 100 विश्वविद्यालय, 7 विश्वविद्यालय समकक्ष संस्थाएं, 9 राष्ट्रीय महत्व के शिक्षा-संस्थान यथा इंडियन इंस्टीट्यूट आफ टैक्नालोजी, और 18 कृषि विश्वविद्यालय हैं। 1950 में देश में 800 कालेज थे जबकि आज लगभग 4000 कालेज हैं और यह संख्या निरंतर बढ़ती जा

* विज्ञान प्रगति, मार्च 1976

रही है। इन संस्थाओं से लगातार जो ग्रेजुएट निकल रहे हैं, राष्ट्र उनका क्या उपयोग कर रहा है? शिक्षा पर तो खर्च होता है उसके अलावा वह भी खर्च है जो अनुसंधान और विकास पर किया जाता है। सिर्फ विज्ञान को ही देखें तो पाते हैं कि 1973-74 में अनुसंधान और विकास तथा अन्य वैज्ञानिक एवं प्रौद्योगिकी की गति विधियों पर 246 करोड़ रुपए से भी अधिक खर्च किया गया। आज हमारे देश में इंजीनियरी, प्रौद्योगिकी, कृषि, चिकित्सा आदि विषयों के वैज्ञानिकों एवं तकनीकी-कुशल व्यक्तियों की कुल संख्या 12 लाख से भी अधिक है।

काल-यापन का साधन

अठारहवीं अथवा उन्नीसवीं शताब्दियों में विज्ञान एक सीमा तक, इने-गिने प्रतिभा संपन्न व्यक्तियों के लिए काल-यापन का साधन मात्र था। उनके कार्यक्रमों के लिए बहुत कम साधनों की जरूरत थी और वे विज्ञान में अभिरुचि 'स्वांतः सुखाय' या अपने आनंद के लिए ही लेते थे। भारत में उस समय विज्ञान की स्थिति क्या थी यह इस तथ्य से स्पष्ट हो जाएगा कि 1813 में ईस्ट इंडिया कंपनी के चार्टर में नवीकरण के समय यह परिच्छेद जोड़ा गया—'एक लाख रुपए की एक न्यूनतम धनराशि का ब्रिटिश उपनिवेश, भारत में, भारतीय जनता के बीच विज्ञान के आरंभ और उन्नति के लिए खर्च किया जा सकता है।'

कुछ समय पूर्व तक प्रौद्योगिकी के विद्वान स्वतः ही अपना काम करते रहे और अनुसंधान की गतिविधियों से जन-समुदाय विशेष प्रभावित नहीं था। परंतु अब उस पर विज्ञान का असर पड़ना शुरू हो गया है और उससे हमारा दैनिक जीवन भी प्रभावित होना आरंभ हो गया है।

स्थिति में परिवर्तन

हम जानते हैं कि पिछले कुछ सौ सालों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी की वजह से पश्चिमी देश धनी, संपन्न और सुदृढ़ हुए हैं। भारत में भी स्वाधीनता के बाद यह आशा करना स्वाभाविक था कि वैसी ही भूमिका के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी से लाभ उठाया जाए। सौभाग्यवश भारत में विज्ञान का अच्छा खासा आधार विद्यमान था और उक्त चुनौती का सामना करने के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विद्वान भी देश में मौजूद थे। तथापि आर्थिक समस्याओं के समाधान और जीवन स्तर को उन्नत बनाने के लिए विज्ञान और प्रौद्योगिकी से अभी बहुत कुछ अपेक्षित है। अक्सर लोग विज्ञान और प्रौद्योगिकी के लाभ तुरंत पाना चाहते हैं और कभी-कभी इस कारण अशांत हो उठते हैं।

कुछ वर्ष पूर्व आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय के डॉ. मैडलसन भारत आए हुए थे। वे रुड़की में आयोजित ठोस अवस्था भौतिकी (सालिड स्टेट फिजिक्स) परिसंवाद में सम्मिलित थे। मैंने भी इस परिसंवाद में भाग लिया था। उन्होंने कहा 'आपके यहां

लगभग 500 ठोस अवस्था भौतिकीविद् हैं, जो अनुसंधान कार्य में लगे हुए हैं। व्यक्तिगत रूप से देखिए तो ये सभी प्रतिभाशाली व्यक्ति है।' विदेश से आए हुए एक विख्यात प्रोफेसर के मुख से ये प्रशंसा भरे शब्द सुनकर मुझे बड़ी खुशी हुई। परंतु तभी उन्होंने पूछा "अगर आप बाजार जाएं तो क्या आप कोई ऐसा उपकरण या सामग्री पाते हैं जो आप लोगों के निजी प्रयत्न का परिणाम है? हजारों प्रतिभाशाली व्यक्तियों द्वारा किए जा रहे इस तथाकथित शानदार काम की सार्थकता क्या है?" यहां आकर यह कहानी अटक जाती है।

वैज्ञानिक अनुसंधान : विभिन्न वर्ग

आइए हम स्थिति पर एक नजर डालें। वैज्ञानिक अनुसंधान को हम निम्न वर्गों में विभाजित कर सकते हैं–

1. मूल अनुसंधान–(बेसिक रिसर्च) : जिसका उद्देश्य प्रकृति की उत्तम जानकारी हासिल करना है। नए तथ्यों की खोज ही उसका गंतव्य है और उसके लिए कोई व्यावहारिक उद्देश्य मन में नहीं रहता। जब इसके लिए कोई निर्धारित कार्यक्रम या निश्चित ध्येय तय रहता है तो इसे ही निर्धारित मूल अनुसंधान (ओरियेंटेड बेसिक रिसर्च) की संज्ञा दी जाती है।

2. प्रायोगिक अनुसंधान (एप्लाइड रिसर्च) : इस अनुसंधान का एक विशिष्ट व्यावहारिक उद्देश्य होता है; सामाजिक आवश्यकताओं–यथा जन-स्वास्थ्य सुधार, बेहतर कृषि-उत्पादकता आदि की पूर्ति करने में समर्थ होना। यह अनुसंधान नियत अवधि के लिए किया जाता है जिससे आर्थिक रूप से उपयोगी परिणाम उत्पन्न करने होते हैं।

3. अभिकल्प और विकास (डिजाइन एण्ड डेवलपमेंट) : इसके अंतर्गत नियमित रूप से मूल एवं प्रायोगिक अनुसंधानों के परिणाम-स्वरूप उपलब्ध परिणामों का व्यावहारिक रूप से उपयोग किया जाता है और इस प्रकार नए पदार्थों, उपकरणों, उत्पादों प्रक्रियाओं, युक्तियों को उत्पन्न करना संभव होता है जिससे राष्ट्रीय उत्पादन की अभिवृद्धि से देश को समृद्ध बनाने के लिए वास्तविक कार्य शुरू किया जा सके।

हमारे विश्वविद्यालय और शिक्षण संस्थाएं, जो मूल अनुसंधान में रत हैं इस चित्र के एक छोर पर हैं तो हमारी उद्योगशालाएं, फैक्ट्रीयां, जिनमें निर्माण कार्य होता है, चित्र के दूसरे छोर पर। इन दोनों के बीच में आती हैं हमारी प्रयोगशालाएं और अनुसंधानशालाएं, जिनमें प्रायोगिक अनुसंधान कार्य होता है। यही है नूतन प्रवर्त्तन प्रक्रिया जिसे प्रोफेसर ब्लैकेट के शब्दों में कहा जाए तो 'जिसकी शुरूआत होती है वैज्ञानिक विचार से और जिसकी परिणति होती है वास्तविक उत्पादन में।'

अंतरक्रिया : धीमी गति

भारतवर्ष में वैज्ञानिक अनुसंधान और उत्पादन के बीच की उक्त अंतरक्रिया बड़ी धीमी

गति से चलती है। विश्वविद्यालय अभी भी अपने शिक्षण को, उस पाठ्यक्रम को आधार बना कर जारी रखे हुए हैं, जो वर्तमान परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य में बहुत संगत नहीं है। बस अपने नाम भर के लिए विद्यमान है। इसके कारण ही हमारे नवयुवक महंगी शिक्षा के बाद उद्देश्यविहीन होकर नौकरियों की तलाश में भटकने पर विवश हो जाते हैं। उदाहरणार्थ, मैं भौतिकी की शिक्षा जिस विषय से मेरा अपेक्षाकृत अधिक परिचय को लेना चाहूंगा। वैसे यह तर्क सामान्य रूप से अन्य विषयों पर भी लागू हो सकता है। अभी कुछ समय पूर्व तक भौतिकी की शिक्षा काफी लोकप्रिय थी और हमारे सर्वश्रेष्ठ और मेधावी छात्र भौतिकी की कक्षा में प्रवेश पाने के लिए लालायित रहते थे। परंतु भौतिकी के होनहार ग्रेजुएटों और पोस्ट-ग्रेजुएटों के साथ अब क्या घटित हो रहा है?

मुझे मालूम है कि दिल्ली में ऐसे काफी विद्यार्थी नौकरी के लिए बैंकों या विजनैस मैनेजमेंट कोर्स में आ रहे हैं क्योंकि उनके लिए उपयुक्त नौकरियां सुलभ नहीं हैं। इसी कुंठा और निराशा के कारण एक हानिकर प्रवृत्ति जन्म ले रही है। हमारे मेधावी छात्र भौतिकी अथवा सामान्यतः सभी वैज्ञानिक विषयों से कतरा कर दूर जा रहे हैं। और शायद विज्ञान के ग्रेजुएटों का 'बाजार मूल्य' शादी-विवाह के मामले तक में गिरता जा रहा है। ऐसा क्यों है यह समझना कठिन नहीं है। एक ओर तो विज्ञान तथा प्रौद्योगिकी के जानकार ग्रेजुएटों की संख्या बढ़ती जा रही है। दूसरी ओर उनके कारण उत्पादन में कोई खास वृद्धि नहीं हो पा रही है। सारा उत्पादन बहुत सीमा तक आयात की हुई प्रौद्योगिकी पर आधारित है। हमारे वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकी विशेषज्ञों को इन निर्माणशालाओं में रख-रखाव तथा निगरानी संबंधी कार्य सौंपा जाता है। वे कोई मौलिक विकास कार्य अथवा कोई नई विधि प्रवर्तक कार्य नहीं कर रहे हैं। यद्यपि हमारी वैज्ञानिक जन-शक्ति फ्रांस या एक बड़े राष्ट्र, इंग्लैंड, के मुकाबले की है और हमारे वैज्ञानिक किसी भी प्रकार अन्य देशों के वैज्ञानिकों से कम नहीं है फिर भी देश को इस विशाल शक्ति का पूरा लाभ नहीं मिल पा रहा है। हमारे प्रयास और व्यय निष्फल हो रहे हैं। हमारे पाठ्यक्रम और शिक्षण राष्ट्रीय योग्यता और उत्पादन के साथ ताल-मेल नहीं बैठा पा रहे हैं। शिक्षा को नई दिशा न दे पाने की विफलता की वजह से ही हम आज इस अरुचिकर स्थिति में आ पहुंचे हैं। फिर भी यदि अच्छे अनुसंधान और प्रौद्योगिकी के बीच संबंध स्थापित किया जा सके और प्रतिभावान वैज्ञानिकों को चुनौतीपूर्ण प्रेरणा भरे काम सौंपे जाएं और उन्हें यह वातावरण मिले तो सुंदर परिणाम उपलब्ध हो सकते हैं।

सही कदम

मैं अपनी प्रयोगशाला (राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला) का ही एक उदाहरण आपके सामने रखता है। कुछ समय पहले हमने एक फोटो-कापी करने वाली मशीन विदेश से आयात की थी। यह मशीन जीराक्स के समान है जो मिनट भर में किसी प्रलेख की फोटोकापी निकाल सकती है। हुआ यह कि 'सौभाग्य' से यह मशीन खराब हो गई। कभी इसमें कुछ

ख़राबी है तो कभी कुछ। बस इसने कभी सही काम किया ही नहीं। हमने अपने खुद वैज्ञानिकों से जो ठोस अवस्था भौतिकी में काम कर चुके थे, इस समस्या पर विचार किया और निश्चत किया कि स्वयं ही ऐसी मशीन बनाएंगे। मुझे आपको यह बताते हुए प्रसन्नता है कि लगभग एक वर्ष में हमें सफलता मिल गई और आज हमारे निजी प्रयास के परिणाम-स्वरूप उस तरह की फोटो कापी तैयार करने वाली मशीनें व्यावसायिक स्तर पर भारत में ही, हजारों की तादाद में बन चुकी हैं। अब हमें इन मशीनों को बाहर से मंगाने की आवश्यकता नहीं है। इस तरह हम अपनी विदेशी मुद्रा की बचत कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त इसकी वजह से हमारे कर्मचारियों को काम मिलता है और इसे देश में ही 10-12 हजार रुपए में खरीदा जा सकता है जबकि आयात की गई मशीन का मूल्य इतने ही डालर है। इस प्रकार हमने अपने प्रयत्न से रुपए का मूल्य 'एक डालर के मूल्य के बराबर कर दिया।''

प्रतिभा का पलायन

मैं इस प्रकार के प्रयत्नों के बहुत से उदाहरण दे सकता हूं। मैं अपने अनुभव के आधार पर कहना चाहूंगा कि हर एक स्थिति में ऐसी सफलता संभव है यदि हम साहस के साथ चुनौती को स्वीकार करें और हर कहीं सामान और प्रौद्यागिकी को बाहर से आयात करने के लिए विदेशों का मुंह न ताकें। स्वतः विकसित निजी नवीन विधियों के प्रवर्त्तन से असीम कार्य-संतोष मिलता है। जब हमारे नवयुवकों को ऐसा अवसर नहीं मिलता तो वे सुदूर देशों की ओर देखते हैं। पश्चिमी देशों में जाकर बस जाते हैं जहां वे वर्तमान शिक्षा के अनुसार अपने आप को ढाल लेते हैं।

इस संदर्भ में डॉ. डी.एस.कोठरी को उद्धृत करना नितांत आवश्यक समझता हूं। वे अपनी पुस्तक 'शिक्षा, विज्ञान तथा राष्ट्रीय विकास' में लिखते हैं :

'आधुनिक विश्व का आधार विज्ञान और प्रौद्योगिकी है और इस कारण अन्य किसी भी चीज की अपेक्षा शिक्षा को राष्ट्र के जीवन और उन्नति में एक सर्वाधिक महत्वपूर्ण तत्व बना दिया है जैसा कि पहले कभी नहीं था। आर्थिक विकास, कल्याण और सुरक्षा बड़े घनिष्ठ रूप से शिक्षा के स्तर और गुणों पर निर्भर हैं। अब ज्ञान और जीवन शब्दशः संग-संग जाते हैं–परंतु शिक्षा को सावधानी की आवश्यकता है।'

अब यह बात अधिकाधिक स्पष्ट होती जा रही है कि बड़े पैमाने पर शिक्षा को तभी सहारा दिया जा सकता है जबकि राष्ट्र की उत्पादकता में उसका सीधा योगदान हो। शिक्षा और राष्ट्र की उत्पादकता में परस्पर निर्भरता का संबंध है।

गांधी जी ने 1947 में हस्त शिल्प के माध्यम से बेसिक शिक्षा की अपनी योजना के संदर्भ में लिखा था कि वह रुपए पैसे पर निर्भर नहीं है और उसको चलाने का व्यय उस शैक्षिक प्रक्रिया द्वारा ही प्राप्त होना चाहिए। उन्होंने कहा था–'चाहे कितनी भी आलोचना हो, मैं जानता हूं कि शिक्षा केवल वही है जो आत्म-निर्भर हो सकती है। यह

एक चरम स्थिति हो परंतु इससे इस बात का महत्व तो स्पष्ट होता ही है कि शिक्षा को कार्योपयोगी तथा कृषि और उद्योग की आवश्यकताओं के अनुरूप और देश के आर्थिक और सामाजिक उद्देश्यों के अनुसार संगत बनाया जाए।

जैसे-जैसे उद्योग और कृषि अधिकाधिक विज्ञान पर आधारित होते जाते हैं वैसे-वैसे क्षेत्रीय और राष्ट्रीय विकास में विश्वविद्यालयों की भूमिका अधिकाधिक निर्णायक महत्व की होती जाती है।

सार्थक शिक्षा

यदि एक विकासमान देश में विश्वविद्यालयों को सच्चे अर्थों में राष्ट्र-सेवा करनी है तो उन्हें देश की मिट्टी से, गरीबों से और जरूरतमंदों से निकट का संबंध जोड़ना होगा। उन्हें जनता और उनकी आकांक्षाओं के समीप, सरकार के समीप आना होगा। राष्ट्र को भी विश्वविद्यालयों के लिए उनके कर्तव्यों और उत्तरदायित्वों के समुचित निर्वाह के लिए अपेक्षित साधन जुटाने और सुलभ कराने होंगे।

मैंने आप लोगों के सम्मुख शिक्षा के संबंध में कुछ विचार रखे। एक बात तो स्पष्ट है कि यदि हम इस मंहगी और विदेशी शिक्षा को बनाए रखते हैं तो यह हमें विनष्ट करके छोड़ेगी।

एक बार फिर से में डिग्री प्राप्त करने वाले छात्रों को बधाई देता हूं और उनके जीवन के लिए साहस और सौभाग्य की कामना करता हूं।

चिन्तन परक

आध्यात्मिक प्रदूषण*

डॉ. राजा रामण्णा

विदेश-यात्राओं में अक्सर ही मुझसे पूछा गया है कि यह क्या बात है कि केवल भारत में ही बुद्धिजीवियों की बहुत बड़ी तादाद इसमें विश्वास करती है कि विज्ञान के नियमों को काटने, यहां तक कि विज्ञान की बुनियादों को हिला डालने का सामर्थ्य आत्मा में है! मैं स्वीकार करता हूं, बहुत-से भारतीयों को इसका अभिमान है कि हमारा देश आध्यात्मिक है, और उन्हें तब खुशी होती है, जब 'तथाकथित बुद्धिवादी' इसका समर्थन करते हैं कि आत्मा तर्काश्रित विज्ञानों के प्रमाणसिद्ध नियमों से ऊपर है। उनके इस सलूक के कारणों का विवेचन करने से पहले यह तय कर लेना अच्छा होगा कि 'तथाकथित बुद्धिजीवी', आत्मा और विज्ञान की बुनियादें—इनसे क्या अभिप्रेत है।

भारत में 'बुद्धिजीवी' से कई अर्थ लिए जाते हैं। उसकी एक परिभाषा यह की जा सकती है कि वह ऐसा आदमी है, जिसने स्वातंत्र्य-पूर्ण की ब्रिटिश ढर्रे की शिक्षा पाई है, जो कि मुख्यतः लार्ड मैकाले से प्रेरित थी; इसका अर्थ यह है कि वह (विशेषतः पाश्चात्य साहित्य की पृष्ठभूमि के साथ) पढ़ने-लिखने तथा जो कुछ भी पढ़ा है उसे अपने तर्कबुद्धि का विशेष उपयोग किए बिना अपना लेने की क्षमता रखता है।

बुद्धिजीवी वह भी हो सकता है, जिसकी शिक्षा-दीक्षा संस्कृत या इस्लामी संस्कृति पर आधारित पुराने ढर्रे पर हुई है और जो इस भय से कि उस महान किंतु घोटाले-दार विरासत का कुछ भी अंश हाथ से निकल न जाए, रूढ़िवाद के खोल में घिरकर अपनी तर्कबुद्धि को ताक पर रखने को तैयार हो जाता है।

बुद्धिवादी गिने जाने वालों में सबसे अधिक विवादास्पद है वह व्यक्ति, जिसकी पढ़ाई विज्ञान में हुई और जिसे देखे तथा जांच द्वारा प्रमाणित किए जा सकने वाले तथ्यों की उपस्थिति में स्वीकृत मान्यताओं की वैधता पर प्रश्न उठाने का विशेष प्रशिक्षण दिया गया है, मगर जो उस तमाम प्रशिक्षण को ही नहीं उन सिद्धांतों को भी ताक पर रखने को तैयार हो जाता है, ताकि उस समाज का अंग बन सके जो कि आदमी को यह बढ़ावा

* नवनीत, मार्च 1977

देता है कि निजी संकट या लाभ का जरा-सा भी संकेत मिलते ही गुरु की शरण गहकर 'आध्यात्मिक सांत्वना' स्वीकार लो, भले ही वह तुम्हें 1=2 जैसी सरासर स्पष्ट विसंगतियों पर पहुंचा दे।

बेशक ऐसे अनेक विज्ञानी हैं, जो सच्ची आध्यात्मिक अंतःप्रेरणाओं से प्रभावित हैं और आध्यात्मिक जगत् एवं भौतिक जगत् के मामलों का आपस में घोटाला नहीं करते तथा इस तथ्य को भी स्वीकार करते हैं कि 'आत्मा' का मूल चाहे जो भी हो, मगर परिवर्तन और विकास की (जिस रूप में हम उन्हें जानते हैं) प्रेरक शक्ति वही हैं।

कोई इससे इंकार नहीं कर सकता कि यदि विशुद्ध भौतिक दृष्टिकोण से बात करें तो जैविक कोशिकाओं का व्यवस्थित तंत्र एकीकृत होकर सजीव वस्तु बन जाता है और सजीव वस्तु की चर्या का वर्णन विशुद्ध भौतिक परिभाषाओं में फिलहाल तो नहीं ही किया जा सकता है। यह अभी एक प्रश्न ही है कि क्या यह एकीकरण उस चेतना को उत्पन्न करता है, जो आध्यात्मिक चर्या को जन्म देती है; या कि चेतना पृथक् तत्त्व के रूप में केवल इस प्रकार के एकीकृत व्यवस्थित तंत्रों में ही रहती है? मगर इनमें से जिसे भी आप मानते हों, जहां तक हम जानते हैं, अंतस्थ चेतना की प्रेरणा से भौतिक जगत् के क्रिया-कलापों में कोई वैज्ञानिक विसंगति नहीं पैदा होती है।

प्रयोगशालाओं में जैविक पदार्थों को लेकर किए जाने वाले तमाम परीक्षणों में ऊर्जा-संरक्षण और एन्ट्रॉपी[1] के नियमों का यथावत् पालन होता हुआ दिखाई देता है। भौतिक पदार्थ आत्मा को अवलंबन देता है; पर ऐसा किसी भी बात से सूचित नहीं होता कि भौतिक पदार्थ से समानता रखते हुए आत्मा भौतिक जगत् के किसी भी कानून को तोड़ती है। हां, उसका उपयोग हमारी शक्तियों को ठीक सुनियोजित करके उसके द्वारा अपने इर्द-गिर्द के भौतिक जगत् का अधिकतम लाभ उठाने के लिए किया जा सकता है। इस समय तो मुख्य समस्या यही जान पड़ती है कि अभी हम यह नहीं कह सकते कि प्रकृति ने वह रास्ता क्यों चुना जो कि वस्तुतः उसने पकड़ा। अनेक प्रमुख विज्ञानी ऐसा महसूस करते हैं कि जीव-जंतुओं की सारी उत्पत्ति और विकास महज एक आकस्मिक घटना है।

बेशक विज्ञान की अपनी सीमाएं हैं, जिन्हें **ए.एन. ह्वाइटहेड** ने बहुत अच्छे ढंग से सार रूप में कह दिया है। वे लिखते हैं :

'विज्ञान प्रकृति में वैयक्तिक आनंद नहीं ढूंढ निकाल सकता; विज्ञान प्रकृति में कोई उद्देश्य नहीं ढूंढ़ निकाल सकता; विज्ञान प्रकृति में कोई सृजनशीलता नहीं ढूंढ़ निकाल सकता; ढूंढ़ने पर वह पाता है केवल सतत क्रम।'

विज्ञान की सीमाओं के कारण ही हमें अधिकांश सृजनात्मक क्रियाओं का श्रेय आत्मा को या अपनी अंतस्थ चेतना को देना पड़ता है। जब विकास का पथ चुन लिया

---

1. एन्ट्रॉपी अर्थात् अव्यवस्था का माप।

गया है और हम जानते हैं कि चेतना का अस्तित्व प्रमाणसिद्ध है, तो यह स्पष्ट है कि सामुदायिक जीवन के लिए कोई नीति-शास्त्र और आचार-संहिता आवश्यक हैं। मैं मानता हूं कि संघटित धर्म की आवश्यकता मूलतः इसीलिए है। बुद्ध ने बहुत पहले ही यह सब बड़े स्पष्ट रूप से समझ लिया था।

अब हम इसकी पड़ताल करें कि वस्तुतः विज्ञान की बुनियादें क्या हैं और उनमें स्थायी चीज क्या है। बुद्धि का जरा-सा भी उपयोग करने से यह पता चल जाएगा कि हम गणित की इस बुनियादी अभिधारणा का उल्लंघन नहीं कर सकते कि यदि कोई सिद्धांत ऐसा सूचित करे कि दो विसदृश संख्याएं समान हैं, तो यह विसंगति है और निश्चय ही वह सिद्धांत गलत है। यदि हमारे गणित की नींव ऐसी हो जो 1=2 की अनुमति दे दे, तब तो तमाम अंकगणित और व्यापारिक सौदे गप हो जाएंगे। यह एक ऐसा तथ्य है, जो मानवीय अनुभव से सिद्ध है और जिसकी पुष्टि अब तक का सारा संचित ज्ञान करता है।

अब हम यह दिखाएंगे कि भौतिक जगत् में चमत्कार तथा शून्य में से स्थूल वस्तुओं का मूर्तीकरण (मैटीरियलाइज़ेशन) इस बुनियादी अभिधारणा के विरुद्ध पड़ता है। इस काम के लिए मैं भौतिकी के समस्त नियमों में से केवल एक की सहायता यहां लूंगा और वह है ऊर्जा-संरक्षण का सिद्धांत। विज्ञान को हम जिस रूप में जानते हैं, उसके आरंभ से लेकर अब तक के तमाम परीक्षणों ने विज्ञान की इस महान आधारशिला को सत्य सिद्ध किया है। आरंभ में इसे 'द्रव्य-संरक्षण का सिद्धांत' कहा जाता था। मगर जब से आइन्स्टाइन ने दिखा दिया कि द्रव्य और ऊर्जा समतुल्य हैं, तब से द्रव्य-संरक्षण का सिद्धांत व्यापकतर ऊर्जा-संरक्षण सिद्धांत में जमा गया है।

यह सिद्धांत केवल कहता है कि हम शून्य में से द्रव्य या ऊर्जा उत्पन्न नहीं कर सकते। अगर हम वैसा कर सकें, तो हम यह भी मान सकते हैं कि 1=2 कोई भले ही भौतिकी में अन्य समस्त सिद्धांतों को तिलांजलि देने को तैयार हो, मगर इस एक सिद्धांत को त्यागना असंभव है; क्योंकि बिना इसके न अंतरिक्ष की खोज-यात्राएं संभव हैं, न परमाण्वीय यंत्रोपकरण, और न किसी भी प्रकार की प्रौद्योगिक प्रगति ही।

ऊर्जा-संरक्षण का सिद्धांत निर्जीव-सजीव दोनों प्रकार के पदार्थों पर लागू होता है। हम यह भी जानते हैं कि दोनों प्रकार के पदार्थ परमाणुओं एवं अणुओं से निर्मित हैं। इसलिए किसी भी विज्ञानी के लिए यह हैरानी की ही बात है कि आध्यात्मिक ऊर्जा से (जिसका मान भौतिक दृष्टि से शून्य है) मूर्तीकरण के द्वारा भस्म, हाथघड़ी आदि की उत्पत्ति कैसे संभव है।

अभी तक मैं यह बात समझ नहीं पाया हूं कि हिंदुओं के धार्मिक कार्य-कलाप में भस्म का इतना महत्त्व क्यों है! पुराण की कथाओं में तो मैं इसका महत्त्व समझ सकता हूं; मगर रसायनशास्त्री की नजरों में तो भस्म केवल पदार्थ का ऑक्सीकृत रूप है, जिसमें से ऊर्जा निकाल ली गई है। अलबत्ता यह मेरी समझ में आता है कि लोग मुफ्त में

हाथवड़ियां हासिल करना चाहें, खास करके जबकि हमारे यहां उम्दा किस्म की हाथघड़ियों की कमी है। यह एक मध्य-वर्गीय हिंदू लालसा है, जैसा कि दहेज में इसके आग्रहपूर्ण समावेश से सिद्ध होता है।

आध्यत्मिक मूर्तीकरण द्वारा केवल इसी किस्म की चीजों का प्रादुर्भाव हो, यह बात तार्किक विवेचन की जड़ें ही काट देती है। बिल्कुल सीधी-सादी दूसरी व्याख्या यह हो सकती है कि यह हाथ की सफाई का प्रदर्शन है या चतुराई से नियोजित जादूगरी है, जैसा कि मेरे मित्र डॉ. कोवूर ने बहुत योग्यता-पूर्वक दिखा दिया है। वे इनमें से कई प्रदर्शन स्वयं कर लेते हैं, मगर उन्हें किसी दिव्य प्रेरणा की आवश्यकता नहीं पड़ती। डॉ. कोवूर पर विश्वास करना बेहतर है, बजाय इसके कि उस विज्ञान को ही तिलांजलि दे दी जाए, जिस विज्ञान के उपकारों का आनंद हम जीवन में प्रतिक्षण उठा रहे हैं।

ऐसे भी कुछ लोग हैं जो ध्यान में लायी गई प्रत्येक चीज को तर्कसंगत सिद्ध करने की फिराक में रहते हैं। वे कहते हैं कि जैसे सापेक्षता सिद्धांत ने चार आयामों वाले देश (स्पेस) की उद्‌भावना करके भौतिकी में अनेक विरोधाभास प्रविष्ट करा दिए हैं, उसी प्रकार चार से अधिक आयामों वाले अमूर्त देश (एब्स्ट्रैक्ट स्पेस) में चमत्कारों की भी तर्कसंगत व्याख्या हो पाना संभव है। हम इस पर इतना ही कहेंगे कि सापेक्षता ने समूचे विज्ञान की नींव को पुख्ता बनाया है, जबकि स्थूल पदार्थों के मूर्तीकरण के चमत्कारों की व्याख्या के लिए 'अमूर्त देशों' को घुसेड़ना विज्ञान की नींव को ही नष्ट कर डालेगा।

जब इन तथाकथित आध्यात्मिक विधियों का उपयोग मनःशारीरिक रोगों के इलाज के लिए किया जाता है, मुझे उससे कुछ सहानुभूति होती है। चिकित्सा-विज्ञान ने अभी इस हद तक उन्नति नहीं की है कि वह मनःशारीरिक बरताव को पूरी तरह समझ सके। विशेषतः अब इसके प्रमाण जमा होते जा रहे हैं कि मनुष्यों के ज्यादातर रोगों के कारण मानसिक हैं। जिन-जिन मामलों में रोग का ठीक निदान किया गया है, उनमें योग्य डॉक्टरों के पूर्वानुमान (प्रोग्नॉसिस) सदा ही सही निकले हैं और तमाम आध्यात्मिक सहायता से कोई लाभ नहीं हुआ है। यह बात मैंने ऐसे विज्ञानियों से सुनी है, जिन्होंने ये शारीरिक चिकित्साएं ध्यान से देखी हैं।

अनेक बार तो ये आध्यात्मिक इलाज बिलकुल बेअसर रहे हैं और उन्होंने रोगियों के स्वजनों में झूठी आशा उपजायी है, जिससे हित के बजाय अहित ही अधिक हुआ है। यह सचमुच अफसोस की बात है कि लोग अप्रमाणित बयानों पर विश्वास कर लेते हैं और कसम खाकर कहने लगते हैं कि हमने अपनी आंखों से चमत्कार देखे हैं, जब कि उन 'चमत्कारों' के समय उस स्थल पर उनकी उपस्थिति सर्वथा संभव नहीं थी।

अगर किसी प्रकार के मानसिक आघात (शॉक) से किसी रोगी का मनः-शारीरिक रोग दूर हो गया हो, तो मैं कहूंगा कि वह रोगी भाग्यशाली था। मगर मुझे इसका भरोसा नहीं कि इस प्रकार के रोग-निवारणों से होने वाला लाभ समाज को उनसे पहुंचने वाली हानि से अधिक वजनदार है। इस प्रकार के तथ्यों के संकलन और उनकी सत्यता की

परख के क्षेत्र में बेंगलूर विश्वविद्यालय का साहसपूर्ण काम हम सबके लिए बहुत उपयोगी हो सकता है। इस प्रायोजना को आरंभ करने में उसने जिस साहस का परिचय दिया है, उसके लिए मैं उसे बधाई देता हूं। यह सर्वथा उचित ही है कि तरुणों को आध्यात्मिक प्रदूषण और शोषण से बचाने के लिए विश्वविद्यालय कदम उठाए।

कोई इससे इंकार नहीं कर सकता कि लोगों को दैनिक जीवन-व्यवहार में आध्यात्मिक मार्गदर्शन की आवश्यकता है। कोई इससे इंकार नहीं कर सकता कि अनेक कलाकृतियां आध्यात्मिक प्रेरणा से उपजी हैं। मैं तो किसी आदमी को इससे भी नहीं रोकूंगा कि विपदा के समय वह अपने इष्ट-देवता की मूर्ति के सामने नारियल फोड़े। मैं यह जरूर कहूंगा कि मूर्ति जितनी अमानवाकार हो, उतना ही अच्छा। निजी तौर पर मुझे गणेश की प्रतिमा पसंद है, हालांकि वेदों के अनुसार तो उपासना अधिक अमूर्त और दूरस्थ चीज है, और लाभ या इच्छापूर्ति का साधन तो वह हरगिज नहीं है।

हम इंसानों में अद्वितीय चेतना है, जो स्वयं हमारे बारे में सवाल पूछ सकती है; तो फिर भय के आवेग में हम जादू-टोना करने वालों या ऐसे ही अन्य संदिग्ध-चरित्र व्यक्तियों के प्रभाव में क्यों वह जाएं? वेदों में कितना कुछ है, जो हमें भय से त्राण दे सकता है; आचार्यों (शंकर, रामानुज आदि) के ग्रंथों में कितना कुछ है, जो दार्शनिक आनंद दे सकता है; हमारे पुराणों में मिथकों के रूप में कितना कुछ है, जो हमें मानवीय आचरण में मार्ग दिखा सकता है। मिथकों के मूल्य के बारे में मैं आनंद कुमार-स्वामी की यह उक्ति बड़े चाव से उद्धृत किया करता हूं :

'परम सम्य का जो निकटतम मार्ग शब्दों द्वारा कहा जा सकता है, मिथक उसका मूर्त रूप है।'

दुर्भाग्यवश हम मिथकों को एक उच्चतर भाषा के रूप में समझने के बजाय उनका शाब्दिक अर्थ लगा बैठे हैं। अपनी प्राचीन विद्या और चमत्कारों की संभावना के आरे में भी यही घोटाला हमने कर लिया है।

यदि हमारे आध्यात्मिक नेता ढोंग-भरी जादूगरी के जरिए भोले-भाले लोगों पर अपनी आध्यात्मिक शक्ति का प्रभाव जमाने के बजाय, वेदों और आचार्यों के ग्रंथों में निहित महान सत्यों को समझाने में अपना ध्यान लगाएं, तो मानव-जाति का कितना उपकार होगा! जनता पर उनका जो वर्चस्व है, उसका सदुपयोग बच्चों और निर्बलों के साथ दुर्व्यवहार करने वालों का आध्यात्मिक मार्ग-दर्शन करने के लिए हो सकता है।

हमारे समाज के सारे ही तबकों में जो अन्याय व्याप्त है, वे नितांत भयंकर हैं। हमारी गंदी बस्तियों में और मध्य-वर्गीय समाजों में भी इतनी क्रूरता है कि सहसा विश्वास नहीं होता। सच तो यह है कि अधिकांश मनुष्यों के लिए स्वर्ग और नरक की कल्पना का मकसद जिस दुनिया में वे जी रहे हैं, उनकी कुंठाओं और निराशाओं से राहत पाना ही है। पीड़ित मानवों की दशा सुधारने के मामले में आध्यात्मिक मार्ग-दर्शन के जरिए हमारे बीच बड़ा ही चमत्कारी कार्य हो सकता है।

हमारे आध्यात्मिक नेता अपनी गतिविधियां वहां क्यों नहीं केंद्रित कर सकते, जहां उनकी सबसे अधिक आवश्यकता है? क्या ढोंग-भरी जादूगरी ही एकमात्र उपाय है लोगों पर प्रभाव स्थापित करने का?

हम गहरी अध्यात्म-शक्ति से संपन्न एक महान राष्ट्र हैं हम अपने तथा दुनिया के सामने यह क्यों दिखाएं कि हम निम्नतम स्तर के अंधविश्वासों में लिथड़े हुए, निहायत पिछड़े हुए लोग हैं जो चमत्कारों और मूर्तीकरण को किंचित् भी गंभीरता से लेते हैं!

[अनुवाद : विशाखदत्त]

15

दैनिक जीवन में दाब*

विष्णुदत्त शर्मा

यह सर्वविदित है कि विश्व में जितने भी पदार्थ हैं, वे सभी तीन अवस्थाओ में पाए जाते हैं : ठोस द्रव तथा गैस। ये पदार्थ चाहे जिस अवस्था में भी हों, एक दूसरे पर निरंतर अपना दाब डाल रहे हैं, भले ही वह दाब प्रत्यक्ष रूप में है अथवा अप्रत्यक्ष रूप में। वस्तुतः दाब वह बल है जो प्रति इकाई क्षेत्रफल पर क्रियाशील है अर्थात् वायुमंडल में किसी भी बिंदु पर वायुमंडलीय दाब वायु स्तम्भ में वायु का वह भार है जो प्रति वर्ग सेंटीमीटर क्षेत्रफल पर पड़ रहा है।

बैरोमीटर और वायुमंडलीय दाब

आमतौर से वायुमंडलीय दाब को मापने के लिए बैरोमीटर इस्तेमाल किया जाता है। इसके स्केल प्रायः इंचों अथवा मिलीमीटरों में अंशांकित होते हैं। जब हम कहते हैं कि बैरोमीटर 29.92 इंच अर्थात् 30 इंच अथवा 760 मिलीमीटर वायुमंडलीय दाब बता रहा है, तो इसका अर्थ यही होता है कि बैरोमीटर में पारद स्तम्भ की यह ऊंचाई और उस पर पड़ रहे वायु स्तम्भ का भार दोनों बराबर हैं। वैज्ञानिक वायुमंडलीय दाब का उक्तमान समुद्र तल पर 45 डिग्री अक्षांश पर लिया गया है जिसे एक **वायुमंडलीय दाब** अथवा **मानक दाब** कहते हैं। मौसम वैज्ञानिक वायुमंडलीय दाब को एक अन्य इकाई द्वारा व्यक्त करते हैं, जिसे **'बार'** कहते हैं। वस्तुतः 'बार' बैरोमीटर के पारद स्तम्भ की ऊंचाई नहीं दर्शाता है बल्कि इकाई क्षेत्र पर वायु स्तम्भ द्वारा उत्पन्न दाब के कारण लगने वाले बल को सीधे दर्शाता है। अतः मौसमविज्ञों द्वारा काम में लाए जाने वाले वायुदाब मापक यंत्रों का स्केल 'मिलीबार' इकाई में अंशांकित होता है। एक मिलीबार एक बार का एक हजारवां अंश है। एक 'बार' एक 'मेगाडाइन' अर्थात् 1,000,000 डाइन (बल की इकाई) प्रति वर्ग सेंटीमीटर के बराबर है। अब यह स्पष्ट है कि समुद्र तल पर औसत दाब जो पारद स्तम्भ द्वारा 29,92 इंच अथवा 760 मिलीमीटर अंकित किया गया, वस्तुतः 1,0132

* 'विज्ञान प्रगति', मई-जून 1977

मिलीबार है। अथवा 1,013,200 डाइन प्रति वर्ग सेंटीमीटर है।

चूंकि गुरुत्व का मान लगभग 980 मि.मी. प्रति सेकंड है। अतः समुद्र तल पर एक वर्ग सें.मी. क्षेत्रफल पर वायु का औसत द्रव्यमान 1034 ग्राम (1.034 कि.ग्रा.) पाया गया। अतः एक वायुमंडलीय दाब का मान ब्रिटिश पद्धति में 14.7 पौंड (अर्थात् लगभग 15 पौंड) प्रति वर्ग इंच तथा मीटरी पद्धति के अनुसार 1.034 किलोग्राम प्रति वर्ग सेंटीमीटर है। वायुमंडल का यह दाब मान जल स्तम्भ के 33 फुट तथा पारद-स्तम्भ के 760 मि.मी. के बराबर है।

बैरोमीटर के पैमानों का तुलनात्मक अध्ययन

वायुमंडल :

वायुमंडलीय दाब, वायु में उपस्थित विविध गैसों द्वारा उत्पन्न होता है। शुष्क तथा धूलरहित वायु में, जिसका औसत अणुभार 28.87 है, लगभग 99 प्रतिशत आक्सीजन तथा नाइट्रोजन विद्यमान है। वायुमंडल में ये दोनों गैस सम्मिलित रूप में सर्वाधिक मात्रा में हैं। इनमें नाइट्रोजन 78.09 प्रतिशत और आक्सीजन 20.95 प्रतिशत है। अन्य गैसों
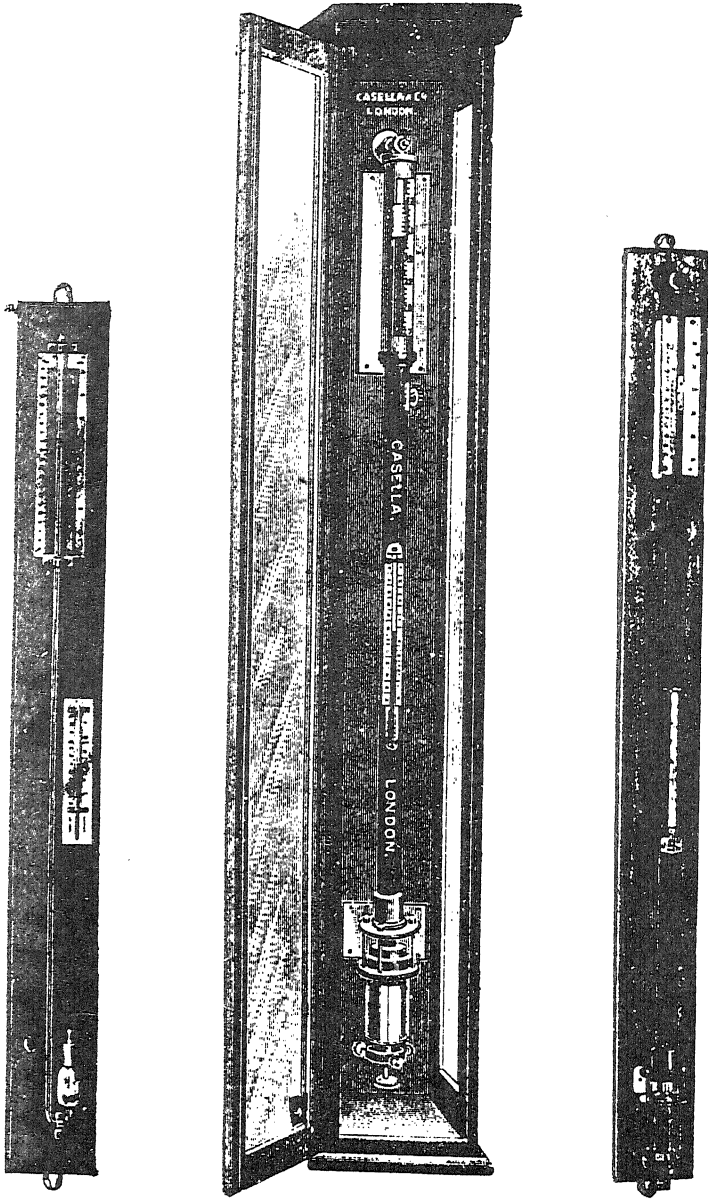
तीन विभिन्न प्रकार के पारद बैरोमीटर : (बांये से दायीं ओर)
स्थिर कंडिका बैरोमीटर, फोर्टिन बैरोमीटर, समंजित कंडिका बैरोमीटर

की मात्रा इस प्रकार है : आर्गन 0.93 प्रतिशत, कार्बन डाईआक्साइड 0.03 प्रतिशत, निआन 1.8×10^{-3} प्रतिशत, हीलियम 5.24×10^{-4} प्रतिशत, क्रिप्टान 1×10^{-4} प्रतिशत, हाइड्रोजन 5×10^{-5} प्रतिशत, ज़ीनान 8×10^{-6} प्रतिशत, ओजोन 1×10^{-6} प्रतिशत, (ऊंचाई के साथ इस की मात्रा में वृद्धि होती है), रेडान 6×10^{-18} प्रतिशत, (ऊंचाई के साथ कम होती है)।

ऊंचाई और वायुमंडलीय दाब :

वायुमंडल में ये गैसें समुद्रतल से लगभग 12 किलोमीटर की ऊंचाई तक पाई जाती हैं। ज्यों-ज्यों हम ऊपर गगन की ओर बढ़ते जाते हैं, त्यों-त्यों वायुमंडल में इन गैसों की मात्रा भी कम होती जाती है। अतः पर्वतारोहियों को अपने साथ आक्सीजन गैस का सिलिंडर ले जाना पड़ता है क्योंकि अधिक ऊपर आरोहण में वायुमंडलीय आक्सीजन की मात्रा अल्प होती जाती है। परिणामस्वरूप श्वास लेने में कठिनाई होती है और सांस फूलने लगता है। ऊपर दाब कम होने के कारण पर्वतारोहण काल में अनेक प्रकार के स्वास्थ्य संकटों का सामना करना पड़ता है। पर्वतारोहण काल में यह भी देखा गया है कि कम दाब होने के कारण किसी भी पेय पदार्थ को उबालने में कठिनाई होती है। धमनी तथा शिराएं फूलने लगती हैं। नीचे दी गई सारणी में स्पष्ट किया गया है कि ऊंचाई की वृद्धि के साथ-साथ वायुमंडीय दाब किस प्रकार कम होता जाता है।

वायुमंडलीय दाब तथा ऊंचाई में परस्पर सम्बन्ध
(अंतर्राष्ट्रीय सिविल विमानन संगठन मानक के अनुकूल)

ऊंचाई	वायुमंडलीय दाब	ऊंचाई	वायुमंडलीय दाब (मिलिबार)		औसत
(कि.मी.)	(मिलिबार)	(कि.मी.)	ग्रीष्मकाल	शीतकाल	
0	1013	20	60	52	
2	795	40	3.4	2.3	
4	616	60	3×10^{-1}	1.5×10^{-1}	
6	472	80	1.3×10^{-2}	$8.\times10^{-2}$	
8	356	100	5×10^{-4}	4×10^{-4}	
			(क)	(ख)	
10	264	100	1.5×10^{-3}	1.5×10^{-3}	5.7×10^{-4}
15	120	150	—	—	4.6×10^{-6}
		200	3.9×10^{-5}	2.1×10^{-6}	3.7×10^{-7}
		300	1.1×10^{-5}	4×10^{-6}	1.7×10^{-8}
		400	5.7×10^{-6}	1.5×10^{-6}	—

प्रायः यह देखा जाता है कि औसत दाब ग्रीष्मकाल में दो प्रतिशत अधिक होता है और शीतकाल में दो प्रतिशत कम। उक्त सारणी में **मर्गाटायड** द्वारा किए गए सर्वेक्षणों के अनुकूल 20 किलोमीटर से 100 किलोमीटर तक की ऊंचाई के दाब दर्शाये गए हैं। 100 किलोमीटर से ऊपर दाब रेडियो प्रतिध्वनि तकनीक (क) और (ख) राकेट द्वारा अध्ययन पर आधारित है जिनमें परस्पर पर्याप्त अंतर है।

वायुमंडलीय दाब केवल ऊंचाई पर ही निर्भर नहीं है अपितु वायु के घनत्व पर भी आधारित है। अतः वायु का घनत्व जितना अधिक होगा, उतना ही वायु दाब भी अधिक होगा। यदि हम वायु के दाब, ताप तथा आर्द्रता को ज्ञात कर सकें तो इसका घनत्व सरलतापूर्वक ज्ञात किया जा सकता है। यदि शुष्क वायु का दाब P मिलीबार, परमताप पर ताप T और घनत्व ρ ग्राम प्रति घन सेंटीमीटर हो तो बॉयल के सिद्धांत के अनुसार :

$P=R.T.\rho$ होगा, जबकि $R=2870$ (स्थिरांक) है।

अतः वायु का घनत्व $\rho = \frac{P}{RT}$ होगा। तो अब 0° सें. (32° फा.)

अथवा 273° केल्विन ताप तथा 1,000 मिलीबार दाब पर

$$\text{वायु का घनत्व} = \frac{1000}{2870 \times 273}$$

$$= 0.001276 \text{ ग्राम प्रति घन सें.मी. होगा।}$$

यदि आर्द्र वायु में वाष्प-दाब e हो, तो

$$\text{घनत्व का मान} = \rho - \frac{e}{RT} + \frac{0.622e}{RT} \text{ होगा}$$

$$= P\frac{(1-3e/8P)}{RT} \text{ (लगभग)}$$

यदि दाब में परिवर्तन ऊंचाई z से संबंधित है, और इस प्रकार दाब में dp और ऊंचाई में dz सूक्ष्म परिवर्तन हो, तो

$\frac{dp}{dz} = -g\rho$ होगा परंतु **बॉयल के सिद्धांत** के अनुसार

$$\rho = \frac{P}{RT}$$

$$\therefore \quad \frac{dp}{dz} = -g\frac{P}{RT}$$

अथवा $$\frac{1}{P} \times \frac{dp}{dz} = -\frac{g}{RT}$$

अतः इस समीकरण से भी यही परिणाम प्राप्त होता है कि जैसे-जैसे ऊंचाई बढ़ती जाती है वैसे-वैसे दाब भी घटता जाता है और साथ ही साथ ताप और पृथ्वी का गुरुत्वाकर्षण बल भी कम होता जाता है। इस सिद्धांत के आधार पर ही मानव कृत्रिम उपग्रह तथा राकेट आदि छोड़ने में सफल हुआ है। वायुमंडलीय ऊंचाई की वृद्धि के समानुपाती ताप के कम होने को ह्रास-दर (लैप्स रेट) कहते हैं। अतः वायुमंडल में औसत ह्रास-दर लगभग 3.3° फा. प्रति 1,000 फुट अथवा 0.6° सें. प्रति 100 मीटर होता है। वैज्ञानिकों का मत है कि इन्हीं कारणों से ज्यों-ज्यों धरातल समुद्र तल के ऊपर उठता गया है त्यों-त्यों उन पर वनस्पति एवं जीव-जन्तु कम होते गए हैं। जीव-जन्तुओं की आकृति को देखकर यह अनुमान लगाया जा सकता है कि यह कितनी ऊंचाई पर पाया जाने वाला जीव-जन्तु है अथवा इस का पालन-पोषण किस वातावरण एवं ताप पर हुआ है। इस प्रकार के अध्ययनों की सहायता से ही चिड़ियाघरों में जीव-जन्तुओं तथा वनस्पति-उद्यानों में वनस्पतियों के रख-रखाव में सफलता मिलती है।

पादपों तथा जीव-जन्तुओं पर दाब का प्रभाव :

जैसा कि पहले बताया जा चुका है, समुद्रतल पर दाब 14.7 पौंड (लगभग 15 पौंड) प्रति वर्ग इंच है और वायुमंडलीय दाब इसी अनुपात में हमारे शरीर पर पड़ रहा है। किंतु अब प्रश्न उठता है कि इस दाब के इतने अधिक भार को हमारा शरीर कैसे वहन कर पाता है। हमारे शरीर पर दाब न केवल बाहर से ही पड़ रहा है बल्कि इतना ही दाब शरीर के भीतर से शारीरिक गुहिकाओं एवं ऊतकों में विद्यमान वायु द्वारा भी पड़ रहा है। अतः शरीर पर पड़ने वाला वायुमंडलीय दाब और आंतरिक दाब समतुल्य होकर एक दूसरे को प्रभावहीन करते हैं और इस प्रकार हमारा शरीर वायुमंडल के इतने अधिक भार और दाब को वहन कर पाता है। इसे और अधिक स्पष्ट समझने के लिए उदाहरण के रूप में यदि पानी से भरे घड़े को जल में डुबो दिया जाए तो अंदर तथा बाहर जल होने के कारण घड़े की भित्ती पर दाब का प्रभाव नहीं होता। ठीक उसी प्रकार हमारे शरीर पर भी दाब प्रभावहीन है।

ज्यों-ज्यों समुद्र की गहराई में जाते हैं, त्यों-त्यों दाब बढ़ता जाता है। वैज्ञानिकों ने ज्ञात किया है कि समुद्री गहराई में 33 फुट नीचे जाने पर 15 पौंड प्रति वर्ग इंच की दर से दाब बढ़ जाता है। इस प्रकार 18,000 फुट पर दाब 3 टन 15 हंडरवेट प्रति वर्ग इंच होगा। चूंकि जल लगभग असंपीड्य (uncompressible) होता है और यह शरीरिक गुहा तथा जीवित ऊतकों को बाह्य एवं अंदर सभी दिशाओं से प्रभावित करता है। फिर भी यह देखा गया है कि सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीवों पर इस दाब का प्रभाव नहीं होता है। शायद ऐसा इसलिए हो पाता है कि उदाहरण के तौर पर यदि एक धातुई बक्स को समुद्र की

गहराई में ले जाया जाए तो वह प्रभावहीन होगा बशर्ते कि उसमें चारों ओर छिद्र हों और उन छिद्रों द्वारा जल बक्स में भी प्रवेश कर गया हो। यदि बक्स में छिद्र नहीं हैं तो यह चारों ओर से दबकर चपटा हो जाएगा। यही कारण है कि जलयान के डूबने पर भी उसकी आकृति में कोई अंतर नहीं आता क्योंकि उसमें बाहर और अंदर जल भर जाता है। अतः अधिक गहराई में रहने वाले समुद्री जीवधारियों पर भी दाब का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

दाब के कुछ उपयोग :

दाब का महत्व हमारे जीवन में कम नहीं है। दाब के कम होने के कारण ही ऊंचाई (पर्वतों) पर बसने वाले लोगों का कद छोटा और नाक चपटी होती है जबकि समतल निवासियों का कद कुछ अधिक लंबा और नाक ऊंची होती है। वैज्ञानिकों ने भी दाब का
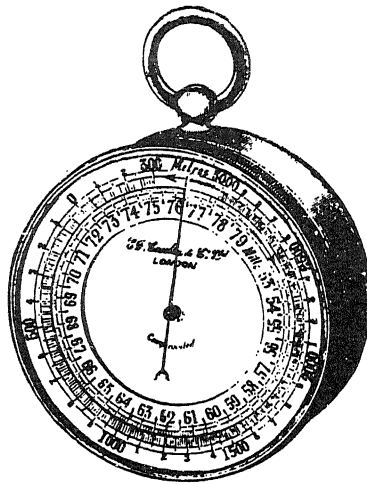
जल पोतों में काम आनेवाला (नेवी टाइप) एनरॉयड बैरोमीटर

उपयोग पर दैनिक जीवन में काम आने वाले अनेक यंत्रों का विकास किया है; यथा वाष्प द्वारा उत्पन्न दाब को बढ़ाकर रेलों, कारखानों तथा विविध उद्योगों का शुभारंभ किया। यहां तक कि खाना पकाने के लिए प्रेशर कुकर का विकास कर समय, शक्ति तथा ईंधन की बचत की है। वाष्प द्वारा कुकर के भीतर दाब उत्पन्न किया जाता है। परिणामस्वरूप इस के भीतर रखी हुई खाद्य सामग्रियां शीघ्र ही तैयार हो जाती हैं। रबर ट्यूबों में अधिक दाब पर वायु भरकर मोटर, कार साइकिल, ट्रक आदि वाहनों में प्रयोग किया जाता है।

दाब के सिद्धांतों पर अनेक प्रकार के आयुधों का निर्माण किया गया। वैज्ञानिकों ने न केवल उच्च दाब को ही अपना अस्त्र बनाया बल्कि निम्न दाब पर भी अधिकार करने से नहीं चूके। निम्न दाब का उपयोग कर तनु-फिल्म तैयार की गई जो धूप चश्मों, परावर्त्तकों, दर्पणों, टेलिविजन, तथा विद्युत परिपथ के विकास में बहुत ही उपयोगी सिद्ध हुई है। अतः जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में दाब का एक अपना ही महत्व है।

16

निद्राभ्रमण : एक विचित्र रोग*

नरेश चन्द्र गुप्त

निद्रा प्रत्येक व्यक्ति की एक प्रिय शारीरिक सुसुप्तावस्था है। निद्रा की आवश्यकता को प्रत्येक व्यक्ति अनुभव करता है। गहन निद्रा से जागने के पश्चात् सभी लोग स्फूर्ति, आनंद तथा उत्साह का अनुभव करते है। किन्तु अनिद्रा तथा विकृत निद्रा से परेशानी और बेचैनी का अनुभव करते हैं तथा सारा दिन एक अरूचिपूर्ण मनःस्थिति का अनुभव करते हैं।

निद्रा एक विशेष शारीरिक स्थिति है जिसमें मस्तिष्क तथा तंत्रिका संस्थान सुप्त पड़ जाते हैं। ऐच्छिक मांस-पेशियां शिथिल पड़ जाती हैं। इसके अतिरिक्त शरीर में अन्य परिवर्तन भी हो जाते हैं। फिर भी शरीर की कुछ क्रियाएं तथा मांसपेशियां कार्य करती रहती हैं।

स्वप्न और निद्रा का अपना एक प्राचीन अटूट संबंध है और प्रत्येक व्यक्ति कमाधिक स्वप्न देखता ही है। स्वप्न की विस्तृत व्याख्या की जा सकती है। संक्षेप में, स्वप्न असंतृप्त वासनाओं-इच्छाओं की काल्पनिक तृप्त द्वारा निद्रा की रक्षा करते हैं। क्रोध, मोह, लोभ इच्छा और वासना इत्यादि मनोभावों से संभाव्य दुष्परिणामों को नाटकीय ढंग से दिखा कर स्वप्न, प्राणी की भावनाओं का नियमन करता है।

निद्रा तथा स्वप्न में से प्रत्येक व्यक्ति परिचित है और इनके संबंध में थोड़ा-बहुत जानता ही है, किंतु निद्रा से ही संबद्ध निद्राभ्रमण (निद्राचार) जैसी प्रचलित मानवीय क्रियाओं से सामान्य व्यक्ति परिचित नहीं है। यदि मनुष्य को निद्राभ्रमण के संबंध में कुछ बताया जाता है तो वह इस पर विश्वास करने को तैयार ही नहीं होता तथा उसे यह सब आश्चर्यजनक तथा हास्यप्रद प्रतीत होता है।

कई वर्ष पूर्व की एक विदेशी सत्य घटना है। एक व्यक्ति सोते-सोते विस्तर से उठता है और द्वार से अपना रिवॉल्वर निकाल कर घर से बाहर निकल जाता है। वह निद्रावस्था में ही सड़कों पर घूमता रहता है और फिर लौट कर सो जाता है या अन्य कहीं सो जाता है। एक दिन रात्रि को उस व्यक्ति को मार्ग में एक ऐसा व्यक्ति दिखा जो चेहरे,

* विज्ञान, दिसम्बर 1977

वेशभूषा तथा अपने हावभाव से अपराधी प्रतीत हो रहा था। निद्रा भ्रमण से आक्रांत व्यक्ति ने उसे देखते ही एक धारणा बना ली कि यह अपराधी है तथा दण्ड का भागी है। ऐसा विचार आते ही उसने जेब से रिवॉल्वर निकाली और उसकी हत्या कर दी। घर लौट कर वह सो गया और जब सुबह उठा, उसे कुछ भी याद नहीं था। मृतक के हत्यारे का पता लगाने के लिए पुलिस सक्रिय हो उठी और अंततः पता लगा ही लिया। प्रमाण की मौजूदगी में पुलिस ने जब उस व्यक्ति से बातचीत आरंभ की तो उसने हत्या के संबंध में अनभिज्ञता जाहिर की और अस्पष्ट उत्तर दिए। पुलिस किसी भी कीमत पर अपने शिकार को छोड़ने को तैयार नहीं थी, दूसरी तरफ वह हत्यारा अपनी अनभिज्ञता ही बताता रहा। अंत में उस व्यक्ति को निद्रा विशेषज्ञों के पास भेजा गया। निद्रा वैज्ञानिकों ने हत्यारे का विधिवत सूक्ष्म अध्ययन किया और उन्हें असफलता प्राप्त हुई। हत्यारे ने बताया कि उसे हल्का-हल्का याद आता है कि मृतक को देखने से उसे ऐसा लगा जैसे वह कोई खतरनाक अपराधी हो। यह विचार आते ही उसने गोली चला दी। हत्यारे के बयान को पुलिस ने सुना और मृतक के संबंध में जानकारी प्राप्त करना आरंभ कर दी। इस खोजबीन से पुलिस को पता लगा कि मृतक वास्तव में ही एक खतरनाक अपराधी था जिसका पता लगाने में पुलिस अब तक असफल रही थी।

विश्व प्रसिद्ध निद्रा विशेषज्ञ **डॉ. नैथेनियल क्लीटमान** ने निद्रा भ्रमण पर काफी विस्तृत अध्ययन किया है और उन्होंने हजारों रोगियों के निद्राभ्रमण का उल्लेख किया है। डॉ. क्लीटमान का एक विद्यार्थी, रोगी सोते-सोते विस्तर से उठता और एक किलोमीटर पैदल चल कर नदी किनारे पहुंचता। वहां वह विर्वस्त्र हो कर स्नान करता, फिर वस्त्र धारण करता और वापस लौट कर सो जाता। सुबह तक वह रोग की घटना को लगभग भूल जाता। एक अन्य उदाहरण में उन्होंने लिखा है कि एक बार ऐसा व्यक्ति मिला जो सोते सोते बिस्तर से उठा, अपने शिकारियों वाले कपड़े पहनें बंदूक तथा कारतूस लिए और फिर कई मील दूर जाकर शिकार की घात में बैठ गया। वह शिकारी उस समय जागा जब प्रातः काल उसके पिता उसे खोजते हुए वहां पहुंचे और झकझोर कर जगाया।

निद्राभ्रमण एक अत्यंत प्रचलित मानवीय क्रिया है। इस रोग से ग्रसित व्यक्ति सुप्त अवस्था में भोजन करते, रात्रि में सड़कों पर घूमते हुए, यात्रा करते हुए, सिनेमा बस या रेलगाड़ी का टिकट खरीदते हुए, शिकार करते हुए, आदि पाए गए हैं। हम स्पष्ट रूप से कह सकते हैं कि निद्राभ्रमण से प्रभावित व्यक्ति वह सभी कार्य सुसुप्तावस्था में करते रहते हैं जो वह जाग्रत अवस्था में करते हैं। इस संबंध में ध्यान देने वाली बात है कि समस्त प्राणी जगत में केवल मनुष्य ही निद्राभ्रमण से प्रभावित है। अन्य कोई भी प्राणी इस रोग से प्रभावित नहीं पाया गया है। साथ ही साथ यह रोग सर्वत्र प्रचलित रोग है फिर भी इस रोग का कोई इतिहास ही नहीं है। इसका कारण है कि कोई भी इस रोग पर विश्वास करने को तैयार ही नहीं होता और आमतौर पर लोग इसे वैज्ञानिकों की एक हास्यप्रद गप्प ही मानते हैं। संभवतः इस रोग का सर्वप्रथम वर्णन अंग्रेजी उपन्यासकार

हैनरी **काकल** ने अपने उपन्यास 'सिलिविस्टर साडण्ड' में किया था। इस उपन्यास में उन्होंने निद्राभ्रमण संबंधी अनेकों घटनाओं का उल्लेख किया था। लेकिन सामान्य पाठकों ने वर्णित घटनाओं को हास्यप्रद तथा उपन्यास को एक हास्यपूर्ण कृत ही समझा।

अविश्वसनीय रोग

निद्राभ्रमण एक अत्यंत प्रचलित क्रिया है। इस रोग से प्रभावित व्यक्ति सुप्त अवस्था में जीवन के अनेकों कार्य करते रहते हैं। इस रोग की तुलना स्वप्न देखने की प्रक्रिया से की जा सकती है। स्वप्नावस्था में स्वप्नद्रष्टा का शरीर बिस्तर पर निढ़ाल पड़ा रहता है जिसमें वह नायक की भूमिका अदा करता है। इस 'फिल्म' में यह प्रत्येक कार्य करता है। स्वप्न भंग होते ही फिल्म समाप्त हो जाती है। इस फिल्म की कहानी स्वप्न भंग होने पर उसे याद रहती है या थोड़ी याद रहती है या कुछ भी याद नहीं रहती। स्वप्न देखते समय स्वप्न द्रष्टा अचेतन अवस्था में ही रहता हैं क्योंकि उसका तंत्रिका संस्थान, मस्तिष्क तथा अन्य ज्ञानेन्द्रियां सुप्त पड़ी रहती हैं। निद्राभ्रमण में बिल्कुल स्वप्न वाली बात ही रहती है अर्थात् शरीर सुप्त रहता है लेकिन स्वप्न की भांति शरीर विस्तर पर नहीं पड़ा रहता बल्कि 'स्वप्न की फिल्म' के विपरीत इस क्रिया में वह सक्रिय भूमिका अदा करता है। वह सुप्तावस्था में बिस्तर से उठकर कार्य में संलग्न हो जाता है। सुप्तावस्था भंग होते ही वह सामान्य हो जाता है और स्वप्न की भांति उसे अपने क्रियाओं का ज्ञान नहीं रह जाता है।

किसी भी रोग से ग्रस्त रोगी कुछ तकलीफ सहता है और उसे एक विशेष स्थिति से गुजरना पड़ता है। इस 'स्थिति' के सारे कटु अनुभव उसे जीवन पर्यन्त याद रहते हैं किंतु इस रोग से ग्रसित रोगी कष्ट से दूर रहता है। साथ ही साथ उसे कुछ क्षण पूर्व किए गए कृत्यों का भी बोध नहीं रहता है। यही कारण है कि स्वयं रोगी ही अपनें रोग पर विश्वास नहीं करता है। अतः जन सामान्य और भी इस रोग पर विश्वास नहीं करते और उन्हें यह विषय हास्यप्रद तथा अविश्वसनीय प्रतीत होता है। इसी कारण आज चिकित्साशास्त्र में प्रत्येक साधारण रोग का भी अपना एक इतिहास है किंतु इस रोग का कोई इतिहास नहीं है। अतः इस रोग का अस्तित्व देर से आया जब निद्रा वैज्ञानिकों ने इस पर वैज्ञानिक अनुसंधान कार्य आरंभ किए।

वैज्ञानिक अनुसंधान

इस रोग पर वैज्ञानिक अनुसंधान कार्य भी देर में आरंभ हुआ क्योंकि पहले कोई भी इस रोग के अस्तित्व पर विश्वास नहीं करता था। शुरू में जब इस पर कार्य आरंभ हुआ तो यह विश्वास किया जाने लगा कि निद्राभ्रमण से ग्रस्त व्यक्ति स्वप्नावस्था में कार्य करते हैं। किंतु विश्व विख्यात निद्रा विज्ञानी डॉक्टर नैथेनियल क्लीटमान ने अपने अनुसंधान कार्यों से इस धारणा को निराधार प्रभावित कर दिया। विज्ञानी क्लीटमान के अनुसार

प्रत्येक व्यक्ति स्वप्न अवश्य देखता है किंतु स्वप्न अधिकतर हल्की निन्द्रा में ही दिखलाई देते हैं। गहन निद्रा में स्वप्न कभी-कभी अथवा बिलकुल नहीं दिखलाई पड़ते हैं। इसके अलावा निद्रामग्न व्यक्ति के नेत्र स्वप्नावस्था में पलकों के नीचे तीव्रता से घूमते हैं।

कैलीफोर्निया विश्वविद्यालय से संबद्ध **एलन जैकब** तथा **एंथोनी केतस** ने निद्राभ्रमण से ग्रस्त व्यक्तियों पर अनुसंधान कर के यह बताया है कि निद्राभ्रमण सामान्यतः गहन निद्रा के समय ही होता है और निद्राभ्रमण के समय नेत्रों में गति का अभाव होता है।

शिशुओं और बच्चों पर किए गए अनुसंधान कार्यों से ज्ञात हुआ है कि शिशुओं में निद्राभ्रमण उस समय होता है जब उनके मस्तिष्क में सहसा सक्रियता उत्पन्न हो जाती है। इसका मूल कारण शिशुओं के मस्तिष्क की अपरिपक्वता है। किंतु जैसे जैसे आयु के बढ़ने से मस्तिष्क परिपक्व होता जाता है, यह रोग घटता जाता है। दो फ्रांसीसी चिकित्सकों, **डॉ. हैनरी** तथा **डॉ. राजर वाटन** ने इस रोग का विधिवत अध्ययन किया है। उनके अनुसार जो शिशु निद्रावस्था में मूत्र-त्याग करते हैं उन्हें बहुधा निद्राभ्रमण भी होता है। बच्चों के सोते-सोते चौकने या भयभीत होने पर भी ऐसा होता है। इन फ्रांसीसी चिकित्सकों के अनुसार निद्राभ्रमण की घटनाएं प्रथम तथा द्वितीय निद्राचक्र के अंत में होती है। एक निद्राचक्र सामान्यतः सवा घंटे का होता है।

निद्राभ्रमण से ग्रस्त व्यक्तियों की तुलना सम्मोहित व्यक्तियों से भी की जा सकती है। निद्राभ्रमण-काल में वे इस प्रकार कार्य करते हैं जैसे वे सम्मोहित अवस्था में हों। अतः वे कोई ऐसा कार्य नहीं करते जिससे उन्हें हानि पहुंचने की सम्भावना हो। निद्राभ्रमण की स्थिति में उन्हें सर्वथा अपनी गतिविधियों का ध्यान रहता है किंतु बाह्य जगत से वे सदैव अप्रभावित ही रहते हैं। अतः यदि उनसे कुछ प्रश्न किए जाएं तो वे अस्पष्ट उत्तर ही दे सकेंगे। निद्राभ्रमण से ग्रस्त व्यक्ति की तुलना 'यंत्र चालित' व्यक्ति से भी की जा सकती है। यदि उसे वह कार्य, जिसमें वह संलग्न है, करने दिया जाए तो वह उसी में लगा रहता है किंतु रोकने पर क्रुद्ध होकर हिंसात्मक रूप धारण कर लेता है।

कारण

निद्राभ्रमण के अनेकों कारण है किंतु चिकित्सक इन कारणों पर एक मत नहीं है। पहले कुछ चिकित्सकों का कहना था कि यह रोग वंशागत है और पीढ़ी-दर-पीढ़ी चलता रहता है। इस कथन को सिद्ध करने के लिए एक इतावली परिवार का उदाहरण दिया जाता है। इस परिवार में छः सदस्य थे तथा सभी निद्रागमन से ग्रस्त थे। एक दिन सभी सदस्य निद्रावस्था में विस्तर से उठ कर नीचे गए और एक घेरा बना कर बैठ गए। जब उसमें से एक को होश आया तो सब के सब जाग कर बैठ गए। किंतु ऐसे उदाहरणों से यह सिद्ध नहीं हो पाता कि रोग वंशागत है या नहीं। इन अनुसंधानों से इतना अवश्य ज्ञात हुआ है कि यह रोग बालिकाओं की अपेक्षा बालकों को अधिक होता है।

किंतु एक कारण से अधिकांश चिकित्सक सहमत हुए है कि मानसिक तनाव के

कारण यह रोग हो जाया करता है। मानसिक तनाव के अनेकों कारण हो सकते हैं जिससे सभी परिचित हैं। मानसिक कुण्ठा या अंतर पीड़ा के कारण लोग अपना दुख व्यक्त नहीं कर पाते और अधूरापन अनुभव करते हैं और निद्राचार से ग्रस्त हो जाते हैं।

उपचार

निद्राभ्रमण का मुख्य कारण है मानसिक तनाव। अतः निद्राभ्रमण से ग्रसित व्यक्ति को ऐसी समस्त परिस्थितियों से मुक्त कर देना चाहिए जिससे उसके जीवन में मानसिक तनाव पैदा हो गया हो। इस दिशा में उपचार करने का सबसे अच्छा उपाय है कि रोगी को मनोवैज्ञानिक चिकित्सकों से सलाह लेनी चाहिए।

निद्राभ्रमण से ग्रस्त बालकों को उपेक्षा या हीन दृष्टि से नहीं देखना चाहिए बल्कि उसकी भावनाओं का आदर कर रोग के कारण को जानना चाहिए और उपचार का रास्ता ढूंढ़ना चाहिए। बालकों के निद्राभ्रमण के उपचार का सबसे अच्छा रास्ता यही है कि उनके दुख-दर्द, कष्ट तथा चिंताओं को ध्यानपूर्वक समझना चाहिए और उन्हें यथासंभव-यथाशीघ्र दूर करना चाहिए। कुछ माता-पिता अपने बच्चों को निर्दयता पूर्वक विस्तर से बांध देते हैं और सोचते हैं कि अब यह उठ कर नहीं जा सकता। लेकिन इससे बालकों के अपरिपक्व कोमल मस्तिष्क पर आधात लगता है और वे सहज ही अपने माता-पिता को अपना शत्रु समझ कर घृणा करने लगते हैं। फलस्वरूप रोग बढ़ जाता है। अनेक बार देखा गया है कि कुछ दिन बाद बालक स्वयं ही इस रोग से मुक्त हो जाते हैं।

निद्राभ्रमण से ग्रस्त व्यक्ति को निद्राभ्रमण के समय कभी भी झकझोरना नहीं चाहिए अन्यथा वह हिंसात्मक रूप धारण कर आप को या स्वयं को हानि पहुंचा सकता है। निद्राभ्रमण से ग्रस्त व्यक्ति अपनी इच्छानुसार कार्य कर स्वयं ही जाकर सो जाएगा। यदि आप देखते हैं कि वह किसी को या स्वयं को हानि पहुंचाते जा रहा है या कोई गलत कार्य करने जा रहा है, ऐसी अवस्था में आप उसे धीरे-धीरे पुकार कर जाग्रत अवस्था में लाने का प्रयत्न करें। जब वह जाग्रत अवस्था में आ जाए तो डाटने-फटकारने की अपेक्षा अपनी सहानुभूति प्रकट करें। इससे उसे सांत्वना प्राप्त होगी तथा ठीक होने की संभावना बढ़ जाएगी।

चिन्तनपरक

वैज्ञानिक, सावधान!*

डॉ. आत्माराम

गुलाम देश की गुलाम जनता सब कुछ सहने को मजबूर रहती है; मगर आजाद देश की आजाद जनता इतनी लाचार नहीं होती कि वह हाथ पर हाथ धरे बैठी रहे और सरकार अपनी मनमानी करती रहे। स्वतंत्र राष्ट्र में सरकार के कर्तव्य-बोध और जनता की अधिकार-चेतना के बीच समन्वय-पूर्ण और सहयोगात्मक सार्थक समीकरण रहता है; उसी से सरकार को शक्ति मिलती है और जनता को समृद्धि और सुख-चैन की प्राप्ति होती है। जब तक समाज का प्रत्येक वर्ग और पेशा सरकार एवं जनता के बीच की इस कड़ी को सुदृढ़ बनाने में तत्पर और कार्यरत रहता है, देश का काम सही रास्ते पर सही ढंग से चलता रहता है। जब इसमें बाधा पड़ने लगती है, तब देश अपने अभीष्ट मार्ग से भटकने लगता है।

मैं समझता हूं कि सरकार और जन-सामान्य के सही संबंधों के इस तारतम्य को नजरअंदाज करने की चेष्टा हमारे विज्ञानी (या अन्य कोई भी समुदाय) करेंगे, तो न तो सरकार ही इस स्थिति को सहार सकेगी और न जनता ही अधिक समय तक सह सकेगी। मैं चाहता हूं कि इस देश के वैज्ञानिक इस अप्रिय सत्य को ईमानदारी से हृदयंगम कर लें।

यह बात मैं आपसे इसलिए कह रहा हूं कि सरकारी आर्थिक सहायता प्राप्त प्रयोगशालाओं, शोध-संस्थानों, विकास संस्थाओं अथवा विश्वविद्यालयों में काम करने वाले वैज्ञानिक भी उसी तरह 'पब्लिक सर्वेंट' हैं, जिस तरह अन्य सभी सरकारी कर्मचारी। उनके कुछ दायित्व हैं देश और जनसामान्य के प्रति। इसलिए समाज में अपने लिए विशिष्ट स्थिति की मांग करने अथवा अपने व्यावसायिक एवं वर्गीय हितों को जनता और देश के हितों से अधिक ऊंचा मानकर चलने की रीति उन्हें आज नहीं तो कल छोड़नी ही पड़ेगी।

यह सही है और उचित भी है कि सरकार ने उन्हें 'शैक्षणिक स्वतंत्रता' (अकैडमिक फ्रीडम) का आश्वासन दे रखा है। मगर क्या कभी किसी ने इसका सही अर्थ समझने की

---

* नवनीत, फरवरी 1978

कोशिश की है? क्या शैक्षणिक स्वतंत्रता का अर्थ अबाध स्वतंत्रता (एब्सोल्यूट फ्रीडम) समझ लेना समझदारी की बात कही जा सकती है? मैं तो ऐसा नहीं समझता।

मैं खुद भी एक अनुसंधान-विज्ञानी रहा हूं और बौद्धिक स्वतंत्रता (इंटलेक्चुअल फ्रीडम) का हिमायती हूं। अपने सुनिर्दिष्ट क्षेत्र में बिना दखलंदाजी के शोधकार्य करने की छूट वैज्ञानिक को मिलनी ही चाहिए। मगर शोध के विषय, लागत और समय-सीमा का निर्धारण सरकार और समाज के साधनों, उद्देश्यों और आवश्यकताओं को ध्यान में रखते हुए किया जाना सर्वथा उचित है। वैज्ञानिकों को इस बारे में जवाबदेही भी स्वीकार करनी होगी।

सरकार विज्ञानियों को मुंहमांगा पैसा देती रहे और वे मनचाहे विषय पर मनचाहे ढंग से काम करते रहें और उनसे कोई जवाब-तलब न करे, ऐसी बेलगाम छूट देना तो साधन-संपन्न धनाढ्य देशों के लिए भी संभव नहीं है—सीमित साधनों वाले और गरीबी की भयंकर समस्या से जूझते भारत जैसे विकास-तत्पर देश की तो बात क्या।

असल में हमारे यहां केंद्रीय शासन विज्ञान और विज्ञानियों के प्रति शुरू से ही काफी उदार रहा है। देश की आर्थिक कठिनाइयों के बावजूद विज्ञान और टेक्नोलाजी में सरकारी आर्थिक निवेश (इन्वेस्टमेंट) निरंतर बढ़ता आया है। इस समय वैज्ञानिक और औद्योगिक अनुसंधान परिषद, भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद, भारतीय आयुर्विज्ञान अनुसंधान परिषद, रक्षा अनुसंधान और विकास संघटन, परमाणु ऊर्जा आयोग, अंतरिक्ष आयोग, इलेक्ट्रानिक्स आयोग, भारतीय मौसम विज्ञान विभाग, विभिन्न सर्वेक्षण विभाग (भौगोलिक, भौमिक, प्राणी और वनस्पति तथा नृ-विज्ञान), सौ से अधिक विश्वविद्यालय, पांच राष्ट्रीय प्रविधि संस्थान, लगभग सौ इंजीनियरी कालेज, राष्ट्रीय महत्त्व के भिन्न शोध-संस्थान, अनेक निजी शोधसंस्थाएं तथा सार्वजनिक और निजी उद्योग-क्षेत्र के अंतर्गत कार्य कर रहे अनुसंधान और विकास-केंद्र भारत सरकार के पैसे से वैज्ञानिक शोधकार्य कर रहे हैं।

मगर हमें यह देखना है कि इतने बड़े फैलाव से देश को अब तक क्या-कुछ मिल सका है। विशेषतः इसलिए कि पिछले तीस वर्षों में जहां देश का कुल राष्ट्रीय उत्पादन (जी.एन.पी.) कुछ बढ़ा है, कहीं देश में गरीबों की संख्या भी लगातार बढ़ी है। यह एक गंभीर विसंगति है। मुझे तो लगता है कि भारत सरकार की विज्ञान-नीति में जो यह आश्वासन दिया गया था कि विज्ञान और उसके अनुप्रयोग से प्राप्त लाभ जनता तक पहुंचाए जाएंगे, उसका भी वही हश्र हुआ है, जो कि चौदह वर्ष तक की उम्र के प्रत्येक भारतीय बालक को अनिवार्य निःशुल्क शिक्षा प्राप्त कराने के संविधान में लिखे आश्वासन का हुआ।

आम आदमी की नजरों में विज्ञान का महत्त्व इतना ही है न कि उसके अनुप्रयोग से वह जीवन की सुविधाएं—अधिक नहीं तो जीवन की न्यूनतम आवश्यकताएं—प्राप्त कर सकेगा; अर्थात् गरीबी, बेरोजगारी, बीमारी और भुखमरी से मुक्ति पाने में विज्ञान

उसका मददगार होगा। यदि उसकी ये आशाएं हमारे वैज्ञानिक कार्यक्रमों के जरिए पूरी न की जा सकीं, तो विज्ञान पर से उसका विश्वास खत्म हो जाएगा। यह स्थिति भारत में विज्ञान के लिए बेहद खतरनाक साबित हो सकती है। सो हमें समय रहते चेत जाना चाहिए।

इस हालत में हमारे सामने पहला काम यही है कि हम यह पता लगाएं कि विज्ञान और वैज्ञानिकों से राष्ट्र क्या-क्या अपेक्षाएं रखता है और विगत तीस वर्षों में इतनी बड़ी धनराशि के सहारे हमने जो विशाल विज्ञान-तंत्र खड़ा किया है, वह समाज की आवश्यकताओं को किस प्रकार पूरा कर सकता है। इसके लिए जो भी परिवर्तन, निर्देश या नए कदम आवश्यक हों, उनकी व्यवस्था की जाए।

जनता सरकार द्वारा स्थापित विज्ञान-प्रविधि समिति और योजना-आयोग इस मामले में एक दूसरे के काम की पुनरावृत्ति न करें, इसके लिए स्पष्ट कार्य-विभाजन जरूरी है। विज्ञान और प्रविधि के क्षेत्र में प्राथमिकताओं के निर्धारण में सरकार की सहायता करना और उसके लिए आवश्यक व्यवस्थाएं सुझाना समिति का काम हो; जबकि योजना तैयार करने और उससे संबंधित विभिन्न परियोजनाओं पर विचार और उनके मूल्यांकन का काम योजना-आयोग करे। और इस सिलसिले में हम सभी को यह याद रखना है कि नई सरकार देश के आम नागरिक को गरीबी और उससे जनित बाधाओं से मुक्ति दिलवाने, विकास-कार्यों के फलों में सबको समान हिस्सा दिलवाने और अपने कामकाज में मितव्ययी होने के लिए वचनबद्ध है।

दुर्भाग्य से अब तक विज्ञान का ज्यादातर लाभ प्रायः बड़े नगरों को मिलता रहा है। गांवों, आदिवासी इलाकों और दूर-दराज के पहाड़ी क्षेत्रों को भी ये लाभ समान रूप से प्राप्त कराए जा सकें, तो गरीबी और विषमता को कम करने में सहायता मिल सकेगी। इन उपेक्षित इलाकों को शहरी उत्पादन का मुहताज न रहना पड़े, इसके लिए इन्हें अपनी स्थूल आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए आत्मनिर्भर बनाना होगा। यह तभी संभव है, जब ग्रामीण उद्योगों का स्वरूप और निष्पादन इन क्षेत्रों के खपत-पैटर्न और स्थानीय कामगारों की तकनीकी योग्यता और क्षमता के अनुरूप रखा जाएं। इसके लिए हमें सरल और उपयोगी वैज्ञानिक जानकारी, यंत्र, औजार और क्रियाविधियां अपनानी होंगी। विज्ञान के ग्लैमर में खोए रहने के कारण ही हम अब तक इस सीधी सचाई को नहीं देख सके हैं। जबकि आज तो यह स्थिति है कि पश्चिम के धनी देश भी फैशनेबल विज्ञान की अतिखर्चीली योजनाओं की निरंतर बढ़ती आर्थिक भूख को तृप्त करने में कठिनाई अनुभव करने लगे हैं।

बेरोजगारी की समस्या को सुलझाने के लिए हमें स्थानीय रूप से प्राप्त प्राकृतिक साधनों का जायेजा लेना होगा। अब तक प्रायः अधिकांश कृषि-उत्पादों का प्रयोग खाद्य और ईंधन तथा तंतु के रूप में ही हो रहा है, जब कि कई कृषि-उत्पादों से महत्त्वपूर्ण रासायनिक पदार्थों का निर्माण किया जा सकता है। खाल और सींग को काम में लाते हुए

कुटीरोद्योग स्थापित करने अथवा तिलहन और बांस-जैसी फसलों को उपयोगी उत्पादों के लिए प्रयोग में लाने की काफी गुंजाइश अभी भी मौजूद है। मुर्गी-पालन और मधुमक्खी-पालन उद्योगों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। ये कुछ उदाहरण हुए। एक और उदाहरण है हाथ से बने कागज का। अभी हमारे यहां कुल 8 लाख मीटरी टन कागज का उत्पादन होता है, जिसमें हाथ-कागज आधे प्रतिशत से भी कम है। गांवों में इस उद्योग को विकसित किया जा सकता है।

विकासशील देशों की समस्याएं मूल रूप से काफी हद तक समान होती हैं। हम अन्य विकासशील देशों के अनुभव और विशेषज्ञता (एक्सपर्टाइज़) से लाभ उठा सकते हैं। जिस तरह हम वैज्ञानिकों का आदान-प्रदान करते रहे हैं, उसी प्रकार कुशल दस्तकारों और शिल्पकारों का आदान-प्रदान भी हमारे लिए उपयोगी सिद्ध हो सकता है।

मगर ग्रामोद्योगों पर जोर देने का अर्थ बड़े उद्योगों के महत्त्व और उनकी आवश्यकता को नकार देना नहीं है। ग्रामोद्योगों, ऊर्जा, इस्पात और भारी रसायनों के विकास के लिए हमें बड़े उद्योगों का भी यथानुपात विकास करना ही होगा। प्रतिरक्षा और अन्य भी कई क्षेत्र ऐसे हैं, जिनमें बड़े उद्योगों के बिना हमारा काम चल नहीं सकता।

कोई भी देश उत्पादन द्वारा ही संपन्न हो सकता है, मात्र अनुसंधान और आविष्कार द्वारा नहीं। और कोई भी ज्ञान अब तक उपयोज्य और व्यवहार्य नहीं बनता, तब तक वह महज दिमागी कौतुक ही रहता है। बेशक खोज का अपना महत्त्व है; मगर खोज को काम में लाने की योग्यता के विकास का महत्त्व उससे कहीं ज्यादा है। इसलिए हमारे वैज्ञानिक कार्यों का लक्ष्य हमारे औद्योगिक उत्पादन, हमारी अर्थव्यवस्था और कार्य-चालन में हमें आत्मनिर्भर बनाना ही होना चाहिए। हमारे वैज्ञानिकों के कार्यों का मूल्यांकन इसी उपयोगिता के आधार पर होना चाहिए।

जहां देश का कोई अहित न होता हो और हमें बाहर से कोई उपयोगी टेक्नालॉजी (नो-हाउ) मिल सकती हो, हम उसे स्वीकार कर लें। यह जिद कि हर एक टेक्नालॉजी हमारी अपनी ही हो, आज के युग में संभव नहीं है। आप शायद जानते हैं कि जापान, रूस और यहां तक कि चीन भी आजकल बाहर से टेक्नालॉजी खरीदते हैं। उनकी सारी शक्ति 'निजी उत्पादन' पर लगती है, न कि 'निजी अनुसंधान' पर।

मुझे तो लगता है कि अनुसंधान और शोधकार्यों पर जितना पैसा और जनशक्ति हम लगा रहे हैं, उसका लाभ हमें उस अनुपात में नहीं मिल पा रहा है। शायद इस दिशा में हमारी सारी व्यवस्था पश्चिम के विकसित देशों की नीतियों से बहुत अधिक प्रभावित है। वह हमारे जैसे विकासशील देश की मूलभूत आवश्यकताओं के अनुकूल है, ऐसा कहना कठिन होगा।

स्वामी विवेकानंद ने कितनी ठीक बात कही है—'हर एक कार्य को तीन अवस्थाओं से गुजरना पड़ता है—मजाक, विरोध और अंत में स्वीकृति। कोई भी व्यक्ति जो अपने समय से बहुत आगे की बात सोचता-समझता है, उसे हमेशा ही गलत समझा जाता है।'

जो कुछ हम करना चाहते हैं, उसे सभी लोग ठीक-ठीक समझ सकें, यह भला कैसे मुमकिन है! मगर अफसोस तो तब होता है, जब जो लोग उसे समझ सकते हैं, वे भी समझना नहीं चाहते। शायद यह उनके निजी हित के साधन में आड़े आता हो। आखिर गांधी को समझने का दावा करने वाले और दम भरने वाले लोगों ने ही तो उनकी विचारधारा और सिद्धांतों का सफाया इस देश से किया। गांधीजी की अर्थ-नीति और उद्योग-नीति भारत की ग्रामीण जनता, सामाजिक संस्कार और प्राकृतिक साधनों के बिल्कुल अनुकूल थी। गांधी ने इस देश को पश्चिमी नजर से देखना नहीं सीखा था।

बर्नार्ड शा ने अपने किसी नाटक में एक पात्र के मुंह से कहलवाया है कि 'रीजनेबल' आदमी संसार को वह जैसा है, वैसा ही स्वीकार कर लेता है; मगर 'अनरीजनेबल' आदमी की यह कोशिश रहती है कि संसार उसके अनुकूल बने—तभी तो संसार की सारी प्रगति 'अनरीजनेबल' लोगों के माध्यम से होती है। गांधी 'अनरीजनेबल' थे कि नहीं?

'क्या विज्ञान राजनीति से अलग रहते हुए अधिक प्रभावकारी नहीं होगा?' अगर राजनीति का मतलब पार्टीबाजी है तो उससे विज्ञान या वैज्ञानिक को कुछ लेना-देना नहीं है। लेकिन अगर राजनीति में अर्थनीति, उत्पादन-नीति और उद्योग-नीति का समावेश होता है, तो विज्ञान अपने को राजनीति से अछूता नहीं रख सकता। मेरे खयाल से हमारे देश के संदर्भ में वैज्ञानिकों को राजनीति के आधार पर नहीं बांटा जा सकता। फर्क मूल मानवीय प्रवृत्ति का है। हममें से कुछ विदेशी विज्ञान के ग्लैमर से प्रभावित हैं, तो कुछ को कसक है इस देश की दरिद्रता की।

जिस दिन विज्ञान की मदद से इस देश में दरिद्रता का उन्मूलन होगा, उस दिन यहां का विज्ञान धन्य हो उठेगा। मैं चाहता हूं, वह दिन जल्दी ही आए।

शत्-शत् नमन

18

हिंदी में विज्ञान के प्रवर्तक*

आचार्य किशोरीदास वाजपेयी

इस शताब्दी का आरंभ हिंदी में विभिन्न विषयों के प्रवेश का आरंभ है। (11वीं शताब्दी के अंतिम छोर पर) प्रयाग के बाबू चिंतामणि घोष ने अपने 'इंडियन प्रेस' से 'सरस्वती' नाम की मासिक पत्रिका निकाली, जिसके बाबू श्यामसुंदरदास आदि पांच संपादक थे। उस लुचपुच स्थिति में भी हिंदी की यह सर्वोत्तम पत्रिका थी। परंतु शताब्दी समाप्त होने पर हिंदी का नवयुग आरंभ हुआ जब पं. महावीरप्रसाद द्विवेदी इस पत्रिका के एकमात्र संपादक हुए।

द्विवेदीजी ने 'सरस्वती' में विद्या ले विविध विषयों का सन्निवेश किया। इतिहास के विशेष महामहोपाध्याय पं. गौरीशंकर हीराचन्द ओझा 'सरस्वती' के लेखकों में थे। विज्ञान के लेखकों में श्रीमान रामदास गौड़ उसके प्रमुख लेखक थे। डॉ. खानखोजे भी 'सरस्वती' में कृषि-विज्ञान पर लिखा करते थे। डॉ. खानखोजे का एक पत्र मैंने पढ़ा, जो 'सरस्वती' संपादक आचार्य द्विवेदी के नाम उन्होंने अमरीका से भेजा था। उसमें लिखा था, "स्वामी सत्यदेवजी से मुझे यहां हिंदी में लिखने की प्रेरणा मिली है। मैं यहां कृषि-विज्ञान का विद्यार्थी हूं। मेरे पास इतने पैसे नहीं हैं कि अपने लेख के लिए उपयुक्त चित्र खरीदकर भेज सकूं। सो, अपनी पुस्तकों से चित्र निकालकर लेख के साथ भेज रहा हूं।" ये वे ही खानख़ोजे हैं जिनका प्रातःस्मरणीय नाम भारतीय क्रांतिकारियों के नामों के साथ सादर गृहीत होता है।

'सरस्वती' में लिखने के लिए द्विवेदी जी विज्ञान के महारथियों को प्रेरित करते रहते थे, जो 'सरस्वती' में विज्ञान की चीजें देते ही रहते थे। उनमें से एक थे—श्रीयुत रामदास गौड़।

श्री रामदास गौड़ का रहन-सहन ब्राह्मणोचित था। इसलिए और 'गौड़' शब्द से भी मैं उन्हें बहुत दिनों तक गौड़ ब्राह्मण समझता रहा। वे कायस्थ कुल में पैदा हुए थे। पूरब (काशी आदि) में कायस्थों का एक भेद 'गौड़' भी है। कहते हैं ये लोग गौड़देश (बंगाल)

* कादम्बिनी, फरवरी 1978

से आकर यहां बसे थे, इसलिए 'गौड़ कायस्थ' कहलाए।

गौड़ साहब 'सरस्वती' के प्रमुख विज्ञान लेखकों में थे। हिंदी साहित्य सम्मेलन को सन् 1910 के दसवें महीने (अक्तूबर) की 10 तारीख को काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने जन्म दिया, जो बाबू पुरुषोत्तमदास टंडन (राजर्षि टंडन) के साथ प्रयाग आ गया और जिसने हिंदी को 'राजभाषा' का पद दिलाया। सम्मेलन के पैदा होने से पांच वर्ष पहले ही प्रयाग में गौड़ साहब ने तथा उनके साथियों ने 'विज्ञान परिषद' की स्थापना की और पांच-छह वर्ष बाद ही परिषद ने 'विज्ञान' मासिक पत्र निकाला। गौड़ साहब ने इस पत्र का संपादन भी किया। 'परिषद' अब भी अपनी शक्ति के अनुसार काम कर रही है और 'विज्ञान' भी प्रतिमास निकल रहा है। परंतु 'परिषद' को तथा पत्र 'विज्ञान' को कोई आश्रय-प्रोत्साहन नहीं मिला। यदि उत्तरप्रदेश सरकार ही देश स्वतंत्र हो जाने पर 'विज्ञान' को शिक्षा-संस्थाओं के लिए स्वीकार कर लेती तो बड़ा काम हो जाता।

रामदास गौड़ : 'विज्ञान' के संपादक

गौड़ साहब असहयोग-आंदोलन में

श्री रामदास गौड़ बड़े भावुक थे। सन् 1921-23 के असहयोग-आंदोलन ने उन्हें आंदोलित कर दिया और उन्होंने विज्ञान-विभाग की प्रोफेसरी पर लात मार दी। वे प्रयाग के सबसे बड़े कालेज में प्रोफेसर थे, जो बाद में विश्वविद्यालय बन गया। गौड़ साहब का अगला जीवन घनघोर आर्थिक संकट में बीता। वे तत्त्वत्रय के उपासक थे—1. तुलसीदास का रामचरित-मानस, 2. हिंदी में विज्ञान तथा 3. चरखा, परंतु इनमें से कोई भी तत्त्व उनके आर्थिक संकट में क्या मदद करता!

बीसवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में गुरु-कुल कांगड़ी विश्वविद्यालय ने उन्हें सादर आमंत्रित करके विज्ञान-विभाग सौंप दिया। जब मुझे मालूम हुआ कि गौड़ साहब यहां आ गए हैं तब मैं (कनखल से) उन्हें मिलने गया। उस समय गुरुकुल गंगा के उस पार नयनाभिराम शांत अरण्य

"आपको भी साहित्य से लगाव है?"
"जी नहीं, मैं रद्दी का व्यापारी हूं।"

में, गंगातट पर था। मैं पहले-पहल गुरुकुल गया था। पुरातन ऋषि-आश्रम सामने आ गया। गुरुकुल पहुंचकर मैंने श्री रामदास गौड़ का निवास पूछा, तो बताया गया कि 'यह शंखध्वनि तथा घंटा-घड़ियाल की आवाज जहां से आ रही है वही गौड़ साहब का निवास-स्थान है।' उस समय आर्यसमाज पूरी तरह आर्यसमाज था। उसके गुरुकुल में शंखध्वनि तथा घंटा-घड़ियाल बजें और शालिग्राम की पूजा हो! परंतु वह सब-कुछ आर्यसमाज ने—इस विश्व-विद्यालय ने—सहन कर लिया था। गौड़ साहब की विद्वत्ता, त्याग, राष्ट्रीय प्रवृत्ति तथा ऋषिजनोचित अचार-व्यवहार के कारण गुरुकुल को कौड़ी-कीमत पर एक हीरा मिल गया था।

शंखध्वनि का सहारा लेकर मैं वहां पहुंचा। वे भगवान की आरती कर रहे थे। फिर उन्होंने सबको प्रसाद दिया। सत्यनारायण की कथा थी। वे स्वयं कथा कह लेते थे और उनकी मुख्य श्रोता थीं उनकी पत्नी। कुछ बच्चे भी आ जाते थे।

गौड़ साहब ने मेरा परिचय पूछा। नाम बताने पर बहुत प्रसन्न हुए। वे मुझसे बहुत बड़े थे, ज्ञान में तो बहुत ही अधिक बड़े थे। राई-पर्वत की छुटाई-बढ़ाई थी और वयस में भी काफी बड़े थे, परंतु ऐसे मिले, मानो मैं उनका सखा होऊं।

गुरुकुल-परित्याग

एक दिन क्या हुआ कि वे एक बैलगाड़ी में अपना सामान लदाए, पत्नी-सहित कनखल आ पहुंचे और मेरे दरवाजे से आवाज लगायी—"वाजपेयी जी!" मैं बाहर निकला तो सामने गौड़ साहब! प्रणाम किया और घर (भीतर) चलने को कहा, तो बोले—'यह देखिए, बैलगाड़ी पर सामान है और पत्नी जी भी बैठी हैं। अभी रेल पर जाना है। पानी पिला दीजिए।' मैंने पानी लाकर दिया। पीकर चल पड़े। मैं भी साथ हो लिया। चलते-चलते मैंने पूछा—"बात क्या है, मेरी समझ में नहीं आई।" उन्होंने कहा—"देखिए वाजपेयी जी, गुरुकुल बहुत अच्छी संस्था है, मेरे रहने योग्य। यहीं शेष जीवन बिताने की इच्छा थी, परंतु आज ऐसी घटना घटी कि मैंने कहा, अब यहां पानी न पिऊंगा और इस तरह चलकर यहां आ गया। वेतन-सेतन सब छोड़ आया।"

मेरी जिज्ञासा पर उन्होंने आगे कहा—"बात यह हुई कि मैं अपनी प्रयोगशाला से घर किसी काम से चला गया। लौटकर आया तो मेरा सहायक वहां नदारद! आश्चर्य कि वह यों कहां चला गया प्रयोगशाला से! वापस आने पर उसने बताया कि 'उपाचार्य ने बुलाया था। मैंने कहा कि गौड़ साहब आ जाएं तब आ जाऊंगा। उन्होंने चिट लिखकर भेज दी—उपाचार्य के बुलाने पर तुरंत आना चाहिए। तब मैं चला गया। नौकरी का डर था!' इस पर मुझे गुस्सा आ गया। मैं उपाचार्य के पास गया और कहा कि आपने मेरी अनुमति के बिना मेरे सहायक को प्रयोगशाला से कैसे कैसे बुलाया? उपाचार्य ने कहा—'बुलाने का मुझे अधिकार है।' बस मैं वापस घर आया और फिर यहां आया, और कल काशी पहुंच जाऊंगा।"

काशी के 'बड़ी पियरी' महल्ले में उनका घर था। वहां जाकर रहने लगे। वहीं से 'विज्ञान' का संपादन करते थे। 'राम-चरितमानस' का भी संपादन किया था और 'विज्ञान हस्तामलक' ग्रंथ भी लिख कर प्रकाशित कराया। इस ग्रंथ पर 'सम्मेलन' का 'मंगलाप्रसाद पुरस्कार' भी उन्हें मिला था—परंतु आधा। आधा पुरस्कार किसी दूसरे सज्जन को किसी अवैज्ञानिक ग्रंथ पर मिला था।

मैंने गौड़ जी को बधाई का कार्ड भेजा, तो उन्होंने लिखा था—"विज्ञान हस्तामलक तो मेरे लिए परिश्रम-हस्तामलक ही रहा।"

श्री रामदास गौड़ के काशी से भेजे हुए पचीस-तीस पत्र मुझे मिले थे, जो हिंदी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग के संग्रहालय में सुरक्षित हैं।

गौड़ साहब ऋषि थे—ऋषिर्दर्शनात्'। वे देख रहे थे कि हिंदी को विज्ञान की कितनी जरूरत है।

19

पौधों में कैन्सर*

डॉ. अरुण कुमार मिश्र

पौधों को भी कैन्सर होता है, यह सुनकर लोग चौंक उठेंगे। पर यह बात उतनी अजीब है नहीं। बस, जानी-समझी बातों को ही नए ढंग से समझना है। अपनी माशूका के गाल पर के तिल को शायर अगर 'जल-भुन-सिकुड़ के रह गया मेरा छोटा-सा दिल' समझता है, तो वैज्ञानिक उसे ट्यूमर कहता है। समझ-समझ का फेर है।

कैन्सर या ट्यूमर का पता हम सभी को है। परंतु कैन्सर क्यों हो जाता है, उसे कैसे रोक सकते हैं, यह तो विज्ञानी भी पूरी तरह नहीं समझ पाए हैं। पौधों में कैन्सर की खोज से बात कुछ आसान बनेगी। कैन्सर को समझने के लिए जानवरों और मनुष्यों की अपेक्षा पौधों पर प्रयोग करना आसान रहेगा। पौधों में कैन्सर की रोकथाम सफल हो जाए, तो पहले जानवरों पर, फिर मनुष्यों पर उन उपायों की आजमाइश की जा सकेगी।

अभी भी कैन्सर एक लाइलाज मर्ज है। वैसे आयुर्वेद के जमाने से लेकर आज सर्जरीयुग तक उसके बारे में बहुत काम हुआ है। **आयुर्वेद में ट्यूमर को व्रण कहते हैं।** वैदिक काल से ही हमारे यहां उसकी चर्चा होती आई है। पश्चिम में ईसा के जन्म से सैकड़ों वर्ष पूर्व से ही यूनान के लोगों को ट्यूमर के विषय में ज्ञात था।

पौधों में कैन्सर होने के अनेक कारण है। आइए, हम उनका संक्षेप में परिचय पाएं; साथ ही यह भी देखें कि इस ज्ञान का मानव-कैन्सर की चिकित्सा में कोई उपयोग हो सकता या नहीं।

फफूंद या कवकों द्वारा पौधों में अनगिनत बीमारियां होती हैं। कभी-कभी बेतरतीब फूले हुए भाग भी कवकों के कारण बनते हैं। उदाहरणार्थ, आलू की 'वार्ट' नामक बीमारी 'सिनकाइट्रियम' नामक कवक से होती है। इस बीमारी में आलू के प्रकंदों पर काले-काले ट्यूमर बन जाते हैं, जो **'वार्ट'** कहलाते हैं। प्रकंद की कोशिकाओं में भी कवक मिलते हैं धनिया के डंठलों पर 'प्रोटोमाइसेस' नामक कवक के कारण बड़े व उजले ट्यूमर बनते हैं; ये 'गॉल' कहे जाते हैं। ये दोनों बीमारियां घातक हैं। इनसे पौधों की मृत्यु हो जाती है और फसल मारी जाती है।

---

* नवनीत, सितम्बर 1978

कीड़े पेड़-पौधों की पत्तियां कुतरकर खाते हैं, यह सर्वविदित है। परंतु कीड़ों के आक्रमण से पौधों में 'गॉल' या ट्यूमर बनते हैं, यह बात कीटविदों और पौधों के रोगों के जानकारों को ही पता है। आम के पत्तों पर एक कीड़ा प्रायः रहता है—'प्रोकोटेरिनिया'। यह पत्ते की निचली सतह पर काले-काले ट्यूमरों में रहता तथा अंडे देता है।

आंवले के पेड़ के तने पर कीड़ों का पैदा किया ट्यूमर।

कुछ पौधों में आनुवंशिक गड़बड़ी के कारण भी ट्यूमर बन जाते हैं। इन्हें विज्ञानी **'जेनेटिक ट्यूमर'** कहते हैं।
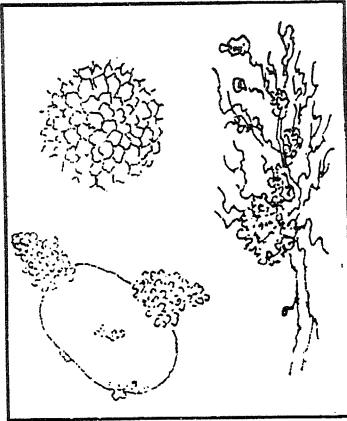
आलू की जड़ तथा तने पर कवकों का पैदा किया हुआ ट्यूमर या वार्ट। कवक कोशिकाओं के भीतर भी रहते हैं।

स्वतःस्फूर्त (स्पॉन्टेनियस) ट्यूमर कोशिका के भीतर उपजे किसी रासायनिक दोष के कारण पैदा होते हैं। चीड़, देवदार, चाय, मटर, बाजरे में ऐसे ट्यूमर बहुधा मिलते हैं। पत्ती या डाल कहीं से विचित्र रूप से फूल उठती है और ट्यूमर बन जाता है। समय आने पर यह सड़कर नीचे गिर सकता है, या अन्य भागों में भी ट्यूमर उत्पन्न कर सकता है।

जीवाणुओं (बैक्टीरिया) के कारण भी पौधों में ट्यूमर बनते हैं। 'एग्रो-बैक्टीरियम' नामक जीवाणु तो असंख्य प्रकार के पौधों में ट्यूमर उत्पन्न करने के लिए प्रसिद्ध है। इससे उत्पन्न 'गॉल' बीमारी बड़ी खतरनाक मानी जाती है। साधारणतः यह बीमारी पश्चिमी देशों के पौधों में प्रचलित है; परंतु पिछले पांच वर्षों में इस जीवाणु ने शिमला (हिमाचल प्रदेश) के सेब-बागानों को बड़ी हानि पहुंचायी है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद तो इस जीवाणु पर शोधकार्य किए जाने के भी खिलाफ है; क्योंकि परीक्षण करने वाले विज्ञानी पूरी सावधानी नहीं बरतते और प्रयोगशाला से फेंका गया यह जीवाणु उपयोगी पौधों को बड़ी हानि पहुंचा चुका है।

अनेक बार पशुओं तथा मनुष्यों में ट्यूमर उत्पन्न होते हैं। विषाणुओं (वाइरस) से पौधों में भी ऐसा होता है। 'वुंड ट्यूमर वाइरस' की खोज 1970 में **ब्लैक** ने अमरीका में की थी। दलहन-कुल के पौधों की जड़ों पर इस वाइरस के संक्रमण से ट्यूमर उग जाते हैं। ये ट्यूमर जीवाणु के संपर्क से उत्पन्न गांठों से भिन्न होते हैं। 'ऐनागैलिस' नामक

कीड़ों के द्वारा यह बीमारी एक पौधे से दूसरे पौधे में फैलती रहती है। इस वाइरस के अध्ययन से कैन्सर-विषयक बहुत-सी बातों का ज्ञान प्राप्त हुआ है।

एक और विषाणु की बात हाल में ही ज्ञात हुई है। इसे **टोबैको ट्यूमर वाइरस** (टी.टी.वी.) कहते हैं। यह तंबाकू तथा अन्य पौधों की पत्तियों के नीचे, तनों पर बेहिसाब बड़े ट्यूमर पैदा करता है। इन ट्यूमरों को पीसकर उनका रस निकाल लिया जाए तथा सूई द्वारा उसे स्वस्थ पौधों में पहुंचा दिया जाए, तो उन पर भी ट्यूमर उग जाते हैं। ट्यूमर का वाइरस बीजों में भी निवास करता है तथा अगली पीढ़ियों में रोग पहुंचाने में समर्थ है।

सेब के तनों पर ये ट्यूमर पैदा किये हैं एग्रो-बैक्टीरियम ने।

इलेक्ट्रान-सूक्ष्मदर्शी से वाइरसों के चित्र प्राप्त किए गए हैं। ये वाइरस अत्यंत छोटे तथा गोल होते हैं। पौधों की कोशिकाओं में वाइरस की उपस्थिति से काले-काले धब्बे बनते देखे गए हैं कुछ एंटीबायोटिक दवाओं से पौधों में ट्यूमर का बढ़ना रोका जा सकता है।

मनुष्यों के कैन्सर में भी कोशिकाओं के काले धब्बे देखे गए हैं। ट्यूमर में कोशिकाओं के अनियमित रूप से बढ़ने की बात भी मनुष्यों तथा पौधों में एक समान है। कैन्सर की मूल क्रिया तो दोनों में एक-सी ही होती है। अतः पौधों पर कैन्सर के प्रयोग बड़े काम के होंगे।

छतवन को पत्तियों को ऊपरी सतरह पर व्रण (ट्यूमर)।

परंतु एक अड़चन है। अगर कोई आदमी बीमार हो जाए, तो उसके इलाज की तो हम विस्तृत व्यवस्था करते हैं; परंतु अगर कोई पौधा बीमार हो, तो बस उसे उखाड़ फेंकते हैं। जब हम इस आदत से छुटकारा पा लेंगे और पौधों के रोगों के अध्ययन और चिकित्सा की सम्यक् रूप से व्यवस्था करेंगे तभी मानव-रोगों की चिकित्सा का शास्त्र भी समुचित उन्नति कर पाएगा।

आजकल छोटे जानवरों पर किए जाने वाले प्रयोगों की क्रूरता के खिलाफ बड़ी आवाज उठ रही है। तब क्यों न हम तंबाकू के विषाणुओं पर शोध करके मानव-कैन्सर को अधिक समझने का यत्न करें?

विद्युतगति जीव-जन्तुओं में*

सुरेश सिंह

बिजली की रफ्तार बहुत ही तेज होती है—एक सेकंड में 1 लाख 86 हजार मील। फिर भी किसी की तेज रफ्तार को देखकर उसकी तुलना हम बिजली से ही करते हैं और उसकी चाल को 'विद्युतगति' कहते हैं। वास्तव में 'बिजली' तेजी और फुरती का प्रतीक बन गई है।

प्रकृति पर विजय प्राप्त करके मनुष्य बड़ा काहिल हो गया है। उसे अब न तो अपनी रक्षा के लिए हरदम चौकन्ना रहना पड़ता है और न पेट भरने के लिए शिकार ही पकड़ना पड़ता है। इससे उसकी फुरती में काफी कमी आ गई है। लेकिन पशु-पक्षी तथा कीड़े-मकोड़े यदि फुरती से काम न लें, तो पृथ्वी पर उनका कोई नामलेवा ही न रह जाए। अपना अस्तित्व कायम रखने के लिए उन्हें सदा चौकन्ना रहना पड़ता है और आत्मरक्षा, शिकार और अन्य कार्यों में गजब की फुरती से काम लेना पड़ता है।

मनुष्य भी खेलकूद, घूंसेबाजी, कुश्ती और नृत्य आदि में कभी-कभी फुरती का काफी अच्छा परिचय देता है। इसी तरह सितार हारमोनियम, पियानो व टाइप-राइटर पर उसकी उंगलियों की तेज थिरकन कई बार हमें चकित कर देती है। लेकिन अन्य जीव-जंतुओं की तेजी और फुरती से तुलना करने पर हमें इनमें कुछ भी चमत्कार नजर नहीं आता। बहुत तेज टाइप करने वाली लड़की की उंगलियाँ टाइप-राइटर पर एक सेकंड में 16 बार से ज्यादा नहीं पड़तीं, जबकि मामूली फुलचुही चिड़िया अपने पर एक सेकंड में 70 बार चला लेती है। भौंरों और मधुमक्खियों का तो कहना हो क्या! उनके पर एक सेकंड में 300 बार तक चलते हैं।

अपनी नंगी आंखों से हम इस तेज तो को देख भी नहीं सकते। लेकिन फिल्मी कैमरा की आंख उसे देख सकती है। ऐसी फिल्में बनाई गई है, जिनसे बहुत तेज रफ्तार वाली चीजों को आसानी से देखा जा सकता है। लेकिन इस तरीके से देखने पर हमें अपने फुरतीले कार्य भी बहुत सुस्त और अटपटे प्रतीत होने लगते हैं। उदाहरण के लिए, जब हम एकाएक टार्च जलाकर किसी की आंखें चौंधिया देते हैं, तो वास्तव में उसकी पलकें

---

* नवनीत, फरवरी 1979

टार्च के जलने और बुझने के बाद बंद होती हैं; और यह शायद आप न जानते होंगे कि एक बार पलक भांजने में एक सेकंड का चालीसवां भाग लगता है। इसी प्रकार जब हम किसी के हाथ पर जलती हुई सिगरेट रख देते हैं, तो वह आदमी हाथ ऐसे झटकता है जो कि बदन में सिगरेट के छूने से पहले ही उसकी गरमी से उसने अपना हाथ हटा लिया हो; लेकिन असल में सिगरेट छुआकर हटा लेने के बाद कहीं जाकर उसका हाथ खिसकना शुरू होता है।
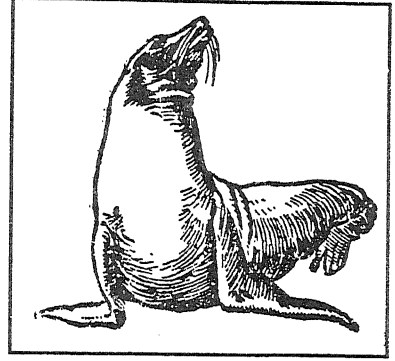
सील

लेकिन जब इसी तरीके से जीव-जंतुओं की फुरती की परीक्षा की गई, तो कुछ बड़ी आश्चर्यजनक बातों का पता चला। यद्यपि जानवरों के साथ परीक्षण करते समय मनुष्यों जैसी सहूलियत तो नहीं थी, फिर भी कुछ अनूठी बातें आसानी से जान ली गईं।

मेंढ़क जिस तेजी से अपनी लंबी और दोहरी जबान को बाहर फेंककर उसमें कीड़े-मकोड़े चिपकाता और जबान को भीतर वापस खींच लेता है, वह क्या किसी मशीन से कम है! आपको सुनकर ताज्जुब होगा कि यह सारा काम वह एक सेकंड के पांचवें हिस्से में कर डालता है।

गिरगिट भी कीड़ों को पकड़ने के लिए अपनी लंबी और चिपचिपी जीभ को तेजी से तीर की तरह बाहर निकालता और उसे जीभ की नोंक में चिपकाकर उदरस्थ कर लेता है। उसके इस फुरतीले शिकार को विद्युतगति कहना उचित ही है।

सांप का डसना भी बहुत फुरती से होता है। फन का वार करने, बदन में दांत गड़ाकर विष छोड़ने और दंशस्थल से दांत को निकालकर फन को अपने स्थान पर वापस लाने में सांप को आधे सेकंड से भी कम समय लगता है। कितनी तेज रफ्तार है! अब जरा नेवले की फुरती के बारे में सोचिए, जो विद्युतगति वाले सांप के फन पर हावी हो जाता है!

स्तनधारी प्राणियों में चीता और तेंदुआ सबसे फुरतीले माने जाते हैं। लेकिन उनकी तुलना में स्थूल शरीर वाले शेर में भी कम फुरती नहीं होती। शेर को गाय, बैल, भैंस या बारहसिंघे को मारने में आधे सेकंड से अधिक समय नहीं लगता। और तेंदुआ तो शिकार को इससे भी कम समय में मार लेता है।

तेंदुआ अपने फुरतीले आक्रमण के लिए प्रसिद्ध है तो चीता आक्रमण की रफ्तार में सबसे आगे है। जब वह शिकार के लिए टूटता है, तो दो ही सेकंड में उसकी रफ्तार 70 मील प्रति घंटे तक पहुंच जाती है।

इस दृष्टि से चिड़ियां भी पिछड़ी नहीं कही जा सकतीं। बाज, बहरी, शिकरा आदि

शिकारी पक्षी अपने तेज आक्रमण के लिए प्रसिद्ध है। शिकार पर वे इस तेजी से झपट्टा मारते हैं कि हम सहज में उसका अंदाजा नहीं लगा सकते। बाज जाति के एक शिकारी पक्षी ने एक बटेर पर बड़े वेग से आक्रमण किया। बटेर ने, जो डर से अधमरी हो रही थी, अपने पंख समेट लिए ताकि वह नीचे की झाड़ी में गिर सके और किसी तरह अपनी जान बचा सके। लेकिन इससे पहले कि बटेर का शरीर झाड़ी में गिरे, बाज विद्युतगति से नीचे की ओर झपटा और अपने शरीर को बटेर के नीचे करके उलट गया और शिकार को ऊपर ही लपककर हवा में तेजी से उड़ गया। आक्रमण में ऐसी तेजी और फुरती की मिसाल मिलना मुश्किल है।

शिकरा

लेकिन चिड़ियों के शिकार के शौकीनों को शिकारी पक्षियों के आक्रमण की फुरती देखने का मौका प्रायः मिलता रहता है। अक्सर नदियों और झीलों पर बंदूक दगते ही शिकारी पक्षी घायल, मरी हुई चिड़ियों को इस तेजी से उठा ले जाते हैं कि बंदूकधारी देखता ही रह जाता है। वह उन पर बंदूक चलाए, तब तक लुटेरे पक्षी बंदूक की मार से बाहर हो जाते हैं। यही नहीं, बाज, बहरी आदि शिकारी पक्षी जब लगभग 100 मील प्रति घंटे की रफ्तार से उड़ते हुए बत्तखों की गोल पर हमला करते हैं, तो बत्तखें मारे डर के आंखें बंद करके अपने पर समेट लेती हैं और ईंट-पत्थर की तरह ऊपर से तालाब में गिरती हैं

कीड़े-मकोड़ों में हम और भी अधिक तेजी देखते हैं। मक्खी, भौंरे और मधुमक्खियां इस तेजी से अपने पर चलाती हैं कि हमारी आंखें उसे देखने में समर्थ नहीं हैं। उनके पर एक सेकंड में लगभग 300 बार घूमते हैं, जिसका चित्र मामूली कैमरा नहीं खींच सकता। कीड़े-मकौड़ों के फुरतीले कामों को देखने के लिए वैज्ञानिकों ने तरह-तरह के दूसरे यंत्रों का प्रयोग किया है, जिनसे उनकी फुरती आसानी से पकड़ में आ जाती है।

एक वैज्ञानिक ने प्रति सेकंड 3,000 चित्र खींचने में समर्थ चलचित्र-कैमरे से चिड़ियों की उड़ान के चित्र खींचे। चित्रों के प्रिंट तैयार करने पर पता चला कि मक्खी को उड़ते-उड़ते हवा में उलट जाने में एक सेकंड का हजारवां हिस्सा लगता है। इसी प्रकार अन्य कीड़े जब मक्खियों पर आक्रमण करते हैं, तो हमला करने और शिकार को पकड़ने में उन्हें एक सेकंड का हजारवां हिस्सा लगता है।

सैकड़ों प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ है कि ऐसे भी कुछ जीव-जंतु हैं, जिनकी फुरती के आगे बंदूक की गोली कुछ भी नहीं है।

छर्रे वाली बंदूक दागने पर उसके छर्रे एक सेकंड के सातवें हिस्से में लगभग 40

फुट की दूरी तक जाते हैं और राइफल की गोली इतनी ही दूरी एक सेकंड के बीसवें हिस्से में तय कर लेती है। मगर कुछ जीव-जंतु इससे भी अधिक तेजी दिखाकर बंदूक की गोली से अपनी जान बचा लेते हैं। उनकी मांसपेशियां क्या बिजली से कम तेजी से काम करती है?

सील का शिकार करने वालों का अनुभव है कि अगर सील ने आपको बंदूक साधते देख लिया है, तो आपकी बंदूक का घोड़ा गिरे और गोली निशाने पर पहुंचे, इससे पहले ही वह मजे से पानी के भीतर चली जाएगी।

ऊदबिलाव भी कम फुरतीला नहीं होता। वह भी अगर शिकारी को देख रहा है, तो बंदूक की गोली से अधिक फुरती दिखाकर पानी में गुम हो जाता है और शिकारी का वार खाली जाता है। एक बार मैंने एक ऊदबिलाव पर पूरे 17 बार बंदूक चलायी; लेकिन हर बार छर्रे पहुंचने से पहले ही ऊदबिलाव पानी के भीतर चला जाता था।

घड़ियाल और मगर को भी उसकी जानकारी में मार पाना बहुत कठिन है। धोखे में तो ये मारे जाते हैं; लेकिन शिकारी को देख लेने पर ये बड़ी तेजी दिखाते हैं और बंदूक का घोड़ा गिरने के बाद और गोली पहुंचने के पहले ही पानी के भीतर चले जाते हैं।

बंदूक को बेकार कर देने वाली इसी तरह की फुरती कुछ चिड़ियों में भी पाई जाती है। छोटी पनडुब्बी बत्तख, जो हमारे यहां के तालाबों में बारहों महीने दिखाई पड़ती है, बंदूक चलने पर इस तेजी से पानी में डुबकी मारती है कि अक्सर शिकारियों का निशाना खाली जाती है। दूसरी भी कुछ बत्तखें हैं जो अनुभव से इतनी होशियार हो गई हैं कि अब बंदूक से भी अधिक फुरती दिखाकर बंदूक को बेकार कर देती हैं।

जीव-जंतुओं की ऐसी अद्भुत फुरती को देखकर मैं तो मानने लगा हूं कि उसके लिए 'विद्युत-गति' शब्द का इस्तेमाल किया जाता है, तो वह आक्षेपयोग्य नहीं है।

21

दालें कहां गईं*

देवेन्द्र मेवाड़ी

हमारे देशवासियों के लिए आहार में दालों का जितना महत्व है, उतना शायद ही किसी और देश के लिए हो। हमारे देश की अधिकांश जनता धर्मप्राण और शाकाहारी है। जो लोग मांसाहारी हैं वे भी महंगे मांस, मछली, अंडा आदि को आहार में नियमित रूप से नहीं ले सकते। तब प्रोटीन की पूर्ति कैसे हो? कहते हैं, जैसे एक-एक ईंट से इमारत बनती है वैसे ही प्रोटीन रूपी ईंट से हमारी देह बनती है। देह के निर्माण और मरम्मत के लिए प्रोटीन बेहद जरूरी बताई जाती है। बचपन से ही समुचित मात्रा में प्रोटीन मिलती रहे तभी बच्चों का सही रूप से मानसिक और शारीरिक विकास होता है। मगर वैज्ञानिकों का कहना है कि 6 करोड़ तो स्कूली बच्चे ही प्रोटीन की कमी से कुपोषण का कोप झेल रहे हैं। यही नई पीढ़ी कल के नागरिकों का रूप लेगी।

प्रोटीन की यह कमी निम्न और मध्यम वर्ग के लोगों के आहार में और भी अधिक है क्योंकि मांस, मछली और अंडा उनके लिए इस महंगाई में आकाश कुसुम सिद्ध हो रहा है। इसका सीधा प्रभाव उनके स्वास्थ्य पर पड़ रहा है। हमें अपने आहार में जो थोड़ी-बढ़त प्रोटीन मिल रही है इसका मुख्य स्रोत है—दाल। इसीलिए दालों को 'गरीबों का मांस' भी कहा गया है। अनाजों में जहां केवल 7-14 प्रतिशत प्रोटीन पाई जाती है, दालों में इसकी मात्रा 17 से 26 प्रतिशत तक होती है। अन्य पोषक तत्व भी इनमें प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं।

लेकिन विगत वर्षों में हमारी कटोरी में दाल घटती ही चली गई है। भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद की सिफारिश के अनुसार एक शाकाहारी व्यक्ति को प्रतिदिन कम से कम 80 ग्राम दाल खानी चाहिए जबकि आज हमें अपनी कटोरी में कुल 40 ग्राम दाल मिल रही है। इसका कारण है दालों के उत्पादन में लगातार कमी। हर साल हम करीब 2.26 करोड़ हैक्टर भूमि में दालों की खेती करते हैं जिससे लगभग 1.21 करोड़ टन उत्पादन मिलता है। वर्ष 1971-72 से 1975-76 तक पांच वर्षों की अवधि में देश में दालों का औसत क्षेत्रफल 2.2 करोड़ हैक्टर रहा और कुल 1.2 करोड़ उत्पादन मिला।

* किसान भारती, सितम्बर 1979

इसी अवधि में चने का क्षेत्रफल 70.8 लाख हैक्टर से 80 लाख हैक्टर तक बढ़ा जिसके कारण इसका उत्पादन भी 50 लाख टन से 50.7 लाख टन तक पहुंच सका। इसी दौरान अरहर का क्षेत्रफल 20.2 लाख हैक्टर से 20.5 लाख हैक्टर हुआ और उत्पादन 10.4 लाख टन से बढ़कर 20 लाख टन तक बढ़ा। लेकिन रोचक तथ्य यह है कि 1950 के आसपास देश में दालों का उत्पादन एक करोड़ टन था और आज 30 वर्षों के बाद इसमें मात्र बीस-बाइस लाख टन की वृद्धि हो गई है। दूसरी ओर गेहूं का उत्पादन विगत दस वर्षों में ही 1 करोड़ टन से 2.8 करोड़ टन पहुंच गया है। इसी प्रकार धान और ज्वार-बाजरे का उत्पादन भी काफी बढ़ा है। असलियत में दालों का उत्पादन घटने का मुख्य कारण भी यही है। धान-गेहूं की बनी बौनी किस्मों के प्रचलन से अधिकाधिक किसान इनकी मुनाफे की खेती की ओर आकर्षित हुए हैं। जहां कहीं सिंचाई की सुविधा है वहां बौनी किस्मों ने अपने पैर जमा लिए हैं। बिहार, पश्चिम बंगाल और असम जैसे भारतप्रिय राज्यों में बौने गेहूं ने अपनी जगह बना ली है तो पंजाब, हरियाणा व पश्चिमी उत्तर प्रदेश के परंपरागत गेहूं उत्पादक किसान धान उगाने लगे हैं। परिणाम यह हुआ है कि लगभग सारी उपजाऊ सिंचित भूमि तो बौनी किस्मों के पगों ने नाप ली है और दालें सूखी-सूखी अनुपजाऊ जमीन में ढकेल दी गई हैं। किसान भी क्या करे, जिस सफल से सर्वाधिक मुनाफा मिलता है उसे ही वह उगाता है। और आज धान-गेहूं का फसलचक्र उसे सबसे ज्यादा मुनाफा दे रहा है। ऐसी दशा में भला दालों की कैसे दाल गल सकती है। यही कारण है अनाज की फसलें जमीन घेरती चली गईं और दलहनी फसलें उपेक्षा का शिकार हो गईं।

परिणाम सामने है। दालों के दाम आसमान छू रहे हैं और आम आदमी के आहार में इनकी कमी होती चली गई है। देश के सभी आबाल-वृद्धों के लिए यह स्थिति आसन्न संकट का संकेत है। ऐसी हालत में दालों का उत्पादन बढ़ाना न केवल व्यक्तिगत स्वास्थ्य वरन् अप्रत्यक्ष रूप से राष्ट्र को सबल बनाने के लिए भी अत्यंत आवश्यक है।

अकेला चना भाड़ नहीं फोड़ सकेगा। अरहर, उड़द, मूंग, लोबिया, मटर, मसूर आदि सभी दालों का क्षेत्रफल और उत्पादन बढ़ाने के हर संभव प्रयास करने होंगे। दालों की खेती के लिए किसानों को भरपूर प्रोत्साहन देना होगा ताकि वे दलहनी फसलों को भी अनाज की फसलों के बराबर ही महत्व दे सकें। समर्थन मूल्य मिले तभी किसान यह तय कर सकेंगे कि उन्हें दलहनी फसल से कितना मुनाफा मिल सकता है अन्यथा वे सटोरियों और बिचौलियों की दया पर अपना भाग्य भला कब तक सौंपते रहेंगे।

इससे भी अधिक जरूरी है किसानों की जरूरत के मुताबिक अनुसंधान की। इसे दुर्भाग्य ही कहा जाएगा कि खेती के साथ-साथ प्रयोगशालाओं में भी दालें उपेक्षित ही रही हैं। पिछले एक दशक में जितना अनुसंधान अनाजों पर किया गया है, उसकी तुलना में दालों पर बहुत कम काम हुआ है। आज भी दालों की किसी, पूर्णतः रोगरोधी किस्म का नाम बताना कठिन है। अरहर, चना, मटर, मसूर और उड़द, मूंग सभी बीमारियों का कोप

झेल रही हैं। हर प्रचलित किस्म को पाला मार रहा है। मूंग, उड़द को मोजैक ने जकड़ा है तो अरहर, मसूर, चना मुरझान (उकठा) रोग से मारे हुए हैं। तब क्यों न किसान धान और गेहूं जैसी विश्वसनीय फसल उगाए। और यही वजह है कि भारतीय किसान आज भी दलहन की शुद्ध फसल नहीं उगाता, मिलवां खेती करता है। चना, अरहर न मिले तो क्या गेहूं, लाही या ज्वार-बाजरा तो मिल ही जाएगा। इसलिए हर दलहनी फसल या तो उपेक्षित भूमि में बोयी जाती है या मिलवां फसल के रूप में। और रोचक बात यह है कि वैज्ञानिकों द्वारा अधिकांश परीक्षण शुद्ध फसल के रूप में किए जाते हैं, जबकि किसान उसे मिलवां फसल के रूप में ही उगाता है। जरूरत इस बात की है कि एक और तो मिलवां फसल के रूप में अधिक परीक्षण किए जाएं ताकि मिलवां खेती में उन किस्मों की अधिक उपज मिल सके, दूसरी ओर ऐसी रोगरोधी किस्मों का विकास किया जाए जो भरपूर उपज दें और रोगों-कीड़ों के चंगुल से बच सकें तभी किसान इन्हें शुद्ध और विश्वसनीय फसल के रूप में उगाने को तैयार होंगे।

दालों की खेती को बढ़ावा देने के लिए उन्नत किस्मों के प्रमाणित बीज को किसान के दरवाजे तक पहुंचाना भी आवश्यक है। अब तक अनाज की उन्नत किस्मों की भांति दलहनों के बीच किसानों के पास तक नहीं पहुंच पाए हैं। देशी किस्मों की तुलना में उन्नत किस्मों के बीच की श्रेष्ठता दर्शाने के लिए स्वयं किसानों के खेतों में प्रदर्शन पर अधिक बल देना होगा। ''हाथ कंगन को आरसी क्या'' की इस युक्ति से नई किस्मों में किसानों का विश्वास जमेगा।

अनाज की फसलें जिस तरह नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश की खूराक से भारी उपज देती हैं उसी तरह दालों के लिए **जीवाणु खाद** (राइजोबियम कल्चर) जरूरी है। इस तरह केवल दो-तीन रुपए के खर्च से दालों की उपज काफी बढ़ायी जा सकती है। जीवाणु खाद का दुहरा लाभ मिलता है। इससे दलहनी पौधों की जड़ों में गांठें ज्यादा बनती हैं जिसके कारण वे अपनी जरूरत से भी अधिक नाइट्रोजन की खूराक हवा से खींच लेती हैं। इस प्रकार नाइट्रोजन उर्वरक की बचत होती है और साथ ही नाइट्रोजन का पर्याप्त अंश जमीन में बचा रहता है जिसका लाभ अगली फसल को मिलता है।

ऐसा नहीं कि किसान इन बातों से अनभिज्ञ हों। उन्हें यदि अधिक उपज देने वाली रोगरोधी किस्म का प्रमाणित बीज व जीवाणु खाद के पैकेट मिल जाएं और समर्थन मूल्य का सहारा भी हो तो वे क्यों पीछे रहेंगे। जरूरत केवल इस बात की है कि नई उन्नत किस्मों का विकास करके किसानों को बड़ी मात्रा में उनका प्रमाणित बीज मुहैय्या कर दिया जाए और उपज से निश्चित लाभ के लिए समर्थन मूल्य घोषित किए जाए। तभी देश में दालों का उत्पादन बढ़ेगा और हमें अपने आहार में दाल की भरी कटोरी मिल सकेगी।

दूध से रोग भी फैल सकते हैं*

डॉ. दयाशंकर मिश्र

दूध को अमृत कहा गया है। यह एक पौष्ठिक तरल पदार्थ है लेकिन यदि उचित ढंग से इसका रखरखाव न किया जाए तो इसमें जीवाणु पनपने लगते हैं। जीवाणुओं से होने वाले अनेक रोग दूषित दूध से मनुष्यों और बच्चों को हो जाते हैं। दूध और दूध से बने पदार्थों से फैलने वाले यों तो अनेक रोग हैं लेकिन यहां पर कुछ उन मुख्य रोगों के विषय में बताया जा रहा है जिनका प्रकोप हमारे देश में बहुत अधिक है।

बच्चों में गलशोथ (सोर थ्रोट) तथा लोहित ज्वर (स्कारलेट फीवर) नामक रोग **'स्ट्रेप्टोकोकाई'** जीवाणुओं से होते हैं जो मुख्यतः दूध और दूध उत्पादों से फैलते हैं। ये जीवाणु दूध में बीमार जानवरों के थन से आते हैं। कभी-कभी इन रोगों से पीड़ित ग्वालों द्वारा दूध दुहते या दुग्ध उत्पाद बनाते समय ये जीवाणु दूध में पहुंच जाते हैं। ऐसा दूषित दूध जब बच्चे पीते हैं तो उनको ये रोग लग जाते हैं। स्ट्रेप्टोकोकाई कभी-कभी बच्चों में वात ज्वर (र्‌यूमेटिक फीवर) भी उत्पन्न करते हैं जिसका असर हृदय पर पड़ता है, जो बड़े होने पर कष्टकारी रोग में बदल जाता है।

हमारे देश में दूध और दुग्ध पदार्थों से विषाक्तता बच्चों और वयस्कों में गर्मियों में अधिक होती है। यह विषाक्तता **स्टैफाइकोकोकाई** नामक जीवाणु के कारण होती है। ये जीवाणु, दूध में या तो ग्वालों के हाथों या फिर रोगी पशु के दूध में थन से आते हैं। उचित तापमान (खासकर गर्मियों में) पाने पर ये जीवाणु दूध में एक आंत्र विष बनाते हैं। एक बार यदि यह आंत्र विष बन जाए तो फिर उबालने पर भी इसकी विषाक्तता बनी रहती है। ऐसा आंत्र-विष से युक्त दूध पीने पर उल्टी तथा बाद में दस्त लग सकते हैं। इसमें बुखार नहीं आता और भोजन विषाक्तता के लक्षण दूध या दूध से बने पदार्थ खाने-पीने के 2 या 3 घंटे के अंतराल में लक्षण प्रकट हो जाते हैं। दूध से बने पदार्थ जैसे पेड़े, बर्फी, तथा खोया युक्त पदार्थों से बच्चों और बड़ों में विषाक्तता होती है।

इसी प्रकार गर्मी के दिनों में अन्य जीवाणु जैसे **ई. कोलाइ,** टाइफाइड जीवाणु अतिसार उत्पन्न करने वाले जीवाणु भी दूध में या दूध के माध्यम से बच्चों या बड़ों के

* किसान भारती, जनवरी/फरवरी, 1980

शरीर में पहुंच सकते हैं। गर्मी में बच्चों में अतिसार रोग उत्पन्न करने में इन जीवाणुओं का हाथ होता है। बच्चों को इन जीवाणुओं से दूषित दूध या दूध से बने पदार्थ खाने के बाद कुछ दिनों के अंदर पतले दस्त लग जाते हैं। दस्त के साथ-साथ बुखार भी रहता है। इससे बचाव के लिए गर्मी के दिनों में दूध को दो या तीन बार उबालना चाहिए तथा अस्वच्छ दूध या दूध से बने पदार्थों को खाने-पीने में कम प्रयोग में लाना चाहिए।

अंतड़ी की टी.बी. बच्चों में बहुधा टी.बी. से पीड़ित गायों का दूध पीने से हो सकती है। यह तभी संभव है जबकि ऐसे दूध का प्रयोग अच्छी तरह उबाल कर न किया जाए या ऐसे दूध से बने आइसक्रीम या इससे निकले क्रीम का उपयोग फ्रुटक्रीम या अन्य पदार्थ में किया जाए। ऐसे जानवरों का दूध जिस बर्तन में लिया जाए उसे ठीक तरह से उबाला जाए। उस बर्तन का दूध अन्य बर्तन में न पलटा जाए तथा उसको अच्छी तरह से धो लिया जाए।

टी.बी. की तरह **संक्रामक गर्भपात** (ब्रुसेलोसिस) एक अन्य रोग है जो दूध से फैल सकता है। इससे रोगी मनुष्य **अतरा बुखार** से पीड़ित हो जाता है। कुछ दिन तक बुखार रहता है, फिर उतर जाता है। कुछ समय बाद फिर चढ़ जाता है। यह बच्चों और वयस्कों सभी को हो जाता है। दूध को अच्छी तरह गर्म न करने या कच्चे दूध से निकले क्रीम से मुख्यतः यह रोग मनुष्यों में फैलता है।

क्यू ज्वर रोग उत्पन्न करने वाला जीवाणु **काक्सेला बर्नेटी** गोवंशी पशुओं तथा भेड़ और बकरी के दूध में निकलता है। यों तो उबालने से यह जीवाणु दूध में मर जाता है लेकिन आजकल पास्चुरीकरण विधि से दूध को जीवाणु रहित करने की क्रिया में यह जीवाणु बच निकलता है। यह मनुष्यों में बुखार, सिर तथा बदन में दर्द तथा निमोनिया के लक्षण उत्पन्न करता है। इससे बचने का सरल उपाय है—दूध को अच्छी तरह गर्म करके जीवाणु-रहित करना। कच्चा दूध कभी न पीएं। जानवरों में इस रोग को फैलाने से रोका जाए।

बचाव के उपाय

दूध से रोग न हों, इसके लिए निम्नलिखित बातों पर ध्यान दिया जाए :

(1) दूध उत्पादन के समय स्वच्छता के सिद्धांतों का पालन करना चाहिए। दूध का बर्तन साफ धुला हो तथा दूध दुहने वाले ग्वाले के हाथ साफ धुले हों। दूध निकालने वाले मनुष्य को कोई रोग नहीं होना चाहिए अन्यथा दूध के माध्यम से रोगाणु तक पहुंच जाएंगे और रोग पैदा कर देंगे।

(2) दूध को कच्ची अवस्था में लेने के बाद सबसे अच्छा तो यह है कि उबाल देना चाहिए। कम से कम दो उबाल अवश्य आने दें। यदि किसी कारण दूध उबाला न जा सके तो उसको ठंडे स्थान जैसे रेफ्रिजीरेटर में (तापमान 5 डिग्री सेंटिग्रेड से कम हो) रखना चाहिए। इस तापमान पर जीवाणु नहीं पनप पाते।

(3) दुधारु जानवर रोगी नहीं होना चाहिए। समय-समय पर **टी.बी. ब्रूसेलोसिस** तथा **थनैला** आदि की जांच करवानी चाहिए तथा रोग का पता लगने पर इलाज कराना चाहिए। जिस समय पशु रोगी हो उस समय उसका दूध न पिया जाए तो अच्छा रहेगा।

(4) दूध को उबालने के बाद दूध या उससे बने पदार्थ को हाथ से नहीं छूना चाहिए। उंगलियों पर तरह-तरह के जीवाणु होते हैं जो कि दूध के संपर्क में आते ही उसमें पहुंच जाते हैं तथा उसमें बढ़ने लगते हैं। गरम किए हुए दूध तथा दूध से बने पदार्थों को ढक कर रखना चाहिए ताकि मक्खी, चूहे, तिलचट्टे तथा कीड़े-मकोड़ों से दूषित न होने पाएं। इन जीवों के मल में टाइफाइड और अतिसार के जीवाणु बहुतायत से रहते हैं। ऐसा दूषित दूध पीने पर ये रोग हो सकते हैं।

उपर्युक्त बातों को ध्यान में रखकर दूध तथा दूध से बने पदार्थों से फैलने वाले रोगों से बचा जा सकता है।

चिन्तनपरक

नशीले पदार्थों के प्रति युवा पीढ़ी का बढ़ता हुआ आकर्षण*

मन्मथनाथ गुप्त

नवयुवकों और नवयुवतियों में यानी युवा वर्ग में नशीले द्रव्यों का सेवन बढ़ता देखकर संसार के मनोवैज्ञानिक शिक्षा शास्त्री, चिकित्सक तथा समाज-सुधारक बहुत चिंतित हो रहे हैं। भारत में भी अब पश्चिम के युवा वर्ग की देखादेखी यह समस्या काफी गंभीरता पकड़ रही है और यहां हाल ही में दिल्ली में चिकित्सकों का एक सम्मेलन हुआ था, जिसमें इस विषय पर बहुत विस्तार के साथ विचार किया गया। यह सम्मेलन दिल्ली की स्वास्थ्य सेवा के निदेशक डॉ. पी.के. मिश्र की अध्यक्षता में हुआ था। इसमें भूमिका के तौर पर उन्होंने बताया कि भारत में भी अब यह समस्या कठिन होती जा रही है और इसलिए उन्होंने डॉक्टरों से यह कहा कि वे इस समस्या की तरफ ध्यान दें।

जिन बड़े डॉक्टरों ने इसमें भाग लिया उनमें डॉ.के. अग्रवाल ने तो यह कहा कि यह समस्या कोई बहुत नई नहीं है, बल्कि भारत की सभ्यता जितनी पुरानी है, यह समस्या भी उतनी ही पुरानी है। हां उन्होंने यह माना कि अब इस समस्या ने एक नया रूप धारण किया है। अध्यापक एस. जानकी ने यह कहा कि यों तो नशीले द्रव्य बहुत प्राचीन काल से लिए जाते हैं, पर यदि मात्रा से अधिक रूप में ये पदार्थ लिए जाएं तो समाज-सेवियों के लिए यह चिंता का विषय बन सकता है।

ब्रिगेडियर एच.बी. लाल ने भी इसका समर्थन किया। उन्होंने कहा कि लोग समस्या को समझ नहीं रहे हैं और खामख्वाह सारा दोष युवा वर्ग पर डाल रहे हैं जब कि दोष हमारे शासकों, प्रशासकों, अध्यापकों और चिंतकों का है। समस्या की जड़ में जाने की चेष्टा नहीं की जाती और ऊपर-ऊपर से उसकी उपलब्धि की चेष्टा की जाती है। ब्रिगेडियर लाल ने यह भी कहा कि प्राचीन काल में यहां गांजा और भांग साधुओं में प्रचलित था, पर साधारण समाज उससे अछूता रहा था। अब यह साधारण समाज में फैल रहा है, इसलिए यह चिंता का विषय है। इसके साथ ही यह बात बता दी जाए कि नशीले

* आपका स्वास्थ्य, मार्च, 1980

द्रव्यों के कन्ट्रोलर डॉ.पी.एस. रामचन्द्रन् ने यह कहा कि लोग खामख्वाह शंकित हो रहे हैं। विश्वविद्यालय के छात्रों में नशीले पदार्थों का सेवन अधिक नहीं हो रहा है, जितनी मात्रा में पहले होता था उससे थोड़ा-बहुत बढ़ा होगा, पर उसमें शंका की कोई बात नहीं है।

विशेषज्ञ मानें या न मानें, इसमें कोई संदेह नहीं कि संसार भर में नशीले पदार्थों का सेवन युवा वर्ग में बढ़ रहा है। उसका एक बड़ा भारी कारण यह है कि पाश्चात्य देशों में धन प्रचुर मात्रा में मौजूद है, लोगों के लगभग सारे अभाव दूर हो गए हैं, पर उनके जीवन में एक दिशाहीनता आ गई है। पाश्चात्य देशों में युवा वर्ग में नशीले द्रव्यों के सेवन की समस्या हमारे देश में नशीले पदार्थों के सेवन की समस्या से काफी अलग है। उनकी समस्या यह है कि वहां प्रचुरता है और प्रचुरता होते हुए भी वे यह अनुभव कर रहे हैं कि उनकी आत्मिक जरूरतें पूरी नहीं हो रही हैं, और यह एक प्रकार की दिशाहीनता है। इसके विपरीत हमारे देश में दिशाहीनता दूसरे ही कारण से है, वह यह कि हमारे यहां युवक को यानी युवा वर्ग को किसी तरह की सुविधा प्राप्त नहीं है।

हिप्पी आंदोलन का जन्म और विकास

इसी परिस्थिति में हिप्पी आंदोलन का प्रारंभ हुआ है। हिप्पियों में सभी समाजविरोधी हों, ऐसा समझने का कोई कारण नहीं है। सच तो यह है कि जो असली हिप्पी हैं, वे समाज के सबसे अच्छे लोग हैं क्योंकि वे समाज के सबसे अनुभूति शील युवा हैं। साधारण लोग जिन परिस्थितियों में बखूबी चल रहे हैं, वे उन परिस्थितियों में अपने को चलाने में असमर्थ पाते हैं। उनके सामने संसार के अधिक से अधिक लोगों का पिछड़ापन है, यही क्यों, हर देश में यहां तक कि अमेरिका जैसे देश में भी गरीबों का एक वर्ग है। इसके अतिरिक्त अणुबम, वियतनाम युद्ध, कैनेडी की हत्या, मार्टिन लूथर किंगकी हत्या (गांधी की हत्या तो बहुत पुरानी हो गई) और अभी हाल में अरबों ने जिस प्रकार से अंतर्राष्ट्रीय खेलकूद के अवसर पर जो किया उसका असर, ये सारी घटनाएं मिल कर चिंतक युवकों में एक प्रकार की बेचैनी पैदा करती हैं और उसीके फलस्वरूप बहुत से सुशिक्षित, अच्छे घर के खाते-पीते युवा घर छोड़कर बाहर निकल पड़ते हैं। इसके साथ ही वे नशा करते हैं। नशे से वे अपनी समस्याओं को भूल जाते हैं और जिस बेचैनी से वे पीड़ित हैं, उससे उनकी मुक्ति हो जाती है।

अमेरिका के हिप्पियों में घुसकर कई चिंतकों ने इस प्रकार खोज की और यह जानने की चेष्टा की कि वे क्यों हिप्पी बने, वे क्यों नशा करते हैं, उन्होंने क्यों संसार के साधारण जगत-व्यवहार को छोड़ दिया, इत्यादि। चिंतकों को जो उत्तर मिले, वे बहुत ही दिलचस्प हैं। जो पहले युवक उन्हें मिले उनमें से अधिक **एल.एस.डी.** का सेवन करते थे। पूछे जाने पर एक लड़की ने कहा—एल.एस.डी. इसलिए लेती हूं कि यह मुझे इस संसार से परे भेज देता है। जब मैं एल.एस.डी. ले लेती हूं तब मुझे सब कुछ सुंदर जान पड़ता

है। संसार में इसके मुकाबले की कोई चीज नहीं है। **मेरीजुआना** अच्छी चीज है और उससे मुझे कुछ आनंद मिलता है, पर एल.एस.डी. का कोई जवाब नहीं है। उसका आनंद अवर्णनीय है।

जब इन युवकों और युवतियों को गहराई से पूछा गया तो उन्होंने कहा कि हम साधारण जगत-व्यवहार को बहुत असाधारण पाते हैं। हम संसार में व्यर्थ की हिंसा चल रही है उससे पीड़ित हैं। हम वियतनाम से व्याकुल हैं। उनमें से एक ने शोध करने वाले अध्यापकों से ही प्रश्न पूछा—भला लोग शांति से क्यों नहीं रहते? अगर लोग शांति से रहना स्वीकार कर लें, तो सब लोग खुशी से रह सकते हैं। हमें तो प्रेम चाहिए। प्रेम और अधिक प्रेम। हम हिप्पी लोग संसार को प्रेम की देन देना चाहते हैं।

मालूम हुआ कि जिस लड़की ने एल.एस.डी. की इतनी प्रशंसा की थी, वह कई दफा गिरफ्तार भी हो चुकी है। वह बोली, ''मुझे कई बार जेल भेजा गया। मेरे मां-बाप ने इसकी परवाह नहीं की। मेरे विद्यालय ने मुझको कुछ समझाया नहीं। मैं जिंदगी से परेशान थी। मैं ऊब चुकी थी। इतने में मुझे किसी न बताया कि मैं उन सबसे छुटकारा पा सकती हूं यदि मैं **'पाट'** या **एल.एस.डी.** लूं। तब से मैंने **एल.एस.डी.** लेना शुरू किया और मेरी जिंदगी बदल गई और सब कुछ मेरे लिए महान हो गया। मेरे रिश्तेदार मेरी परवाह नहीं करते, पर अब मैं यह समझ चुकी हूं कि वे मेरी कभी परवाह नहीं करते थे।

इन अमरिकन हिप्पियों में कुछ ऐसे भी हैं, जो बौद्धिक रूप से ऊंची सतह पर हैं। वे कहते हैं कि हमें बौद्ध धर्म से और योग आदि से बहुत कुछ मिलता है। उनका यह कहना है कि ईसाइयत की तुलना में पूर्वी धर्म उन्हें बहुत दे सकते हैं। पर यह समझने की जरूरत नहीं है कि वे धर्म के विषय में बहुत अधिक दिलचस्पी रखते हैं। असली बात तो यह है कि **हिंदूधर्म में कई देवी देवता ऐसे हैं जिनका संबंध नशीले द्रव्यों से जोड़ा जाता है, इसीलिए वे उनके प्रति आकृष्ट हैं।** शंकर भगवान हिप्पियों के आदर्श हैं क्योंकि वह अजीब भेष धारण किए हुए हैं, उनका पहनावा अजीब है, उनका व्यवहार अजीब है और वह सारे नशीले द्रव्य लेने के आदी बताए जाते हैं।

हिप्पियों में कुछ अपराधी किस्म के लोग भी घुस आए हैं, जो हिप्पी दर्शन से बिल्कुल कोई संबंध नहीं रखते। उनका उद्देश्य है आसानी से लड़कियां प्राप्त करना तथा नशीले द्रव्य सेवन करना। भारत में भी हम यूरोप से आए हुए ऐसे हिप्पियों को राजधानी तथा काशी आदि स्थानों में देख सकते हैं, जहां वे धार्मिक लोगों के साथ बहुत मिलते हैं। हिप्पियों में अपराधियों के मिलने से पुलिस के लिए भी एक समस्या बन गई है। पर साथ ही हिप्पी आंदोलन को भी इससे बहुत भारी नुकसान पहुंचा है क्योंकि कौन हिप्पी है, कौन अपराधी है और कौन चोर बाजारी है, यह पता नहीं लगता है। यूरोप में कुछ अजीब हिप्पी इस तरह के हैं, जो 5 दिन (यूरोप और अमेरिका में सप्ताह 5 दिन के ही होते हैं) बहुत शरीफ बने रहते हैं, बाकायदा दफ्तर में जाते हैं, अन्य लोगों की तरह काम करते हैं पर सप्ताह में दो दिन हिप्पी बने रहते हैं और नशीलें द्रव्यों का सेवन करते हैं।

बिच्छिन्न परिवार जिम्मेदार हैं

डॉ. रास ग्रीक नामके एक विद्वान ने अमेरिका के हिप्पियों पर विचार किया है और उनका यह कहना है कि हिप्पियों में 70 फीसदी ऐसे युवा हैं जो स्कूल से भागे हुए हैं और यदि दूसरी दृष्टि से देखा जाए तो 40 फीसदी ऐसे हैं जिनके मां-बाप आपस में लड़कर अलग हो चुके हैं। मां कहीं गई, बाप कहीं गया। मां ने दूसरी शादी कर ली, बाप ने दूसरी शादी कर ली, इत्यादि, इत्यादि। यों हिप्पी कोई समस्या नहीं बनते, पर दो कारणों से वे सारे समाज के लिए समस्या बन चुके हैं। वे दो कारण हैं—एक तो यौन मामलों में गड़बड़ी और दूसरे नशीले द्रव्यों का सेवन। जब युवा वर्ग में यौन आचरण शिथिल हो जाता है तो उसका असर सारे समाज पर पड़ सकता है। यह कहा जाता है कि चीन ने अमरीका के विरुद्ध जो सबसे बड़ी लड़ाई की है, वह यह है कि उसने विनयतनाम में गये हुए अमरीकी सैनिकों के अंदर नशीले पदार्थो का भयंकर रूप से प्रचार कर दिया। ये सैनिक सबसे अच्छे और स्वस्थ युवकों में थे, पर जब वे दो साल वियतनाम में रह कर नशीले पदार्थों का सेवन सीख कर शरीर और डालर खोकर अमरीका वापस जाते, तो वे अपने देश के लिए एक समस्या बन जाते हैं। सारा अमरीका समाज इन युवकों से पीड़ित है क्योंकि इनके सारे मूल्य टूट चुके हैं।

हिप्पियों पर यह दोष भी लगाया जाता है कि उनके **यौन-जीवन के कारण लोगों में आतशक और सुजाक इन दो रोगों की बहुत वृद्धि हुई है।** कहना न होगा कि ये दो रोग ऐसे हैं जो आग की तरह फैलने वाले हैं यानी जहां भी इन रोगों से आक्रांत युवक जाएंगे, वहां रोगों को और भी फैलाते जाएंगे।

इन्हीं सब बातों से घबराकर अमरीका की पुलिस नशीले द्रव्यों के पीछे पड़ गई है और अंतरराष्ट्रीय रूप से उसका जो व्यापार होता है, उसके विरुद्ध करोड़ों रुपए का खर्च करके उसे रोकने की चेष्टा की जा रही है। अजीब बात यह है कि पहले-पहल जहां मानसिक ऊब तथा निराशा के कारण एल.एस.डी., मेरीजुआना, गांजा, भांग आदि का सेवन होता था, वहां अब शुरू से ही बिना कारण इसका सेवन चल पड़ता है। इस संबंध में एक तरफ तो पुलिस चिंतित है, दूसरी तरफ समाजशास्त्री भी चिंतित है। वह चिंता इस कारण और भी बढ़ गई है कि डॉक्टर रियोथी लियारीने यह कहकर लोगों को आश्चर्य में डाल दिया कि अमरीका में जो युवक या युवतियां नशीले द्रव्यों का, विशेषकर एल.एस.डी. का सेवन कर रहे हैं, वे हमारे कालेजों के सबसे अच्छे छात्र और छात्राएं हैं। स्कूलों के छात्रों में भी एल.एस.डी. और हिरोइन का प्रचार हो रहा है। इसके साथ ही अब ऐसा भी सुनने में आ रहा है कि कई जगह पर हिप्पी लूटमार और हर तरह के हिंसात्मक कार्य भी कर लेते हैं। बात यह है कि जब नशीले द्रव्य नहीं मिलते तो उस हालत में उनकी स्थिति ऐसी हो जाती है कि वे कुछ भी कर सकते हैं।

अब हाल ही में यह मालूम हुआ है कि बहुत-से पाश्चात्य युवक और युवतियों को

पूर्वी देशों में नशीले पदार्थ आसानी से मिल जाते हैं। खास तौर से दिल्ली और वाराणसी के बाद काठमांडू में इनका प्रधान केंद्र बन गया है। आर. बैस्टियन ने इस संबंध में काठमांडू में क्या होता है, उस पर एक छोटा सा लेख लिखा है जो सारे संसार के पत्रों में छपा है। काठमांडू में मौजूद हिप्पियों से पूछा गया कि तुम क्यों इस देश में आए हो? क्या तुम लोगों को यह देश दूसरे देशों से अधिक सुंदर या रहने लायक मालूम होता है?

उन्होंने इसका उत्तर बड़ा अजीब दिया। वह यह था—हम जिस तरह पश्चात्य देशों में सिगरेट खरीद सकते हैं, उसी तरह यहां भांग, गांजा आदि खरीद सकते हैं। यह कितनी बड़ी सुविधा है?

कहते हैं कि इसी प्रलोभन से आकृष्ट होकर सैकड़ों युवक और युवतियां अपने देश को छोड़ भारत और काठमांडू में आ रहे हैं। किसी भी तरह वे यात्रा के लिए पैसे प्राप्त कर लेते हैं और फिर आ जाते हैं। एक युवक ने यह बतलाया कि वह जब काठमांडू में पहुंचा तो पहली दृष्टि में वह बहुत निराश हुआ, पर जैसा कि उसने बात को सुधारने के बाद बताया—सारे दृश्यों को अपने स्वप्न के कोहरे के अंदर से देखता था, इसलिए मुझे वहां की गंदगी या बातों से कोई निराशा नहीं हुई। मुझे यह देख कर सबसे अधिक खुशी हुई कि दुकानों में भांग की टोकरी बिक रही थी और जिसका दाम भी बहुत कम था।

उस युवक ने बताया इसके बाद मैं एक फ्रांसीसी युवक से मिला। वह वानर मंदिर के पीछे किसी गंदे मुहल्ले में रहता था। वहां 7 लड़के और 3 लड़कियां थीं। उनमें कोई अमरीकी था, कोई स्वीडिश था। सब दूसरी जातियों के थे। वहां जो कुछ भी था, वह सबके लिए था मेरी सारी संपत्ति भी सबकी संपत्ति बन गई।

इस प्रकार से युवक धीरे-धीरे निराशा में डूबा हुआ रहने लगा। उसे एक अमरीकी लड़की भी मिल गई और उन्होंने फौरन ही एक साथ सोना भी शुरू कर दिया। गंदगी, नशा और स्वेच्छाचार पर आमदनी का कोई जरिया नहीं था। इसलिए मुसीबत पड़ने लगी और कमाने के ढंग सोचे जाने लगे। कोई लड़कियां तो अपना शरीर बेचकर पैसे ले आती थी और उन्होंसे काम चलता था।

हम ऊपर जो कुछ ब्यौरा दे चुके हैं, उससे यह स्पष्ट है कि यह सारी समस्या बहुत ही खतरनाक है और यदि जैसा कि भारतीय विशेषज्ञों ने कहा है कि भारत में यह समस्या अभी तक भयंकर नहीं हुई है, यदि वह सच भी है तो हमें पहले से ही सावधान होने की आवश्यकता है। **इसमें संदेह नहीं कि जो मानसिक वातावरण नशीले द्रव्यों के सेवन के लिए सबसे सुंदर है, वह धीरे-धीरे भारत में पैदा हो रहा है।**

प्रश्न यह है कि इस संबंध में सरकार तथा जनता क्या करे? क्या यह उचित होगा कि नशीले द्रव्यों की जितनी भी दुकानें हैं, उन्हें बंदकर दिया जाए? पश्चिम में शराब आदि सस्ती भी है और उसके पीने की खुली छूट भी है, हमारे यहां सब नशों के लिए खुली छूट हैं यद्यपि यहां शराब मंहगी है। पता नहीं सब, किसने, क्यों अध्यात्मवाद से नशीले पदार्थों के सेवन का संबंध जोड़ दिया? काली की पूजा शराब से होती है। इसी

तरह महादेवजी के संबंध में भांग, धूतरा सेवन की कल्पना की गई है। एक विशिष्ट बात यह है कि यद्यपि हमारे देश में नशीले द्रव्य हमेशा खुले आम बिकते रहे हैं, पर समाज पर उनका कोई विशेष असर नहीं हुआ था और जैसा कि हमने बताया अब भी शायद नहीं है। कुछ साधु और उसके साथ मिलनेवाले लोग दूसरी तरफ से अपराधी, चोर, डाकू, तीसरी तरफ से बहुत ऊंचे रईस नशीले पदार्थों का सेवन करते थे। उन्हीं की बदौलत न केवल शराब, भांग, गांजा बल्कि चण्डूखाने भी चलते थे, पर समाज या तो इन चण्डूखानों को देखकर हंसकर उनके बगल से निकल जाता था या वह उनसे घृणा करके अपनी बचतकर लेता था। बहुत थोड़े आदमी उनसे प्रभावित होते थे।

मैं तो इसे भारतीय समाज का गुण ही मानूंगा कि यहां सब नशों के लिए खुली छूट होते हुए भी, यहां तक कि अध्यात्मवाद से उनका संबंध जोड़ दिए जाने पर भी, अधिकांश जनता का दिमाग ठीक रहता था और वे नशीले द्रव्य नहीं लेते थे। या कुछ लोग दवा के नाम पर या छिपकर लेते थे तो भी उन पर किसी का ध्यान नहीं जाता था।

पर हम लोग इस समय इस बात के लिए कमर कस चुके हैं कि हमें एक आधुनिक संसार बनाना है, इसलिए अधिक उद्योग और अधिक से अधिक परिश्रम करना है और अपनी प्रतिभा को और कर्म करने की शक्ति को विकसित करना है। ऐसी हालत में हम यह बरदाश्त नहीं कर सकते कि साधुओं, अपराधियों और ऊंचे रईसों से उतरकर नशीले द्रव्यों का सेवन विश्वविद्यालय के छात्रों या स्कूलों के बच्चों में फैल जाए। इसके लिए बच्चों के मां-बाप और शिक्षकों के साथ ही चिंतकों को बहुत सजग और जागरूक रहना पड़ेगा। घबड़ाकर नशीले द्रव्यों पर पूर्ण रोक करना व्यर्थ सिद्ध होगा। जैसा कि हम देख चुके हैं, यह बंबई आदि स्थानों में व्यर्थ सिद्ध हो चुका है। यही नहीं, इस रोग के कारण उन स्थानों में चोरी से शराब बनाने का एक पूरा धन्धा बन चुका है जो मिटाए नहीं मिट रहा है। हमारा विरोध प्रचारात्मक अधिक होना चाहिए और साथ ही जो लड़के-लड़कियां इन आदतों में पड़ जाएं, उन्हें अलग करके उन्हें समझाने और चिकित्सा करने की अधिक आवश्यकता है। किसी भी हालत में हमें इस तरंग को रोकना तो है ही और मुझे आशा है कि भारत में कुछ ऐसी योग्यता है कि हम नशीले द्रव्यों पर पूरी रोक न होते हुए भी इस विपत्ति से अपने को मुक्त कर लेंगे।

यात्रा विवरण

सोलमन के देश–इजराइल में*

–डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय

[इज़राइल के शासक डेविड का पुत्र एवं उत्तराधिकारी सोलमन वहां का तृतीय राजा था, जिसका शासन 972 ई.पू. से आरंभ हुआ। Book of Proverbs, Ecelesiastes, Song of Solomon आदि पुस्तकों के लेखक की मृत्यु 922 ई.पू. में हुई। सभी धर्मों को मिलाकर एक धर्म बनाने वाले ने येरुशलम में एक मंदिर का निर्माण किया।]

–संपादक

इजराइल का सर्वप्रथम उल्लेख मिस्र (इजिप्ट) के राजा मेरनेपटाह के विजय स्तम्भ (1220 ई.पू) में मिलता है। वह कहता है कि 'इजराइल नष्ट हो चुका हैं उसके कोई वासी बाकी नहीं बचे हैं। इसके बाद तो आल्ड टेस्टामेंट में इजराइल और इसके वासियों का मिस्र से भागकर पुनः बसने के कई वर्णन मिले हैं। इजराइल कई बार नष्ट हुआ और पुनः स्थापित हुआ है। ऐसे देश की यात्रा का अवसर मुझे भी मिला, वह भी यूनियन इन्टरनेशनल अगेंस्ट कैंसर-जिनेवा-स्विटजरलैंड की कैंसर शोध करने की ग्रांट पर। जाना था वाइजमान इंस्टीटयूट आफ साइंस-रिहोवोथ, **प्रो. इजाक वेरेनव्लूम,** जो कि कैंसर रिसर्च के जन्मदाता हैं, के साथ कुछ वैज्ञानिक समस्याओं पर विचार विमर्श करने।

तेल अवीव एयरपोर्ट से **रिहोवोथ** टैक्सी द्वारा 30 मिनट की यात्रोपरांत पहुंचाया जा सकता है। वहीं पर विश्व विख्यात वाइजमान इंसटीटयूट हैं। टैक्सी रोक कर आवश्यक पत्रादि दिखाने के बाद इंस्टीटयूट के द्वारपाल ने प्रो. वेरेनव्लूम को फोन किया और वे 70 वर्षीय युवा तत्काल आए और उन्हीं के साथ में इंस्टीटयूट के गेस्ट हाउस (अतिथिगृह) में गया। इसकी स्थापना अर्जेंटीना के एक परम समृद्ध यहूदी वुर्नल ने की थी। मेरे थोड़ा स्वस्थ होने के बाद प्रो. वेरेन व्लूम पुनः आए और उन्हीं के साथ उनके आवास पर गया। शाम को भोजन हुआ और फिर विविध समस्याओं पर बातें होती रहीं।

तेल-अवीव इजराइल का सुंदरतम नगर है जिसमें म्यूजियम, गैलेरी और विविध सांस्कृतिक केंद्र हैं। सिनेमा गृहों की भरमार है और एक दो छविगृहों में हिंदी चल चित्र लगातार, ईरान की भांति दिखाए जाते हैं। तेल अवीव और जाफा दोनों मिले हैं और यहीं पर इजराइल की प्राचीनता के भी दर्शन होते हैं। यह कहना ही पर्याप्त है कि याफो

* जनमोर्चा, मई 1980

(अंग्रेजी में इसका उच्चारण याफा या जाफा है) नोंहा के जल प्लवन के काल का है और 6500 वर्षों से भी अधिक प्राचीन है। तेल अवीव और जाफो दोनों समुद्र तट पर हैं। सारे शहर में बसों से आया और जाया जा सकता है—लोग अंग्रेजी, जर्मन, फेंच और अन्य भाषाएं जानते हैं। आपको यहां पर विश्व के हर प्रकार का भोजन और वासी मिल जाएंगे। यहां का ऐल्फावेट म्युजियम जिस में शब्दों और अक्षरों की उत्पत्ति किस प्रकार हर भाषा में हुई, परम दर्शनीय है। याफो के आरकीयोलाजिकल म्यूजियम और आर्टिस्ट क्वार्टर्स देखने योग्य हैं। आर्टिस्ट क्वार्ट्र्स रात में 9 बजे के वाद खुलतें हैं जहां पर चित्रकार विविध वेश भूषा में अपने चित्रों की प्रदर्शनी करते हैं और यह कार्यक्रम प्रायः 4 बजे तक चलता रहता है।

रशियन मोनास्ट्री, नेपोलियन हिल, शलोम मेयर टावर और याफो पोर्ट दर्शनीय स्थल हैं परन्तु हेलना रूवेस्टाइन का म्यूजियम परम सुंदर और विलक्षण है।

तेल अजीब सुंदर रोडसाइड रेस्ट्राओं से युक्त है। आप कहीं भी बैठ कर काफी या बियर पी सकते हैं। अपनी भूख, प्यास और थकान दूर कर सकते हैं। यहां की डीज़न गाफ़ स्ट्रीट पेरिस की वुलवार-डू मोपरनास और पूर्वी बर्लिन के उन्टर डेम लिन्डेन की बारबार याद दिलाती है। यहाँ रात्रि मनोरंजनों की कोई कमी नहीं है।

रिहोवोथ से तेल अवीव जाते समय एक स्थान, जो कि इजराइल के मध्य क्षेत्र की राजधानी है, **रामला** नाम से विख्यात है। यह आधुनिक इजराइल का एकमात्र स्थान हैं जिसकी स्थापना अरबों ने 716 ई. में की थी। यह स्थान द्वितीय विश्व युद्ध के समय,

यहूदियों को बर्बरता पूर्वक गैस चैम्बर में, मारने वाले **नाजी,** हिटलर सहयोगी, **ऐडोल्फ आइखमान** को फांसी दिए जाने के कारण विख्यात है।

इजराइल की राजधानी जेरूशलम (येरुशलोम) यहूदियों का राजनैतिक केंद्र ही नहीं वरन आध्यात्मिक और धार्मिक केंद्र है। यहीं पर पुराकाल में भविष्यवाणियाँ और युद्ध हुए थे। ऐब्राहेम के काल से ही यह केंद्र **सालेम** के नाम से विकसित होता रहा है—पर राजा-सोलमन के युग में, इसका चरम उत्कर्ष काल रहा है। इसके उत्तर की प्राचीर का निर्माण **सम्राट सोलमन** ने कराकर **यहोवा के मंदिर** की स्थापना की पर 587 ई. पू. बेबीलोन के सम्राट **नेबूयादनेजार** ने इसको पूर्णतः ध्वस्त कर बेबीलोन के साम्राज्य के अंतर्गत कर लिया था। यहूदियों ने पुनः विजय प्राप्त कर बेबीलोन के हाथ से इस अध्यात्मिक केंद्र को मुक्त कर, इस घटना के स्मरण हेतु दूसरे मंदिर की स्थापना की। यह यहोवा का मंदिर रोमन **सम्राट टाइटस** द्वारा 70 ई.पू. में पुनः पूर्ण रूप से नष्ट कर दिया गया। जेरूशलेम रोमन्स, यूनानियों, ईरानी और मसीहियों के हाथ आता रहा पर यहूदी सदा संघर्षशील थे और बारम्बार इसे स्वतंत्र कराते रहे। वर्तमान काल में भी यह संघर्ष-स्थल है ही।

ज्यूइश क्वार्टर में प्रवेश, इस शहर के मुख्य द्वार जाफा गेट से किया जा सकता है। यहां पर पुराने **सिनोगॉगस** हैं जिन पर 6 दिनों के युद्ध में संघर्ष के बाद यहूदियों ने अधिकार किया था। सर्व प्राचीन **रामवान सिनोगाग** है जिसमें अब प्रार्थनाएं करीब 1000 साल बाद शुरू हुई हैं। **ये सिनोगॉगस-इजराइली स्थापत्य के प्रतीक हैं।**

पश्चिमी द्वार-जियान गेट से प्रवेश करने पर आरमेनियन क्वार्टर्स में पहुंचा जा सकता है, इसके वासी आरमेनिया (रूस) से 5वीं शताब्दी में आए। सेन्ट जेम्स का चर्च बहुत विशाल और आरमेनियन कला का प्रतीक है। क्रिश्चियन क्वार्टर्स में प्रवेश देमेस्कश गेट या जाफा गेट से किया जा सकता है और अन्य चर्चो को देखते हुए भी सर्वप्राचीन, **चर्च आफ होली सेपलचर** जो कि रोमन सम्राट कांन्सटेसटाइन द्वारा 4 थी, शताब्दी में बनाया गया था दर्शनीय है। मोसलिम क्वार्टरस में प्रवेश करने के बाद लगता है कि वास्तव में यह क्षेत्र परम विशाल है। इसी क्षेत्र में बाजार-मस्जिदें और अरब 'गह-वे-खाने' है जहां पर आप हुक्का भी गुड़गुड़ा सकते हैं, भुना मुर्ग खा सकते हैं, अरबिक नृत्य देख सकते हैं और नमांज भी पढ़ सकते हैं। ये बाजार-चादर दिवारियों से युक्त तथा छतों से युक्त होते हैं। दूकानें अंदर है। आप ऊंट पर चढ़कर जेरूशलम देख सकते हैं नहीं तो वैसे ही घूम सकते हैं।

जेरूशलेम के दर्शनीय स्थलों में **सम्राट डेविड की कब्र, सीनेट** (**पार्लियामेन्ट**) **इजराइल म्यूजियम** और **याद-वांशेम** हैं।

याद-वांशेम यहूदियों का परम धार्मिक स्थल है जहां पर 60 लाख यहूदियों की याद में जो द्वितीय विश्वयुद्ध में, यातना के शिकार हुए थे, एक दीप सतत-जलता रहता है। यहीं पर संयुक्त राष्ट्र संघ की ओर से संघर्षरत यहूदियों की लौह निर्मित प्रतिमाओं को

देखा जा सकता है। इसी स्थल से थोड़ी दूरी पर पहाड़ियों पर लगे 60 लाख साइप्रेस के वृक्ष इसी याद को जीवित रखने हेतु लगे हैं।

थोड़ी ही दूर पर विख्यात **डेड-सी स्क्रोल म्यूजियम** है। जिसमें चमड़े और पर्चमेन्ट पर (अरामिक लिपि में) लिखी वाइविल के पन्ने है। ये बहुत ही सुरक्षा से रखे हैं और इसको हर पर्यटक इजराइल जाने पर देखता है। पाण्डुलिपियां एक गडरिये द्वारा डेड-सी (मृत-सागर) की पहाड़ियों की गुफाओं से प्राप्त की गई थीं।

जेरूशलम से आगे चलने पर **हिब्रान** की पहाड़ियां शुरू हो जाती हैं और **बेथलेहम** की ओर जाने वाले पथ पर ही **राखेल की कब्र** है। ये जैकोव (याकूब) की पत्नी थी जो यहूदियों और मुसलमानों के पूज्य हैं। कब्र बड़ी ही भव्य है और 1847 में इसका जीर्णोद्धार सर मोज़ेज़ मोन्टीफोर ने कराया था।

बेथलेहम जिसके हिब्रू में शाब्दिक अर्थ हैं, ''रोटीओं का गृह'' यह इंगित करता है कि वह वास्तव में उपजाऊ भाग रहा है। यह चारों ओर से जूड़ा की पहाड़ियों से घिरा हैं और पूर्व की ओर जाने पर मृत-सागर का रास्ता शुरू हो जाता है।

वेथलेहम में ही ईसामसीह ने जन्म लिया था। परम श्रद्धालु ईसाई यहां पर **चर्च आफ नेटीविटी** को देखने जाते हैं। जो कि सबसे पुराना ईसाई गिरजा-घर है। इसकी सबसे विलक्षण बात है इसकी शीशे की छत जो कि आगे से भी ध्वस्त नहीं की जा सकती। यहीं पर वह स्थल है जहां मसीहा पैदा हुए थे, और एक सुंदर तैल- चित्र है जो कि काफी प्राचीन बताया जाता है—इसमें ईसा अपनी मां की गोद में हैं। गिरजा-घर एक किला सा लगता है और हर साल क्रिसमस पर यहां के धार्मिक पाठ के दृश्य, सारे विश्व में टेलीविजन के माध्यम से दिखाए जाते हैं।

बेथलेहम और जेरूशलम के बीच (जेरूशलोम से 13 किमी. पर) सम्राट सोलामन के तालाब हैं। इन तीनों तालाबों में झरनों का पानी एकत्र होकर नहर द्वारा जेरूशलम लाया जाता था—ये पत्थरों के बने जलाशय विशाल और सुदृढ़ हैं और काल के थपेड़ों को सहते आज तक सुरक्षित है।

वेथलेहम से जेरूशलम आकर फिर हेब्रान की यात्रा प्रारंभ होती है। हेब्रान अरबिक में **एल-खलील** के नाम से विख्यात है। यह इजराइल का सबसे ऊंचाई पर बसा शहर है (926 मी. समुद्र तट से) यहां पर मुसलमानों का बाहुल्य है और यहीं पर हेब्रान-ग्लास बनते हैं जो अपनी सुंदरता के लिए बहुचर्चित हैं। हेब्रान में परंपरानुसार आदम और हौवा, एब्राहीम और सारा, इज़ाक और रेबेका तथा जैकोव और लीह की कब्रें हैं।

यात्रा थका देने वाली थी, पर जेरूशलम में हीरों की दूकानों की चकाचौंध थकान दूर करा देती थी। होटल में रात्रि बिताई और दूसरे दिन पुनः लंबी यात्रा जिसमें जेरीखो, डेड-सी., एनगिडी, बेरशीवा एवं मसादा को देखने का प्रोग्राम था, पर चल पड़ा। इजराइल के इतिहास में यह क्षेत्र हर दृष्टि से महत्वपूर्ण है और यहूदियों ने अस्तित्व की रक्षा हेतु कई बार यहां पर संघर्ष कर अपनी तथा परंपराओं की रक्षा की है।

अधिक उपज के लिए वाहित-मल का उपयोग*

राधेश्याम शर्मा

घरेलू और औद्योगिक बेकार पानी को अक्सर ऐसे ही नदी नालों में बहा दिया जाता है या खेती में सिंचाई के काम में लाया जाता है। विदेशों में पर्याप्त उपचार के बाद ही इसका उपयोग किया जाता है। हमारे देश में भी कहीं-कहीं, पूर्ण या आंशिक रूप से उपचारित वाहित मल प्रयोग किया जाता है।

बिना उपचार के वाहित-मल को नदी नालों में बहा देने से जल-प्रदूषण की समस्या खड़ी हो जाती है, क्योंकि हमारे देश में अभी भी अधिकांश जनता इस नदी नालों के पानी से ही अपनी दैनिक आवश्यकताओं को पूरा करती है। पानी दूषित होने के कारण लोग बीमारियों के शिकार हो जाते हैं। लेकिन भारतीय परिस्थितियों में उपचार संभव नहीं है, क्योंकि मल उपचार संयत्र बहुत जटिल और महंगे होते हैं। इन्हें चलाने के लिए प्रशिक्षित कर्मचारियों का नितांत अभाव है तथा उनके रख-रखाव और देखभाल पर काफी अधिक खर्च करना पड़ता है। ऐसी हालत में हमारे सामने एक ही रास्ता रह जाता है कि इस महत्वपूर्ण और बहुमूल्य आर्थिक स्रोत का किस प्रकार उपयोग किया जाए कि इससे मिलने वाला पानी और उर्वरक बेकार न जाए और साथ ही जनस्वास्थ्य के खतरों को भी टाला जा सके। रेगिस्तानी इलाकों में, जहां खेती क्या पीने के पानी की भी बहुत अधिक कमी होती है, जल के सभी असंभव स्रोतों को विकसित कर उनका पूरा-पूरा उपयोग करना बहुत जरूरी हैं। खेती के लिए वाहित-मल का उपयोग एक सस्ता और लाभदायक साधन है।

अनुपचारित या आंशिक रूप से उपचारित वाहित-मल भारत में सदियों से सिंचाई के काम में लाया जाता रहा है। अक्सर वाहित-मल को बिना सोचे-विचारे खेतों में बहा दिया जाता है, जिससे न केवल उसके महत्वपूर्ण तत्वों की बल्कि मिट्टी को भी हानि होनी है तो दूसरे, अनुपचारित वाहित-मल में अनेक रोगकारक तत्व होते हैं, जो खेतों में काम

* खेती, मार्च 1980

करने वाले लोगों के स्वास्थ्य के लिए तो खतरा पैदा कर ही सकते हैं साथ में वे लोग भी अनेक रोगों के शिकार हो सकते हैं जो कच्चे वाहित-मल से सींची गई फसलों को खाते हैं।

जनस्वास्थ्य संबंधी खतरों तथा भूमि को कुप्रभाव से बचने के लिए वाहित-मल में उचित मात्रा में पानी मिलाकर सिंचाई कर प्राकृतिक उपचार विधि का सहारा लेना चाहिए, लेकिन पानी की कमी के कारण सभी शहरों में ऐसा करना संभव नहीं होगा। दूसरे, जल के प्राकृतिक स्रोत, नदी-नालों में बारहों माह पानी नहीं रहता।

जलवायु, विशेष मिट्टी और फसल की आवश्यकताओं को देखते हुए यदि वाहित-मल की सिंचाई पर समुचित नियंत्रण रखा जाए तो जन-स्वास्थ्य संबंधी खतरों से बचा जा सकता है।

हमारे देश में वाहित-मल से सींचे जाने वाले इस समय लगभग 220 फार्म हैं। सर्वेक्षण से पता चलता है कि अधिकांश फार्मों का प्रबंध वैानिक ढंग से नहीं किया जाता। देखा गया है कि फसल को ध्यान में न रखकर आवश्यकता से अधिक वाहित-मल से सिंचाई की जाती है, जिससे पी का दुरुपयोग होता है और अनेक समस्यायें पैदा हो जाती हैं।

वाहित-मल उच्छिष्टों की सिंचाई क्षमता और पौधों के लिए उनसे प्राप्त होने वाले पोषक तत्वों के महत्व को देखते हुए भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद नई दिल्ली ने कृषि के लिए खारे पानी के यांत्रिकी अनुसंधान संस्थान (नीरी) नागपुर, (महाराष्ट्र) के वाहित-मल उपचार प्रभाग के अधीन वाहित-मल कृषि संबंधी समस्याओं पर अनुसंधान कार्य कर रहा है, ताकि उपज बढ़ाने के लिए वाहित-मल के उपयोगी तत्वों का सही-सही उपयोग किया जा सके और स्वास्थ्य पर भी बुरा असर न पड़ें।

उपरोक्त योजना के अंतर्गत नागपुर में गेहूं की अधिक उपज देने वाली किस्म पर चार साल तक प्रयोग किए गए। प्रयोगों में कच्चे (अनुपचारित) वाहित-मल, उसमें पानी मिलाकर पतले वाहित-मल के साथ रासायनिक उर्वरक मिलाकर अलग-अलग सिंचाई की गई और परिणामों की कुएं के पानी द्वारा सींची गई उपज से तुलना की गई।

कुएं के पानी की तुलना में अधिक उपज

प्रयोगों से जो परिणाम मिले हैं उनसे पता चला है कि सिर्फ कच्चे वाहित-मल में सिंचाई करने पर कुएं के पानी की तुलना में 47 प्रतिशत अधिक उपज प्राप्त हुई, जबकि वाहित-फल में सिर्फ पानी मिलाकर सिंचाई करने से अपेक्षाकृत कम उपज की प्रवृत्ति पाई गई। वाहित-मल और पानी को 1:05, 1:1, और 1:2 के अनुपात में मिलाकर सिंचाई करने से क्रमशः 45, 42 और 29 प्रतिशत औसतन अधिक उपज प्राप्त हुई। कुए के पानी के साथ साथ रासायनिक उर्वरकों की आवश्यकता मात्रा के प्रयोग से उपज में औसतन वृद्धि 68 प्रतिशत थीं।

गाढ़े (बिना पानी मिलाए) और 1:05, 1:1 और 1:2 के अनुपात में वाहित- मल और पानी के साथ नाइट्रोजन, फास्फोरस और पोटाश की निर्धारित मात्रा मिलकार आवश्यकतानुसार सिंचाई करने से सादे पानी की सिंचाई द्वारा ली गई फसल की तुलना में क्रमशः 97, 111, 112, और 120 प्रतिशत अधिक गेहूं पैदा हुआ। उपज में यह वृद्धि समान परिस्थितियों में उर्वरकों के प्रयोग द्वारा ना.फा. पो. की आवश्यक खुराक से प्राप्त फसल के समान था उससे अधिक थी। चावल और मूंग आदि अन्य फसलों पर अनुसंधान किया जा रहा है।

यह देखा गया है कि वाहित-मल में पौधों के पोषक तत्व (ना.फा.पो.) आवश्यक अनुपात अर्थात् 5:3:2: या 3 में नहीं पाए जाते इसलिए अधिक उपज के बिना वाहित-मल में पोषक तत्वों की कमी को रासायनिक उर्वरक द्वारा पूरा करना जरूरी हो जाता है। अब तक प्राप्त परिणामों के अनुसार वाहित-मल में उपलब्ध नाइट्रोजन, पोटाशियम उर्वरकों विशेषकर फास्फेटधारी उर्वरक के प्रयोग द्वारा बढ़ाकर अधिक उपज प्राप्त की जा सकती है। अगर वाहित-मल और पानी 1:05 और 1:1 के अनुपात में मिलाकर उर्वरकों के साथ प्रयोग किया जाए तो न केवल पौधों का संतुलित विकास होगा, जिससे अधिकतम उपज प्राप्त होगी बल्कि वाहित-मल में उपलब्ध और पौधों के पोषक तत्वों का सदुपयोग हो सकेगा और जीव-पदार्थ, लवण और सोडियम के अधिक क्षेत्र में प्रसार के कारण मिट्टी को हानि पहुंचाने वाले संभावित कुप्रभावों को भी रोका जा सकेगा।

अब प्रश्न उठता है कि क्या कोई ऐसा मानदण्ड है जिससे मालूम हो सके कि कितने वाहित-मल से कितनी बार और कब-कब सिंचाई की जाए?

भारत एक विशाल देश है जिसे जलवायु की विभिन्नता के कारण विभिन्न परिस्थितियों का सामना करना पड़ता है, दूसरे, यहां अनेक प्रकार की मिट्टियां पाई जाती है, इसलिए वाहित-मल का उपयोग में लाने से पहले हमें मालूम होना चाहिए कि किस प्रकार का वाहित-मल, कितनी मात्रा में उपलब्ध हो, मिट्टी कैसी हो, कौनसी फसल उगायी जा रही है और उसके लिए कितने पानी की और कब-कब आवश्यकता होगी, स्थान विशेष की जलवायु कैसी है तथा खेत में नालियों आदि की सुविधा है या नहीं आदि, आदि।

वाहित मल का उपयोग संतुलित मात्रा में

वाहित-मल काफी मात्रा में आसानी से मिल जाता है इसलिए अधिक उपज के लालच में किसान उसका अधिक से अधिक उपयोग करना चाहता है। इस प्रवृत्ति को प्रोत्साहन नहीं देना चाहिए क्योंकि आवश्यकता से अधिक वाहित-मल की लगातार सिंचाई से लवण और सोडियम की मात्रा जरूरत से ज्यादा होने के कारण मिट्टी के छेद बंद हो जाते हैं जिससे हवा के आर-पार जाने में कठिनाई होती है, लवणीयता और क्षारीयता की समस्याएं पैदा हो सकती हैं, और मिट्टी बीमार हो जाती है; नैतिक, रासायनिक और जीव

रासायनिक परिवर्तनों के कारण पैदावार भी अपेक्षाकृत कम होने की संभावना रहती है। इसलिए सिंचाई सिर्फ उतनी ही उसी समय करनी चाहिए जब आवश्यक हो। पौधों की बढ़ोतरी के समय सिंचाई कम कर देनी चाहिए और फसल पकने के लगभग एक महीने पहले अगर वाहित-मल की सिंचाई बंद कर दी जाए तो ऐसे कार्मो में उगायी गई फसलों से किसी प्रकार की हानि होने की संभावना बहुत कम होती है।

वाहित-मल कृषि की सफलता-असफलता काफी कुछ स्थान विशेष के तापक्रम और वर्षा पर निर्भर करती है, साल में कुल कितनी वर्षा होती है और पूरे वर्ष में किस समय कितनी वर्षा होती है, यह बात भी वाहित-मल की सफलता का आधार है। अच्छी फसल के लिए जरूरी है कि औसत वर्षा कम से कम 20-30 इंच हो और पूरे साल समान रूप से होती रहे तभी वाहित-मल से ज्यादा से ज्यादा फायदा उठाया जा सकता है।

अहमदाबाद, इलाहाबाद, कानपुर, नागपुर, पूणे, मदुराई और हैदराबाद स्थित फार्मो के सर्वेक्षण से पता चला है कि वाहित-मल के लिए रेतीली दुमट मिट्टी सबसे ज्यादा और मटियारी मिट्टी सबसे कम उपयुक्त होती है।

सफल परिणाम

क्या सभी प्रकार की फसलों को वाहित-मल से खींचना जन-स्वास्थ्य की दृष्टि से उचित है? देखा गया है कि प्रायः ऐसे खेतों में सभी प्रकार की फसलें उगायी जाती हैं, लेकिन सब्जियां उगाने का प्रचलन अधिक है।

संस्थान के औद्योगिक अपशिष्ट प्रभाग के वैज्ञानिकों द्वारा केंद्रीय जेल, नागपुर में स्थापित गोबर तथा मल-उपचार संयंत्र से प्राप्त उच्छिष्टों का खेती के लिए उपयोग किया गया और देखा गया कि सादे पानी की तुलना में हरी सब्जियों की काफी अच्छी और अधिक फसल प्राप्त की जा सकती है। प्रयोगो के परिणामों से यह भी पता चला कि वाहित-मल उच्छिष्टों से उगायी गई गांठ गोभी सादे पानी से उगाई गई फसल से लगभग 5 गुनी बड़ी और भारी थी।

वैसे तो उपलब्ध जानकारी के अनुसार अभी तक हमें इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिला है कि वाहित-मल या इससे दूषित पानी से सींची गई फसलों और उनको खाने वाले लोगों के आंत्र रोगों और महामारियों में कोई सीधा संबंध है। लेकिन वाहित-मल में अनेक परोपजीवी, रोगाणु और विषाणु पाए जाते हैं। इसलिए ऐसी सब्जियां या फसलें जिन्हें कच्चा ही खाया जाता है। जैसे टमाटर, मिर्च आदि, वाहित-मल से नहीं सींची जानी चाहिए। पकाकर खाई जाने वाली फसलों जैसे खाद्यान्न, दालें और कपास, गन्ने आदि के लिए वाहित-मल की सिंचाई से कोई हानि नहीं है। जमीन से काफी ऊंचे रहने वाले फल भी ऐसे फार्मो में उगाए जा सकते हैं, पशुओं का चारा और घास भी उगाया जा सकता है। राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी अनुसंधान संस्थान, नागपुर में किए गए प्रयोगों से सिद्ध हो गया है कि **वाहित-मल से सिट्रोनैला** और **मेन्था** जैसे घास उगाकर काफी विदेशी

मुद्रा बचाई जा सकती है। इनसे मिलने वाला तेल भारी मात्रा में हम विदेशों से आयात करते हैं। वाहित-मल में उपस्थित क्लीफार्म तथा अन्य रोगकारक जीवाणु फलों के स्वस्थ छिलकों और पौधों की जड़ों के अंदर नहीं जा सकते। सब्जियों को 60 डिग्री सें.ग्रे. तापमान पर गर्म पानी में 10-30 मिनट तक डुबाकर रखने से दूषित होने से बचाया जा सकता है।

सब्जियों के अलावा वाहित-मल से बिना कुछ खर्च किए आप अपने आंगन में सुंदर, खुशबूदार फूल भी उगा सकते है। फिर इन फूलों से आप देवता के लिए सुंदर हार बनाएं या प्रियतमा की मनमोहक वेणी का महकता गजरा। लेकिन ध्यान रहे रंग-बिरंगी मुस्कराती कलियों का राज अगर खुल गया तो सुर और सुंदरी दोनों ही आपसे रुष्ट हुए बिना नहीं रहेंगे। नागपुर (महाराष्ट्र) के बाजारों में बिकने वाले ढेरों फूल अधिकतर वाहित-मल की उपज होते हैं।

अधिकतर वाहित-मल से सींचे जाने वाले खेतों में सालभर लगातार फसलें उगायी जाती हैं जिससे भूमि की उर्वरा शक्ति कम हो जाती है। जिसे पुनः प्राप्त करने के लिए हर दूसरे या तीसरे साल दो या तीन महीने के लिए भूमि को परती छोड़ देना चाहिए। मार्च के महीने में फसल काटने के बाद गहरी जुताई करनी चाहिए। समय-समय पर ऊपरी सतह को खुरचते रहना चाहिए और फसल-चक्र तथा अंतराल कृषि प्रणाली को अपनाना चाहिए। सूखे क्षेत्रों में खेतों को थोड़े समय के बाद पानी से भर देना चाहिए और ज्यों-ज्यों वाहित-मल की मात्रा बढ़ती जाए उसके अनुसार कृषि क्षेत्र को भी बढ़ाते रहना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं कि **वाहित-मल से सिंचाई के लिए पानी और फसल के लिए आवश्यक पोषक तत्व मिलते हैं।** जिनसे पैदावार बढ़ती है और अतिरिक्त राजस्व प्राप्त होता है। इसे सिंचाई के काम में लाने से इसके निपटान की समस्या हल हो जाती है। स्वतः शुद्धिकरण की प्रक्रिया के परिणामस्वरूप मक्खी, मच्छर और दुर्गन्ध से छुटकारा मिलता है और प्रदूषणकारी तत्वों का विघटन होता है। वाहित-मल से मिट्टी में जीव-पदार्थ की वृद्धि होती है जिससे उसकी संरचना में सुधार होता है। जीवाणु, शैवाल, फफूंद, प्रोटोजोआ अनेक प्रकार के कृमि, घोंघे और अन्य कीटाणु जैव पदार्थ को पौधों के भोजन में बदल सकते हैं। यह भी कहा जाता है कि वाहित-मल में गन्धक, मैगनेशियम, सोडियम, लौह, आयोडीन, बोरोन, मैगनीज, तांबा और जस्ता भी होता है जिससे जड़ों के विकास, तने की लंबाई बढ़ने और फलों के पकने में सहायता मिल सकती है।

भारतीय परिस्थितियों में जल प्रदूषण नियंत्रण का यह सस्ता और आसान तरीका है।

उपरोक्त अनेक लाभों को देखते हुए वाहित-मल से होने वाले जनस्वास्थ्य संबंधी खतरों और भूमि की क्षति को आसानी से पूरा किया जा सकता है। मिट्टी को वाहित-मल के कुप्रभाव से बचाने का उचित उपाय ऊपर बताया जा चुका है।

खेत में काम करने वाले लोग जिनका वाहित-मल से सीधा संपर्क रहता है यदि स्वास्थ्य नियमों का सावधानी से पालन करें, अर्थात काम करने के बाद सफाई का ध्यान रखें, हाथ-पांव धोने के लिए पानी में रोगाणुनाशक (एन्टीसेप्टिक) पदार्थों का प्रयोग करें, समय-समय पर डॉक्टरी जांच कराते रहें और टीके आदि लगवाते रहें तथा गम-बूट और दस्ताने पहनकर काम करें तो रोगों से काफी बचाव हो सकता है।

रासायनिक उर्वरकों की कमी और सूखे की स्थिति के कारण देश की वर्तमान खाद्य समस्या को देखते हुए यदि कुशल फार्म-प्रबंध द्वारा वाहित-मल से मिलने वाले पानी और पौधों के पोषक तत्वों का सही-सही उपयोग किया जाए तो हानि की अपेक्षा लाभ अधिक होगा और देश आत्म-निर्भरता की ओर बढ़ सकेगा।

व्यक्तित्व

भारतीय पशुचिकित्सा विज्ञान के जनक सालिहोत्र*

डॉ. रमेश सोमवंशी

सालिहोत्र, वैदिक काल के उस महान व्यक्ति का नाम है, जो कि प्राचीन भारत के महानतम् पशुचिकित्सा विद्वान थे। उनके कार्यों के फलस्वरूप उन्हें पशु चिकित्सा विज्ञान का पिता भी कहा जाता है। सुप्रसिद्ध अमरीका पशुचिकित्सा विज्ञान इतिहासकार **डॉ. जे. एफ. स्मिथकोर** (1959) के अनुसार, 'सालिहोत्र विश्व के सर्वप्रथम ज्ञात पशुचिकित्साविद् हैं, इनसे पूर्व किसी भी पशु चिकित्सा शास्त्री का नाम किसी भी ग्रंथ में उल्लेखित नहीं है।" सालिहोत्र ने ही सर्वप्रथम अश्व चिकित्सा पर उच्चस्तर का कार्य किया था। सालिहोत्र के महान व्यक्तित्व तथा कृतित्व का इस बात से अनुमान लगाया जा सकता है, कि उनके पश्चात भारत में पशुचिकित्सकों को 'सालिहोत्रिया', 'सालोत्री', 'सालिस्त्री' आदि नामों से पुकारा जाता था। ये सभी शब्द 'सालिहोत्री' शब्द के ही अपभ्रंश हैं। यदि सालिहोत्र पर पश्चिमी लेखकों ने न लिखा होता तथा उनकी भूरि-भूरि प्रशंसा नहीं की होती, तो संभवतः हम भारतीय उनके नाम को भी नहीं जानते।

सालिहोत्र का जीवन

ऐसा कहा जाता है, कि सालिहोत्र एक ब्राह्मण संत हयघोष के पुत्र थे तथा वे श्रावस्ती नामक स्थान (जो कि उत्तर प्रदेश के गोंडा तथा बहराइच जिलों की सीमा पर स्थित है) के निवासी थे। कुछ अन्य विद्वानों के अनुसार, सालिहोत्र कंधार के समीप सालातूर नामक स्थान के रहनेवाले थे, सालिहोत्र तथा अग्नीवेष एक ही गुरू के शिष्य भी बताए जाते हैं। सालिहोत्र का जन्मकाल निर्धारित करना बहुत कठिन कार्य है। परंतु ऐसा अनुमान है, कि वे 2350-1200 ई. पू. में किसी समय हुए होंगे। डॉ. स्मिथकोर का कहना है, कि संस्कृत बोलनेवाले आर्यों के भारत पर आक्रमण तथा वैदिक काल के प्रारंभ का समय ही सालिहोत्र का काल होगा। डॉ. स्मिथकोर इसे लगभग 1500 ई. पू. मानते हैं।

* वैज्ञानिक, जुलाई-सितम्बर 1980

सालिहोत्र के कार्य

सालिहोत्र मुख्य रूप से 'अश्व विशेषज्ञ' थे, उन्होंने अश्वों पर ही लेखन कार्य किया था। अश्वों के रोगों की चिकित्सा उनका प्रिय विषय था। सालिहोत्र ने इन विषयों पर संस्कृत में तीन ग्रंथ लिखे थे, **'हय आयुर्वेद'**, **'अश्वप्राशन'** एवं **'अश्व लक्षण शास्त्रम्'** इन तीनों ग्रंथों में 'हय आयुर्वेद' सर्वप्रसिद्ध ग्रंथ माना गया है तथा इसे 'तुरंगमा शास्त्र', 'सालिहोत्र संहिता' आदि नामों से भी जाना जाता है। कहते हैं, कि वर्तमान समय में सालिहोत्र का केवल यही ग्रंथ प्राप्य है। 'हय आयुर्वेद' में अश्वों की देखभाल तथा चिकित्सा का विस्तार से वर्णन है। आधुनिक विद्वानों ने इसे प्राचीन काल का उच्चतम स्तर का कार्य माना है। विशाल अश्वचिकित्सा ग्रंथ में 120002 श्लोक हैं। तथा संपूर्ण ग्रंथ को आठ भागों में विभाजित किया गया है। ग्रंथ के प्रत्येक भाग में एक विशिष्ट विषय का ही वर्णन है। हय आयुर्वेद के कुछ अध्याय तो अग्नि, मत्स्य एवं गरुड़ पुराणों में उल्लेखित हैं एवं सालिहोत्र के इस कार्य का कालांतर में फारसी, अरबी, तिब्बती, अंग्रेजी आदि भाषाओं में अनुवाद हुआ, जिससे उनकी ख्याति संपूर्ण विश्व में 95वां तत्व कृत्रिम रूप से अमेरिका में बनाया गया अतः उसे अमेरिशियम नाम दिया गया। 98वां तत्व कृत्रिम रूप से केलीफोर्निया विश्वविद्यालय में बनाया गया था अतः उसका नाम कैलीफोर्निया पड़ा।

गुणों के आधार पर

पिछले हिस्सों में हमने पढ़ा कि कुछ तत्वों का नाम आविष्कारकों के सम्मान में रखा गया, तो खोजी विज्ञानियों ने अपने राष्ट्र के सम्मान में कुछ का नामकरण उसी आधार पर किया। दुनिया के कुछ हिस्सों में पौराणिक पात्र ही नामकरण के आधार हुए। अब हम कुछ ऐसे तत्वों की बात बताते हैं जिनका नामकरण उनके गुणों के आधार पर किया गया है।

फ्रांसीसी भाषा के शब्द हाइड्रोजन (पानी बनाने वाला) के आधार पर प्रथम तत्व का नाम हाइड्रोजन पड़ा। वास्तव में हाइड्रोजन, आक्सीजन के साथ मिलकर पानी बनाता है।

तीसरे तत्व का नाम ग्रीक शब्द लिथॉस (पत्थर) के आधार पर लीथियम पड़ा। 6वें तत्व यानी कार्बन का नामकरण लेटिन शब्द कार्बो (कोयला) के आधार पर किया गया है। वस्तुतः कोयला, ग्रेफाइट, काजल हीरा सभी कार्बन के ही रूप होते हैं।

8वें तत्व का नाम फ्रान्सीसी शब्द आक्सीजन (अम्ल बनाने वाला) के आधार पर किया है। ऐसी बात नहीं कि सभी अम्ल आक्सीजनयुक्त होते हैं कुछ आक्सीजन रहित अम्ल भी ज्ञात हैं।

ग्रीक शब्द फॉस्फोरॉस (प्रकाशयुक्त) के आधार पर 15वें तत्व का नाम फास्फोरस पड़ा। फास्फोरस की उपस्थित के कारण ही हड्डियां आदि अंधेरे में कभी कभी चमक उठती है।

17वें तत्व क्लोरीन का नामकरण ग्रीक शब्द क्लोरॉस (हक्ल-हरा) के आधार पर किया गया है क्योंकि इसका रंग हरा होता है। 20वें तत्व कैल्सियम का नाम लेटिन शब्द कैल्सिस के आधार पर रखा गया है जिसका अर्थ होता है चूना। 24वें तत्व क्रोमियम का नाम ग्रीक शब्द क्रोमा (रंग) पर पड़ा है वास्तव में यह तत्व रंजक बनाता है।

लेटिन शब्द रूबिडस (लाल) के आधार पर 37वें तत्व का नाम रूबिडियम रखा गया है। दरअसल वर्णक्रम में यह लाल रेखाएं देता है। ग्रीक शब्द मोलिब्डॉस अर्थात् सीसा के नाम पर 42वें तत्व का नाम मोलिब्डेनम पड़ा।

45वें तत्व सोडियम के साल्ट (लवण) गुलाबी रंग के होते हैं अतः ग्रीक शब्द रोडॉन के आधार इसे रोडियम कहा गया। रोडान का अर्थ होता है गुलाब जैसा। 49वें तत्व के वर्णक्रम में नीले रंग (इंडिगो) की रेखाएं देखी गई थीं अतः इसी आधार पर इसका नाम इंडियम पड़ा।

ग्रीक शब्द सीजियस (नीला) से 55वें तत्व को सीजियम कहा गया क्योंकि इसके वर्णक्रम में नीली रेखाएं दिखाई पड़ती हैं। ग्रीक शब्द बैरिस (भारी) 56वें तत्व को बैरियम, लैंथेनाई (ध्यान में न आना) से 57वें तत्व को लैंथनम और ऑसमे (सुगंध) से 76वें तत्व को ऑसमियम कहा गया।

लेटिन शब्द इरिडिस (इंद्रधनुष) के आधार पर 77वें तत्व को इरीडियम कहा गया क्योंकि इससे कुछ यौगिकों के घोल इंद्रधनुषी छटा (रंगदीप्ति) उत्पन्न करते हैं।

लेटिन शब्द रेडियस (किरण) के आधार पर 88वें तत्व को रेडियम नाम दिया गया क्योंकि इससे अदृश्य रेडियोधर्मी किरणें निकलती हैं।

27

हमें प्यास क्यों लगती है?*

सुभाष लखेड़ा

हमें प्यास क्यों लगती है? क्या आप जानते हैं कि इस छोटे से दिखने वाले प्रश्न का उत्तर खोजने में वैज्ञानिकों को दो हजार से अधिक वर्षों का समय लगा।

यह एक संयोग की बात है कि पृथ्वी का दो तिहाई भाग जल है और मनुष्य के शरीर में भी भार की दृष्टि से दो तिहाई भाग जल है। शरीर में जल मुख्यतः दो भागों में बटा रहता है : कोशीय जल तथा बाह्य कोशीय जल। कोशीय जल कुल शारीरिक भार का चालीस प्रतिशत तथा बाह्य कोशीय जल का पांच प्रतिशत भाग प्लाज्मा में तथा पंद्रह प्रतिशत भाग अंतरालीय द्रव (इंटर-स्टिशियल फ्लूइड) के रूप में होता है।

सामान्यावस्था में व्यक्ति विशेष के शरीर में जितना जल होता है, यदि उसमें एक किलोग्राम की कमी आ जाए, तो तीव्र प्यास लगती है। दो किलोग्राम जल की कमी होने पर मुंह खुश्क हो जाता है। शारीरिक जल में तीन किलोग्राम की कमी हो जाने पर जबान लड़खड़ाने लगती है और जीभ सूज जाती है। पांच किलोग्राम या इससे अधिक जल की कमी शरीर के लिए अत्यंत हानिकारक साबित हो सकती है। मानव शरीर की रचना कुछ इस प्रकार की है कि हमें शरीर में आधा किलोग्राम पानी की कमी होते ही प्यास महसूस होने लगती है और हम तुरंत ही पानी पीकर इस को पूरा कर लेते हैं।

मनुष्य को प्यास क्यों लगती है, इस प्रश्न का उत्तर देने का प्रयत्न पश्चिमी जगत में सर्वप्रथम प्रसिद्ध **दार्शनिक-वैज्ञानिक हिप्पोक्रेट्स** ने किया था। उनका जन्म चार सौ साठ ईसवी पूर्व हुआ था। इनकी मान्यता थी कि जब मुंह सूखने लगता है तो प्यास लगती है। उनके पश्चात् **अरस्तू** ने आंतों में पानी की कमी को और **गैलेन** ने फेफड़ों तथा हृदय में हुए जलाभाव को प्यास लगने का प्रमुख कारण बताया।

गैलेन के पश्चात् लगभग 1600 वर्षों तक प्यास लगने के कारणों के विषय में कोई नई जानकारी उपलब्ध नहीं की जा सकी। सन् 1800 के बाद वैज्ञानिकों का ध्यान फिर एक बार इस समस्या की तरफ गया। **डूमास** नामक वैज्ञानिक ने सन् 1803 में एक शोध पत्र प्रकाशित किया था उसके अनुसार 'जब खून में पानी की कमी हो जाती है, तो वह

---

* वैज्ञानिक, जुलाई-सितम्बर 1980

गाढ़ा हो जाता है और खून का यह गाढ़ापन ही प्यास को जन्म देता है।'

सन् 1867 में शिफ नामक वैज्ञानिक ने प्यास के विषय में अपने विचार प्रकाशित किए। उनका कहना था कि 'जब मनुष्य के शरीर की कोशिकाओं तथा रक्त में जल की कमी हो जाती है, तब ही उसे प्यास महसूस होती है।'

शिफ के बाद एक लम्बे समय तक कोई अन्य महत्वपूर्ण जानकारी वैज्ञानिकों के हाथ न लगी। फिर सन् 1914 में **बोनियर** महोदय ने प्यास के विषय में कुछ रोचक बातें कहीं। उनका विचार था कि प्यास शरीर के किसी भी भाग में जल की कमी होने पर लग सकती है किंतु प्यास का नियंत्रण केंद्र मस्तिष्क के घ्राण पिंड में होता है।

सन् 1918 में वैज्ञानिक लेश्की ने प्यास के विषय में अपना शोध पत्र प्रकाशित कराया। उन्होंने बोनियर के विचारों को गलत बताया। उनका कहना था कि 'प्यास केंद्र' घ्राण पिंड के बजाय 'प्रमस्तिष्क प्रांतस्था' में होता है।
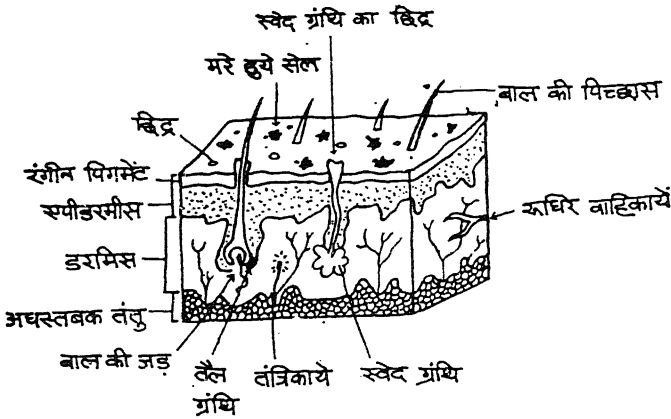
त्वचा का अति परिवर्द्धित चित्र

सन् 1930 तक भी प्यास के संबंध में कोई सिद्धांत स्थापित न किया जा सका। आखिरकार सन् 1937 में वैज्ञानिक **गिलमैन** ने अपने प्रयोगों के आधार पर कुछ ठोस बातें बताईं। उनका कहना था कि प्यास वास्तव में कोशिकाओं में पानी की कमी यानि कोशीय निर्जलीकरण के कारण लगती है। गिलमैन का यह कथन प्यास के कारणों को ढूंढ़ने में व्यस्त वैज्ञानिकों के लिए एक प्रकाश स्तम्भ साबित हुआ।

सन् 1938 में वैज्ञानिक **डिल** का शोध पत्र प्रकाशित हुआ। अब तक ज्ञात तथ्यों का निष्कर्ष निकालते हुए उन्होंने बताया कि प्यास उत्पन्न करने के लिए कोशीय रसाकर्षण दाब में वृद्धि तथा कोशीय निर्जलीकरण 'दोनों ही' संयुक्त रूप से जिम्मेदार हैं।

सन् 1938 के बाद से प्यास लगने के संबंध में अनेक ठोस बातें सामने आईं।
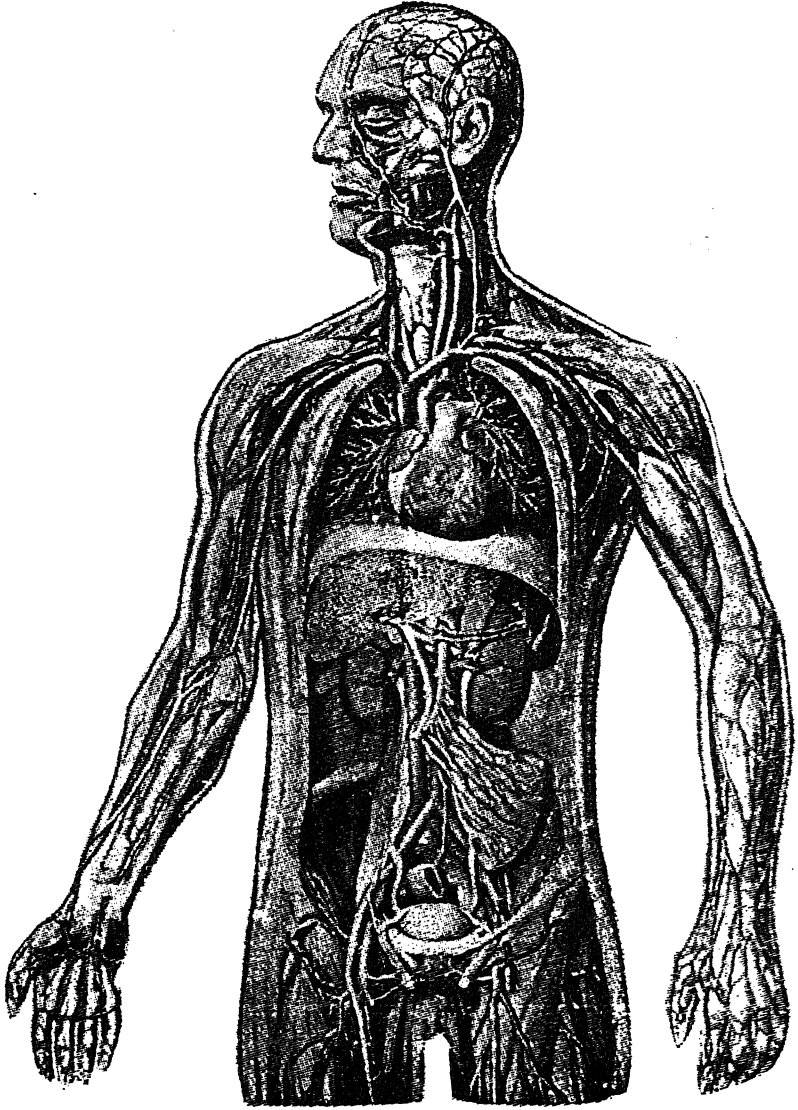
रक्त संचार मंडल : चित्र में हृदय, स्नायु, धमनियां और कोशिकाएं दिखाई गई हैं। ये सब मिलकर रक्त संचार मंडल को बनाते हैं। इस मंडल का यह काम है कि वह आक्सीजनधारी रक्त को शरीर के सभी भागों में पहुंचाए और कार्बन डाईआक्साइड तथा उपयोग होने के बाद शेष जल को शरीर से बाहर निकाले। रक्त संचार से ही शरीर का ताप संतुलित होता है और यही वह तंत्र है जो प्यास का कारण भी है, क्योंकि रक्त का तरल भाग जिसे प्लाज़्मा कहते हैं, में 90 प्रतिशत पानी होता है और केवल 7 प्रतिशत प्रोटीन तथा शरीर के लिए आवश्यक खनिज आदि होते हैं।

पिछले अनेक वर्षों में अनेकों वैज्ञानिकों ने प्यास के प्रक्रम को समझने में अपना अमूल्य योगदान दिया।

कोशीय निर्जलीकरण

अब तक की गई खोजों से निष्कर्ष निकलता है कि प्यास लगने के लिए कोशीय-निर्जलीकरण मुख्य रूप से उत्तरदायी है। यदि मनुष्य को नमक का गाढ़ा घोल पिला दिया जाए तो उसे तीव्र प्यास लगती है। दरअसल जब नमक की यह अतिरिकत मात्रा बाह्य कोशीय द्रव में पहुंचती है तो रसाकर्षण के कारण कोशिकाओं से जल बाह्य कोशीय प्रभाग में आने लगता है और कुछ ही देर में कोशीय निर्जलीकरण की स्थिति उत्पन्न हो जाती है। फलस्वरूप व्यक्ति को प्यास महसूस होने लगती है। कुछ वैज्ञानिकों का कहना था कि रसाकर्षण के कारण कोशिकाओं के अंदर सोडियम आयनों की सांद्रता में हुई वृद्धि भी प्यास को जन्म दे सकती है किंतु उनकी यह धारणा निर्मूल साबित हुई, चूंकि इक्षूशर्करा का गाढ़ा घोल पीने पर भी मनुष्य को प्यास लगती है जबकि इस स्थिति में सोडियम आयनों की सांद्रता में कोई परिवर्तन नहीं होता। अतः इस तथ्य की पुष्टि हुई कि कोशिकाओं के अंदर हुई जल की कमी ही प्यास की इच्छा को जन्म देती है।

वैज्ञानिकों का कहना है कि कोशीय निर्जलीकरण के कारण उत्पन्न प्यास को मस्तिष्क का एक क्षेत्र विशेष नियंत्रित करता है। यह क्षेत्र पूर्व दृष्टि-केंद्रक से लेकर अधश्चेतक (हाइपोथैवेमस) तक फैला हुआ है। इस क्षेत्र को 'प्यास केंद्र' कह सकते हैं। यदि इस क्षेत्र में अतिपरिसारी (हाइपरटानिक) नमक या शर्करा के घोल के इंजेक्शन लगा दिया जाए तो प्राणी को प्यास लग जाती है। यदि इस क्षेत्र में घाव कर दिया जाए तो प्राणी को कोशीय निर्जलीकरण के बावजूद प्यास महसूस नहीं होती है।

बह्यकोशीय निर्जलीकरण

बाह्यकोशीय कक्ष में कोशीय कक्ष की अपेक्षा कम पानी होता है। प्रयोगों से ज्ञात हुआ है कि बाह्यकोशीय निर्जलीकरण के अनुभव करने वाले संग्राहक हृदय तथा गुर्दे में होते हैं।

हृदय में मौजूद संग्राहकों को हृदासन्न संग्राहक कहते हैं। बाह्यकोशीय निर्जलीकरण के कारण रक्त के 'दाब तथा आयतन' में हुए परिवर्तनों को ये संग्राहक महसूस करते हैं। वैज्ञानिकों का कहना है कि ये संग्राहक जलाभाव की सूचना को वेगस अनुकंपी तंत्रिकाओं के माध्यम से मस्तिष्क स्थिति प्यास केंद्र को प्रेषित करते हैं।

जहां तक गुर्दों का प्रश्न है, जब इनमें मौजूद आसन्न कोशिका स्तवक उपकरण बाह्यकोशीय निर्जलीकरण के कारण रक्त दाब तथा आयतन में हुए परिवर्तनों को अनुभव करते हैं तो उनसे 'रैनिन' नामक एन्जाइम (किण्व) स्रवित होता है। रैनिन प्लाविका में मौजूद किण्व भोज से एंजियोटैनसिन-1 बनाता है जो बाद में एंजियोटैनसिन-2 प्यास की

अनुभूति को जन्म देता है और इसको अनुभव करने वाले संग्राहक केंद्रीय तंत्रिका तंत्र में होते हैं।

जल से वंचित रहने की अवस्था में कोशीय तथा बाह्यकोशीय दोनों ही तरह के जल में कमी आ जाती है। प्यास को जन्म देने के लिए दोनों ही तरह के निर्जलीकरण उत्तरदायी हैं। इन प्रयोगों के आधार पर कहा जा सकता है कि प्यास लगने का 75 प्रतिशत कारण कोशीय निर्जलीकरण और शेष 25 प्रतिशत बाह्यकोशीय निर्जलीकरण है।

हरितक्रांति का मसीहा : डॉक्टर नॉर्मन बोरलोग*

दिनेशचंद्र वर्मा

गत पंद्रह वर्षों से भारत में जिस हरित-क्रांति का नारा लगाया जा रहा है, उसका जनक कौन है? भारत जो सदियों से या तो भुखमरी से पीड़ित रहा या फिर अनाज के लिए दूसरे देशों से भीख मांगता रहा, आज अन्न उत्पादन में आत्मनिर्भर कैसे हुआ और इसका श्रेय किसको जाता है? क्या आप भारत को भुखमरी के इस अभिशाप से मुक्त करने वाले मसीहा का नाम जानना चाहते हैं? आपको यह जानकर शायद आश्चर्य होगा कि भारत में हरितक्रांति को जन्म देने वाला एक विदेशी था और उसका नाम था—**डॉ. नॉर्मन बोरलोग**। भारत ही नहीं अपितु संसार में कृषि के इतिहास में डॉ. बोरलोग का नाम स्वर्णाक्षरों में लिखा जाएगा। इसीलिए अक्तूबर 1970 में उन्हें नोबेल पुरस्कार से विभूषित किया गया था।

सन् 1963 में डॉ. बोरलोग ने भारत एवं पाकिस्तान की यात्रा की थी तथा इन दोनों देशों को उन्नत कृषि के उन तरीकों से परिचित कराया था, जोकि कृषि के क्षेत्र में डॉ. बोरलोग की ही देन है। अपनी इस यात्रा के दौरान उन्होंने भारत के कृषि अधिकारियों को चेतावनी दी थी : 'आप एक ज्वालामुखी पर बैठे हैं। पर जब आपके किसान रासायनिक खाद एवं उन्नत बीजों का चमत्कार देखेंगे तो वे आपको रासायनिक खाद के कारखानों तथा उन्नत बीज की सुविधाओं में वृद्धि के लिए मजबूर कर देंगे।'

सन् 1965 में भारत ने डॉ. बोरलोग द्वारा विकसित 300 टन गेहूं के बीज का आयात किया। इस बीज को सैकड़ों स्थानों पर बोकर किसानों को दिखाया गया। परिणाम बड़े ही आश्चर्यजनक निकले। डॉ. बोरलोग के इन बीजों की किसानों में मांग बढ़ गई। सन् 1966 में भारत ने अठारह हज़ार टन उन्नत किस्म के गेहूं के इस बीज का आयात किया। इस उन्नत किस्म के बीज के प्रयोग का एक चमत्कार पूर्ण परिणाम निकला और इस देश में हरितक्रांति शुरू हो गई। सन् 1965 में भारत में 120.30 लाख

* नवनीत, जुलाई 1982

टन गेहूं पैदा होता था, इस उन्नत बीज के प्रयोग से सन् 1970 में 200 लाख टन गेहूं पैदा होने लगा। इन दिनों हम गेहूं के उत्पादन में पूर्णयता आत्मनिर्भर हैं। इसके लिए हमें निश्चित ही डॉ. बोरलोग का आभारी होना चाहिए। डॉ. बोरलोग द्वारा विकसित गेहूं की इस उन्नत किस्म को हम मेक्सिकन गेहूं के नाम से जानते हैं। और इस मेक्सिकन गेहूं ने न केवल भारत में, अपितु पाकिस्तान सहित दक्षिण अमेरिका, एशिया एवं अफ्रीका के 35 से अधिक देशों में गेहूं के क्षेत्र में आत्मनिर्भरता का मार्ग प्रशस्त किया है। अनुमान है कि इन दिनों एक करोड़ हेक्टर भूमि में यह मेक्सिकन गेहूं बोया जाता है, जिससे कोई 75 लाख नर-नारियों को भोजन उपलब्ध होता है।

डॉ. बोरलोग ने गेहूं की इस उन्नत किस्म की खोज मेक्सिको स्थित 'अंतर्राष्ट्रीय मक्का एवं गेहूं उन्नति केन्द्र' में वर्षों तक लगातार प्रयोग करके की। इस अंतर्राष्ट्रीय केंद्र का संचालन मेक्सिको सरकार, फोर्ड एवं रॉकफेलर फाउंडेशन, संयुक्त-राष्ट्र विकास कार्यक्रम एवं इंटर-अमेरिकन डेवलपमेन्ट बैंक द्वारा संयुक्त रूप से किया जाता है। डॉ. बोरलोग इसी केंद्र में अत्यधिक धैर्यपूर्वक नित नए प्रयोग करते रहे, विभिन्न बाधाओं विशेषकर नौकरशाही अड़ंगों की उन्होंने परवाह नहीं की, फलस्वरूप आज वे मानव की सबसे बड़ी समस्या भूख का समाधान खोज पाए।

डॉ. बोरलोग के प्रयत्नों से ही मेक्सिको की याकी घाटी में स्थित 'मक्का एवं गेहूं उन्नति केंद्र' आज संसार का सबसे बड़ा एवं साधन संपन्न गेहूं-अनुसंधान केंद्र बन गया है। दुनिया के कोने-कोने से प्रति वर्ष सैकड़ों कृषि वैज्ञानिक इस केंद्र में प्रशिक्षण लेने पहुंचते हैं। एक मुस्लिम देश के कृषि स्नातक ने तो यहां तक कहा, 'मुसलमानों के लिए जो महत्व मक्का का है, गेहूं-उत्पादकों के लिए वही महत्व याकी घाटी का है।'

डॉ. बोरलोग ने कभी यह कल्पना ही नहीं की थी कि वह मानव जाति को भूख की चुनौती का सामना करने की शक्ति देनेवाले मसीहा बन जाएंगे। अमेरिका के ईओवा नामक ग्राम में सन् 1914 में जन्मे डॉ. बोरलोग अपने स्कूल की पढ़ाई छोड़कर किसान बनना चाहते थे। अपने दादा के आग्रह पर उन्होंने मिनीसोटा विश्वविद्यालय में प्रवेश लिया तथा 'प्लांट पेथोलाजी' में डिग्री प्राप्त की। इसके बाद वे एक रासायनिक कंपनी में नौकरी करने लगे।

सन् 1944 में राकफेलर फाउंडेशन ने उन्हें मेक्सिको के गेहूं और मक्का उन्नति केंद्र में प्रारंभ एक कार्यक्रम में नौकरी देने का प्रस्ताव किया। इस कार्यक्रम का उद्देश्य कृषि उपज में वृद्धि तो था ही, युवा वैज्ञानिकों को प्रशिक्षण भी देना था।

डॉ. बोरलोग ने मेक्सिको पहुंचकर गेहूं के बारे में नए प्रयोग शुरू किए। मेक्सिको शहर से 35 किलोमीटर उत्तर पूर्व में स्थित चेपिनगो के मैदान में 180 हेक्टर निरुपयोगी भूमि में डॉ. बोरलोग ने अपना प्रयोग प्रारंभ किया।

इस प्रयोग में उन्हें आशातीत सफलता मिली। उन्होंने मेक्सिको के किसानों को यह प्रयोग करके बताया कि वे कुछ रसायनों का प्रयोग करके भूमि की उर्वरा शक्ति को

काफी बढ़ा सकते हैं।

इन प्रयोगों के दौरान डॉ. बोरलोग को कई समस्याओं का सामना करना पड़ा। सबसे बड़ी समस्या सहयोगियों की थी। उन्हें जो सहयोगी मिले थे वे लकदक कपड़े पहिने रहते तथा खेतों में काम करना उन्हें पसंद नहीं था। इन सहयोगियों ने कई बार डॉ. बोरलोग से कहा कि मेक्सिको में शिक्षित व्यक्ति हाथों से काम नहीं करते हैं। पर डॉ. बोरलोग भी अपने धुन के पक्के थे। कृषि के विभिन्न उपकरण वे उसी तरह चलाते थे, जैसे वे एक साधारण किसान हों। डॉ. बोरलोग की मेहनत से मेक्सिको का याकी घाटी क्षेत्र ऐसा क्षेत्र बन गया, जहां मेक्सिको का सर्वाधिक गेहूं पैदा होता था। अब डॉ. बोरलोग ने एक नया प्रयोग शुरू किया। यह प्रयोग था साल में दो बार गेहूं की फसलें उगाने का। पहली फसल की बोआनी तो शीतकाल में की जाती है। दूसरी फसल की बोआनी का समय डॉ. बोरलोग ने मई के महीने का चुना। कृषि की पुस्तकों के अनुसार साल में गेहूं की दो फसलें होना असंभव है। सन् 1948 में डॉ. बोरलोग को इसमें सफलता मिली पर परिणाम संतोषजनक नहीं थे। पर सन् 1950 में वे अपने इस प्रयोग में सफल हो गए।

इसके बाद भी डॉ. बोरलोग गेहूं की उन्नत किस्मों की खोज में लगे रहे। जापान के एक गेहूं की किस्म को भी उन्होंने विकसित किया।

डॉ. बोरलोग द्वारा गेहूं की खेती के क्षेत्र में किए गए चमत्कारी प्रयोग से उनकी कीर्ति सारी दुनिया में फैल गई दुनिया के कई देशों ने उन्हें आमंत्रित किया तथा गेहूं की खेती के बारे में उनसे परामर्श लिया गया। कई विश्वविद्यालयों एवं संगठनों द्वारा उन्हें सम्मानित किया गया। सन् 1963 में डॉ. बोरलोग ने भारत एवं पाकिस्तान की यात्रा की थी। भारत सरकार ने उन्हें सम्मानित किया था। उनकी भारत यात्रा का परिणाम ही वह मेक्सिकन गेहूं है जो भारत के कोने-कोने में विपुल उत्पादन के लिए बोया जाता है।

इस तरह भारत ही नहीं दुनिया के सब देश जो भुखमरी एवं कुपोषण से पीड़ित रहे हैं; डॉ. बोरलोग के आभारी रहेंगे। अन्यथा आज जो जनसंख्या का प्रसार हो रहा है, उसे देखते हुए हमारा भविष्य कितना भयानक था, इसे हम भली भांति समझ सकते हैं। वस्तुतः डॉ. बोरलोग ने मेक्सिको की एक छोटी-सी घाटी में हरित-क्रांति का जो सूत्रपात किया, वह दुनिया में अनेक देशों में फैली और फली-फूली। भूखी मानवता पर उनका यह उपकार मानव सभ्यता के इतिहास में स्वर्णाक्षरों में लिखा जाना चाहिए।

वृक्ष : योगी कितने उपयोगी कितने*

चक्रेश कुमार जैन

परोपकार, स्वालंबन, सेवा, सहयोग, सद्‌भावना, कर्त्तव्यनिष्ठा, स्नेह जैसे उदात्त और अनुकरणीय गुणों का सर्वश्रेष्ठ उदाहरण यदि हमारे सामने कोई है तो वे वृक्ष ही हैं। वृक्ष का कोई भी हिस्सा ऐसा नहीं है जो हमारे काम न आता हो। छाया और आश्रय के लिए वृक्ष प्राचीनकाल से लगाए जाते रहे हैं। शोभा और उपयोगिता की दृष्टि से वृक्ष अत्यधिक महत्वपूर्ण हैं। पर्यावरण को स्वस्थ और संतुलित बनाने में भी वृक्षों का उल्लेखनीय योगदान है। वृक्ष कार्बन डाय-आक्साइड जैसा विष पीकर बदले में हमें अमृत देते हैं। औषधि के रूप में भी वृक्षों का समुचित उपयोग हुआ है।

यह जानना बेहद दिलचस्प है कि वृक्ष हमारी तरह सिर्फ चलने-फिरने को छोड़कर सभी महत्वपूर्ण जैविक गतिविधियां सफलतापूर्वक संपन्न करते हैं। सचमुच वृक्ष जीवन भर एक स्थान पर योगी की तरह तपस्या एवं साधना करते रहते हैं। शायद यही कारण रहा हो कि भारतीय मनीषा ने मोक्ष और ज्ञान प्राप्ति के लिए वृक्षों को चुना। जी हां, पीपल एक ऐसा ही वृक्ष है। गौतम बुद्ध को इसी के नीचे बोध हुआ था। आगे चलकर यह बोधि-वृक्ष के नाम से चर्चित हुआ।

शुरू-शुरू में मनुष्य वृक्षों की ओर अचरज और उत्सुकता से देखा करता था। उनका निरंतर बढ़ना, पतझड़ में मर-सा जाना और वसंत में फिर जी उठना आदि रहस्यों को उद्‌घाटित करने में मनुष्य ने खूब दिलचस्पी दिखाई। आज भी ज़्यादातर लोग इसे प्रकृति का अद्‌भुत व्यापार ही मानते हैं।

आदिकाल से वृक्षों के साथ कोई-न-कोई रोचक लोककथा या लोकविश्वास का संबंध रहा है। हमारे देश में प्रचलित एक लोकविश्वास के अनुसार आम का वृक्ष मनोकामना पूरी करता है, परंतु वरदान का प्रभाव सिर्फ साल भर रहता है। गुजरात में श्रावण सप्तमी पर स्त्रियां आम का वृक्ष लगाकर उसकी पूजा करती हैं और बच्चों के स्वास्थ्य के लिए वरदान मांगती हैं। शा.: का वृक्ष वन-जातियों में वैसा ही पूजनीय है जैसा पीपल। एक मान्यता के अनुसार वर-वधू दोनों में से किसी को विवाह करना मंजूर

* नवनीत, अक्टूबर 1982

नहीं हो तो वह इस वृक्ष के पत्ते को मध्य से चीरकर विवाह के प्रति अपना विरोध व्यक्त करता है।

प्रारंभिक मानव कपड़ा बुनने की वैज्ञानिक विधि और तकनीक से अपरिचित था। उन दिनों शरीर को ढंकने के लिए वृक्षों की छालों का ही उपयोग होता था। प्राचीन समय में जबकि कागज नहीं बनता था, पनई ताड़ के वृक्ष की पत्तियों से कागज़ का काम लिया जाता था। हिंदुओं और बौद्धों के अनेक धर्मग्रंथों को लिखने के लिए इसी वृक्ष की पतियों का प्रयोग हुआ।

सम्राट अशोक पहला शासक था, जिसने सड़कों और सार्वजनिक स्थानों पर सुंदर और छायादार वृक्षों के लगाने की पहल की। मुगल शासकों ने भी वृक्षारोपण में गहरी दिलचस्पी ली। छायादार वृक्षों में पीपल, नीम, इमली, आम आदि उल्लेखनीय हैं।

पर्यावरण का ध्यान उन दिनों भी रखा जाता था। मंदिरों, ऐतिहासिक भवनों और भव्य इमारतों के आसपास सुंदर वृक्षों को लगाने की प्राचीन परंपरा आज भी विद्यमान है। गुलमोहर, कचनार, महुआ, अशोक, अमलतास, टेसू, कदम, चंपक, सेमल, अर्जन, पोंगल, पलाश आदि इसी प्रकार के वृक्ष हैं।

वृक्षों से प्राप्त लकड़ी का हमारे रोज-मर्रा के जीवन में महत्व का स्थान है लकड़ी का उपयोग दो तरह से होता है—पहला उद्योगों में, दूसरा ईंधन के रूप में।

सागौन, साल, शीशम, देवदार आदि की लकड़ी अत्यधिक मूल्यवान और औद्योगिक महत्व की है। इन वृक्षों की लकड़ी सख्त और टिकाऊ होती है। देवदार का वृक्ष अपने अप्रतिम सौंदर्य, सुगंध और शक्ति के लिए विख्यात है। देवताओं ने इस वृक्ष को सबसे ज्यादा पसंद किया है। देवदार की लकड़ी का उपयोग विशाल भवनों मंदिरों आदि के निर्माण में व्यापक पैमाने पर हमेशा से होता रहा है।

शीशम का वैज्ञानिक नाम है—डल-बेरजिया सीसो। शिल्पकला में इसी वृक्ष की लकड़ी प्रयुक्त होती है। शीशम का उपयोग रेलवे स्लीपर, वाद्य-यंत्रों इत्यादि के बनाने में किया जाता है। बबूल की लकड़ी बेहद सख्त और टिकाऊ होती है। यही कारण है कि इसका उपयोग कुएं की घिर्री, गन्ने का रस निकालने की चक्की, धान कूटने की ओखली व मूसल और हल जैसे कृषि-औजार बनाने में होता है।

ईंधन के रूप में जलाऊ लकड़ी हमें वृक्षों से प्राप्त होती है। आज भी ऊर्जा के परंपरागत और गैर व्यावसायिक साधनों में जलाऊ लकड़ी का प्रमुख स्थान है। बबूल की लकड़ी का सबसे अधिक उपयोग ईंधन के रूप में किया जाता है। वृक्ष की एक विशेषता है, यह रेगिस्तान में भी उग सकता है और दलदल में भी।

अशोक की गणना सुंदर और छायादार वृक्षों की शीर्ष पंक्ति में की जाती है। इसका अंग्रेजी में नाम है—'सारका इंडिका'। ऐसा कहा जाता है, यह वृक्ष प्रेम के देवता कामदेव को समर्पित है। अशोक का वृक्ष समृद्धि और उर्वरता का प्रतीक माना गया है। वृक्ष का धार्मिक महत्व भी कम नहीं है। यह माना जाता है कि भगवान बुद्ध का जन्म

इसी वृक्ष के नीचे हुआ था। आज भी बौद्ध धर्म के अनुयायी वृक्ष की श्रद्धा और आदरपूर्वक पूजा करते हैं।

कचनार का स्थान सौंदर्यवान और उपयोगी वृक्षों में है संस्कृत के प्रसिद्ध कवि और नाटककार कालिदास ने इसकी को विदार नाम से अपने नाटकों में चर्चा की है। वृक्ष की अनेक प्रजातियां पाई जाती हैं, परंतु गुलाबी कचनार का सबसे अधिक उपयोग होता है। इसकी छाल रंगने के काम आती है, जबकि पुष्पों से स्वादिष्ट अचार और सब्जी बनाई जाती है। वृक्ष की लकड़ी कृषि औजार बनाने में प्रयुक्त होती है।

पलाश के पुष्पों का सौंदर्य अद्वितीय है। इतिहास प्रसिद्ध प्लासी की लड़ाई का नाम इसी वृक्ष पर रखा गया। पलाश को अंग्रेजी में 'फ्लेम ऑफ द फॉरेस्ट' कहते हैं। वृक्ष के ताज़े पुष्पों को उबालकर सिंदूरी लाल रंग तैयार किया जाता है। होली खेलने के लिए यह रंग सभी दृष्टियों से उपयुक्त है। इसी तरह पत्तियों से खूबसूरत और आकर्षक पत्तल-दोने बनाए जाते हैं।

महुआ जंगलों में पाया जानेवाला एक दूसरा सुंदर वृक्ष है। लोकगीतों में इसका चित्रण विभिन्न संदर्भों में हुआ है। वृक्ष की एक विशेषता है, इसमें पुष्प सूर्यास्त के बाद खिलते हैं और सूर्योदय से पूर्व ही झर जाते हैं। बनवासियों के जीवन में महुआ महत्व का स्थान रखता है। पुष्पों का उपयोग भोजन के रूप में बड़े पैमाने पर होता है। पुष्प में सभी महत्वपूर्ण और पौष्टिक तत्व मिलते हैं। वनवासी इन्हीं पुष्पों से शराब बनाते हैं। बीजों का महत्व भी कुछ कम नहीं है। इससे प्राप्त तेल का उपयोग वनवासी घी के स्थान पर करते हैं, यही कारण है कि अंग्रेजी में इसे 'बटर ट्री' कहा जाता है।

औषधिक वृक्षों की पंक्ति में नीम का प्रथम स्थान है। इसकी उत्पत्ति देवताओं के अमृत से हुई है। नीम से ऑक्सीजन याने प्राणवायु अन्य वृक्षों की अपेक्षा अधिक मिलती है। वातावरण को स्वस्थ और शुद्ध बनाने में वह वृक्ष एक तरह से महत्वपूर्ण सिद्ध हुआ है। बच्चों को होनेवाले शीतला रोग में इसकी पत्तियां कारगर औषधि है। त्वचा रोगों में नीम के बीजों का उपयोग लाभकारी है। वृक्ष की हरी शाखाओं को लोग दांत साफ करने के लिए टूथ ब्रश की तरह इस्तेमाल करते हैं। बीजों से प्राप्त तेल साबुन-उद्योग में प्रयुक्त होता है।

समुद्र के आसपास उगनेवाले वृक्षों में नारियल, सुपारी, खजूर, पनई, ताड़ आदि हैं। नारियल के वृक्ष का कई तरह से उपयोग होता है। पत्तियों के अंदर की नसों से झाड़ू बनाई जाती है, परंतु नारियल के फल को सुखाकर तेल निकाला जाता है। तेल खाना पकाने तथा बालों में लगाने-दोनों तरह से काम में लिया जाता है।

बीसवीं सदी में औद्योगिक विकास जनसंख्या वृद्धि, और आवास की समस्याओं ने वृक्षों के जीवन को खतरे में डाल दिया है। पर्यावरण दिनों-दिन प्रदूषित हो रहा है। जिसका प्रभाव सभी पर पड़ा है। वृक्षों को तेजी से काटे जाने के फलस्वरूप प्रकृति का संतुलन बराबर बिगड़ता जा रहा है। घने जंगलों का स्थान अब रेगिस्तानों ने ले लिया है।

कभी सूखा तो कभी बाढ़ जैसी प्राकृतिक विपदाओं से हमारे आर्थिक नियोजन और विकास कार्यक्रमों को धक्का पहुंचा है। यही नहीं वनवासियों की आजीविका पर भी इसका गंभीर परिणाम हुआ है।

सच पूछा जाए तो वृक्षों का हमारे दैनिक जीवन में इतना अधिक महत्व है, जिसकी आप कल्पना भी नहीं कर सकते। सांस्कृतिक, आर्थिक औषधिक और वैज्ञानिक सभी दृष्टिकोणों से वृक्षों की महत्ता, उपयोगिता और अनिवार्यता प्रमाणित होती है।

शोध-कथा

पाताल की अतल गहराइयों की खोज में*

हंस

लोगों ने उसे 'दीवाना', 'सस्ती पब्लिसिटी का शौक़ीन', 'आत्मघाती प्रवृत्ति का', और न जाने क्या-क्या नहीं कहा, लेकिन उसने लोगों के कहने की कोई परवाह नहीं की। वह तो अपनी इच्छा और पूरी लगन से, पृथ्वी से 375 पुट नीचे स्थित एक संकीर्ण और हिमाच्छादित कंदरा में किए जाने वाले एक ऐसे खतरनाक वैज्ञानिक प्रयोग में भाग ले रहा था, जिसके सफल हो जाने पर भूगर्भशास्त्रियों को प्राप्त महत्त्वपूर्ण जानकारी से पृथ्वी पर मानव के जीने के तरीकों में आमूल परिवर्तन संभव था। वह यह सोच करके इस खतरनाक प्रयोग में उतरा था कि यदि इस प्रयोग के बीच में, उसकी मृत्यु हो जाने के कारण प्रयोग अधूरा रह गया, तो उसे अपनी जान के जाने की उतनी परवाह न होगी, जितनी प्रयोग के असफल हो जाने की होगी।

इस तरुण भूगर्भशास्त्री का नाम था, **माइकेल सिफरे**। जिस प्रयोग में वह भाग लेने जा रहा था, उसके अनुसार उसे दो महीने तक अकेले, उस कंदरा में रहना था, जिसका वर्णन ऊपर किया जा चुका है। एक वर्ष पूर्व, अल्पस पर्वत के कुछ पर्वतारोहियों ने एक महीना ऐसे ही संकीर्ण कन्दरा में बिताया था, और एक नया विश्व-कीर्तिमान स्थापित किया था। पर, दो महीने... यह तो उन पर्वतारोहियों की दृष्टि में भी 'नितांत असंभव' था। माइकेल सिफरे के अलावा, किसी को विश्वास न था कि वह कन्दरा में दो महीने बिताकर, सकुशल ऊपर चला आएगा। इसी विश्वास के कारण, उसने पुलिस को यह लिखकर दिया था कि किसी भी हालत में उसे प्रयोग की अवधि समाप्त होने तक ऊपर न लाया जाए, और यदि वह इस प्रयोग के दौरान मर जाए, तो इसकी पूरी जिम्मेदारी उसकी होगी।

इतनी गहराई में उसके रहने के लिए 13 फुट लंबा और 8 फुट चौड़ा एक कैनवेस का बैग बनाया गया था। इस बैग की, तथा दो महीने तक उसके द्वारा प्रयुक्त होने वाले सामान की, उसके उन दोनों सहयोगियों ने, जो उसके साथ इस प्रयोग से संबद्ध थे

---

*नवनीत, सितंबर 1983

बारीकी से जांच की। सारे सामान का पूरी तरह निर्भरणीय होना बहुत जरूरी था। कारण, उसी के सहारे, उसे कन्दरा में दो महीने गुजारने थे।

दो महीने के कंदरावास की तैयारी सिफरे ने बहुत पहले से कर रखी थी। लेकिन, जब वास्तव में उसने अपने दोनों साथियों के साथ भूमि के अंदर प्रवेश किया, तो उसे लग रहा था कि वह वास्तविक जगत में नहीं, सपनों की दुनिया में है। सीढ़ी के सहारे, भूमि के अंदर कुछ मीटर नीचे जाते ही, उसे पता लग गया था कि वह एक आदमी नहीं रहा है, यंत्र-मानव बन गया है। जब उसकी घड़ी उससे ली गई, ताकि प्रयोगावस्था में इसे किसी समय मापक यंत्र से समय का यथार्थ ज्ञान न हो सके, तो उसने मन ही मन नोट किया कि वह सोलह जुलाई की दुपहर को दो बजे नीचे उतरा है।

× × ×

नीचे जाते समय, उसे और उसके साथियों को एक छोटे से डरावने छेद से होकर गुजरना पड़ा। इस छेद में रेंगते हुए, वे 100 फुट लंबे एक अंधेरे कक्ष में आए। यहां आकर, सूरज की रोशनी से सिफरे का साथ छूट गया। हाथों से छू-छूकर उसने जाना कि कक्ष की सब दीवारें बर्फ़ की बनी हैं। इस कक्ष से 260 फुट नीचे उतर कर, वह 130 फुट लंबे एक कक्ष में पहुंचा। यह उसकी भूगर्भ-यात्रा का अंतिम पड़ाव था, क्योंकि ठीक इसी के नीचे वह हिमानी कन्दरा थी, जिसमें उसे अगले दो महीने बिताने थे।

और, अंत में जब वह इस हिमानी कंदरा में पहुंचा, तो उसने पाया कि उसके हाथ-पांव जमते जा रहे हैं। फ्लैशलाइट की रोशनी में उसने देखा, कन्दरा की दीवारें लाल-लाल नज़र आ रही थीं। अपना खेमा गाड़कर, उसने उसमें से देखा कि हिम की छत से लटके अनेक हिम-खंड कभी भी नीचे गिरने की स्थिति में थे। एक और डरावनी बात उसे यह मालूम हुई कि उसके पास आग बुझाने का कोई साधन न था। हैण्डलैम्प कभी खेमे में जला रह गया, तो सारे खेमे को भस्म होते देर नहीं लगेगी। खेमे में दो टेलिफोन भी लगे थे, जिनकी मदद से वह ऊपर के लोगों से बातचीत कर सकता था, और उन्हें अपनी रपट दे सकता था। हिमानी कन्दरा में ठंड इतनी ज़्यादा थी कि सांस फौरन जल-कणों के रूप में उनके कपड़ों पर बिखर जाती थी। संज्ञाशून्य करने वाली सर्दी थी वहां। कन्दरा में जाने से पूर्व, उसने निश्चय कर लिया था कि वह अपनी डायरी में हर रोज़ की घटनाओं का वर्णन ब्यौरेवार लिखेगा। लेकिन, धूप के अभाव में उसे पता नहीं लग पाता था कि दिन कब ख़त्म हुआ, और रात कब शुरू हुई। दूसरे—जब वह कुछ लिखने बैठता था, तो उसे बीती घटनाओं की याद नहीं रहती थी। उसका अधिकांश समय सोने में ही बीतता था, और उसे अपना दिन, अर्थात् वह समय जब वह जागृतावस्था में होता था, बड़ा छोटा लगता था। उसकी स्मृति, धीरे-धीरे, इतनी क्षीण हो गई थी कि उसने कई मिनट पहले क्या किया है, वह भी याद नहीं रहता था। शीत-निष्क्रियत के कारण, उसका मस्तिष्क भी धीरे-धीरे निष्क्रिय होता जा रहा था।

कुछ दिन ऐसी स्थिति में रहने के बाद, उसे काल बड़ी तेज़ी से गुज़रता प्रतीत होने

लगा। जिस दिन उसका प्रयोग पूरा हुआ, उस दिन 17 सितंबर तारीख थी, लेकिन उसने 20 अगस्त तारीख लिखी थी। वर्तमान उस पर इस बुरी तरह हावी था कि उसे न भूत का होश था, न भविष्य का। उसे अपने आसपास की सब वस्तुएं, हिम, अंधेरा, नमी सब शत्रु जान पड़ते। अपने आत्म-बल के कारण ही, वह इन 'शत्रुओं' से निर्भय रह पाता, और दो महीने तक अंधेरी हिमानी कन्दरा में रह पाया।

जैसे-जैसे दिन बीतने लगे, उसके लिए जागना और बिस्तर से उठकर कोई काम करना बड़ा कष्टकर प्रतीत होने लगा। आंख खोलते ही, उसे निपट अंधकार और हड्डियों तक को सुन्न कर देने वाली सर्दी का सामना करना पड़ता। जब नींद न आती, तो वह टेलिफोन से ऊपरवालों को अपने जागने की सूचना दे देता। सोने से पहले और खाना खाने से पहले, उसके लिए टेलिफोन करना अनिवार्य था। ऊपर वाले उसके बहुत अनुनय-विनय करने पर भी उसे असली तिथि और समय नहीं बताते थे, तथा उसकी दिनचर्या के घंटों की मिलान वास्तविक समय के घंटों से करते रहते थे। इस मिलान से उन्हें पता चलता रहता था कि सिफरे को कब और किस सीमा तक कालभ्रम हुआ है।

× × ×

धीरे-धीरे, सिफरे के जीवन में वैसी ही मंद जैविकीय रवानी आ गई, जो शारीरिक निष्क्रियता के कारण, लंबी अंतरिक्ष यात्राएं करने वाले अंतरिक्ष-यात्रियों के जीवन में भविष्य में आ जाया करेगी। फिर भी, उसने दृढ़ आत्मसंयम द्वारा सब आवश्यक दैनिक कार्य करना, और उनकी सूचना ऊपर वालों को देना जारी रखा। यदि वह ऐसी आत्मसंयम से काम न लेता, तो अपनी कहानी सुनाने के लिए जीवन न रह पाता। उसकी निष्क्रियता का यह हाल था कि कपड़े पहनना, पानी गरम करना, गरम चाय पीना तक उसे अत्यंत दुष्कर कार्य प्रतीत होते।

प्रायः किसी गंभीर आशंका की संभावना, सांप की कुंडली की भांति उसके मन में घुमड़ने लगती। एक बार एक ग्लेशियर का निरीक्षण करते हुए उसे लगा कि वह भी ग्लेशियर के साथ बहकर अगाध गर्त में समाने वाला ही है। जमे चट्टानी खंड सीधे उसकी ओर बहे चले आ रहे हैं, ऐसी आशंका तो उसे न जाने कितनी बार हुई होगी। लेकिन, हर बार उसके आत्मसंयम ने उसे बचाया।

एक सप्ताह बाद, उसकी भूख इतनी कम हो गई थी कि थोड़ी-सी किशमिश चबाते ही उसे नींद आने लगती थी। वह आलसी और कामचोर भी बनता जा रहा था। जब उसे बहुत कमज़ोरी भी बनता जा रहा था। जब उसे बहुत कमज़ोरी महसूस होती, तो वह भूख की ख़ातिर खाना शुरू कर देता था।

सतत गीलेपन के कारण, उसके शरीर का तापमान साधारण से बहुत कम रहने लगा था। प्रयोग के बाद भी कई दिनों तक उसके शरीर का तापमान साधारण से बहुत कम था। उसके अंग-संचालन की रफ्तार भी बहुत कम हो गई थी। तथा उसे यह भी अनुभव होने लगा था कि वह बहुत कम सुनने लगा है, और कम देख सकता है। उसकी

आंखों में भैंगापन भी हो गया था, जो कंदरा से बाहर आने पर अपने आप ही कम हो गया था।

सौभाग्य से सिफरे को कंदरा में रहते समय, 'क्लास्टरफोबिया' (एकांत-भय) की कोई शिकायत नहीं हुई, हालांकि प्रयोग के अंतिम दिनों में उसे चक्कर आने की शिकायत रहने लगी थी। इन चक्करों की वजह से, वह दो बार, मरने से बाल-बाल बचा। दो महीने के कंदरावास में उसे यह अनुभूति भी बार-बार हुई कि उसके विचारों और उसके मन के बाहर किसी वस्तु या प्राणी का अस्तित्व नहीं है। कभी-कभी उसका व्यवहार पागलों जैसा भी हो जाता था, पर वह शीघ्र ही अपने ऊपर संयम पा लेता था। एक बार, पागलों जैसे मूड में वह घंटों तक नाचता रहा था।

× × ×

भले ही, उसके मूड बदलते रहते थे, पर जिस अनुसंधान कार्य के लिए उसे भेजा गया था, उसके लिए वह हमेशा वक्त निकाल लेता था। उन्हीं दिनों, उसने अपनी डायरी में लिखा था, 'कन्दरा में अपने जीवन का निर्माता मैं स्वयं था। फिर भी मुझे अनुभव होता था कि पृथ्वी की गहराइयों ने अन्य वस्तुओं के साथ-साथ, शायद काल और स्थान-दिक्काल भी शायद एक समय जम जाते हैं।'

उसे कन्दरा की गहराइयों में जितने अनुसंधान करने को कहा गया था, जितने नमूने जमा करने को कहा गया था, वे सभी उसने प्रयोग के अंत तक पूरे करके दिखाए। इसके लिए उसे कई बार अपनी जान हथेली पर रखकर और नीचे की ओर संकरी गुफाओं में से गुज़र कर, 425 फुट नीचे तक की यात्रा करनी पड़ी थी। पर शेष समय, असह्य ठंड और नमी में जीवित रहने के प्रयास में ही गुज़र जाता था। उसकी डायरी को पढ़कर, पता चल जाता है कि उसने अपना समय कैसी भयावह मनःस्थितियों के बीच व्यतीत किया होगा। डायरी के कुछ अंश इस प्रकार है।

(1) 'शिला-खंडों के कई मिनट तक तेज़ी से गिरते रहने के कारण, मैं कांप कर रह गया। सौभाग्य से टेलिफोन के तार सुरक्षित थे। अपनी अरक्षित अवस्था देखकर मुझे डर लगने लगा है।'

(2) 'प्रकाश की घोर कमी और एकांतता की वजह से मुझे दिन छोटे लगने लगे हैं, और मुझे दिनों और घंटों का सही अनुमान नहीं हो पाता। मेरे अनुमान से आज 13 अगस्त होनी चाहिए। (उस दिन वास्तव में 13 नहीं, 21 अगस्त थी।)

(3) '17 अगस्त (वास्तव में, उस दिन 9 सितंबर थी) : सुबह के नौ बजे होंगे (उस समय, वास्तव में, रात के आठ बजे थे)। मेरे दिमाग़ में विचार बड़ी तेजी से आते हैं, लेकिन मैं उन्हें क्रमबद्ध नहीं कर पाता।'

(4) 'मेरी सबसे प्रिय इच्छा क्या है? जीने की, जीने की, जीने की। यह लिखते समय, मेरा सारा शरीर सूजन और दर्द से बुरी तरह परेशान है, फिर भी मेरी जीने की इच्छा क़ायम है। मौत का खयाल अक्सर मन में आता है, मगर मैं उसे प्रयत्न-पूर्वक मन

से ढकेल देता हूं। निपट मौन, जो आरंभ में बड़ा रुचिकर लगता था, अब बड़ा हृदयवेधक बन गया है।'

(5) 'आज ग्लेशियर से खेमे की ओर लौटते समय, एक विशाल हिमखंड ठीक मेरे पास आकर गिरा। मैं बाल बाल बचा।'

'मेरे प्रयोग का अंतिम दिन है, और मुझे प्रसन्नता है कि भाग्य ने मेरा साथ दिया, और मैं अभी तक जीवित हूं। मुझे इस बात की भी प्रसन्नता है कि मेरे प्रयोग से विज्ञानियों को मानव की सहन-शक्ति की नई सीमाओं का पता चलेगा और यह भी पता चलेगा कि पाताल की अगाध गहराइयों में रहने के लिए, उसे अपनी आदतों में कैसे-कैसे परिवर्तन करने होंगे।'

31

रेडियो चिकित्सा*

विष्णुदत्त शर्मा

वैज्ञानिकों ने जब आणविक ऊर्जा प्राप्त करने के साधन खोज निकाले तब 800 नए रेडियोसक्रिय आइसोटोपों के भंडार का और पता चला।

रेडियोसक्रिय आइसोटोप प्रायः कृत्रिम रीति से तैयार किए जाते हैं। इनका उत्पादन बड़े पैमाने पर अणु-भट्टियों की खोज के बाद ही संभव हो सका। रेडियोसक्रिय आइसोटोप प्राणियों के लिए बहुत ही लाभप्रद हैं और देश की अर्थ व्यवस्था को सुधारने में भी उपयोगी सिद्ध हुए हैं।

मानव शरीर के लगभग सभी अंग-प्रत्यंगों में होनेवाली बीमारियों को समझने में आज नए व शक्तिशाली निदानकारी के रूप में ट्राम्बे से प्राप्त होने वाली 60 से भी अधिक रेडियो-औषधियां न्यूक्लीय औषधियों के रूप में सहायक सिद्ध हो रही हैं। विशेष प्रकार से निर्मित रेडियो आइसोटोप यौगिकों के प्रयोग से थॉयरायड, यकृत, गुर्दा, फेफड़ों, हड्डियों या मस्तिष्क आदि की जांच-परख की जा सकती है और यदि कोई अंग कार्य नहीं कर रहा हो या कहीं ट्यूमर हो तो उसका पता लगाया जा सकता है। न्यूक्लीय आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में रोगों के निदान एवं उपचार की महत्वपूर्ण विधियों में उपयोग के लिए, आयोडीन-131, फॉस्फोरस-32, क्रोमियम-51, मर्करी-203, कोबाल्ट-57, कोबाल्ट-58, कोबाल्ट-60, गोल्ड-158, इट्रियम-90, सीजियम-137, आयरन-59 से तैयार की गई विविध प्रकार की रेडियो औषधियां अब इंजेक्शनों, कैप्स्यूलों और मुंह के रास्ते से लिए जाने वाले अन्य उत्पादों के रूप में भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र, बंबई में उपलब्ध हैं। यहां पर अस्पतालों में नुस्खों के अनुसार दवाइयां तैयार करने के लिए टेक्नीशियम-11m और इंडियन-113m जैसे अल्प आयु वाले रेडियो आइसोटोपों के जनित्र और किट भी उपलब्ध हैं।*

आयुर्विज्ञान के क्षेत्र में रोगों के निदान एवं उपचार में रेडियोसक्रिय आइसोटोपों के योगदान को ही **रेडियो चिकित्सा** कहा गया है। रेडियोसक्रिय आइसोटोपों का मुख्य अनुप्रयोग विषाणु-रोगों के इलाज में है। इस प्रणाली के अंतर्गत कैंसरयुक्त ऊतकों

* विज्ञान, मई 1983

(tissues) में अविलम्ब आयनीकृत विकिरण की पर्याप्त मात्रा पहुंचाते हैं। ताकि ये प्रभावित ऊतक तुरंत समाप्त हो जाएं और सामान्य ऊतकों पर कम से कम प्रभाव पड़े। रेडियो-चिकित्सा निम्न रूय में उपयोगी सिद्ध हुई है—

(1) स्थानीय औषधि प्रयोग

(क) **ट्यूमर अंतर्गलन**—यदि किसी जीवित ऊतक में कोलायडीय पदार्थ अंतःक्षेप (inject) हो जाए तो यह लसीका-निकासी (lymphatic drainage) के द्वारा धीरे-धीरे निकाला जा सकता है। इस कार्य के लिए कोलायडीय रेडियोगोल्ड का ट्यूमर में प्रवेश कराकर अधिकतर प्रयोग किया जाता है। विशेषकर पुरस्थ ग्रंथि (prostate), छाती (breast) गर्भाशय, ग्रीवा की कार्सिनोमा (carcinomas) आदि स्थानीय विषाक्त स्थलों पर। साधारणतया ट्यूमर को शल्यचिकित्सा द्वारा निकाल दिया जाता है किंतु शेष बचे हुए अंश को निकालने के लिए कोलायडीय पदार्थ की ही सहायता लेनी पड़ती है। यद्यपि यह ध्यान रखा जाता है कि ट्यूमर में पदार्थ का फैलाव एक समान हो जिससे समान विकिरण जा सकें किंतु व्यावहारिक रूप में यह कार्य बहुत कठिन है। इस प्रकार की चिकित्सा (रेडियोगोल्ड द्वारा) अत्यधिक रक्तधर वाहित ट्यूमर (vascularised tumour) के लिए उपयुक्त नहीं है क्योंकि अंतःक्षेपी (injected) पदार्थ का बहुत कुछ अंश रक्त में तेजी के साथ बहकर यकृत एवं तिल्ली में जमा हो जाता है। अतः ऐसी परिस्थितियों में फॉस्फोरस-32, इट्रियम-90 जेसे बीटा-उत्सर्जक पदार्थों को गोल्ड-198 के स्थान पर प्रयोग किया जाए तो अत्यधिक लाभप्रद सिद्ध होगा।

(ख) **ट्यूमर निरोपण**—गत काफी समय से रेडियम-सुइयों तथा रेडॉन फुटकी (seed) द्वारा निरोपण तकनीक से कार्य किया जा रहा है। किंत धीरे-धीरे प्राकृतिक रेडियोऐक्टिव स्रोतों के स्थान पर कृत्रिम रेडियोऐक्टिव स्रोतों का प्रयोग किया जाने लगा है क्योंकि कृत्रिम रेडियो आइसोटोप मूल्य में कम, आकार में छोटे, संभालने में सुरक्षित तथा अधिक नम्य (flexible) होते हैं। कृत्रिम आइसोटापों में ऐसे भी पदार्थ हैं जो केवल बीटा अथवा गामा रश्मियां ही विकिरत करते हैं। इन रश्मियों का उपयोग ट्यूमर के आकार तथा स्थल पर निर्भर करता है। आजकल रेडियम सुइयों के स्थान पर कोबाल्ट-60 की सुइयां तथा टेंटलम-182 के तारों का और रेडॉन फुटकी के स्थान पर गोल्ड-198 का चूर्ण प्रयोग किया जाने लगा है। इसके अतिरिक्त फॉस्फोरस-32, क्रोमिक फॉस्फेट अथवा अमोनियम फॉस्फोमोलिबिडेट और कोबाल्ट-60 पर्ल से संयुक्त इट्रियम-90 की गोलियां सुगमता से प्रयोग की जाती हैं।

(2) अंतःगुहिका (intracavitary) औषधि प्रयोग

(क) **रेडियोऐक्टिव कोलायड्स**—फुफ्फुस (pleural) अथवा पर्युदर्या (peritoneal) गुहा में विषाक्त स्थलों के इलाज में कोलायडीय गोल्ड-198 का प्रयोग बहुतायत से किया जाता

है। जब यह शरीर-द्रव में प्रवेश होता है तो रेडियोऐक्टिव कण धीरे-धीरे सिरोसा (serosa) पर नीचे सतह पर जमने लगते हैं और इस प्रकार कैंसरयुक्त (carcinomatous) स्थल में एकत्रित पदार्थ की सतह को विकिरत कर देते हैं। ब्लैडर कार्सिनोमा को विकिरत करने के लिए भी कोलायड गोल्ड-198 का प्रयोग किया जाता है। यह कोलायड ब्लैडर में भरकर कुछ घंटों पश्चात पेशाब के साथ तरल होकर बाहर आ जाता है। इस अवधि में यह ब्लैडर की सतह पर भी एकत्र नहीं होता।

(ख) रेडियोऐक्टिव घोल—इनका उपयोग ब्लैडर के कार्सिनोमा निदान में किया जाता है। रेडियोसक्रिय पदार्थ के शारीरिक अवशोषण से बचने के लिए इन घोलों को रबड़ के थैलों में भरा जाता है।

(ग) ठोस पदार्थ—चूंकि रेडियोऐक्टिव घोलों के प्रयोग से दूषणता का भय अधिक होता है, अतः ऐसी अवस्था में रेडियोऐक्टिव ठोस पदार्थों का प्रयोग लाभदायक सिद्ध हुआ है। नासाग्रसनी (nasopharyngeal) ट्यूमर, ग्रासनली (oesophageal) कार्सिनोमा तथा अन्य क्षत स्थल जहां पर द्रव का प्रयोग असंभव है, वहां कोबाल्ट-60 पर्ल का प्रयोग अत्यंत उपयुक्त है।

(घ) संस्पर्शी चिकित्सा—ऐसी अनेक परिस्थितियां उत्पन्न हो जाती हैं जहां पर केवल त्वचा के विकिरण करने की ही आवश्यकता पड़ती है—उदाहरणार्थ कृन्तक (rodent) फोड़ा, एपिथीलियोमा, अतिकिरेटिनता (hyperkeratasis), हीमोजियोमा (haemomgioma) तथा आधार-कोशिका कार्सिनोमा आदि। इन रोगों के उपचार हेतु एक ब्लाटिंग पेपर का टुकड़ा विषाक्त स्थल के आकार का काटकर फॉस्फोरस-32 में भिगोकर क्षतस्थल पर लगा दिया जाता है।

(3) शरीर द्वारा औषधि प्रयोग : रेडियो आयोडीन चिकित्सा

(क) अवटु विषाक्तता *(थोइरोटाक्सिकोसिस)*—शरीर में विद्यमान आयोडीन की अधिकतर मात्रा गलग्रंथि (थायराइड) में एकत्र हो जाती है और रक्त तथा शरीर के अन्य अंगों की अपेक्षा यहां की आयोडीन धीरे-धीरे ही समाप्त होती है। अतः रेडियोऐक्टिव आयोडीन की शरीर में और अधिक मात्रा जाने से गलग्रंथि और भी अधिक किरणीयन हो जाती है। आयोडीन-131 की दी हुई मात्रा का परिणामी प्रभाव अनेक कारकों पर निर्भर करता है—उदाहरणार्थ ग्रंथि का आकार, औषधि की ली गई अधिकतम मात्रा, प्रभावी अर्ध-आयु और सर्वाधिक थायरायड तक की रेडियो संवेदनशीलता आदि। इसके साथ ही साथ यह भिन्न-भिन्न रोगियों पर अलग-अलग और उनके ग्रंथियों की अवस्था पर भी निर्भर करता है।

रेडियो आयोडीन चिकित्सा के परिणाम बहुत ही उत्तम सिद्ध हो चुके हैं। किसी भी किस्म का विषैला गलगण्ड (goitre) इस चिकित्सा द्वारा ठीक हो सकता है कि किंतु यदि अबटु विषाक्तता (thyrotoxicosis) की शल्य चिकित्सा के पश्चात् यह प्रक्रिया की जाय

तो उत्तमतर परिणाम सम्मुख आएंगे।

(ख) **थॉयरायड कैंसर**—यदि गलग्रंथि (थॉयरायड) कैंसर ऐसा हो जिसका आपरेशन न हो सके और इसमें अविकसित (anaplastic) ऊतक हो तो इसका बाह्य रेडियो चिकित्सा द्वारा उपचार उपयुक्त रहेगा।

(ग) **हृदय रोग**—हृदय गति के रुकने के कुछ ऐसे केस हैं जहां एक सामान्य आधार-मेटाबोल्जिम भी हृदय पर भारी बोझा डाल देता है। आधार-मेटाबोलिक दर कम करने के लिए अनेक वर्षों तक शल्य-चिकित्सा अवटुकोच्छेदन (thyroidectomy) का सुझाव दिया जाता रहा। आयोडीन-131 से किरणीयन करने पर, कोई भय नहीं है अतः यह ही थायरायड को अल्पक्रियाशील करने के लिए उत्तम विधि है और परिणामस्वरूप यह लोकप्रिय होती जा रही है।

(4) रेडियो फॉस्फोरस चिकित्सा

(क) **वास्तविक बहुलोहिताणुरक्तता** (polycythaemia vera)—जब सोडियम फॉस्फेट रूप में फॉस्फोरस-32 को अंतःशिरा में दिया जाता है तो यह बहुत ही जल्दी रक्त संचार में मिलकर अदृश्य हो जाता है और इसका बहुत बड़ा अंश कोशिका विभाजन विशेषकर अस्थि-मज्जा में लिप्त होता हुआ पाया गया है। वास्तविक बहुलोहिताणुरक्तता में, जो लोहिताणुजनित ऊतक के अतिसक्रियता गुणों द्वारा पहचाना जाता है, सामान्य स्थिति में फॉस्फोरस-32 अधिक सान्द्र दशा में दिया जा सकता है।

(ख) **ल्यूकीमिया** (*leukeamia*)—बहुलोहिताणुरक्तता के उपचार की भांति जीर्ण (पुराने) ल्यूकीमिया की चिकित्सा में भी फॉस्फोरस-32 से सफलता प्राप्त की जा चुकी है। अस्थि मज्जा के अतिरिक्त भी शरीर के कुछ ऐसे अंग जो इस रोग से प्रभावित हैं, में फॉस्फोरस-32 संचित हो जाता है—उदाहरणार्थ यकृत (लीवर), प्लीहा (तिल्ली), लसीका ग्रंथियां (lymphnodes) आदि।

(5) अंतः शिरा रेडियोगोल्ड चिकित्सा

जब किन्हीं आकारों के कणों के कोलाइड रक्त संचरण में प्रवेश करते हैं तो ये यकृत तथा प्लीहा (spleen) के भक्षक-अंडों (phagocytes) द्वारा लगभग पूर्णतया दूर कर दिए जाते हैं। परिणामस्वरूप गोल्ड-198 जैसे रेडियोऐक्टिव कोलाइड के अंतःशिरा इंजेक्शन द्वारा इन दोनों अंगों का किरणीयन हो जाता है और किन्हीं-किन्हीं केसों में तो संपूर्ण शरीर ही गामा-रश्मियों से किरणीयत होने लगता है। रोगियों में रक्तसंलायी अरक्तता (haemolytic anaemia) की चिकित्सा रेडियोगोल्ड द्वारा ही की जाती है। ट्यूमर ऊतक में इस रेडियोऐक्टिव पदार्थ का संचलन न होने के कारण यकृत विक्षेपण (metastasis) अथवा प्राथमिक हेपैटोमा hepatomas) में सामान्यतया गोल्ड-198 की प्रतिक्रिया नहीं होती किंतु यकृत संबंधित उदरीय (abdominal) रोगों में इसकी प्रतिक्रिया कभी-कभी पाई गई है।

श्वास-नली रोगों के लिए फुफ्फुस-धमनी (pulmonary artery) की उपयुक्त शाखा में हृदयी-कैथीटर के द्वारा रेडियोऐक्टिव पदार्थ को प्रविष्ट (inject) कर चिकित्सा में सफलता प्राप्त की गई है। गोल्ड-198 का विकल्प इट्रियम-20 भी है जो इन फेफड़े आदि के रोगों में आशतीत सफल हुआ है। श्वासी कार्सिनोमा की चिकित्सा सिल्वर लेपित गोल्ड-198 से भी संभव हो चुकी है क्योंकि यह स्थानीय लसीका में शीघ्रता से संचित हो जाता है।

दूरचिकित्सा (Teletherapy)

ऐसे ट्यूमर, जो अस्थियों तथा उपास्थियों (cartilages) में अधिक अंदर विद्यमान होते हैं, की चिकित्सा के लिए टेलीथिरैपी प्रणाली का उपयोग किया जाता है। इसके अतिरिक्त नासाग्रसनी (nasopharynx) मुखाग्रसनी (oropharynx) हाइयोफेरिंक्स, परानास विवर (paranasal sinuses), ग्रसिका एवं श्वासी कार्सिनोमा, श्रोणि-ट्यूमर (pelvic tumours) आदि रसौलियों की चिकित्सा भी इसी विधि से सम्भव हो सकी है। दूर-चिकित्सा में कोबाल्ट-60 सस्ता होने के कारण अधिक उपयोगी है। इसका विकल्प सीजियम-137 भी है जो सस्ता भी है और रिऐक्टर द्वारा उत्पादित व्यर्थ पदार्थों में से ही उपलब्ध है। कोबाल्ट-60 की अर्ध-आयु 5.3 वर्ष और सीजियम-157 की अर्ध-आयु 33 वर्ष होने के कारण यह सुविधाजनक भी है।

यदि रेडियोआइसोटोप जाने या अनजाने में उपयोग से वंचित रह गया तो यह न केवल इस पीढ़ी को वरन् भावी पीढ़ी को भी संकट में डाल सकता है। अतः सर्वाधिक सावधानी इन आइसोटोपों के रख-रखाव की है। रेडियोसक्रिय पदार्थो से केवल वे ही तकनीशियन कार्य करें जो इस कार्य-विशेष के लिए प्रशिक्षित किए गए हों। **भाभा परमाणु अनुसंधान केंद्र, बंबई में प्रशिक्षण की सुविधाएं उपलब्ध हैं और इस सुविधा का लाभ लेखक भी सन् 1962 में वहां उठा चुका है।** रेडियोसक्रिय पदार्थों को लापरवाही से इधर-उधर नहीं फेंकना चाहिए। उन प्रयोगशालाओं में, जहां पर रेडियोसक्रिय पदार्थों से कार्य होता हो, प्रत्येक व्यक्ति को जाने की अनुमति नहीं होनी चाहिए। थोड़ी सी लापरवाही से भी रेडियोसक्रिय प्रदूषण के भयंकर और अति विनाशकारी परिणामों की आशंका सदैव बनी रहती है।

रिपोर्ताज

अंतरिक्ष में भारतीय पहल*

शिव प्रसाद कोस्टा

अक्टूबर 1957 में सोवियतसंघ ने स्पुतनिक उपग्रह अंतरिक्ष में प्रक्षेपित कर विश्व को अंतरिक्ष विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के अद्वितीय ऐतिहासिक मोड़ पर लाकर खड़ा कर दिया। संसार के अनेक राष्ट्रों ने मानव की इस अलौकिक उपलब्धि से प्रभावित होकर अंतरिक्ष अनुसंधान की लंबी चौड़ी रूप-रेखाएँ आरंभ कीं।

भारत ने भी अपने विशाल जन-समुदाय के आर्थिक एवं सामाजिक विकास के लिए अंतरिक्ष विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के संभावित उपयोग की दिशा में ऐतिहासिक कदम 1963 के आस-पास उठाने आरंभ किए।

भारतीय अंतरिक्ष प्रयासों के प्रमुख उद्देश्य हैं, उपग्रहों के माध्यम से—

क. लंबी दूरी का दूर-संचार और दूरदर्शन

ख. सुदूर संवेदन अर्थात् रिमोट सैन्सिंग की पद्धति से प्राकृतिक भू-संपदा का सर्वेक्षण एवं संसाधन

ग. मौसम के बदलते पहलुओं का निरीक्षण एवं आवश्यक सूचनात्मक कार्यवाहियाँ।

इन प्रमुख उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन ने अपनी गतिविधियों को सुव्यवस्थित रूप से संगठित किया है। इन सक्रिय गतिविधियों का ढाँचा इस प्रकार है :

—संचार, सुदूर संवेदन, दूरदर्शन प्रसारण तथा मौसम विज्ञान के लिए आवश्यक उपग्रहों का डिज़ाइन तथा विकास करना

—इस तरह विकसित उपग्रहों को अंतरिक्ष में अपेक्षित कक्षाओं में स्थापति करने के लिए राकेटों का डिज़ाइन तथा विकास करना

—उपग्रहों एवं राकेटों के प्रमोचन के लिए आवश्यक भू-केंद्रों की स्थापना करना

—उपग्रहों के उपयोग के लिए स्वदेशी उपभोक्ताओं से संबंध स्थापित करना

भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन ने अंतरिक्ष में अपनी पहली पहल 19 अप्रैल,

---

* विज्ञान गरिमा सिंधु, 1986

1975 में अपने प्रौद्यौगिकी प्रायोगिक उपग्रह **आर्यभट** को सोवियत संघ के इन्टरकॉस्मास राकेट द्वारा प्रक्षेपित करके की। 360 किलोग्राम भार का आर्यभट उपग्रह सोवियत संघ के कपूस्तिनयां अंतरिक्ष अड्डे से प्रक्षेपित किया गया। यह अंतरिक्ष में लगभग 600 किलोमीटर ऊँचाई की वृत्तीय कक्षा में स्थापित हुआ था। इस प्रायोगिक उपग्रह के विकास, निर्माण एवं प्रक्षेपण से भारतीय इंजीनियरों एवं वैज्ञानिकों के उपग्रहों प्रौद्यौगिकी के विभिन्न पहलुओं को स्पष्ट रूप से पर्त-दर-पर्त समझने का अवसर प्राप्त हुआ।

आर्यभट से उपग्रह टैक्नोलॉजी में प्रवेश कर भारत की निगाहें आर्यभट के व्यवहारिक उपयोगों की ओर गई। शनैःशनैः भारत ने अपनी दूसरी पहल 7 जून, 1979 को सोवियत संघ के इन्टरकॉस्मास राकेट द्वारा सोवियत अड्डे कपूस्तिनयां से प्रायोगिक भू-सर्वेक्षण उपग्रह **भास्कर-I** को 525 किलोमीटर की ऊँचाई की वृत्तीय कक्षा में स्थापना करके की। भास्कर-I उपग्रह के विकास, निर्माण एवं उसके प्रायोगिक उपयोग से भारत ने सुदूर संवेदन उपग्रहों के अनुपम क्षेत्र में पदार्पण किया। लगभग 460 किलोग्राम भार के भास्कर-I उपग्रह में दो टेलीविज़न कैमरों एवं तीन सूक्ष्मतरंगी विकिरणमापियों का समावेश किया गया था। टेलीविज़न कैमरों ने भारत भूमि का सुदूर संवेदन की पद्धति से चित्रण किया और प्रयोग के रूप में आवश्यक स्थलीय जानकारी प्रदान की। सूक्ष्मतरंगी विकिरणमापियों ने भारत भूमि के तापक्रम एवं समुद्र की सतह-संबंधी जानकारियां दीं।

भारत ने अपनी तीसरी पहल 18 जुलाई 1980 की भारतीय अंतरिक्ष अड्डे श्रीहरिकोटा, आन्ध्र प्रदेश, से प्रथम उपग्रह प्रक्षेपण राकेट एस.एल.वी. 3 द्वारा रोहिणी उपग्रह के सफल प्रक्षेपण से की। लगभग 35 किलोग्राम भार के रोहिणी उपग्रह एवं 22. 40 मीटर लंबे सत्रह टन भार के एस.एल.वी. 3 द्वारा रोहिणी उपग्रह के सफल प्रक्षेपण से की। लगभग 35 किलोग्राम भार के रोहिणी उपग्रह एवं 22.40 मीटर लंबे सत्रह टन भार के एस.एल.वी. 3 राकेट का विकास, निर्माण एवं अग्नि-परीक्षण भारत का एक महान भगीरथ यज्ञ था जिसमें भारत के हजारों व्यक्तियों ने अपनी सामर्थ्य के अनुसार दोनों हाथों से तन-मन-धन की ऐतिहासिक आहुतियां अर्पित कीं। एस.एल.वी. 3 की सफल उड़ान से भारत विश्व का छठा राष्ट्र माना गया, जिसने अंतरिक्ष में अपने राकेट उपग्रह रोहिणी को अपने ही अंतरिक्ष अड्डे से प्रक्षेपित किया।

इस सफल उड़ान पर स्वर्गीय प्रधानमंत्री श्रीमती इंदिरा गांधी ने कहा था :

"भारतीय विज्ञान ने एस.एल.वी. 3 और रोहिणी के प्रमोचन द्वारा एक दूसरी महत्त्वपूर्ण अंतरिक्ष सफलता अर्जित की है। संपूर्ण राष्ट्र इस उपलब्धि में भाग लेने वाले सभी प्रतिभावान, कुशाग्र तथा समर्पित वैज्ञानिकों का अभिनंदन करता है। इस सफलता की ओर अन्य राष्ट्रों का ध्यान आकर्षित हुआ है। परंतु, पहले की तरह आलोचकों ने इसके संभावित सैन्य उपयोग के बारे में कुछ अवांछित आलोचना की है। मैं दुबारा पुष्टि करना चाहूंगी कि भारतीय विज्ञान शांति के प्रति समर्पित है। इसका उद्देश्य विकास करना है...भारतीय विज्ञान ने अभी तक जो प्रमुख उपलब्धियां प्राप्त की हैं, वे उसके

शांतिपूर्ण प्रयोजनों की खोज में हैं, न कि रक्षा आवश्यकताओं की पूर्ति के रूप में। यह पोखरन व श्रीहरिकोटा ने सिद्ध किया है।"

संचार के क्षेत्र में भारत ने 1975-76 के दौरान अमरीका उपग्रह ए.टी.एस. 6 के द्वारा उपग्रह शैक्षणिक दूरदर्शन प्रयोग, जिसे 'फाइट' कहा जाता है, किया। भारत के छह राज्यों में विशेष रूप से चुने गए लगभग 2,400 गांवों में सामाजिक, शैक्षणिक और कृषि-संबंधी दूरदर्शन कार्यक्रम दिखाए गए। इस प्रयोग से उपग्रह दूरदर्शन के महत्वपूर्ण पक्ष का अच्छा आभास हुआ।

1977-79 के दौरान भारत ने फ्रांस-पश्चिम जर्मनी के 'सिम्फ़ोनी' उपग्रह की सहायता से **उपग्रह दूरसंचार परीक्षण परियोजना** (स्टेप) का संचालन किया। इस परियोजना का प्रमुख उद्देश्य घरेलू दूरसंचार-संबंधी विभिन्न आवश्यक पहलुओं का पर्त-दर-पर्त अनुभव प्राप्त करना था।

भारत ने अपनी चौथी पहल प्रायोगिक दूरसंचार उपग्रह **'एप्पल'** को, जिसे अंग्रेज़ी में 'एरियन पेसेंजर पेलोड एक्स्पेरिमेंट' कहते हैं, यूरोपीय अंतरिक्ष एजेंसी (ई.एस.ए.) के एरियन राकेट के द्वारा 1 जून, 1981 को अंतिरिक्ष के दागकर की। एप्पल परियोजना का प्रमुख लक्ष्य राष्ट्रीय दूर-संचार, रेडियो प्रसारण, डेटा प्रसारण, दूरगम्य क्षेत्र संचार, कम्प्यूटर नेटवर्किंग, टेलीकॉन्फ्रेन्स इत्यादि का, प्रयोग के रूप में, अनुभव प्राप्त करना था।

भारत ने अपनी पांचवीं पहल 20 नवम्बर 1981 को पुनः सोवियत संघ के इन्टरकॉस्मास राकेट के द्वारा सोवियत अंतरिक्ष अड्डे कपूस्तिनयां से **भास्कर-2** उपग्रह के प्रेक्षपण से की। भास्कर-2 भी भास्कर-1 की भांति एक प्रायोगिक सुदूर संवेदन उपग्रह था। इसके व्यावहारिक पेलोड यंत्र भास्कर-1 के समान ही थे, परंतु इसमें एक अति उच्च आवृत्ति, 31 किलो मेगाहर्ट्स बैण्ड, का रेडियोमीटर भी लगाया गया था। भास्कर-2 के सभी यंत्रों, दोनों टेलीविज़न कैमरों, तीनों रेडियोमीटरों ने प्रायोगिक रूप से अच्छा कार्य किया। भास्कर-2 के चित्रों एवं आवश्यक डेटा का उपभोक्ताओं ने भली-भांति उपयोग किया। इस उपग्रह परियोजना से भारत सुदूर संवेदन उपग्रहों की करनी-कथनी से अच्छी तरह परिचित हुआ।

भारत ने अपनी छठी पहल 10 अप्रैल, 1982 को इन्सैट-1ए उपग्रह के प्रक्षपण से की। इस उपग्रह ने कुछ जटिल तकनीकी समस्याओं के कारण सितंबर 1982 से अंतरिक्ष में कार्य करना स्थगित कर दिया। स्वदेशी घरेलू उपग्रहों की शृंखला का प्रथम उपग्रह इन्सैट-1ए दूर-संचार, दूरदर्शन प्रसारण एवं मौसम के क्षेत्रों में अपने ढंग का निराला था, हालांकि अभाग्यवश उससे हम ऐच्छिक लाभ प्राप्त नहीं कर सके। इन्सैट-1ए की असफलता के बाद पुनः भारतीय इंजीनियरों ने उसके डिज़ाइन पर उच्च स्तर पर एकजुट होकर विचार-विमर्श किया, आवश्यक डिज़ाइन परिवर्तन किए और पुनः 30 अगस्त, 1983 को इन्सैट-1बी अंतरिक्ष शटल (एस.टी.एस.8) चैलेंजर के द्वारा अंतरिक्ष में दागा।

इन्सैट-1बी ने विश्व के सामने दूर संचार-उपग्रह दूरदर्शन प्रसारण एवं मौसम के

क्षेत्र में एक नवीन मिसाल प्रस्तुत की है। भारत में इस उपग्रह ने दूरदर्शन एवं रेडियो नेटवर्किंग में एक विशेष क्रांति पैदा कर दी है। टेलीविज़न सैटों पर मौसम की रंगरेलियों की प्रतिदिन आवश्यक झांकियां प्रस्तुत की जाती हैं। आंधी-तूफानों की पूर्व चेतावनी रोजमर्रा का काम हो गई है। टेलीफोनों, टैलेक्सों को भी एक उच्चस्तरीय सफलता प्राप्त हुई है।

जैसा कि आपको ज्ञात होगा इन्सैट-1ए एवं इन्सैट-1बी भारत ने अमरीकी कंपनी फोर्ड ऐरोस्पेस से खरीदे थे। अब भारत इन्सैट-उपग्रहों को स्वयं बनाने में पूर्णतः समर्थ हो गया है। भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन स्वदेशी इन्सैट उपग्रहों को प्रयोग के रूप में बनाने के प्रयासों में कार्यरत है। आजकल भारतीय सुदूर संवेदन उपग्रह (आई.आर.एस.) का निर्माण कार्य अच्छी प्रगति पर है। आशा है कि यह उपग्रह 1986 के दौरान सोवियत संघ के अंतरिक्ष अड्डे एवं राकेट से प्रक्षेपित किया जाएगा। आइ.आर.एस. भारत का आंशिक औपचारिक सुदूर संवेदन उपग्रह है। यह भारत भूमि के चित्र बहुत अच्छी विभेदन क्षमता से ले सकेगा। आशा है कि कृषि, वन, जल एवं सामुद्रिक कार्यों के क्षेत्रों में यह उपग्रह अच्छा खासा योगदान दे सकेगा।

एस.एल.वी.3 के सफल प्रक्षेपणों के बाद आजकल भारत संवर्धित (आगमेंटेड) एस.एल.वी. 3 के विकास एवं निर्माण कार्य में लगा हुआ है। यह राकेट लगभग 150 किलोग्राम भार के भारतीय उपग्रह को कम ऊंचाई के कक्ष में अंतरिक्ष में स्थापित कर सकेगा। आशा है कि यह राकेट एक वर्ष की अवधि में पूर्णतः तैयार हो जाएगा और अंतरिक्ष में प्रमोचित कर दिया जाएगा।

भारतीय अंतरिक्ष अनुसंधान संगठन आजकल एक ध्रुवीय उपग्रह प्रमोचक राकेट (पोलर सेटेलाइट लॉन्च विहिकल) की परियोजना पर भी अच्छी प्रगति कर रहा है। यह राकेट लगभग 1,000 किलोग्राम भार के उपग्रहों को पृथ्वी के ध्रुवीय कक्षों में स्थापित करने में समर्थ होगा। आशा की जाती है कि यह 1990 के आस-पास अंतरिक्ष में दागा जा सकेगा।

ग्रेगर जॉन मेन्डल (1822-1884) की पुण्यशती पर

आनुवंशिकी के सौ वर्ष

अरविंद मिश्र

जिन बुनियादी सिद्धांतों की आधारशिला पर आज के जीव विज्ञान की नींव टिकी हुई है, उनमें **डार्विन** और **मेन्डल** के सिद्धांत सर्वप्रथम हैं। 1982 में समूचे विश्व में, डार्विन के सौवें पुण्य वर्ष पर उनके व्यक्तित्व और कृतित्व की व्यापक समीक्षा हुई थी। यह वर्ष मेन्डल की मृत्यु का सौवां वर्ष है। डार्विन के ठीक विपरीत मेन्डल अपने जीवन काल में बिल्कुल अनजाने ही थे। इनके आनुवंशिकी के सिद्धांत भी एक लंबे समय तक गुमनामी में रहे। जहां डार्विन को एक वैज्ञानिक के रूप में अपने जीवन काल में ही बड़ी प्रसिद्धि मिली, वहीं इस महान वैज्ञानिक की मृत्यु के लगभग दो दशक तक भी चन्द लोग उन्हें बस एक पादरी के रूप में ही जानते थे। किंतु कौन जानता था कि डार्विन के सिद्धांतों के ही स्तर के आनुवंशिकी के कुछ मूल नियम जन्म ले चुके हैं—और आने वाली बीसवीं शताब्दी में जीवविज्ञान के क्षेत्र में एक नया तहलका मचने वाला है। आइए, आनुवंशिकी के प्रणेता इस महान वैज्ञानिक की पुण्य शताब्दी पर आनुवंशिकी के ही सौ वर्षीय अतीत पर एक दृष्टि डालें।

आस्ट्रिया निवासी मेंडल की जिज्ञासा जीव-जन्तुओं के आकार-प्रकारों तथा रंगों की विविधता में थी। साथ ही उनकी रुचि जीव-जन्तुओं में पीढ़ी दर पीढ़ी होने वाले अंतरों में भी थी। मटर के पौधों, (Garden Pea, *Pisum sativum)* पर किए गए प्रयोगों के आधार पर उन्होंने क्रांतिकारी नियमों का सूत्रपात किया। इन्हीं नियमों ने आनुवंशिकी के विज्ञान की नींव रखी।

अपने एक प्रयोग में मेन्डल ने दो प्रकार के लंबे तथा बौने मटर के पौधों को उगाया। जब लंबे पौधों के पुष्पों का आपस में परागण हुआ तो निषेचित बीजों से उत्पन्न सभी पौधे लंबे ही हुए। इसी तरह बौने पौधों के आपसी संयोग से उत्पन्न सभी सन्तति बौनी हुई। सिद्ध हुआ कि लंबे पौधे से लंबे पौधों तथा बौने पौधों से बौनों की ही उत्पत्ति होती है। इस प्रक्रिया में वातावरणीय कारकों का प्रभाव तो देखा गया किंतु उससे

---

* विज्ञान, मई 1984

वंशानुगमन की निश्चित प्रक्रिया परिवर्तित नहीं हुई। उन्होंने देखा कि प्रयोगों में आनुवंशिकी ने निर्णायक भूमिका निभाई। लंबे पौधे 6 से 7 फीट तक लम्बे थे, जब कि बौने पौधों की लंबाई केवल 6 से 18 इंच तक ही थी।

अब मेन्डल ने लम्बे तथा बौने पौधों का संयोग कराया। इसमें, पहली संतति (F_1) के सभी पौधे लम्बे थे। इस प्रथम संतति में बौने पौधों की पहचान अदृश्य थी। जब इस संतति के लम्बे पौधों का आपसी संयोग हुआ तो आने वाले वंश (F_2) की दूसरी पीढ़ी में बौनापन पुनः दृश्य हो गया। इसमें कुछ तो लम्बे पौधे थे और कुछ बौने। औसत 3 लम्बे तथा 1 बौने पौधे का अनुपात पाया गया। अपने अन्य प्रयोगों में मेन्डल ने कई अन्य जोड़ों में परस्पर विरोधी गुणों के वंशानुगमन का अध्ययन किया। उन्होंने देखा कि दूसरी पीढी (F_2) में सभी संकरित (Mono hybrid) पौधों से 3:1 का अनुपात मिला। एक जोड़े का कोई सदस्य दबंग (Dominant) होता था तो दूसरा गौण (Recessive)। मेन्डल इस निष्कर्ष पर पहुंचे कि जीवों में आनुवंशिकी इकाइयों का संवहन निषेचन के दौरान, स्वतंत्र भौतिक इकाइयों (?) के जरिए संपन्न होता है। तब उन्हीं कल्पित भौतिक इकाइयों को उन्होंने जर्मन शब्द **एनलाग** (Anlage pl. Anlagen) का नाम दिया। मेन्डल की अवधारणा में, कुछ गुणों का पहली पीढ़ी में अदृश्य होना तथा पुनः उन्हीं गुणों का दूसरी पीढ़ी में प्रकटीकरण एनलाग की एक विशेष अवस्था में ही संभव था। एनगेलान (आज का जीन, Gene) की वह अवस्था उनके जोड़े में होने की थी।

मेन्डल ने अपने पहले प्रयोगों के आधार पर जो सबसे महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला वह 'परिशुद्धता के नियम' से विख्यात हुआ। इसमें वंशाणुओं (Genes) के जोड़ों में अलगाव की बात कही गई थी। इसके उदाहरण में उन्होंने ऐसे पौधों में संयोग कराया जिनमें वंशाणुओं के दो जोड़े विभिन्नता लिए हुए थे इसमें, (F_1) पीढ़ी में तो सभी सन्तति दबंग वंशाणुओं के प्रभाव में थी, किंतु दूसरी पीढ़ी (F_2) में पौधों की विभिन्नता में 9:3 : 3:1 का अनुपात मिला। इस पर मेन्डल का निष्कर्ष था कि वंशाणुओं के दोनों जोड़े एक दूसरे से स्वतन्त्र थे। इसे ही उनके दूसरे नियम 'वंशाणुओं के स्वतंत्र अपव्यूहन' (Independent assortment) के रूप में मान्यता मिली। अपने इन्हीं प्रेक्षणों को उन्होंने एक प्रपत्र के रूप में तत्कालीन अलब्रुन सोसायटी के सामने रखा था। किंतु उस समय विद्वानों ने उस पर कोई ध्यान ही नहीं दिया। इस तरह आनुवंशिकी की ये प्रारंभिक मान्यताएं आरंभ में गुमनामी की शिकार हो गईं।

ठीक 1900 में तीन वैज्ञानिकों ने मेन्डल की मान्यताओं को गुमनामी के अन्धेरे से उबार लिया। ये तीन वैज्ञानिक थे—**ह्यूगो डी व्रीज, कार्ल कोरेन्स** और **इरिक वान टेशरमॉक-सेसनेग**। इन तीनों वैज्ञानिकों ने स्वतंत्र रूप से मेन्डल के नियमों को खोजा था और उसके महत्व को स्वीकारा था। इसमें डी व्रीज ने मेन्डल के नियमों को विशेष महत्व दिया। अब आनुवंशकी के एक नए युग का श्रीगणेश हो चुका था।

ह्यूगो डी व्रीज ने 1901 में अपने प्रसिद्ध उत्परिवर्तन सिद्धांत (Mutation theory)

को वैज्ञानिकों के समक्ष रखा। उत्परिवर्तन का आशय जीवों के जननकोशाओं (Germplasm) में होने वाले वे तात्कालिक परिवर्तन हैं जो वातावरणीय कारकों से उत्पन्न हो सकते हैं और जिनसे जीवों की सन्तति परिवर्तित रूप ले सकती है। डी व्रीज की इस मान्यता से प्रकृति में विकास के दौरान हो रहे विभिन्नताओं (Variations) की एक कोटि की व्याख्या संभव हुई। यद्यपि इस मत का पहले डार्विनवादियों ने (जो विकास की धीमी गति से उत्पन्न विभिन्नता के अनुयायी थे) तीव्र विरोध किया, किंतु बाद में विभिन्नता के मूल में मिले इस नए कारण से डार्विन के सिद्धांत को ही बल मिला। क्योंकि इससे पूर्व विभिन्नता के लिए दिया गया **लैमार्क का सिद्धांत,** डार्विन के सिद्धांतों के अनुरूप नहीं था। लेकिन विभिन्नता की एक उपयुक्त व्याख्या के अभाव में डार्विन ने लैमार्क के मत को विवशता से स्वीकारा था। जीवविज्ञान के इस क्षेत्र में इस शताब्दी का श्रीगणेश, उत्परिवर्तन के सिद्धांत से हुआ और आनुवंशिकी के लिए प्रगति के नए द्वार खुल गए।

अग्रेज वैज्ञानिक **विलियम बैटेसन** ने इंग्लैड में सबसे पहले (8 मई, 1900) मेन्डल के अनुसंधान को प्रचारित किया। 1901 की शुरुआत में ही मेन्डल का कार्य इंग्लैण्ड की मशहूर रायल हार्टीकल्चर सोसाइटी की कार्यवाही-प्रकाशन में प्रकाशित हुआ। बैटेसन ने मेन्डल द्वारा मटर के पौधों पर किए गए अनुसंधानों को पशुओं पर दोहराया और उन्हें उन पर भी लागू पाया। बैटेसन के दो प्रकाशनों, 'मेन्डलूस प्रिंसिपल ऑव हेरेडिटी-ए डिफेंस (1902) तथा मेन्डलूस प्रिंसिपल ऑव हेरेडिटी (1909) ने मेन्डल् के अनुसंधानों की पृष्ठभूमि में आनुवंशिकी के कुछ मूल सिद्धांतों की स्पष्ट व्याख्या दी। **बैटेसन ने ही इस नए विज्ञान के लिए 'जेनेटिक्स' शब्द भी गढ़ा।** 1909 में, कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में 'जेनेटिक्स' विभाग स्थापित हुआ और बैटेसन उसमें पहले प्रोफेसर बने।

फ्रांसीसी वैज्ञानिक **कुयेनाट** (Cuenot) ने 1911 में मेन्डल की खोजों का अनुसरण करते हुए चूहा परिवार के कुछ सदस्यों पर आनुवंशिकी के अपने प्रयोगों (Rodent Genetics) को प्रकाशित किया। ठीक इसी समय डब्लू ई. कैसिल नाम के अमेरिकन वैज्ञानिक ने मेन्डल के नियमों को स्तनपायी जानवरों पर प्रयोग कर देखा। **जोहान्सन ने 'जीन' शब्द 1903 में दिया।** और 'जेनेटिक्स' पर विश्व की प्रथम पुस्तक 1905 में इन्हीं के द्वारा 'एलिमेन्ट्स ऑव जेनेटिक्स' के नाम से प्रकाशित हुई।

इस शताब्दी के दूसरे दशक में टी.एच.मोर्गन, ए.एच. स्टर्टवन्ट, और एच.जे. मुलर ने क्रमशः वंशानुगमन के वंशाणु (Gene) सिद्धांत, गुणसूत्रों का मानचित्रण (Chromosome mapping) एवं ड्रासोफिला नाम की मक्खी में 'लिंग सह' उत्परिवर्तनों पर महत्वपूर्ण अनुसंधान किया। तीसरे दशक का सबसे महत्वपूर्ण कार्य था एच. जे. मुलर द्वारा एक्स किरणों से उत्परिवर्तन (1927) उत्पन्न करना। 1930 में **आर.ए. फिशर** ने प्रसिद्ध 'जेनेटिकल थियरी ऑव नेचुरल सेलेक्शन' का प्रतिपादन किया। इस पुस्तक एवं 1931 में प्रकाशित एस. राइट की पुस्तक 'इवोलूशन इन मेन्डेलियन पापुलेशन' ने जनसंख्या आनुवंशिकी के गणितीय आधारों की नींव रखी। 1937 में **आर.बी. गोल्डस्मिथ** ने वंशाणु

को एक रासायनिक इकाई के रूप में घोषित किया। इसी वर्ष आयी, टी. डोब्झैन्स्की की प्रसिद्ध पुस्तक 'जेनेटिक्स एण्ड ओरिजिन ऑव स्पीशीज'। अब तक आनुवंशिकी की खोजों ने जीवशास्त्र की लगभग सभी विधाओं को प्रभावित कर लिया था।

वंशाणुओं द्वारा एन्जाइम का संश्लेषण होता है, यह सिद्ध किया जी. डब्ल्यू. बीडल और इ. ल. ढैटम ने 1941 में। अब तक यह भी ज्ञात हो चुका था कि वंशाणुओं का एक प्रमुख पदार्थ डी.एन.ए. आनुवंशिक गुणों का पीढ़ी दर पीढ़ी, संवाहक भी है। 1950-1955 तक **ई. चारगाफ** ने न्यूक्लीय अम्लों की रासायनिक संरचना पर महत्वपूर्ण अनुसंधान किया। 1953 में, **एफ.एच.सी. क्रिक** और **जे.डी. वाट्सन** ने 'आनुवंशिकी पदार्थ डी.एन.ए.' का माडल प्रस्तुत किया। यह बहुत ही महत्वपूर्ण खोज थी। इसमें डी.एन.ए. को एक लहरियादार सीढ़ी के रूप में बताया गया था, जिसके दोनों डंडों के बीच में नियमित पौड़ियां थीं—इसे क्रिक और वाटसन ने 'डबुल हेलिक्स' नाम दिया। पांच वर्षों बाद **जे. हर्बर्ट टायलर** ने गुणसूत्रों में डी.एन.ए. की व्यवस्था की तथा डी.एन.ए. द्वारा अपनी अनुकृति बनाने की खोज की। 1961 में **एफ. जैकब** एवं **जे. मोनाड** ने प्रोटीन संश्लेषण और वंशाणुओं में आपसी संबंध और आनुवंशकीय गुणों के संवहन की क्रियाविधि समझायी। इससे 'जेनेटिक कोड' यानी 'वंशाणुओं की कूट भाषा' भी समझ ली गई। इससे यह पता लगा कि कैसे वंशाणुओं का एक निश्चित समंजन, निश्चित अमीनो अम्ल को संश्लेषित करने में सहायक है। 1966 में **जॉन कैरनूस** ने बैक्टीरिया के गुणसूत्र की संरचना और उसके द्विगुणित होने की प्रक्रिया को दर्शाया। इसी वर्ष क्रिक ने एक कोशिका में प्रोटीन संश्लेषण की प्रक्रिया भी दर्शायी। 1968 में एम. डब्ल्यू. नीरेनबर्ग और **जे.एच. मैथी** ने प्रोटीन संश्लेषण की प्रक्रिया की संपूर्ण व्याख्या की। 1973 में, भारतीय मूल के आनुवंशिकीविद **डॉ. हरगोविन्द खोराना** ने पहला क्रियात्मक डी.एन.ए. संश्लेषित किया। 1974 में, के.ए. कोर्नबर्ग ने भी डी.एन.ए. संश्लेषित किया और फ्रैंक रडल ने मानव की देही ((Somatic) कोशाओं को संयुक्त करने का प्रयास किया। ठीक पांच वर्ष पश्चात् 1979 में **चार्ल्स बीजमैन** ने उन वंशाणुओं को पहचाना, जो महत्वपूर्ण विषाणुरोधी औषधि 'इन्टरफेरान' का संश्लेषण करते हैं।

1980 में, इलि लिली और कम्पनी ने व्यावसायिक स्तर पर इन्सुलिन का उत्पादन 'आनुवंशकीय अभियांत्रिकी' के जरिए किया। इसी वर्ष बीजमैन ने मानव के इन्टरफेरान को जीवाणु द्वारा संश्लेषित किया। दो वर्ष पश्चात् प्रथम मानव निर्मित इन्सुलिन बाजार में आया। इसी वर्ष (1983) **डॉ. एन्ड्रयू म्यूरी** और **डॉ. जैक स्जोस्टैक** ने पहला सक्रिय, कृत्रिम गुणसूत्र रचा। और इसी खोज के साथ आनुवंशिकी के महान विचारक जार्ज आर्वेल के बहुचर्चित '1984' में पदार्पण किया।

अभी पिछले वर्ष राजधानी दिल्ली में संपन्न हुए इस दिवसीय पंद्रहवें अंतर्राष्ट्रीय आनुवंशिकी कांग्रेस (12-21 दिसम्बर 1983) के अधिवेशन का उल्लेख किए बिना यह लेख अधूरा रहेगा। इस सम्मेलन में डॉ. हरगोविन्द खोराना, डी.एस. बोरगोनकर, एस.ए.

नारंग, ओटो फ्रैंकनेल, सी.एफ. कर्टिस, डेविड आर.रोव, एस. बेन्जर, आनंद मोहन चक्रवर्ती, के.जे. फेरी, ए. सारसेन, डी.टी. कोपीको, लैवरेन्स फिशबीन, डी.वी. गीडेल और चार्ल्स बीजमैन प्रभृत वैज्ञानिकों ने भाग लिया। इस सम्मेलन में 'आनुवंशिक अभियांत्रिकी' और जैव तकनीकी के विभिन्न व्यवहारिक पक्षों पर चल रहे शोधों पर विशद चर्चा हुई। डॉ. खोराना ने जहां ऊर्जा उत्पादक के रूप में एक नए 'हेलो बैक्टेरियम' का आविष्कार किया है, वहीं एक **दूसरे भारतीय वैज्ञानिक आनंद मोहन ने तेल पीने वाले 'बग' का निर्माण कर डाला** है। इसी सम्मेलन में, भारत के हरित क्रांति के मसीहा, डॉ. एम.एस. स्वामीनाथन ने जैवमंडल के संरक्षण का मुद्दा उठाया। उन्होंने कहा कि इसके पहले कि इस लोक से महत्वपूर्ण पशु और वनस्पति प्रजातियां लुप्त हो जाएं, उनके 'जर्म प्लाज्म' सुरक्षित कर लिए जाएं। इसी अवसर पर प्रधान मन्त्री इन्दिरा गांधी ने विश्व के आनुवंशिकी विदों को आनुवंशिकी अभियांत्रिकी से जुड़े खतरनाक परिणामों से भी आगाह किया। किंतु मशहूर ब्रितानी पत्रिका 'नेचर' के संपादक डॉ. मैडाक्स का कहना था कि आनुवंशिकी के प्रयोगों पर आशंका बेबुनियाद है। आनुवंशिकी, मानव हित यांत्रिकी की खोजों से मानव का भविष्य खुशहाली से भर उठेगा। कृषि, उद्योग और चिकित्सा के क्षेत्र में होने वाली क्रांतिकारी खोजें मानव स्वप्नों को साकार कर देंगी। महान मानवतावादी वैज्ञानिक मेन्डल ने जिस विज्ञान का सूत्रपात किया, वह निश्चत ही मानवता की गोद में अपने आविष्कार सुमन अर्पित करता रहेगा।

कंप्यूटर महिला*

आशुतोष मिश्र

जनवरी 1977 अमरीका के एक विश्वविद्यालय में एक अद्भुत प्रतियोगिता होती है—एक महिला और एक कंप्यूटर के बीच। यह कंप्यूटर UNIVAC 1108 विश्व का सबसे तेज गणन है। दोनों प्रतियोगियों को एक लंबी सी संख्या : 9167486769200391580986609275853801624831066801443086224071265-164279346570408670965932792057674808067900227830163549248-523803357453169351119035965775473400756818688305620821016129132845564895780158806771 दी गई और उसका 23वां मूल निकालने को कहा गया। उस विलक्षण महिला ने आंखें बंद कीं, ध्यान एकाग्र किया और कुल 50 सेकंड में उत्तर दिया '546372891। कंप्यूटर में 1300 सूचनाएं भरी जा चुकी थीं और उत्तर की प्रतीक्षा की जा रही थी। कुल दस सेकेंड बाद, अर्थात एक मिनट में कंप्यूटर ने उत्तर दिया। कंप्यूटर हार चुका था।

आप अवश्य पूछेंगे कि वह कौन महिला थी जिसने ऐसी दिल दहलाने वाली संख्या का मूल झट से बता दिया? वह हैं अपने भारत की ही एक साधारण सी **कन्नड़भाषी महिला शकुंतला देवी**। वास्तव में इस महिला का गणित ज्ञान मात्र तीन वर्षों में इतना अच्छा था कि लोग विस्मय विमुग्ध रह जाते थे। जैसे-जैसे वे बड़ी हुईं, उनके माता-पिता ने इस प्रतिभा को धनोपार्जन का साधन बना लिया और वे विधिवत शिक्षा प्राप्त करने में असमर्थ रहीं। सर्वप्रथम अपनी प्रतिभा को प्रदर्शित करने का अवसर उन्हें तब प्राप्त हुआ जब टेक्सास में एक कंप्यूटर से उनकी प्रतियोगिता हुई—यह देखने के लिए कि दोनों में से कौन 188138517 का घन मूल (cube root) निकालने में जीतता है। शकुंतला देवी ही जीतीं। जब वे बंबई आती हैं तब वहां अपनी प्रतिभा का प्रदर्शन करती हैं। लोग कैसा भी पेचीदा गणित का सवाल पूछें, प्रश्न समाप्त होते-होते उत्तर तैयार रहता है। उनका कहना है कि संख्याओं के साथ उनका तादात्म्य हो गया है और प्रश्न होते ही उसका उत्तर उनके मस्तिष्क में कौंध जाता है। यदि कोई व्यक्ति सिद्धांतों के आधार पर इन प्रश्नों का

---

* विज्ञान, जून 1984

उत्तर उत्तर देना चाहे तो वह भी संभव है। तो आप यह भी जान लीजिए कि यह होता कैसे है? यदि आपको लघुगणक (Logarithms) का जरा भी ज्ञान है तो यह पलक झपकते ही संभव है। इसके लिए 2 अंकों वाली लघुगणक सारणी (Logarithmic Table) के प्रथम बीस अंकों को रटना पड़ेगा—जैसे Log 2=0.30, log 3=0.48 आदि। मान लीजिए आपको 20 अंकों की संख्या का 64वां मूल निकालना है। बिना संख्या पूछे ही यह कीजिए—$\log^{64} \sqrt{(20 \text{ अंक})} = \frac{19,\ldots\ldots\ldots}{64}$ आपका उत्तर $= \frac{19}{64}$ और $\frac{19.99}{64}$ के बीच होगा—यह हैं 0.29 और 0.32 के बीच। यदि आपको लघुगणक याद है तो उत्तर तैयार है '2' चूंकि 0.30=Log 2 परंतु इतना सब करने के लिए भी संख्याओं से जूझना पड़ता है। शकुन्तला देवी ने अपनी पुस्तक 'फिगरिंग द ज्वाय विद नम्बर्स' *(Figuring the joy with numbers)* में इन्हीं विधियों को समझाया है। अपनी विलक्षण प्रतिभा और अद्भुत स्मरण शक्ति के कारण ही उन्होंने गिनीज बुक ऑव वर्ल्ड रेकार्ड्स' *(Guiness Book of World Records)* में स्थान प्राप्त किया है।

यद्यपि शकुन्तला देवी इस समय कंप्यूटर जैसी गणनाएं करने में सर्वश्रेष्ठ हैं पर ऐसी अनेक विभूतियां विश्व में विद्यमान हैं। भारत में ही ले लीजिए : जामनगर के श्री प्रवीण कुमार मेहता जो कि 46 वर्ष के हैं, बड़ी से बड़ी संख्याओं का गुणा, भाग और मूल आदि पलक झपकते ही निकाल लेते हैं। उन्होंने सिर्फ नवीं कक्षा तक शिक्षा प्राप्त की और आजकल अपने परिवार का भरण पोषण करने के लिए अखबार बेचते हैं।

एम्सटर्डम के विलियम क्लीन भी एक जीते जागते कंप्यूटर कहे जा सकते हैं। द्वितीय विश्वयुद्ध के पश्चात् उनको एम्सटर्डम के गणित संस्थान (Intitute of Mathematics) में 'कैलकुलेटर' नियुक्त किया गया। वे 200 अंकों वाली संख्याओं का 23वां मूल 10. 5 मिनट में निकाल सकते थे। आजकल वे CERN (European Organization for Nuclear Research) में कंप्यूटर का कार्य करते हैं।

वह भारत के लिए गर्व की बात हैं कि उसने अभी गणित की विलक्षण प्रतिभाओं को खोया नहीं है। प्राचीन काल से लेकर यह परंपरा चली आ रही है। आर्यभट, भास्कराचार्य, लीलावती, रामानुज और अब शंकुतला देवी-काश यह परम्परा कभी न समाप्त हो।

आन्कजीन : कैंसर उत्पन्न करने वाली जीन*

अशोक सेन

शायद ही कोई ऐसा व्यक्ति हो जो 'कैन्सर' का नाम सुनकर भयभीत न हो जाता हो। विचित्र प्रतीत होते हुए भी यह सत्य है कि आज जब अधिकांश घातक रोगों का समूल नाश किया जा चुका है अथवा उन पर काफी हद तक काबू पाया जा सका है, कैन्सर से पीड़ित व्यक्तियों की संख्या बढ़ती ही जा रही है। "सभ्यता के रोग" के नाम से पुकारे जाने वाले इस कुविख्यात रोग को हमारे चिकित्सावैज्ञानिक चुनौती के रूप में स्वीकार कर चुके हैं और संसार के अधिकांश देशों में कैंसर के बारे में अनुसंधान किए जा रहे हैं कैंसर को समाप्त करने का बीड़ा उठाया जा चुका है।

आरंभ में वैज्ञानिकों को यह समझने में काफी समय लग गया कि कैंसर नाम से पुकारे जाने वाला रोग वास्तव में क्या है। इस बारे में कुछ ज्ञान हो जाने के बाद ऊपरी तौर पर शल्यचिकित्सा तथा रेडियोधर्मी विकिरणों की सहायता से उसकी वृद्धि पर काफी काबू पा लिया गया। साथ ही कुछ ऐसी औषधियां भी खोज ली गईं जो कैंसर के रोगी के शरीर में प्रवृष्टि करायी जाने पर कैंसर कोशिकाओं को नष्ट कर देती हैं। परंतु इसे कैंसर पर विजय समझकर संतुष्ट नहीं हो जाना चाहिए क्योंकि अभी तक कैंसर के दोबारा उत्पन्न होने की सम्भावना को समाप्त नहीं किया जा सका था। इसके लिए अत्यंत आवश्यक था कि आधारभूत स्तर पर (जीन स्तर पर) कैंसर का अध्ययन किया जाए जिससे यह मालूम हो सके कि एक सामान्य कोशिका कैंसरग्रस्त क्यों हो जाती है।

वायरसजन्स कैंसर

किसी कोशिका के एकाएक असामान्य रूप से व्यवहार करने लगने और अपनी वृद्धि पर नियंत्रण खो देने—(कैंसर के सामान्य लक्षण) के पीछे कोशिका में ही निहित आनुवंशिक कारकों की खोज में वैज्ञानिकों ने अनेक प्रकार के कैंसरों का अध्ययन किया। उसमें उन्हें पता चला कि कैंसर उत्पन्न करने में वायरसों का भी योग होता है। ऐसे बहुत से वायरस पाए गए जो जानवरों में कैंसर उत्पन्न करते हैं। साथ ही मनुष्य में भी कुछ विशेष प्रकार

---

* विज्ञान प्रगति, आनुवंशिकी विशेषांक : 1984

के कैंसर वायरसों के कारण ही पैदा होते हैं। वास्तव में यह वायरस आनुवंशिक पदार्थ हैं जो प्रोटीन की एक 'थैली' में बंद रहते हैं।

इस बारे में कि कैसे एक वायरस विभेद किसी सामान्य कोशिका को कैंसरग्रस्त कर देता है जानने में सर्वप्रथम **स्कोलनिक** को सफलता मिली थी। इसके लिए उन्होंने जिस वायरस को अध्ययन के लिए चुना था वह था **हॉर्वे सारकोमा वायरस**। प्रयोगशाला में यह वायरस चूहों में आसानी से कैंसर उत्पन्न करता पाया गया है। अध्ययन के लिए इसी वायरस का चयन करने का एक प्रमुख कारण था इस वायरस की जीनों की संख्या का अत्यंत कम—पांच जैसी कम—होना। आप जानते ही हैं कि हमारी एक सामान्य कोशिका में हजारों जीनें होती हैं। निश्चय ही मानव कोशिका जैसी जटिल संरचना का अध्ययन करना सरल नहीं है।

स्कोलनिक ने अपने प्रयोगों में देखा कि हॉर्वे सारकोमा वायरस सामान्य चूहे की भ्रूण कोशिका को कैंसर कोशिका में परिवर्तित कर देता है जिससे कोशिका-विभाजन पर नियंत्रण गड़बड़ा जाता है। वह तेजी से विभाजित होने लगती है। वह एक से दो, दो से चार, चार से आठ होती हुई, अपनी संख्या में अत्यंत तेजी से वृद्धि करने लगती है।

नियंत्रण व्यवस्था

नियंत्रण व्यवस्था को पुनः सही करने के लिए, जिससे कोशिका के विभाजन को रोका जा सके, यह जरूरी है कि स्वनियंत्रण व्यवस्था की प्रकृति को समझा जाए। स्वनियंत्रण व्यवस्था की खोज करने पर यह पाया गया कि इस (हॉर्वे सारकोमा) वायरस के भीतर एक छोटा 'आनुवंशिक खंड' होता है जिसमें 'आनुवंशिक सूचना' 'अंकित' रहती है। यह आनुवंशिक खंड वास्तव में दो हिस्सों से मिल कर बना होता है। एक खंड 'आन्क' होता है और दूसरा 'नियंत्रण खंड'। आन्क खंड ही कैंसर खंड होता है। उसमें यह सूचना निहित होती है कि कोशिका विभाजित होकर रूपांतरित हो जाए। सामान्यतः नियंत्रण खंड आन्क खंड की गतिविधि पर नियंत्रण रखता है। किसी कोशिका के सुचारू रूप से कार्य करने के लिए यह अत्यंत आवश्यक होता है कि इन दोनों खंडों में पारस्परिक तालमेल रहे क्योंकि एक खंड दूसरे से अलग होकर कार्य नहीं कर सकता।

इस प्रकार एक अत्यंत सनसनीखेज तथ्य का उद्घाटन हुआ कि स्वयं कोशिका में ही उसके विनाश का कारक मौजूद होता है। वह बिन बुलाया मेहमान नहीं होता वरन कोशिका का ही एक अंग होता है। हॉर्वे सारकोमा वायरस के इस आनुवंशिक क्रम की तुलना जब मनुष्य तथा चूहे की कोशिकाओं के डी.एन.ए. के क्रम से की गई तो दोनों में समानता पाई गई। परंतु कोशिकीय डी.एन.ए (जीन) वायरस जीन के विपरीत हानिरहित थे। आगे चलकर प्रयोगों से पता चला कि यदि इन कोशिकीय जीनों को वायरस के आनुवंशिक नियंत्रण खंड से जोड़ दिया जाए तो वे भी कैंसर पैदा कर सकती है।

वायरस जीन और कोशिकीय जीन, दोनों ही, एकसी प्रोटीन के उत्पादन का
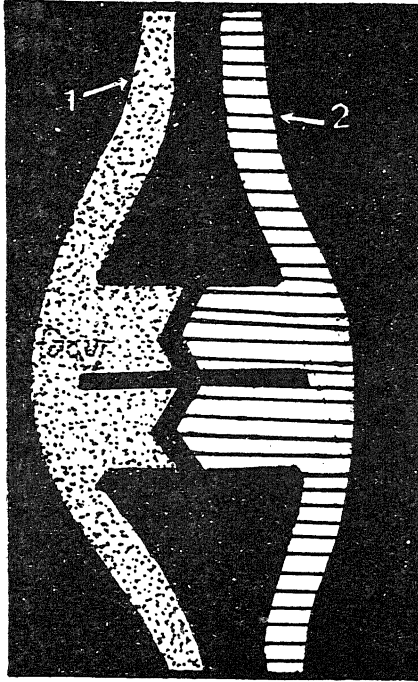
चित्र-1

कोशिका सुचारु रूप से किस प्रकार विभाजित होकर रूपांतरित होती है–यह आनुवंशिक सूचना जीन (आनुवंशिक खण्ड) पर अंकित होती है। यह जीन दो खंडों से मिलकर बनती है। 1. 'आन्क' खण्ड तथा 2. 'नियंत्रण' खण्ड। आन्क खण्ड प्रोटीन उत्पादन के लिये उत्तरदायी है। नियंत्रण खण्ड इसकी गतिविधि पर नियंत्रण रखता है। इन दोनों खण्डों के पारस्परिक तालमेल से ही कोशिका का विभाजन व उसकी वृद्धि सम्भव है।

'निर्देश' देती हैं तथा उस उत्पादन को नियंत्रित करती हैं परन्तु दोनों में भिन्नता यह है कि ऐसी कोशिकाएं जिनमें यह वायरस जीन प्रविष्ट कर जाती है एक सामान्य कोशिका की तुलना में सैकड़ों गुनी अधिक मात्रा में प्रोटीन का निर्माण शुरू कर देती है।

स्कोलनिक ने बाद में इस प्रकार निर्मित प्रोटीन, जो एक एन्जाइम है, के गुणों के बारे में काफी अध्ययन किए। उन्होंने एक ऐसी परख भी खोज निकाली जिससे आसानी से यह पता लग सकता था कि किसी कोशिका में आन्क जीन द्वारा निर्मित प्रोटीन उपस्थित हैं या नहीं।

भिन्न पद्धति

जहां एक और कैंसर वायरस की प्रकृति को तथा कोशिका के कैंसरग्रस्त होने की प्रक्रिया

को समझने के प्रयास किए जा रहे थे दूसरी ओर लगभग उसी समय एक दूसरे अमेरिकी वैज्ञानिक, **रॉबर्ट बीनबर्ग,** एकदम भिन्न पद्धति से कैंसर के कारण की खोज में लीन थे। वास्तव में वे स्कोलनिक के मत से पूरी तरह सहमत नहीं थे। वे सब प्रकार के कैंसरों को वायरसजन्य सही मानते थे। उनका मत था कि वायरसजन्य कैंसरों के लिए उक्त निष्कर्ष सही है परंतु उन कैंसरों का आनुंवशिक रहस्य क्या है जो वायरस संक्रमण को नहीं होते। आपको जानकारी के लिए यहां यह बताना उचित होगा कि अनेक प्रकार के कैंसर रेडियोधर्मी या अन्य प्रकार की विकिरणों से तथा रासायनिक पदार्थों से उत्पन्न होते हैं। ऐसे पदार्थों की सूची काफी लम्बी हैं जो कैंसर के कारण माने जाते है।

अतएव बीनबर्ग ने इस समस्या को दूसरे तरीके से सुलझाना चाहा। उन्होंने मानव शरीर की उन कैंसरग्रस्त कोशिकाओं में ही कुछ असामान्य जीनों का आनुवंशिक अध्ययन किया। अपनी प्रयोगशाला में उन्होंने कुछ चूहों को उन रासायनिक पदार्थों के संपर्क में रखा जो कैंसर-जनक थे। इससे उन्हें कैंसर हो गया। फिर उन्होंने चूहों की कैंसरग्रस्त कोशिकाओं की जीनों को ही नहीं वरन् उनके डी.एन.ए. को भी अलग किया। बाद में जीन स्थानांतरण द्वारा उन्होंने यह डी.एन.ए स्वस्थ चूहों में प्रविष्ट कराया तो पाया कि उनमें भी कैंसर पैदा हो जाता है। यह प्रयोग बार-बार दोहराया गया और हर बार एक ही परिणाम कि कैंसरग्रसत कोशिकाओं के डी.एन.ए. सामान्य कोशिकाओं को कैंसरग्रस्त कर देते हैं, सामने आए। इससे यह बात स्पष्ट हो गई कि अवश्य ही कैंसर डी.एन.ए. में कुछ विशिष्ट गुण छिपे हुए हैं जो सामान्य कोशिका को कैंसरग्रस्त कर देते हैं। आगे चल कर कैंसरग्रस्त कोशिका के डी.एन.ए. में से उस भाग को अलग करने में सफलता प्राप्त कर ली गई जिसमें यह विशेष गुण विद्यमान था। ऐसे जीन को उन्होंने **'कैंसर जीन'** या **'आन्क जीन'** का नाम दिया।

बीनबर्ग ने बाद में ये प्रयोग मानव ब्लैडर कैंसर की कोशिकाओं पर दोहराए। फिर इन कैंसर कोशिकाओं को प्रयोगशाला में विकसित करके देखा और उनके आन्क जीन को स्वस्थ चूहों में प्रविष्ठ कर के देखा। इनमें पाया कि चूहे कैंसरग्रस्त हो गए। उक्त प्रयोगों से यह स्पष्ट हो गया कि कैंसर वायरस के आन्क जीन और मानव आन्क जीन रासायनिक रूप से एक जैसे ही होते हैं।

आगे निष्कर्ष निकालने के लिए यह आवश्यक हो गया था कि अब तक किए गए शोध कार्यों में समन्वय स्थापित किया जाए। तब ही इस बात की जानकारी पूरी तरह से मिल पाती कि कैंसर उत्पन्न कराने में वह आनुवंशिक सूचना जो आन्क जीन पर अंकित होती है वायरस जीन से एक सामान्य कोशिकीय जीन तक कैसे स्थानांतरित होती है। यह उस समय ही संभव हो पाया जब इस बात की पुष्टि हो गई कि जीन का स्रोत जो हो—कैंसर वायरस मानव आन्क या सामान्य कोशिका—उसके डी.एन.ए का क्रम एक जैसा ही होता है। इनका आपस में मिलन संभव है।

जैवरासायनिक हल

जैवरासायनिक शोध कार्यों से यह ज्ञात हुआ कि डी.एन.ए. कुण्डली के अणु में दो वलय आपस में एक 'जिप' की भांति जुड़े रहते हैं। जिस प्रकार जिप को खोला या बंद किया जा सकता है उसी प्रकार जैवरासायनिक क्रियाओं से डी.एन.ए. कुण्डली को भी 'खोला' और 'बंद' किया जा सकता है।

वैज्ञानिक को यह विश्वास था कि यदि वास्तव में कैंसर वायरस के डी.एन.ए. और मानव आन्क जीन के डी.एन.ए. में समानता होगी तो उनके डी.एन.ए. वलयों में पारस्परिक विनियम कर पाना संभव हो सकेगा।

अपनी परिकल्पना की पुष्टि के लिए वैज्ञानिकों ने मानव ब्लैडर की सामान्य कोशिकाओं से प्राप्त डी.एन.ए. को तथा वायरस के डी.एन.ए. की कुंडलियां लीं। दोनों कुण्डलियों को 'खोला' गया। फिर एक वलय को दूसरी कुण्डली के वलय से आपस में मिलाकर 'जोड़ने' के प्रयत्न किए गए। इस तरह के प्रयत्न अनेक बार दोहराए गए। अंत में वैज्ञानिकों को इसमें सफलता मिली। मानव जीन का एक वलय वायरस जीन के वलय से मिल ही गया। इस प्रकार जो डी.एन.ए. तैयार किया गया, उसे कोशिका में प्रविष्ट करा कर उसे कोशिका को प्रयोगशाला में विकसित करने पर पाया गया कि ऐसी कोशिका में कैंसर पैदा हो सकता है। पर अब भी कैंसर की आनुवंशिक गुत्थी पूरी तरह नहीं सुलझ पाई थी। प्रश्न यह था कि एक हानिरहित सामान्य आन्क जीन किस प्रकार ऐसा रूप धारण कर लेती है जिससे सामान्य कोशिका कैंसरग्रस्त हो जाती है।

इस दिशा में **हेर्वड** नामक वैज्ञानिक का काफी योग रहा है। उस समय हेर्वड एक ऐसे वायरस पर शोध कार्य कर रहे थे जो चूजे में ल्यूकेमिया (रक्त कैंसर) पैदा करता था। इस वायरस में यह विशेषता थी कि इसके जीन में स्वयं अपना आन्क खंड नहीं होता। पर नियंत्रण खंड अपना ही होता है। इस वायरस के संक्रमण से सभी कोशिकाएं कैंसरग्रस्त नहीं होतीं। लेकिन जो कोशिकाएं कैंसरग्रस्त होती हैं वे क्यों होती है? यह जानने की जिज्ञासा हेर्वड की थी। आनुवंशिक अध्ययनों से उन्होंने इस बात का पता चलाया कि इस संक्रमण में जब कभी वायरस का नियंत्रण खंड चूजे के आन्क खंड के पास आ जाता जो यह नियंत्रण खंड कोशिका के आन्क खंड से जुड़ जाता है। इस दशा में सामान्य कोशिका के आन्क खंड से उसका नियंत्रण खंड हट जाता है और उसकी जगह दूसरे वायरस का नियंत्रण खंड जुड़ जाता है। परिणाम यह होता है कि वह कोशिका कैंसरग्रस्त हो जाती है, और प्रोटीन का अनियंत्रित उत्पादन शुरू हो जाता है। यही प्रोटीन बाद में कोशिका की प्रतिकृत बनाने में प्रयुक्त होती है जिससे कोशिकाओं का विभाजन भी असामान्य रूप से होने लगता है। हम कहते हैं कि कोशिका कैंसरग्रस्त हो गई।

समझा जाता है कि कैंसर पैदा करने वाले सब वायरस अपने जीवन काल में जब भी जन्तु कोशिकाओं के संपर्क में आते हैं तब वे जन्तु कोशिका के डी.एन.ए. को चुन लेते होंगे। अनुमान है कि ऐसे सभी वायरसों ने जिनमें ये दोनों खंड पाए जाते हैं (आन्क

व नियंत्रण खंड) आवश्यक ही यह आन्क खंड किसी जन्तु कोशिका से प्राप्त किया होगा। हार्वे सारकोमा वायरस ऐसे वायरसों का एक उदाहरण है। उक्त निष्कर्षों से यद्यपि वायरसजन्य कैंसर गुत्थी हल हो गई पर विकिरणों अथवा रासायनिक पदार्थों से उत्पन्न होने वाले कैंसरों की उत्पत्ति की समस्या हल नहीं हो पाई।
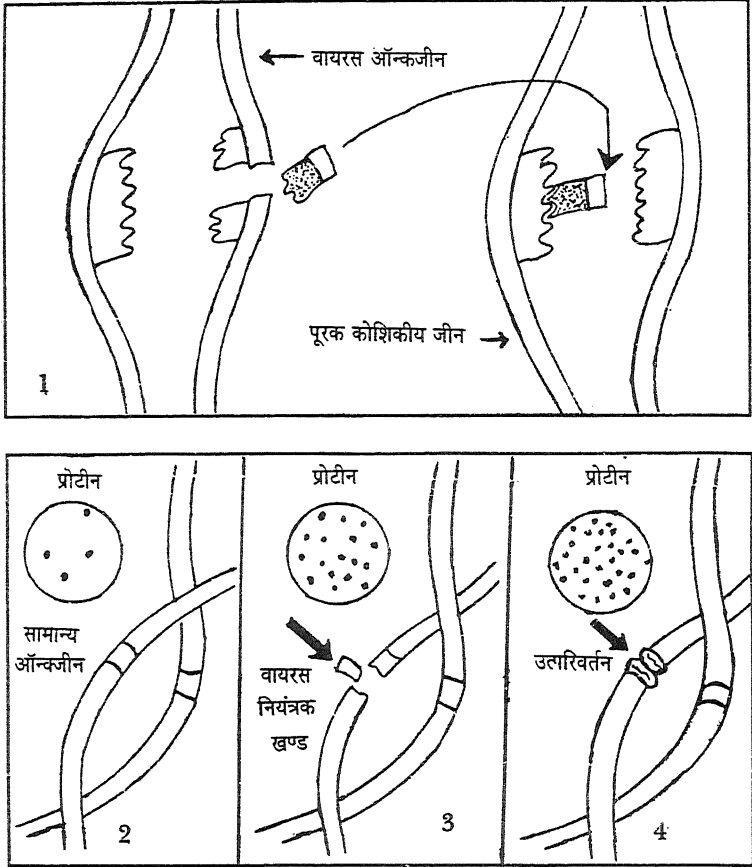
चित्र-2

कोशिकीय आन्क जीन के नियंत्रण खंड को वायरस के आनुवंशिक नियंत्रण खंड से जोड़ देने पर कोशिका कैंसर ग्रस्त हो जाती है। (1) सामान्य कोशिका में आन्क जीन के दोनों खंड–'आन्क' तथा 'नियंत्रण' का आपस में सही तालमेल रहता है जिससे वांछित मात्रा में प्रोटीन उत्पादन होता रहता है और कोशिका सुचारु रूप से कार्य करती है। (2) कैंसर की स्थिति में कोशिका के आन्क जीन के नियंत्रण खंड में वायरस नियंत्रण खंड़ जुड़ जाता है (3) अथवा नियंत्रण खड में विकिरणों के प्रभाव से या कैंसरजनक पदार्थों के संपर्क में आने से उत्परिवर्तन हो जाता है (4) इन दोनों ही अवस्थाओं में कोशिका द्वारा प्रोटीन उत्पादन की दर अनियंत्रित रूप से बढ़ जाती है।

बीनबर्ग, जो इस समस्या को सुलझाने में लगे हुए थे, का मत है कि जब कोई सामान्य कोशिका विकिरणों के प्रभाव से या कैंसर जनक पदार्थों के संपर्क में आने पर कैंसरग्रस्त हो जाती है तब अवश्व ही उसके जीन के नियंत्रण खंड में उत्परिवर्तन हो जाता है। इससे उसकी नियंत्रण व्यवस्था शिथिल पड़ जाती है। परिणामस्वरूप आन्क खंड पर से उसका नियंत्रण हट जाता है और आन्क खंड मनमाने ढंग से प्रोटीन का उत्पादन करने लगता है। इसी अवस्था को हम कैंसर कहते हैं।

विकिरणों/कैंसर जनक पदार्थों के संपर्क में आने पर अनेक प्रकार के उत्परिवर्तन होते हैं। कुछ उत्परिवर्तनों में कोशिका की मृत्यु तक हो जाती है। दुर्भाग्यवश परिस्थिति वह होती है जब उत्परिवर्तन आन्क जीन में होते हैं।

प्रकृति की यह क्या विडंबना है कि जहां एक सामान्य कोशिका में यह आन्क जीन, जीवन काल के दौरान, जीव को पाल-पोस कर बड़ा करने में सहायक है, यानी जब कभी भी शरीर में अधिक प्रोटीन के उत्पादन की आवश्यकता होती है तो यही सहायक सिद्ध होते हैं और इनकी क्रिया इतनी सुचारु रूप से चलती रहती है वहां दूसरी ओर यही विनाश का कारण बन जाते हैं। उदाहरणतः कुछ चिड़ियों के अंडों में से जब चूजे निकलते हैं तो उस समय अधिक प्रोटीन निर्माण की आवश्यकता होती है। यह कार्य आन्क जीन ही करते हैं लेकिन यदि इनका कहीं मिजाज बिगड़ जाए तो ये इन्हीं चिड़ियों में ल्यूकोमिया (कैंसर) तक पैदा कर देते हैं।

आज वैज्ञानिक कैंसर की इस आनुवंशिक गुत्थी को सुलझा कर यह तो समझ पाए हैं कि कैंसर क्या है, कैसे होता है। इस आधार को प्राप्त कर लेने के बाद शायद अब जल्द ही इस दिशा में कदम उठाए जाएंगे जिनसे कैंसर से छुटकारा दिलाने में वह समर्थ हो पाएं। सुलझाने के लिए प्रश्न सही है कि कैंसरग्रस्त कोशिका को किस प्रकार से सुधारा जाए ताकि वह दुबारा अपना कार्य सुचारु रूप से करने में समर्थ हो सके, शायद यही कैंसर पर असली विजय होगा।

'मानस' में आयुर्विज्ञान : मनोवैज्ञानिक विश्लेषण*

विष्णुदत्त शर्मा

पृष्ठभूमि :

किसी भी जन-समाज की वास्तविक समृद्धि धन-दौलत अथवा अन्य भौतिक पदार्थों पर नहीं अपितु भावों और विचारों की उदात्तता पर निर्भर करती है। जिस जाति या राष्ट्र का चरित्र जितना ऊंचा होगा, जिसके आदर्श जितने उज्ज्वल होंगे, जिस राष्ट्र के जीवन में परिष्कार की रूचि जितनी व्यापक होगी, वह राष्ट्र व समाज उतना ही अमरत्व प्राप्त कर सकता है। भावों और विचारों में उदात्तता लाने का सबसे बड़ा माध्यम है—साहित्य। भारत का सौभाग्य है कि उसे उज्ज्वल साहित्यकारों की एक लंबी परंपरा मिली है। यह और भी सौभाग्य की बात है कि वह परंपरा ऐसे महर्षि से प्रारंभ हुई है जो अपनी प्रतिभा में, अपनी शक्ति में और अपनी सक्रियता में आज तक अद्वितीय हैं। उन महर्षि वाल्मीकि जी ने अपने आदिकाव्य का नायक मर्यादा पुरुषोत्तम श्री रामचन्द्रजी को चुना और उनके चरित्र का इतनी विशालता एवं व्यापकता के साथ, इतनी आकर्षक स्वरों में गायन किया कि देखते-ही-देखते वह संगीत अकिंचन की कुटिया से वैभवशाली राजभवनों तक व्यापक हो गया और भारत ही में सीमित न रहकर संसार को दिग्विजय के लिए निकल पड़ा। विश्व का ऐसा कोई सभ्य देश भी न होगा जहां मूल अथवा अनुवाद रूप में वाल्मीकीय रामायण अब तक न पहुंच पाई हो।

महर्षि वाल्मीकि ने भारतीय आदर्शों और मर्यादा की परिधि में 'रामायण' की रचना कर जीवन में चारित्रिक महत्व को सर्वोपरि स्थान दिया है। आदिकवि का उद्देश्य भारतीय जन-जीवन को 'असत्' से 'सत्' 'अंधकार' से 'प्रकाश' तथा 'मृत्यु' से 'अमरत्व' की ओर ले जाने की दिशा में इंगित करता हुआ प्रतीत होता है। रामायण के रचयिता महर्षि वाल्मीकि ने संपूर्ण घटनाक्रम को स्वतंत्र देखा या सुना है तथा पद्यबद्ध करके लव और कुश के माध्यम से श्रीराम के दरबार में गवाया भी है। रामकथा में कल्पना का अंश कितना है और इतिहास का कितना, यह निश्चित रूप से बता सकना कठिन है। कई

* 'वीणा', दिस. 1984

लोगों ने तो उसे केवल प्रतीकात्मक, केवल कल्पनात्मक माना है। रामायण की घटनाएं वैदिक-का से भी पूर्व की हैं क्योंकि श्रीराम के पूर्व 'इक्ष्वाकु' का उल्लेख वेदों (ऋग्वेद 10/30/4 तथा अथर्ववेद 19/39/9) में हुआ है और श्रीराम के पिता 'दशरथ' का नाम ऋग्वेद (1/126/4) के दानस्मृति प्रसंग में आया है। श्रीराम के विषय में एक पृथक उपनिषद् भी लिखा हुआ है 'रामोपनिषद्'। ईसा से लगभग तीन हजार वर्ष पूर्व संसार में प्रलय आई थी। इस समय भारत में मनु 'वैवस्वत मनु' ही प्रथम थे। इन्हीं की 65वीं पीढ़ी में 'राम' हुए। आदिमनु से लेकर महाभारत तक की 98 पीढ़ियों का विवरण हमें पुराणों तथा अन्य प्राचीन ग्रंथों से प्राप्त हो जाता है। राम के चरित्र का पूर्णरूपेण वर्णन महाकवि तुलसीदासजी ने भी अपने महाकाव्य 'रामचरितमानस' में किया है।

मानस का आधार

तुलसीदासजी से सहस्रों वर्ष पूर्व इस कल्पनामंडित अतीत के अधिकांश का निर्माण हो चुका था, कदाचित् वाल्मीकि को भी बहुत कुछ निर्मित ही मिला होगा। महाकवि तुलसीदासजी ने 'भुशंडि रामायण', 'लोमस रामायण', 'वाल्मीकि-रामायण', 'अध्यात्म रामायण', 'श्रीमद्भागवत', 'हनुमन्नाटक', 'पउमचरिउ', प्रसन्नराघव' एवं कुछ अन्य पुराणों से भी स्फुट सामग्री ली है। नाना पुराणों, आगमों और निगमों से पूरा-पूरा सत्प्रभाव ग्रहण कर गोस्वामी तुलसीदासजी ने अपने अद्वितीय ग्रंथ 'रामचरितमानस' का कुछ इस कुशलता से प्रणयन कर दिया है कि पश्चाद्वर्ती हिंदी-साहित्य को प्रभाव ग्रहण करने के लिए संस्कृत-साहित्य या अन्य किसी साहित्य के टटोलने की आवश्यकता ही नहीं गई। 'रामचरितमानस' (रचनाकाल सं. 1631) में उन्होंने स्वतः कहा है—

> नाना पुराणनिगमागम सम्मतं यद्
> रामायणे निगदितं क्वचिदन्यतोऽपि।
> स्वान्तः सुखाय तुलसी रघुनाथगाथा—
> भाषा निबन्धमति मंजुलमातनोति।। **मानस, 1/7**

अतः यह स्पष्ट है कि संतकवि तुलसीदासजी ने रामकथा के सभी प्राप्त उद्गमों का निस्संकोच उपयोग किया है। अध्यात्म रामायणकार ने कथा-प्रबंध वाल्मीकीय रामायण से ही लिया है। वाल्मीकि कृत रामायण का उल्लेख करते हुए गोस्वामी जी ने कहा है कि—

> बंदउं मुनि पद कंजु, रामायण जेहिं निरमयउ।
> सखर सुकोमल मंजु, दोषरहित दूषन सहित।। **मानस, 1/14 (घ)**

संपूर्ण भूतल जिस समय राक्षसों के अत्याचारों से आक्रांत हो रहा था, अधर्म की वृद्धि हो रही थी, हिंसावाद प्रबलता पर था, उनका दमन करके धर्म-संस्थापन हेतु 'मानस' में 'राम' का अवतार होता है और संपूर्ण कथा इसी महान घटना को लेकर लिखी गई है।

वैज्ञानिक दृष्टिकोण

'रामचरितमानस' का देश-काल एक कल्पनामंडित अतीत से लिया गया है। जिस समय धरती पर ऐसे राक्षस भी होते थे जो स्वर्ग के देवताओं को जीतकर उन्हें दास बना सकते थे, जब सूर्य आकाश में महीने भर तक रुककर निर्निमेष भगवान के जन्मोत्सव का दर्शन कर सकता था, जब श्राप से प्राणी पत्थर हो सकता था और पुनः वरदान के प्रताप से पत्थर से मनुष्य बन सकता था, जब ऐसा भी धनुष होता था जिसको दस हजार योद्धा भी उसके स्थान से न हिला सकते थे किंतु जो किसी के छूते ही टूट सकता था, जब बाण अपने वेध्य को सौ योजन (1200 किलोमीटर) दूर फेंक सकते थे, जब पशु-पक्षी मनुष्य से बातें कर सकते थे और उसकी सेना का निर्माण करते थे, जब शिला-खंड तैर सकते थे, जब इन्द्र का विमान राक्षसों के विरुद्ध युद्ध में आया करता था, आकाश में युद्ध हुआ करता था और बिना चालक विमान चला करते थे।

अब आप स्वयं कल्पना कीजिए कि जिस युग में यह सब कुछ असंभव सा प्रतीत होते हुए भी संभव था, उस युग का विज्ञान कितना विकसित हो सकता है? उस समय की कल्पनाएं आज के वैज्ञानिक युग में सत्य प्रमाणित होती जा रही हैं। विज्ञान का यह नियम है कि वैज्ञानिक अपने मस्तिष्क में जिसकी कल्पना करते हैं उसको सत्य सिद्ध करने का प्रयत्न करते हैं और प्रमाणित होने के पश्चात् वह 'सिद्धांत' बन जाता है। 'रामचरितमानस' में वर्णित घटनाओं को आज का विज्ञान या तो स्वीकारता है या भविष्य में उस प्रकार के कार्य होने का संकेत करता है। अतः 'मानस' का यह अतीत जितना रहस्यपूर्ण है उतना ही भव्य भी है। 'मानस' की रचना केवल चार सौ वर्ष पूर्व ही हुई थी जबकि मर्यादा पुरुषोत्तम 'राम' को अवतरित हुए सहस्रों वर्ष हो चुके हैं। अतः त्रेतायुग की घटनाओं को आज यदि तोड़-मरोड़कर प्रदर्शित किया जाए तो कोई आश्चर्य नहीं है। इसलिए 'मानस' में वर्णित समस्त घटनाओं को यदि किंचित सुधार पर देखें तो पाएंगे कि **आज का विज्ञान त्रेतायुग के विज्ञान के सामने अभी बाल्यावस्था में है।**

वैज्ञानिक मनोविज्ञान

जब भारत में विज्ञान का प्रत्येक क्षेत्र पूर्ण विकसित तथा विज्ञान चरमोत्कर्ष पर था तो उस वैदिक काल में अनेक ग्रंथों की रचनाएं की गईं। पौराणिक काल में विज्ञान इतना अधिक समृद्ध था कि आज का विज्ञान उसकी तुलना में नगण्य है—

कृत जुग सब जोगी बिग्यानी। **मानस, 7/202** (1)

कलि युग जोग न जग्य न ग्याना। **मानस, 7/102** (3)

भारत में अनेक ऐसे मनीषियों, विद्वानों एवं चिकित्सकों ने जन्म लिया जो अपनी-अपनी विद्या में पारंगत थे। चरक, सुश्रुत, वाग्भट, उल्हण, चक्रपाणिदत्त, शारंगधर इत्यादि। आयुर्वेदीय चिकित्सकों एवं ग्रंथकारों ने शारीरिक रोगों के अतिरिक्त मानसिक रोगों का भी विस्तृत वर्णन किया है, जिसके अंतर्गत मानसिक भावों का वर्णन रोग,

रोगोत्पादक भाव एवं रोग-लक्षण के रूप में किया है। इनमें से नौ—काम, क्रोध, भय, शोक, लोभ, मोह, अहंकार, इच्छा तथा मद महाकवि तुलसीदास कृत 'मानस' में भी वर्णित हैं। आयुर्वेद का यह भी कथन है कि ये भाव सभी मनुष्यों में जन्मजात होते हैं किंतु इनके कारण रोग तभी उत्पन्न होते हैं जब ये भाव निरंतर दीर्घ समय तक शरीर के अंदर उग्र रूप में बने रहें। जहां इन भावों को रोग-रूप में वर्णित किया गया है वहां इनके कारण तथा चिकित्सा भी बतलायी गई है। इस तरह सर्व-मनुष्य-व्यापि मानसिक भावों को आयुर्वेद में रोग-रूप में वर्णित किया गया है। गोस्वामी तुलसीदास जी द्वारा इनका मानसिक रोग रूप में वर्णन करना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से संगतिपूर्ण ही है।

उपर्युक्त वर्णन से स्पष्ट है कि महाकवि ने मस्तिष्क के उन प्रकृतिजन्य भावों को मानसिक रोगों के रूप में वर्णित किया है जो मात्रा में अधिक हो जाने पर उग्र रोगों की परिधि में पहुंच जाते हैं। यह सिद्धांत पाश्चात्य मनश्चिकित्सा विज्ञान एवं आयुर्वेद चिकित्सा शास्त्र दोनों के दृष्टिकोणों से उचित है। महाकवि तुलसीदास जी ने इन मानसिक रोगों को सभी मनुष्यों में होने वाला कहा है—

सुनहु तात अब मानस रोगा। जिन्हं ते दुख पावहिं सब लोगा।

मानस, 7/120 (14)

सामान्य मनुष्यों में ही नहीं अपितु आदर्श चरित्र के संत और मुनियों में भी इन रोगों का होना बताया गया है किंतु उन्हें बिरले ही पहचान पाते हैं—

एहि विधि सकल जीव जग रोगी।
सोक हरष भय प्रीति बियोगी।।
मानस रोग कछुक मैं गाए।
हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए।।
बिषय कुपथ्य पाइ अंकुरे।
मुनिहु हृदयं का नर बापुरे।। **मानस, 7/121 (1-2)**

इस प्रकार जब सभी मनुष्यों में ये रोग-दोष होते हैं तो वे एक प्रकार से प्रकृतिदत्त हुए। आयुर्वेद के विद्वान भी इन मानसिक दोष के भावों को सभी मनुष्यों में जन्म से ही प्राप्त होने वाला मानते हैं। अतः ये रोग प्रकृतिदत्त और जन्मजात हैं। गोस्वामी तुसलीदास जी 'मानस' में कुछ मानसिक रोगों के लक्षण, कारण तथा चिकित्साक्रम से विधिवत् वर्णन करते हैं कि सब रोगों की जड़ मोह (अज्ञान) है। उन व्याधियों से फिर और बहुत से शूल उत्पन्न होते हैं। काम, क्रोध तथा अत्यधिक लोभ क्रमशः वात, पित्त एवं कफ हैं जो सदा छाती में जलन पैदा करते रहते हैं—

मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला।
तिन्ह ते पुनि उपजहिं बहु सूला।।
काम वात कफ लोभ अपारा।
क्रोध पित्त नित छाती जारा।। **मानस, 7/120 (15)**

यदि किसी शरीर में त्रिदोष (वात, पित्त, कफ) उत्पन्न हो जाएं तो दुःखदायक सन्निपात रोग से वह ग्रसित हो जाता है–

प्रीति करहिं जौं तिनिउ भाई। उपजइ सन्यपात दुखदाई।।

मानस, 7/120 (16)

ममता दाद है, ईर्ष्या खुजली है, हर्ष-विषाद गले के रोगों (गलगण्ड, कण्ठमाला अथवा घेघा आदि) की अधिकता है। पराए सुख को देखकर जो जलन होती है वह क्षय (consumption) है। दुष्टता और मन की कुटिलता ही कुष्ठ रोग (leprosy) है।

ममता दादु कण्डु हरषाई। हरष बिषाद गरह बहुताई।
पर सुख देखि जरनि सोई छई। कुष्ठ दुष्टता मन कुटिलाई।।

मानस, 7/120 (17)

अहंकार अत्यंत दुख देने वाला डमरू (गठिया) रोग है। दम्भ, कपट, मद और मान नसों का रोग नहरूआ है। तृष्णा बड़ा भारी जलोदर रोग एवं तीन प्रकार की इच्छाएं (पुत्र, धन और मान) प्रबल तिजारी हैं–

अहंकार अति दुखद डमरुआ।
दंभ कपट मद मान नेहरुआ।।
तृस्ना उदरवृद्धि अति भारी।
त्रिबिधि ईषना तरून तिजारी।। मानस, 7/120(18)

मत्सर और अविवेक दो प्रकार से ज्वर हैं। इस प्रकार अनेक बुरे रोग हैं जिनका आज के वैज्ञानिक युग में गणना करना कठिन है–

जुग बिधि ज्वर मत्सर अबिबेका।
कहं लगि कहौं कुरोग अनेका।। मानस, 7/120(19)

रोगों के निदान एवं उपचार के विषय में महाकवि तुलसीदासजी वर्णन करते हैं कि एक ही रोग के कारण जब मनुष्य मर जाते हैं फिर ये तो बहुत से असाध्य रोग हैं जो जीवन को निरंतर कष्ट देते रहते हैं और अतएव ऐसी दशा में शरीर को शांति किस प्रकार मिल सकती है। इन असाध्य रोगों को दूर करने के कितने ही उपाय हैं जो 'मानस' में वर्णित हैं–

नेम धर्म आचार तप ग्यान जग्य जप दान।
भेषज पुनि कोटिन्ह नहिं रोग जाहिं हरिजान।। मानस, 7/121 (ख)

किंतु महाकवि का विचार है कि इन उपचारों में भी मानसिक रोगों से छुटकारा पूर्णतया नहीं मिल पाता। अतः सर्वोत्तम उपाय एवं परिणाम श्रीराम (विज्ञानी) की भक्ति एवं आस्था ही है। इन रोगों से छुटकारा तभी मिल सकता है यदि चिकित्सक के वचनों में विश्वास रखकर संयम (परहेज) किया जाए और श्रद्धा से अनुपान किया जाए–

सद्गुरु बैद बचन बिस्वासा।
संजम यह न बिषय कै आसा।।

ऐहि विधि भलेहिं सो रोग नसाहीं।

नाहिं ते जतन कोटि नहिं जाहीं।। मानस, 7/121 (3-4)

अतः मन को निरोग तभी जानना चाहिए जब दुर्बलता मिटकर भूख नित्य बढ़ती रहे–

सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। विषय आस दुर्बलता गई।।

मानस, 7/121(5)

'मानस' में प्रसंग आया है कि प्राणी के शरीर की रचना में मुख्य तत्व पांच हैं अर्थात् पांच तत्वों से मिलकर शरीर बना है–

छिति जल पावक गगन समीरा।

पंच रचित अति अधम सरीरा।। मानस, 4/10(2)

यद्यपि आज का विज्ञान हृदय, गुर्दे, यकृत, मस्तिष्क तथा फेफड़ों आदि का प्रत्यारोपण करने में तो सफल है किंतु सिर बदलने में अभी सफल नहीं हो सका है। महाकवि तुलसीदासजी ने 'मानस' में शल्यचिकित्सा के विषय में वर्णन किया है। कि उस समय शल्य चिकित्सा इतनी विकसित थी कि सिर कटने पर दूसरा सिर लगा दिया जाता था–

प्रभु बहु बार बाहु सिर हए।

कटत झटिति पुनि नूतन भए।। मानस, 6/91(6)

यहां तक कि संपूर्ण शरीर के रूप परिवर्तन में भी त्रेतायुग के वैज्ञानिक पारंगत थे–

लंकापति कपीस नल नीला। जामवंत अंगद सुभसीला।।

हनुमदादि सब बानर बीरा। धरे मनोहर मनुज सरीरा।।

मानस, 7/7(1)

रामचरितमानस में तुलसीदास जी ने वर्णांध (colour blind) का भी वर्णन किया है–

नयन दोष जा कहं जब होई।

पीत बरन ससि कहुं कह सोई।। मानस, 7/72(2)

'मानस' में प्रसंग आया है कि पाचन-संस्थान भी आयुर्विज्ञान में सुगम एवं परम सुख देने वाली प्रणाली है जिसके द्वारा भोजन सुगमता से पच जाता है–

भोजन करिअ तृपिति हि लागी।

जिमि सो असन पचवै जठरागी।। मानस, 7/118(5)

वैदिक काल का विज्ञान इतना विकसित था कि मुर्दे को भी जिंदा कर सकता था यद्यपि आज का विज्ञान इस ओर सोच भी नहीं सकता–

जो चेतन कहं जड़ करइ जड़हिं करइ चैतन्य। मानस, 7/119 (ख)

जब असंख्य रोग और उनके उपचार तथा निदान का 'रामायण' काल में वर्णन है

तो स्वाभाविक है कि उस समय अश्विनीकुमार जैसे योग्य चिकित्सक का अवतीर्ण होना अनिवार्य था और लंका में सुषैण जैसे वैद्य द्वारा ही लक्ष्मण-मूर्छा को दूर करने के लिए संजीवनी बूटी सुझायी गई थी—

सद्‌गुर ग्यान बिराग जोग के।
बिबुध बैद भव भीम रोग के।। मानस, 1/31(2)
जामवंत कह बैद सुषैना।
लंका रहइ को पठई लेना।। मानस, 6/54(4)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि महाकवि ने जिन मानस-रोगों का वर्णन किया है वे मनुष्य की प्रकृति एवं जीवन के मूलभूत दोषपूर्ण मनोभाव हैं। जीवन के सुख-समृद्धि एवं सब प्रकार के अभ्युदय के लिए इनका नष्ट होना आवश्यक है; अन्यथा ये रोग उग्र रूप में उमड़कर मनुष्य को सदा के लिए दुःखी बना देते हैं। दीर्घ मानस-रोग मनुष्य के सांसारिक कर्मों से उत्पन्न होते हैं। अतः उनका उपचार भी सांसारिक एवं सरल है किंतु जन्मजात प्रकृति-जन्य विकारों एवं दोषों को दूर करना बड़ा दुष्कर है। इसीलिए तुलसीदास जी ने भक्तियोग को मानस-रोग का अमोघ उपचार बतलाया क्योंकि भक्तियोग का आश्रय लेने पर मनुष्य की आधारभूत प्रकृति बदल जाती है।

पवन चक्की चालित पम्प ऊर्जा के स्रोत*

के. के. पालीवाल

आज के तकनीकी युग में खनिज तेल एवं कोयले के भंडारों का सीमित अवधि में समाप्त होना निश्चित है। विश्व के इन ऊर्जा के परम्परागत साधनों के कुछ वर्षों में समाप्त होने की संभावना को देखते हुए वैज्ञानिक तकनीशियन पर शासन इस ओर अधिक प्रयास करने का भार सौंप रहा है कि ऊर्जा के अपरम्परागत साधनों से भी लाभ उठाया जाना अतिआवश्यक है। यह साधन सतत चलते रहते हैं एवं ऊर्जा प्राप्त होती रहती है। जैसे सौर-ऊर्जा, पवन-ऊर्जा एवं बायोगैस ऊर्जा। इन साधनों के उपयोग से लकड़ी का जलाने में उपयोग कम होगा याने जंगलों की कटाई अंधाधुन्ध नहीं होगी। इसको बीस सूत्रीय कार्यक्रम का एक अनिवार्य अंग मानते हुए हमारी श्रद्धेय प्रधानमंत्री जी ने इसे 12वें सूत्र में रखा है।

मध्य प्रदेश शासन ने इन स्रोतों का बड़े पैमाने पर उपयोग एवं विकास हेतु म.प्र. ऊर्जा विकास निगम का गठन किया है। इस निगम ने कुछ प्रमुख कार्यों को अपने हाथ में लिया है जो ऊर्जा के स्रोत हैं :

1. सोलर कुकर (सौर चूल्हा) के उपयोग को प्रोत्साहन
2. सौर ऊर्जा से घरेलू एवं औद्योगिक उपयोग हेतु पानी गरम करने के संयंत्रों का निर्माण
3. सौर ऊर्जा से कृषि उपज को सुखाने के संयंत्रों का निर्माण
4. पवन चक्की (विंड-मिल) चलित पम्पों का लगाना।
5. सामुदायिक बायोगैस संयंत्रों का निर्माण

इसमें पवन चक्की पम्प का काफी महत्त्व है। 8 कि.मी. प्रति घण्टा के वायु वेग से चलने वाली ऐसी एक पवन चक्की का डिजायन भारत शासन ने अनुमोदित किया है। यह पवन चक्की एवं पम्प 10 से 12 हजार रुपए की लागत से बनते हैं। शासकीय एवं अर्द्धशासकीय संस्थाओं को यह भारत शासन द्वारा मुफ्त प्रदान किए जाते हैं। केवल संस्था को पवन चक्की को बड़ा करने एवं पानी की एक टंकी के निर्माण के लिए करीब

* प्रतियोगिता दर्पण, जुलाई, 1985

चार हजार रुपए खर्च करने पड़ते हैं। ग्राम पंचायत ऐसी योजना का पूरा लाभ उठा सकती है एवं ग्रामीण कृषकों को फायदा पहुंचा सकती है। ऐसे पवन चक्की चलित पम्प का उपयोग केवल ऐसे कुओं पर किया जा सकता है, जहां पानी की सतह भूमि से करीब आठ मीटर (26 फुट) से अधिक नीची नहीं हो। ऐसी जगहों में पवन चक्की पम्प भूमि से करीब सात मीटर ऊपर पानी पम्प करने की क्षमता रखते हैं। परंतु पवन चक्की लगाते समय इस बात का ध्यान रखें कि जहां चक्की लगाते हैं उसकी 100 मीटर परिधि में हवा को अवरूद्ध करने वाले ऊंचे भवन या पेड़ नहीं होना चाहिए।

भारत शासन की एक योजना के अंतर्गत पवन चक्की पम्प लगाने के लिए छोटे किसानों को 50 प्रतिशत एवं अन्य कृषकों को 20 प्रतिशत अनुदान देने का प्रावधान है। यह अनुदान 11000 रु. की लागत वाले पवन चक्की पम्पों पर ही है। विंड मिल को खड़ा करने एवं टंकी का निर्माण हेतु 4 हजार रुपए स्वयं किसान को करना होगा। हर साल करीब 200 रुपए इनके रख रखाव पर खर्च होता है। इनका रख रखाव बहुत आसान है। ज्यादातर पम्प में लगे चमड़े के वाशरों को बदला जाता है। इस पम्प से करीब एक हैक्टर भूमि सींची जा सकती है। यह रकबा स्पीड के साथ बढ़ते जाता है। 36 कि.मी. वर्ग से अधिक हवा चलने पर विंडमिल अपने आप बंद हो जाते हैं।

मध्य प्रदेश के कुछ जिले छोड़कर अधिकतर में यह वायुवेग उपलब्ध होता है। यदि ग्राम पंचायतें 4 हजार रुपए खर्च कर सकती हों तो पीने के पानी के लिए विंडमिल पवन चक्की (पम्प) अवश्य लगावें इसके लिए म.प्र. ऊर्जा विकास निगम के सजग कर्मचारियों से परामर्श लेवें।

इस तरह हम देखते हैं कि ग्रामीण एवं कृषक बंधुओं को यह पवन चक्की पम्प अति लाभदायी सिद्ध होंगे एवं बीज सुखाने वाले यंत्र आदि भी मध्यप्रदेश के जबलपुर स्थित जवाहर लाल नेहरू कृषि विश्वविद्यालय में भी एक विंडमिल पम्प सफलतापूर्वक कार्य कर रहा है।

जरूरी है शोर के खिलाफ शोर*

शकुदेव प्रसाद

प्रदूषण के न जाने कितने रूप हैं—जल-प्रदूषण, वायु-प्रदूषण, खाद्य-प्रदूषण, रेडियोधर्मी प्रदूषण। प्रदूषणों की दुनिया में एक और नाम शुमार हुआ है—ध्वनि-प्रदूषण। वातावरण में बढ़ रहा शोर ही 'ध्वनि-प्रदूषण' है। ऐसी बात नहीं कि शोर की समस्या पहले नहीं थी। शेरों की दहाड़, पंछियों का कलरव, बादलों की गरज और बच्चों की किलकारियां पहले भी थीं। मगर वे स्वाभाविक एवं आह्लादकर थीं, जबकि मशीनी युग से तोहफे में जो शोर हमें मिला है, वह अस्वाभाविक है, कष्टदायक और खतरनाक हैं।

दैनिक जीवन में अपरिहार्य साधारण आवाजों से अधिक ऊंची आवाजें 'शोर' कहलाती हैं। वर्तमान सभ्यता में औद्योगीकरण के साथ शोर की मात्रा में दिनों-दिन वृद्धि होती जा रही है। मोटर-गाड़ियों के हार्न, रेल-गाड़ियों की चीखती सीटियां, कारखानों की मशीनों की खटपट, निर्माण-कार्यों में होने वाली तोड़फोड़, गाजे-बाजे की उबाऊ धुनें और ट्रांजिस्टर पर जोर से बजता फिल्मी संगीत कान को तीखे ही नहीं लगते, बल्कि स्वास्थ्य के लिए घातक भी हैं।

ध्वनि की तीव्रता मापने की इकाई विज्ञान की भाषा में 'डेसिबल' कहलाती है, जिसे संक्षेप में 'डी.बी.' लिखा जाता है। डेसिबल पैमाने पर शून्य वह स्तर है, जहां से ध्वनि का सुनाई देना आरंभ होता है। महानगरों में हमें अपने ही कृत्यों के कारण सामान्य से कहीं अधिक डेसिबल की ध्वनियां निरंतर सुननी पड़ती हैं। ये अधिक डेसिबल की ध्वनियां यानी शोर हमारे स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है। वैज्ञानिक अनुसंधानों से यह निष्कर्ष निकला है कि 85 डी.बी. से ऊपर की ध्वनि लंबे समय तक कानों में पड़ती रहे, तो मनुष्य बहरा हो सकता है। 120 डी.बी. की ध्वनि से अधिक तीव्र ध्वनि गर्भवती महिलाओं तथा उनके भ्रूणों पर प्रतिकूल प्रभाव डालती है।

अधिकांश राष्ट्रों ने ध्वनि की अधिकतम स्वीकार्य सीमा 75 से 85 डी.बी. निर्धारित की है। बात को और साफ करने के लिए आइए, आपको कुछ ध्वनियों की माप बताएं।

---

* प्रतियोगिता दर्पण, जुलाई, 1985

फुसफुसाहट की तीव्रता 20 डी.बी. होती है, तो दीवार-घड़ी की टिक-टिक की 30 डी.बी., गलियों में शोरगुल की माप 40 से 70 डी.बी. तक होती है, तो साधारण बातचीत की तीव्रता 60 डी.बी. होती है। कार-हार्न की माप 80-85 डी.बी. है और सिलिंडर-विहीन मोटर-साइकल 120 डी.बी. ध्वनि उत्पन्न करती है।

इससे अधिक तीव्र ध्वनियां हमारे श्रवण-यंत्र पर बुरा असर डालती हैं। उनसे पीड़ा आरंभ हो जाती है और शोर का दुष्प्रभाव शरीर पर स्पष्ट परिलक्षित होने लगता है। उससे कार्यक्षमता में कमी आती है, झुंझलाहट पैदा होती है और शारीरिक तनाव बढ़ता है।

इटली के वैज्ञानिक **रमजीनी** ने आज से तीन सदी पहले अपनी पुस्तक 'डि मोरबिस आर्टिफिकम' में इस तथ्य का उद्घाटन किया था कि कारखानों में तांबा कूटने वाले मजदूर बहरे हो जाते हैं। परीक्षणों से पता चला कि कर्कश ध्वनि मनुष्य को रोगी और बहरा बना देती है। शोर से कानों के अलावा मस्तिष्क, केंद्रीय तंत्रिका-तंत्र तथा आमाशय पर भी बुरा असर पड़ता है। आए दिन ट्रक-चालकों से दुर्घटनाएं होती रहती हैं। वैज्ञानिकों का विचार है कि शोर इन दुर्घटनाओं के मुख्य कारणों में से एक है।

किंतु शोर ऐसा अदृश्य शत्रु है कि आम आदमी तो क्या, शिक्षित वर्ग भी उसकी परवाह नहीं करता। हर चौराहे, नुक्कड़ पर ऊंचे वाल्यूम पर लाउड-स्पीकर बजना और हर पान की दुकान पर रेडियो की चीख तो साधारण-सी बात है। इधर कैसेट टेप-रिकार्डरों का चलन आम हो गया है और कर्कश पश्चिमी धुनें 'न्यूवेव' बनती जा रही हैं। 'पॉप', 'रॉक', तथा 'डिस्को' लोकप्रिय होते जा रहे हैं। और तो और, मंदिरों और मस्जिदों में भी लाउडस्पीकर लगाना प्रतिष्ठा का विषय बन गया है। पर नई पीढ़ी को कर्णकटु धुनों के बदले घातक परिणामों का कोई ऐहसास नहीं।

निरंतर होने वाले शोर से हमारे शरीर पर दबाव पड़ता है। भले ही हम उसे स्पष्ट रूप से अनुभव न कर पाएं, परंतु उससे हमारा तंत्रिका-तंत्र (नर्वस सिस्टम) दुष्प्रभावित होता है और फलस्वरूप अनेक शारीरिक गड़बड़ियां उत्पन्न होती हैं। मोटे तौर पर दबाव की स्थिति के प्रभाव इस प्रकार हैं :

—हृदय की धड़कन की गति बढ़ जाती है, रक्तचाप बढ़ता है।

—मानसिक दृष्टि से व्यक्ति तनाव (टेंशन) की स्थिति में रहने लगता है और उसके स्वभाव में चिड़चिड़ापन आ जाता है।

—रक्त में कोलेस्टेरोल तथा कार्टिसोन का स्तर बढ़ जाता है, जिससे हृदयरोगों की संभावना बढ़ जाती है और त्वचा पर झुर्रियां उभरने लगती है।

—ऐसे भी कितने ही मामले सामने आए हैं कि लोग शोर के दुष्प्रभाव से सुनने की क्षमता खो बैठे हैं :

अनुसंधानों से पता चला है कि पर्यावरण में शोर की तीव्रता प्रत्येक दस वर्ष में दुगुनी होती जा रही है। विगत 30 वर्षों में शोर जिस रफ्तार से बढ़ा है, अगर उसी रफ्तार

से आगे बढ़ता रहा तो हमारे लिए घातक सिद्ध होगा।

इसलिए यह जरूरी है कि बढ़ते शोर के दुष्प्रभावों के बारे में जनसामान्य को बताया जाए। अन्यथा इस अदृश्य शत्रु से बचाव संभव नहीं।

हमारे देश में कलकत्ता, कानपुर, दिल्ली, मद्रास, बंबई, अहमदाबाद आदि औद्योगिक शहरों में ध्वनि-प्रदूषण अधिक है। यों तो ध्वनि-नियंत्रण के लिए कई कानून बने हैं, पर उनका कड़ाई से पालन नहीं होता। मोटर-हार्नों के तेज बजाए जाने पर प्रतिबंध होना चाहिए। आतिशबाजी और पटाखों पर रोक लगनी चाहिए। धार्मिक स्थलों से तो स्थायी लाउड स्पीकर हटा ही दिए जाने चाहिए।

मशीनों से उत्पन्न तीखी ध्वनि को कारखानों में 'साइलेंसर' जैसा प्रतिरोधक लगाकर कम किया जा सकता है। कारखाने में काम करने वालों को इयर-प्लग, इयर-मफ, हेलमेट आदि की सुविधाएं देकर शोर के दुष्प्रभावों से बचाया जा सकता है।

ध्वनि-प्रदूषण के बढ़ते खतरे को कम करने के लिए हालैंड में 1960 में एक कानून लागू किया गया। रूस, आस्ट्रिया, फिनलैंड, चेकोस्लोवाकिया, डेन्मार्क आदि राष्ट्रों में भी इस दिशा में कड़े कानून बनाए गए हैं।

शहरों को शोर के दुष्प्रभाव से मुक्त रखने के लिए कारखानों को मुख्य बस्तियों से दूर स्थापित करना उपयोगी कदम है। पौधे ध्वनि-प्रदूषण को कम करते हैं, अतः औद्योगिक संस्थानों, अस्पतालों एवं सार्वजनिक स्थलों के आस-पास घनी वृक्षावली रोपनी चाहिए।

अस्पतालों के आस-पास कारों-बसों के हार्न बजाने की मनाही होने पर भी लोग ध्यान नहीं देते। हमें अपने और अपने पर्यावरण को स्वस्थ बनाए रखने के लिए थोड़ी तमीज पैदा करनी होगी।

मनोरंजन का सबसे सरल साधन रेडियो है और आज रेडियो लगभग हर किसी के पास है। रेडियो बजाने वाले को इस बात का ध्यान रहे कि उसके रेडियो बजाने से आस-पास के लोगों को कष्ट तो नहीं पहुंच रहा है? किसी की नींद में खलल तो नहीं पड़ रही है? अथवा पास में कोई मरीज तो नहीं पड़ा कराह रहा है? यदि हम अपने सुख का ही नहीं, दूसरों की सुविधाओं का भी ख्याल रखें तो तमाम बातों का हल निकल जाए।

अब प्रश्न यह है कि यह तमीज लोगों में कैसे पैदा हो? इस कार्य में समाचारपत्र और पत्रिकाएं अपना दायित्व निभा सकती हैं। रेडियो और टेलिविजन भी इस दिशा में शिक्षाप्रद सूचनाएं प्रसारित करके शोर के दुष्प्रभावों से लोगों को परिचित करा सकते हैं और उसे कम करने के उपाय भी बता सकते है।

कोयले से पेट्रोल का संश्लेषण*

अखिलेश कुमार सिंह

पेट्रोलियम के ज्ञात भंडारों के जल्दी ही समाप्त हो जाने की आशंका ने यह जरूरी बना दिया है कि उसकी खपत कम की जाए। इस संबंध में तीन स्तरों पर वैज्ञानिक अनुसंधान चल रहे हैं। पहला प्रयास तो यह है कि पेट्रोल तथा डीजल से चलने वाले इंजनों में इस प्रकार के सुधार किए जाएं कि वे पहले की अपेक्षा कम ईंधन जला कर अधिक काम करें, दूसरा प्रयास है कृत्रिम रूप से पेट्रोलियम के संश्लेषण का तीसरा प्रयास इस दिशा में है कि पेट्रोलियम पर निर्भर ही न रहना पड़े अर्थात् ऊर्जा के वैकल्पिक संसाधनों की तलाश।

जहां तक पेट्रोलियम के संश्लेषण की बात है, कोयला इसके लिए बहुत उपयोगी हो सकता है। असल में इसमें नया कुछ भी नहीं है। प्रकृति में भी पेट्रोलियम कोयले से ही बनता है। इन दोनों की ऊर्जा का वास्तविक स्रोत है सूर्य जिसकी ऊर्जा पेड़-पौधों में जमा होती है। इसका कुछ हिस्सा जीव-जन्तु प्राप्त करते हैं। आज से करोड़ों वर्ष पहले भौगोलिक उथल-पुथल की किसी बड़ी घटना में जंगल के जंगल जमीन के नीचे दब गए। इन्हीं से बने कोयला, पेट्रोल और जलने वाली गैसें। लेकिन प्रकृति को कोयले से पेट्रोलियम बनाने में हजारों वर्ष लग जाते हैं जबकि आधुनिक तकनालाजी के सहारे कारखानों में यह काम मिनटों और घंटों में पूरा किया जा सकता है।

जिस कोयले के काले-कलूटे रंग को लेकर ''कोयले की दलाली में हाथ काला'' जैसा मुहावरा गढ़ दिया गया, वह यों ही आकर्षण का केंद्र नहीं बन गया है। वास्तव में उसके ज्ञात भंडारों की विशालता देखने से उसका भविष्य काफी उजला नजर आ रहा है। धुआंधार खपत के बावजूद उसके ज्ञात भंडार कम से कम अगले 250 वर्षों तक खत्म होने वाले नहीं हैं। जबकि पेट्रोलियम के भंडारों का अगले 50 वर्षों तक चलना भी मुश्किल है।

कोयले को पेट्रोल में बदलने के लिए आजकल चार पद्धतियां उपलब्ध हैं—पायरोलिसिस, हाइड्रोजनीकरण, फिशर-ट्रोप्श अभिक्रिया तथा मेथेनॉल पद्धति। पायरोलिसिस तकनीक में कोयले को निर्वात में गरम किया जाता है, जिसके दौरान सभी वाष्पशील पदार्थ उससे अलग हो जाते हैं और कोलतार बच रहता है जिससे बाद में

---

* प्रतियोगिता दर्पण, जुलाई 1985

पेट्रोलियम प्राप्त किया जाता है। पायरोलिसिस प्रणाली में भी दो विधियों से तेल प्राप्त किया जा सकता है। एक विधि उच्च ताप पर कार्बनीकरण की क्रिया सम्पन्न करने पर आधारित है, दूसरी निम्न ताप पर। इनमें से उच्च ताप वाली विधि तो सौ साल से भी अधिक पुरानी है और इस्पात बनाने वाली भट्ठियों में इस्तेमाल होने वाला हार्ड कोक बनाने के लिए लंबे समय से काम में आती रही है। कोलतार तथा बेंजोल इस प्रक्रिया में प्राप्त होने वाले मुख्य उपोत्पाद (byproduct) हैं। ये दोनों ही पेट्रोलियम के लिए उपयोग में लाए जा सकते हैं। लेकिन इस विधि में एक कठिनाई यह है कि प्राप्त कोलतार तथा बेंजोल की मात्रा बहुत कम होती है। (2 से 3 प्रतिशत तथा 0.8 प्रतिशत) इसलिए व्यापक स्तर पर पेट्रोलियम का उत्पादन कर सकने के लिए इस विधि में अभी काफी सुधार करना पड़ेगा। हां! पिच, पिच कोक, नैफ्थलीन, एरोमैटिक रसायन, क्रियोसोट तेल तथा ऐसे ही अन्य कुछ रसायनों के निर्माण के लिए यह विधि अपने वर्तमान रूप में भी उपयोगी है।

निम्न ताप पर कार्बनीकरण करने वाली विधि भी काफी समय से प्रयोग में है। मुख्य रूप से इसका उपयोग धुंआ रहित ठोस ईंधन बनाने के लिए किया जाता है। इसके उपोत्पाद के रूप में 7 से 10 प्रतिशत कोलतार भी प्राप्त होता है जिससे पेट्रोलियम बनाया जा सकता है, लेकिन कम उत्पादन क्षमता के कारण यह विधि भी अपने वर्तमान रूप में आर्थिक रूप से व्यावहारिक नहीं है। इसके सुधार के प्रयास जारी हैं। अपने सुधरे रूप में यह प्रणाली भविष्य में कोयले से पेट्रोल बनाने के लिए लाभदायक साबित होगी।

उच्च तथा निम्न ताप पायरोलिसिस से एकदम भिन्न तकनीक पर आधारित है हाइड्रोजनीकरण प्रणाली। इसकी खोज **बर्गियस** नामक वैज्ञानिक ने सन् 1913 में की थी। 1914 में उसने इस तकनीक को अपने नाम पेटेन्ट भी करा लिया था। इस प्रणाली में कोयले का उच्च दाब पर हाइड्रोजनीकरण करके 40 से 45 प्रतिशत तक तेल प्राप्त किया जा सकता था। लेकिन प्राप्त तेल की गुणवत्ता जरा घटिया किस्म की होती थी। जिसे सस्ते फर्नेस आयल के रूप में तो काम में लाया जा सकता था, लेकिन मोटर-गाड़ियों तथा वायुयानों में प्रयोग करने योग्य शुद्ध पेट्रोल बनाने में यह विशेष उपयोगी नहीं था। बाद में **पायर** नामक वैज्ञानिक ने उपयुक्त उत्प्रेरक का प्रयोग करके इस प्रणाली को सुधारा और 1931-32 में अच्छे स्तर का पेट्रोल बनाने के लिए जर्मनी में इस प्रणाली पर आधारित पहला संयंत्र स्थापित हुआ। द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान जर्मनी के कुल 12 ऐसे संयंत्र काम कर रहे थे जिनसे वर्ष भर में लगभग 40 लाख टन गेसोलीन तथा अन्य द्रव ईंधन तैयार होते थे। इन संयंत्रों में भूरा तथा बिटूमिनी कोयला काम में लाया जाता था। उन्हीं दिनों ब्रिटेन ने भी एक ऐसा ही संयंत्र लगाया था। लेकिन बाद में वर्षों में सस्ती दरों पर प्रचुर मात्रा में पेट्रोल तथा अन्य ईंधनों की उपलब्धि ने लोगों का ध्यान इधर से हटा लिया और ये कारखाने या तो बंद कर दिए गए या उन्हें तेलशोधक इकाइयों में परिवर्तित कर दिया गया।

फिशर तथा **ट्रोप्श** नामक वैज्ञानिकों ने मिल कर कोयले से पेट्रोलियम बनाने की

एक अन्य प्रणाली का विकास किया जो उन्हीं के नाम पर **फिशर-ट्रोप्स प्रणाली** के नाम से जानी जाती है। यह प्रणाली ऊपर बताई गई अन्य विधियों से इस माने में भिन्न है कि इसमें कोयले के आणविक संगठन में ही परिवर्तित कर दिया जाता है। इस विधि में कोयले को सबसे पहले हाइड्रोजन तथा कार्बनमोनोक्साइड के मिश्रण में परिवर्तित किया जाता है। यह मिश्रण सिनथेसिस (संश्लेषण) गैस या सिन गैस कहलाता है। सिन गैस को बाद में एक उत्प्रेरक अभिक्रिया से गुजारते हैं। यह अभिक्रिया आविष्कारकों के नाम पर फिशर-ट्रोप्श संश्लेषण कहलाती है। अभिक्रिया के अंत में अनेक हाइड्रोकार्बन यौगिक प्राप्त होते हैं जिनमें गैसोलीन और डीजल का हिस्सा सबसे अधिक होता है। सीमित मात्रा में मीथेन, मोम, कई प्रकार के एल्डिहाइड, कीटोन तथा अल्कोहल भी प्राप्त होते हैं।

फिशर तथा ट्रोप्श ने सबसे पहले अपनी खोज की जानकारी 1923 में प्रकाशित की थी और इस प्रणाली पर आधारित 1000 टन द्रव ईंधन तथा मोम प्रतिवर्ष बनाने की क्षमता वाला पहला संयंत्र 1933 में स्थापित हुआ था। 1939 तक जर्मनी में ऐसे 9 संयंत्र स्थापित हो चुके थे जो सम्मिलित रूप से लगभग 5 लाख टन गैसोलीन, डीजल तथा पैराफीन मोम का उत्पादन प्रतिवर्ष करते थे। उसी दौरान फ्रांस, जापान तथा मंचूरिया में भी कई ऐसे संयंत्र लगाए गए थे, लेकिन युद्ध की समाप्ति के बाद प्रचुर मात्रा में सस्ती दरों पर पेट्रोलियम की उपलब्धि के कारण एक-एक कर सभी बंद हो गए। दक्षिण अफ्रीका इसका अपवाद था। उसने अमरीका और जर्मनी की सहायता से इस तकनीक में इसे सुधार किए और व्यावसायिक स्तर पर कोयले से पेट्रोलियम बनाने लगा। फिशर तथा ट्रोप्श की सुधरी हुई प्रणाली पर आधारित पहला संयंत्र वहां 1955 में लगाया गया जिसकी उत्पादन क्षमता 1969 तक लगभग ढाई लाख टन वार्षिक हो गई थी। 15-15 लाख टन की वार्षिक क्षमता वाले दो और संयंत्र वहां लगाए गए हैं। एक अनुमान के अनुसार इस समय दक्षिण अफ्रीका कोयले से लगभग 40 लाख टन पेट्रोल तथा उससे जुड़ी अन्य चीजें प्रति वर्ष तैयार करता है। मोटर वाहनों के लिए आवश्यक ईंधन का कम से कम आधा हिस्सा वह इसी स्रोत से प्राप्त करता है।

दक्षिण अफ्रीका ने फिशर तथा ट्रोप्श की प्रणाली में जो सुधार किए हैं। उनके तकनीकी रहस्य बहुत गोपनीय रखे जा रहे हैं। खास तौर पर उत्प्रेरक के रूप में कौन सा यौगिक प्रयोग किया जा रहा है, यह पता नहीं चलने दिया जा रहा है। बाहरी देशों को केवल इतना मालूम है कि दक्षिण अफ्रीकी, संयंत्रों में एक तरफ कोयला डालकर दूसरी तरफ 70 प्रतिशत पेट्रोलियम, 7 प्रतिशत विविध प्रकार की गैसें, 4 प्रतिशत डीजल, 3 प्रतिशत मोमी तेल तथा 13 प्रतिशत आक्सीजनयुक्त रसायन प्राप्त कर लिए जाते हैं। पेट्रोलियम की आसन्न समाप्ति को देखते हुए जापान, पश्चिमी जर्मनी, कनाडा, आस्ट्रेलिया, ब्रिटेन तथा अमरीका जैसे देश भी दुबारा कोयले से पेट्रोल बनाने की ओर आकृष्ट हुए हैं और पुरानी ठप कर दी गई शोध परियोजनाओं को पुनर्जीवित कर उपलब्ध तकनीकों में अपेक्षित सुधार का प्रयास कर रहे हैं।

चिंतनपरक

विश्वविद्यालय स्तरीय साहित्य निर्माण के विभिन्न पक्ष*

प्रो. हरिदत्त

पिछले दिनों देश के एक प्रमुख भारतीय तकनीकी शिक्षा संस्थान—'आई.आई.टी. 'दिल्ली' की दो घटनाओं ने इस बात को भलीभांति उजागर कर दिया है कि हिंदी माध्यम से उच्च वैज्ञानिक और तकनीकी शिक्षा ग्रहण करने के इच्छुक छात्रों को किन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है, और विश्वविद्यालयस्तरीय वैज्ञानिक साहित्य के निर्माण, अध्ययन एवं अध्यापन करने में कितनी दुस्तर बाधाएं हैं। पहली घटना 'आई.आई.टी., दिल्ली' के छात्र **श्री श्यामरुद्र पाठक** के हिंदी में लिखे शोध प्रबंध को अधिकारियों द्वारा लेने से इन्कार करना था और दूसरी घटना रुड़की इंजीनियरिंग विश्वविद्यालय से स्नातक उपाधि लेने के बावजूद मास्टर ऑव इंजीनियरिंग (एम.टेक.) की प्रवेश परीक्षा में सम्मिलिन होने वाले **मुनेश कुमार जैन** द्वारा हिंदी में लिखी उत्तर पुस्तिकाओं का मूल्यांकन किए बिना ही उन्हें —आई.आई.टी., दिल्ली द्वारा अनुत्तीर्ण घोषित किया जाना था। इन दोनों का मूल कारण यह था कि दोनों छात्रों ने भारतीय संविधान द्वारा स्वीकृत राजभाषा तथा अपनी मातृभाषा हिंदी में अपने विचारों को अभिव्यक्त करने का दुस्साहस किया था। इस विषय में श्री जैन की याचिका उच्च न्यायालय ने बिना कारण बताए रद्द दी थी।

स्वतंत्रता प्राप्ति के 38 वर्ष बाद भी हम अभी तक अंग्रेजी की मानसिक दास्ता से मुक्त नहीं हुए हैं। भारत में अंग्रेजों का राज्य भले ही न हो, किंतु अंग्रेजी का राज अभी तक पूर्ववत बना हुआ है। अंग्रेजी को बनाए रखने के लिए 15 साल की अवधि निर्धारित की गई थी, किंतु इसे निरंतर बढ़ाया जा रहा है। लगभग चार दशक बीत जाने के बाद अब तक भी हम यही मानते हैं कि अंग्रेज़ी के माध्यम के बिना न तो एम.बी.बी.एस. डॉक्टर बनाए जा सकते हैं, न उच्चकोटि के वैज्ञानिक तथा प्रौद्योगिकी की शिक्षा प्राप्त करने वाले इंजीनियर तैयार किए जा सकते हैं। इस विषय में 31 मार्च, 1985 को पंजाब विश्वविद्यालय, चंडीगढ़ के दीक्षांत भाषण में राष्ट्रपति ने अपनी गहरी मानसिक वेदना

* विज्ञान, अप्रैल-मई 1986

अभिव्यक्त करते हुए कहा था—"आज यहां की सारी कार्यवाही अक्षर-अक्षर इंगलिश में हो रही है, गुजारा भी नहीं है इस लैंगुएज के बगैर। दुनिया में फैल गई है, लेकिन मैंने हिंदी में अपना भाषण दिया। मैं भी इंगलिश में लिखित भाषण के दो-चार सफे दबादब पढ़ देता तो भी गुजारा हो सकता था, लेकिन मैंने वह नहीं किया और शायद मेरी इस बात के लिए गुस्ताखी नहीं समझेंगे। वी.सी. साहब को तो अच्छी तरह हिंदी आती है, पंजाबी आती है, यहां के प्रोफेसरों को तो सारी भाषाएं आती हैं और मैं इस बात के भी पक्ष में हूं कि हम अपनी क्षेत्रीय भाषाओं को भी मानकर चल रहे हैं और हमारी जो 'ऑफिशियल लैंगुएज' है उसको भी सारे भारत में सम्मान मिला है। फिर मेरी समझ से यह दूर है कि 38 साल के बाद अब तक हम इंगलिश के बिना इंजीनियर नहीं बना सके, इंगलिश के बगैर हम डॉक्टर नहीं बना सकते, हम साईंसदा नहीं बना सकते। दुनिया में जो जर्मनी देश है, वहां जर्मन भाषा में हर मजमून के विशेषज्ञ हैं। इसी तरह रूस में भी हैं, चीन में हैं, तो भारत में क्यों नहीं? इस शोचनीय स्थिति का स्वरूप समझने से पहले इसकी ऐतिहासिक पृष्ठभूमि का संक्षिप्त परिचय देना आवश्यक प्रतीत होता है।

1. ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

हमारे देश की शिक्षा में अंग्रेजी के प्रयोग का इतिहास बड़ा रोचक है। ब्रिटिश पार्लियामेंट ने 1813 में ईस्ट इंडिया कंपनी का चार्टर देते समय यह व्यवस्था की थी कि कंपनी प्रतिवर्ष एक लाख रुपया भारत में शिखा प्रसार के कार्य पर व्यय करेगी। उस समय वर्तमान युग में पहली बार शिक्षा के माध्यम के बारे में प्रश्न उत्पन्न हुआ। इस विषय में उस समय तीन पक्ष थे। पहला पक्ष बंगाल में कम्पनी की पुरानी पीढ़ी के अधिकारियों का था। ये लोग **वारेन हेस्टिंग** (1774-85) और **मिण्टो** (1807-13) की नीति का अनुसरण करते हुए संस्कृत तथा अरबी, फारसी के अध्ययन को प्रोत्साहित करना चाहते थे और इन्हीं भाषाओं को शिक्षा का माध्यम बनाए रखना चाहते थे। दूसरा पक्ष **मनारो** तथा **एलफिन्सटन** जैसे प्रबुद्ध ब्रिटिश प्रशासकों का था, जो आधुनिक भारतीय भाषाओं—बंगला, मराठी, हिंदी, गुजराती, तमिल आदि के माध्यम से भारतीयों को शिक्षा देना चाहते थे। उनका प्रधान तर्क यह था कि यही एक ऐसा माध्यभ है जिसके द्वारा पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान भारतवर्ष की साधारण जनता तक पहुंचाया जा सकता है। तीसरा पक्ष **चार्ल्स ग्रान्ट** (1746-1823 ई.) के अनुयायियों का था, जो अंग्रेजी भाषा के माध्यम से भारतीयों को पश्चिमी ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा प्रदान करना चाहता था। इस पक्ष का पोषण करने वाले ईसाई मिशनरी, कम्पनी की सेवा में रत तरुण कर्मचारी थे। शुरू में इनके पक्ष का समर्थन करने वाला कोई प्रभावशाली व्यक्ति नहीं था। किंतु भारत के गवर्नर जनरल की परिषद् का प्रथम कानूनी सदस्य मनोनीत होकर कलकत्ता आने पर **थामस बेबिंगटन मैकाले** (1800-1859 ई.) ने इस पक्ष को प्रभावशाली नेतृत्व प्रदान किया।

2 फरवरी, 1835 को मैकाले ने भारतीय शिक्षा के क्षेत्र में असाधारण ऐतिहासिक

महत्व रखने वाला एक सप्रसिद्ध नोट (मिनट) लिखा।

"इस समय अंग्रेजी ही मात्र ऐसी भाषा है जो विश्व के सब देशों में प्रचलित है, जिसमें अतीव उच्च-कोटि का साहित्य है और यही भाषा भारतीयों को ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा देने का माध्यम बन सकती है। जो कोई व्यक्ति उस भाषा (अंग्रेजी) को जानता है, उसे वह विशाल बौद्धिक सम्पत्ति प्राप्त करने की कुंजी मिल जाती है, जिसका सृजन और संचय भूमंडल के सबसे अधिक बुद्धिमान राष्ट्रों की 90 पीढ़ियों ने किया है। इसकी तुलना में संस्कृत, अरबी आदि भाषाओं में कोई साहित्य नहीं है।" इनकी खिल्ली उड़ाते हुए उसने कहा था—"क्या हम सार्वजनिक व्यय से आयुर्वेद के ऐसे चिकित्सासंबंधी सिद्धांतों को पढ़ाएंगे जिन्हें कोई घोड़े की नाल बांधने वाला अंग्रेज़ अपने लिए कलंक समझेगा? ऐसी ज्योतिष की शिक्षा देंगे जिसे पढ़कर अंग्रेजी छात्रावास की लड़कियां खिल-खिलाकर हंसेंगी? ऐसा इतिहास पढ़ाएंगे जिनमें 30 फीट ऊंचे और तीस हजार वर्ष तक शासन करने वाले राजाओं का वर्णन है। क्या हम ऐसा भूगोल पढ़ाएंगे जिसमें मधु और नवनीत के समुद्रों का उल्लेख है?"

मैकाले के इस ऐतिहासिक नोट ने भारत में अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा देने के सरकारी निर्णय में महत्वपूर्ण भूमिका अदा की। तत्कालीन गवर्नर जनरल **लार्ड विलियम बेंटिंक** की कार्यकारिणी में जब यह विषय प्रस्तुत हुआ तो भारतीय भाषाओं के पक्षपाती **प्रिंसेप** तथा **मैकाले** में इस पर उग्र वाद-विवाद हुआ, किंतु बेंटिंग ने मैकाले के पक्ष का समर्थन किया। अंत में 7 मार्च, 1835 को इस विषय में परिषद् का जो निर्णय सरकारी प्रस्ताव के रूप में प्रकाशित किया गया, उसमें यह कहा गया था कि 'ब्रिटिश सरकार का महान उद्देश्य भारत के निवासियों में यूरोप के साहित्य और विज्ञान को बढ़ावा देना होना चाहिए और शिक्षा देने के उद्देश्य से व्यय की जाने वाली सारी धनराशि का सर्वोत्तम उपयोग यह होगा कि उसे केवल अंग्रेजी शिक्षा पर लगाया जाए[1]।" इस निर्णय के अनुसार ब्रिटिश सरकार ने शिक्षा के लिए निर्धारित समस्त धनराशि अंग्रेजी की शिक्षा पर लगानी शुरू की और 1835 में अंग्रेजी उच्च शिक्षा का माध्यम बनी। जब 1857 में बंबई, कलकत्ता तथा मद्रास के पहले सरकारी विश्वविद्यालय स्थापित किए गए तो इनमें सारी शिक्षा अंग्रेजी के माध्यम से दी जाने लगी। वर्तमान शताब्दी के पहले चरण तक सभी सरकारी स्कूलों तथा विश्वविद्यालयों में शिक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी बनी रही।

2. अंग्रेजी माध्यम के विरुद्ध प्रथम विद्रोह तथा नए परीक्षण

19वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में भारत में धार्मिक पुनर्जागरण, सांस्कृतिक सुधार, साहित्यक एवं राष्ट्रीय जागरण के परिणामस्वरूप लोक भाषाओं—बंगला, हिंदी, मराठी, गुजराती, तमिल, तेलगू आदि में समाचारपत्र प्रकाशित होने लगे। उपन्यास तथा कथा साहित्य

---

1. सेलेक्शन्स फ्रॉम एजुकेशनल रिकार्ड्स, खंड 1, पृष्ठ 130

लिखा जाने लगा और अंग्रेजी की मानसिक दास्ता से मुक्त पाने के लिए कुछ विचारक मातृभाषा द्वारा शिक्षा देने का आंदोलन करने लगे। शिक्षा के क्षेत्र में इस विषय में शांतिनिकेतन और गुरुकुल कांगड़ी के प्रयोग उल्लेखनीय हैं। इन शिक्षा संस्थाओं में **पहली वार मातृभाषा के माध्यम से वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा देने का प्रयास किया गया।** हिंदी के क्षेत्र में गुरुकुल कांगड़ी का परीक्षण पहला था, अतः इसका यहां उल्लेख आवश्यक प्रतीत होता है।

आर्य समाज के सुप्रसिद्ध नेता **महात्मा मुन्शी राम** (स्वामी श्रद्धानन्द) ने उत्तर प्रदेश के कांगड़ी ग्राम के समीपवर्ती बन में गंगा नदी के तट पर 1902 में प्राचीन वैदिक शिक्षा प्रणाली को पुनरजीवित करने की दृष्टि से एक शिक्षा संस्थान की स्थापना गुरुकुल के नाम से की। यह गुरुकुल यहां आने से पहले तीन वर्ष तक पंजाब (पाकिस्तान) के गुजरांवाले नामक स्थान में भी चल चुका था। अतः 1907 में यहां के छात्र जब दसवीं की परीक्षा पास कर के महाविद्यालय में प्रविष्ट हुए तो उनके लिए सर्वप्रथम हिंदी में वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा देने की समस्या उत्पन्न हुई। उस समय तक सभी सरकारी स्कूलों में समूची शिक्षा का माध्यम अंग्रेजी था, और सरकार से सहायता प्राप्त करने वाले सभी विश्वविद्यालयों तथा महाविद्यालयों में तत्कालीन नीति के अनुसार अंग्रेजी माध्यम से शिक्षा दी जाती थी। किंतु यह संख्या सरकार से किसी प्रकार की सहायता नहीं लेती थी। अतः इसे अपनी शिक्षा का माध्यम, शिक्षा की पद्धति और नीति निर्धारित करने में पूरी स्वतंत्रता थी। इस संस्था के अधिकारियों ने गुरुकुल के महाविद्यालय विभाग में न केवल इतिहास, अर्थशास्त्र जैसे सामाजिक विषयों, अपितु रसायन, वनस्पति विज्ञान आदि सभी आधुनिक विज्ञानों की शिक्षा मातृभाषा हिंदी के माध्यम से देने का निर्णय किया। इससे पहले जब गुरुकुल के विद्यालय विभाग की उच्च कक्षाओं में जब रसायन शास्त्र और भौतिक विज्ञान जैसे आधुनिक विज्ञानों की पढ़ाई प्रारंभ हुई तो उसका माध्यम हिंदी भाषा को रखा गया और इन विषयों पर हिंदी में पाठ्य-पुस्तकें भी तैयार कराई गईं। इनके लेखक **मास्टर गोवर्धन** थे, जिन्होंने रसायन (1911) और विज्ञान प्रवेशिका (भौतिक शास्त्र) नाम से स्कूल स्टैण्डर्ड की दो पाठ्य-पुस्तकें इन विषयों पर लिखी थीं। पहली पुस्तक एस.फर्नो पुस्तकों के पारिभाषिक शब्दों के हिंदी पर्यायों के लिए **आचार्य प्रफुल्ल चन्द्र राय** की हिंदू कैमिस्ट्री, गोंडल के ठाकुर साहब की 'द हिस्टरी आव द आर्यन मैडिकल साइन्स' से तथा काशी नागरी प्रचारिणी के कोश से ली थी। इसके अतिरिक्त रसायन में गुरुकुल प्राध्यापक **श्री महेशचरण सिन्हा** द्वारा प्रकाशित रसायनशास्त्र से भी सहायता ली गई थी। इनका प्रकाशन भी गुरुकुल द्वारा ही किया गया था। **आधुनिक वैज्ञानिक विषयों पर हिंदी भाषा में ये प्रथम पाठ्य पुस्तकें थीं, जिन्हें लिखकर मास्टर गोवर्द्धन ने और प्रकाशित कर गुरुकुल कांगड़ी ने अत्यंत महत्वपूर्ण कार्य किया था।**

महाविद्यालय विभाग के लिए आधुनिक विषयों पर पाठ्यपुस्तकें तैयार करना सुगम कार्य नहीं था। अतः शुरू में यह नीति अपनाई गई कि अंग्रेजी भाषा में लिखी गई पुस्तकों

को शिक्षा के लिए प्रयुक्त किया जाए, पर कक्षा में पढ़ाते हुए प्राध्यापक जो व्याख्यान दें, वे हिंदी में हों उन्हें यह अनुमति थी कि वे अंग्रेजी के पारिभाषिक शब्दों को अपने व्याख्यानों में प्रयुक्त कर सकें। पर उनसे यह अपेक्षा की जाती थी कि इन शब्दों के हिंदी रुपांतर भी वे विद्यार्थियों को बताने का प्रयत्न करें। निस्संदेह यह अत्यंत मौलिक पद्धति थी, जिससे हिंदी में पाठ्यपुस्तकों के अभाव की समस्या हल हो जाती थी। **प्राध्यापकों के व्याख्यानों के नोट विद्यार्थी हिंदी में लेते थे** और अंग्रेजी भाषा का समुचित ज्ञान होने के कारण वे अंग्रेजी पुस्तकों को भी पढ़ लेते थे। पर गुरुकुल का यह भी प्रयत्न रहा कि आधुनिक विषयों पर ऐसी उच्च स्तर की पाठ्यपुस्तकें भी हिंदी में तैयार करायी जाएं जो महाविद्यालय विभाग में पाठ्यपुस्तकों के रूप में प्रयुक्त हो सकें। इसी के परिणामस्वरूप **प्रो. महेश चरण सिन्हा ने वनस्पतिशास्त्र, विद्युत्शास्त्र, रसायनशास्त्र की रचना की और प्रो. विनायक गणेश साठे ने विकासवाद की।** कुछ वर्षों तक गुरुकुल का यह प्रयास सफलतापूर्वक चलता रहा और उच्च स्तर की अनेक पुस्तकें गुरुकुल द्वारा लिखवाई गईं। **हिंदी भाषा में वैज्ञानिक शिक्षा के क्षेत्र में गुरुकुल का यह कार्य अत्यंत महत्व का था।**

3. हिंदी में पारिभाषिक शब्दावली तथा विश्वविद्यालय स्तरीय ग्रन्थ-निर्माण

मैकाले की टिप्पणी पर 1935 में अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा देने के सरकारी निर्णय के बाद ब्रिटिश भारत में स्कूलों तथा कॉलेजों में अग्रेज़ी माध्यम द्वारा शिक्षा देने की व्यवस्था सार्वभौम हो गई और 100 वर्ष तक यह स्थिति बनी रही। फिर भी पिछली शताब्दी के अंतिम दशक तक भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक शब्दों के निर्माण की आवश्यकता शिक्षा-शास्त्रियों को प्रतीत होने लगी और इस बारे में कुछ प्रयास किए जाने लगे।

उत्तर भारत में सर्वप्रथम गुजरात में बड़ौदा के **प्रबुद्ध शासक महाराजा सयाजी राव** के शासन के आरंभिक काल में इस कठिनाई को सर्वप्रथम अनुभव किया गया। महाराजा की यह इच्छा थी कि गुजराती भाषा के माध्यम से बच्चों को सब प्रकार के ज्ञानविज्ञान की शिक्षा दी जाए। उन्होंने इस दृष्टि से गुजराती में सुबोध पुस्तक तैयार करने का कार्य एक प्रसिद्ध शिक्षा शास्त्री प्रो.टी.के. गज्जर को 1883 ई. में सौंपा। उन्हें इन पुस्तकों के लिखने में सबसे बड़ी कठिनाई पारिभाषिक शब्दों की प्रतीत हुई। उन्होंने इसका उल्लेख बार-बार अपनी रिपोर्टों में किया और इस कारण गुजराती में सुबोध पुस्तकें लिखने का कार्य आगे नहीं बढ़ सका। 19वीं शताब्दी के अंतिम दशक तक बंगला में साहित्य की अनेक विधाओं का पर्याप्त विकास हो चुका था और इसमें चिकित्सा विज्ञान की पुस्तकें लिखी जाने लगीं। इनके लिए भी पारिभाषिक शब्द आवश्यक थे। ये शब्द आयुर्वेद के प्राचीन ग्रंथों—चरक, सुश्रुत आदि से लिए गए और कुछ नए शब्द संस्कृत भाषा के आधार पर बनाए गए। इस प्रकार का एक सराहनीय प्रयास सुप्रसिद्ध **पीयूषपाणि वैद्य गणनाथ सेन** द्वारा एनाटमी पर लिखा गया ग्रन्थ 'प्रत्यक्ष शारीरम्' था। इसमें बीसियों नए पारिभाषिक शब्द संस्कृत भाषा के आधार पर बनाए गए थे'

हिंदी में इस क्षेत्र में कार्य करने वाली **पहली संस्था काशी नागरी प्रचारिणी** सभा थी। इसने 1898 में वैज्ञानिक पारिभाषिक शब्द हिंदी में बनाने का कार्य अपने हाथ में लिया। **हिंदी में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने वैज्ञानिक शब्दों का पहला पारिभाषिक शब्द-कोष 1906 में प्रकाशित किया था।** इसमें गणित, ज्योतिष, भूगोल, भौतिकी, रसायन, दर्शन, राजनीति, अर्थशास्त्र आदि विषयों से सम्बद्ध अंग्रेज़ी के साढ़े नौ हजार शब्दों के चौदह हजार दो सौ पैंसठ हिंदी पर्याय दिए गए थे। उन दिनों हिंदी लेखकों को न केवल वैज्ञानिक विषयों के लिए, अपितु सामाजिक विषयों के लिए भी पुस्तकें लिखने में बड़ी कठिनाइयां उठानी पड़ती थीं। यह बात 'सरस्वती' के संपादक तथा हिंदी के **सुप्रसिद्ध लेखक महावीर प्रसाद द्विवेदी** के उदाहरण से स्पष्ट है। उन्होंने अर्थशास्त्र पर संपत्तिशास्त्र के नाम से एक पुस्तक लिखी थी। इसमें उन्हें अंग्रेजी के प्राइस और वैलयू शब्दों के हिंदी पर्याय सुनिश्चित करने में बड़ी कठिनाई महसूस हुई थी। इस समस्या पर गंभीर चिंतन के बाद उन्होंने इन दोनों के लिए क्रमशः कीमत और मालियत शब्द निश्चित किए थे। जबकि आज हाई स्कूल में अर्थशास्त्र पढ़ने वाला एक सामान्य विद्यार्थी इन दोनों के स्वरूप तथा पर्यायवाची दाम और मूल्य शब्दों को भली-भांति जानता है। यह तथ्य पिछले आठ दशकों में पारिभाषिक शब्दों के क्षेत्र में हुई प्रगति को सूचित करता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले तक पारिभाषिक शब्दों के निर्माण और वैज्ञानिक पाठ्यपुस्तकों के लेखन एवं भारतीय भाषाओं में अनुवाद का कार्य निज़ाम हैदराबाद के अपवाद को छोड़कर गैरसरकारी स्तर पर कुछ शिक्षा संस्थाओं द्वारा निजी रूप में किया गया। पहले यह उल्लेख किया जा चुका है कि पाठ्यपुस्तकों के निर्माण तथा उन्हें विद्यालय तथा महाविद्यालय में पाठ्यपुस्तकों के रूप में पढ़ाने का पहला सफल परीक्षण हिंदी भाषी क्षेत्र में गुरुकुल कांगड़ी, हरिद्वार में किया गया। **श्री महेशचरण सिन्हा संभवतः हिंदी में वैज्ञानिक विषयों की पाठ्यपुस्तकों के पहले लेखक थे और गुरुकुल में हिंदी के माध्यम से उन्हें पढ़ाने वाले अग्रणी शिक्षक थे।** उनकी प्रमुख रचनाएं थीं—रसायनशास्त्र (1909), वनस्पतिशास्त्र (1911), विद्युत्शास्त्र (1912)। ये सब कुरुकुल कांगड़ी द्वारा प्रकाशित की गई थीं। इसके साथ ही इसी संस्था से श्री गोवर्द्धन आदि ने पांचवीं से आठवीं कक्षाओं के लिए सुपसिद्ध अंग्रेजी पाठ्यपुस्तकों के आधार पर भौतिकी (1910) और रसायन (1911) नामक दो पुस्तकें लिखीं। गुरुकुल के एक अन्य प्राध्यापक **श्री विनायक गणेश साठे** ने विकासवाद पर तथा **श्री रामशरण दास** ने रसायन की एक शाखा पर गुणात्मक विश्लेषण (1912) नामक पुस्तकें लिखीं।

प्रयाग विश्वविद्यालय की **विज्ञान परिषद् ने लगभग आधी शताब्दी तक हिंदी में वैज्ञानिक साहित्य के विकास एवं निर्माण का अतीव सराहनीय कार्य किया।** इस संस्था की ओर से चार भागों में लगभग पांच हजार शब्दों का एक पारिभाषिक कोश छापा गया। **'विज्ञान' नामक पत्रिका के माध्यम से वैज्ञानिकों को हिंदी में लिखने के लिए प्रेरित और प्रोत्साहित किया गया तथा विभिन्न वैज्ञानिक विषयों पर पुस्तकें प्रकाशित की गईं।**

स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले हिंदी में पारिभाषिक शब्दों के कोश-निर्माण का कार्य करने वाले दो प्रयास उल्लेखनीय हैं। **श्री सुखसंपत्ति राय भण्डारी और डॉ. रघुवीर** ने ऐसे कोशों का निर्माण आरंभ किया, किंतु उनका प्रकाशन पूर्ण स्वराज्य प्राप्ति के बाद ही संभव हुआ।

1935 के भारत सरकार कानून के अनुसार 1937 में जब विभिन्न प्रांतों में लोकप्रिय कांग्रेसी सरकारें स्थापित हुईं तो स्कूल में शिक्षा के माध्यम के रूप में हिंदी तथा अन्य भारतीय भाषाओं को महत्वपूर्ण स्थान दिया जाने लगा। भारत सरकार का ध्यान इस विषय की ओर आकृष्ट हुआ। शिक्षा मंत्रालय ने 1940 में अखिल भारतीय स्तर पर समूचे भारत में एक-सी वैज्ञानिक शब्दावली बनाने का निर्णय किया और हैदराबाद राज्य में उर्दू माध्यम को सफलतापूर्वक लागू करने वाले तथा उर्दू में विश्वविद्यालय स्तरीय पुस्तकों का निर्माण कराने वाले **सर अकबर हैदरी** की अध्यक्षता में एक समिति बनाई गई। किंतु द्वितीय विश्व युद्ध के कारण इस दिशा में विशेष प्रगति नहीं हो सकी। इस अवधि में **महाकवि रवीन्द्रनाथ तथा महात्मा गांधी ने शिक्षा में अंग्रेजी के माध्यम का प्रबल विरोध किया** और देश पर इसका बड़ा प्रभाव पड़ा। इनके विचार वर्तमान स्थिति में अतीव उपयोगी हैं, अतः इनका यहां संक्षिप्त उल्लेख उचित प्रतीत होता है।

महात्मा गांधी ने अपने वैयक्तिक अनुभव के आधार पर बल देते हुए विदेशी भाषा के माध्यम का उग्र विरोध किया। उनका कहना था मेरी मातृभाषा में कितनी ही खामियां क्यों न हों, मैं उससे उसी तरह चिपटा रहूंगा, जिस तरह अपनी माता की छाती से। वही मुझे जीवनदायी दूध दे सकती है। मैं अंग्रेजी को भी उसकी जगह प्यार करता हूं, लेकिन यदि अंग्रेजी उस जगह को हड़पना चाहती है, जिसकी वह हकदार नहीं तो उससे सख्त नफरत करूंगा। यह बात मानी हुई है कि अंग्रेजी आज सारी दुनिया की भाषा बन गई है इसलिए मैं उसे दूसरी जुबान के तौर पर जगह दे दूंगा।...लेकिन विश्वविद्यालय के पाठ्यक्रम में, स्कूलों में नहीं। वह कुछ लोगों के सीखने की चीज हो सकती है, लाखों करोड़ों लोगों की नहीं। आज जब हमारे पास प्राइमरी शिक्षा को भी मुल्क में लाजमी बनाने के जरिए नहीं हैं तो हम अंग्रेजी सिखाने के जरिए कहां से जुटा सकते हैं। रूस ने बिना अंग्रेजी के विज्ञान में इतनी उन्नति की है। **आज हम अपनी मानसिक गुलामी की वजह से ही यह मानने लगे हैं कि अंग्रेज़ी के बिना हमारा काम नहीं चल सकता है।** मैं इस चीज को नहीं जानता हूं।"[1]

हम विद्यार्थियों को अनेक बातें कंठस्थ करनी पड़ती थीं, हालांकि हम उन्हें पूरी तरह नहीं समझ पाते थे और कभी-कभी तो बिल्कुल नहीं समझ पाते थे। शिक्षक जब हमें ज्यामेट्री (रेखागणित) समझाने लिए बड़ा प्रयत्न करते तब मेरा सिर घूमने लगता। सच तो यह है कि यूक्लिड की रेखागणित की पहली पुस्तक के तेरहवें प्रमेय तक जब तक

1. हरिजन सेवक, 2 अक्टूबर, 1934

हम नहीं पहुंच गए तब तक मेरी समझ में रेखागणित बिल्कुल नहीं आई...यह अब मैं समझता हूं कि जितना गणित, रेखागणित, बीजगणित, रसायनशास्त्र और ज्योतिष सीखने में मुझे चार साल लगे, उतना मैंने एक ही साल में सीख लिया होता अगर अंग्रेजी के बजाए मैंने गुजराती में पढ़ा होता।"[1]

इससे यह स्पष्ट होता है कि विदेशी भाषा का माध्यम विद्यार्थियों के मन पर कितना भारी बोझ डालता है और उनकी मानसिक शक्तियों को कितना कुंठित करता है।

महात्मा गांधी द्वारा शिक्षा में अंग्रेज़ी माध्यम के कट्टर विरोध और मातृभाषा के प्रबल समर्थन का देश पर बड़ा प्रभाव पड़ा। वर्तमान शताब्दी के तीसरे दशक में हाई स्कूलों में हिंदी तथा स्थानीय भाषाओं को शिक्षा का माध्यम स्वीकार किया जाने लगा। 1937 में प्रांतों में कांग्रेसी सरकारें स्थापित होने पर इस प्रवृत्ति को बहुत बल मिला। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद विश्वविद्यालयों में भी पहले मानविकी के विषयों में तथा 1967 के बाद वैज्ञानिक विषयों में शिक्षा और परीक्षा का माध्यम हिंदी को बनाया गया। अब यहां इस पर प्रभाव डालने वाले प्रमुख प्रश्नों तथा पक्षों का उल्लेख किया जाएगा।

4. छात्र तथा हिंदी माध्यम

विश्वविद्यालयों में हिंदी माध्यम को लागू कराने में छात्रों का बड़ा महत्वपूर्ण योगदान रहा है और भविष्य में भी ऐसी स्थिति बने रहने की पूरी संभावना है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद हिंदी भाषा में मैट्रिक तथा इंटर के छात्रों तथा उनके अभिभावकों के आग्रह से ही हिंदी माध्यम लागू किया गया क्योंकि इन परीक्षाओं में अंग्रेजी के कारण फेल होने वाले छात्रों की संख्या अन्य विषयों की तुलना में बहुत अधिक थी। बारहवीं कक्षा तक हिंदी माध्यम द्वारा शिक्षा ग्रहण करने वाले छात्रों के लिए यह सर्वथा स्वाभाविक था कि वे विश्वविद्यालयों में हिंदी माध्यम द्वारा शिक्षा दिए जाने पर बल दें।

7वें दशक के आरंभ तक मानविकी के विभिन्न विषयों—हिंदी, संस्कृत, इतिहास, समाजशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि विषयों के लिए हिंदी भाषी क्षेत्र के लगभग सभी विश्वविद्यालयों में परीक्षा तथा शिक्षा का माध्यम हिंदी स्वीकार कर लिया। शिक्षा मंत्रालय के वैज्ञानिक शब्दावली आयोग द्वारा पारिभाषिक शब्दों का निर्माण होने से आवश्यक पाठ्यपुस्तकें भी इस समय सुलभ होने लगीं। इन विषयों में छात्रों की संख्या अधिक होने के कारण निजी पुस्तक प्रकाशकों ने इस क्षेत्र में पाठ्यपुस्तकें प्रकाशित कराने में सराहनीय योगदान दिया। किंतु इस समय तक कुछ अखिल भारतीय स्वरूप रखने वाली संस्थाओं में हिंदी को माध्यम बनाने के लिए छात्रों को उग्र संघर्ष करना पड़ा।

इस विषय में एक सुप्रसिद्ध उदाहरण डॉ. वेद प्रताप वैदिक का है। वे नई दिल्ली की अंतर्राष्ट्रीय संबंधों के अध्ययन के सुप्रसिद्ध संस्थान स्कूल ऑव इंटरनेशनल स्टडीज

---

1. यंग इंडिया, 1 सितम्बर, 1921

के शोधछात्र थे। उन्होंने अफगानिस्तान की अंतर्राष्ट्रीय स्थिति पर अनुसंधान करके जब अपना शोध-प्रबंध हिंदी में प्रस्तुत किया तो अधिकारियों ने इसे इस आधार पर स्वीकार करने से इन्कार कर दिया कि संस्थान की शिक्षा और परीक्षा का माध्यम अंग्रेज़ी है। श्री वैदिक बचपन से ही कट्टर हिंदी प्रेमी थे। पंजाब के हिंदी सत्याग्रह में उन्होंने बड़े उत्साह से भाग लिया था। वे हिंदी में ही अपना शोध-प्रबंध देने के लिए अड़ गए। उस समय संसद के अनेक सदस्यों ने उनकी सर्वथा न्यायोचित मांग का प्रबल समर्थन किया। इसके लिए एक आंदोलन चला और अंत में संस्थान के अधिकारियों को इस शोध-प्रबंध को लेने के लिए विवश होना पड़ा। इस प्रकार 'स्कूल ऑव इंटरनेशनल स्टडीज' में परीक्षा के माध्यम के रूप में हिंदी के प्रयोग की स्वीकृति मिली।

1965 तक लगभग यह स्थिति थी कि हिंदी मानविकी के क्षेत्र में हिंदी भाषी क्षेत्रों के विश्व-विद्यालयों में शिक्षा और परीक्षा का माध्यम बन चुकी थी, किंतु वह अभी तक वैज्ञानिक, तकनीकी, इंजीनियरी और डॉक्टरी चिकित्सा का अध्यापन विश्वविद्यालयों, मेडिकल कॉलेजों और उच्च तकनीकी शिक्षा संस्थानों में अपना समुचित स्थान प्राप्त कर नहीं सकी थी।

इस विषय में एक उल्लेखनीय प्रयास 1965 में वाराणसी में हिंदी भाषी क्षेत्रों के विश्वविद्यालयों के कुलपतियों का सम्मेलन द्वारा हुआ। इसने अपने ऐतिहासिक अधिवेशन में यह निर्णय किया कि यह कार्य एक सुनिश्चित समयबद्ध योजना के अनुसार होना चाहिए और इसके लिए आवश्यक पाठ्यपुस्तकों के निर्माण का कार्य इस ढंग से किया जाए कि **जुलाई 1971 के कृषि, पशुचिकित्सा आदि सभी विज्ञानों की पढ़ाई स्नातक स्तर पर हिंदी के माध्यम से आरंभ कर दी जाए।**

इस लक्ष्य को पूरा करने के लिए विभिन्न विश्वविद्यालयों ने वैज्ञानिक शब्दावली आयोग और शिक्षा मंत्रालय के सहयोग से वैज्ञानिक पाठ्यपुस्तकों के अनुवाद तथा मौलिक लेखन का कार्य आरंभ किया। रुड़की विश्वविद्यालय ने इंजीनियरी के क्षेत्र में सराहनीय कार्य किया। किंतु इस विषय में सबसे अधिक उल्लेखनीय कार्य गोविन्दवल्लभ पंत कृषि प्रौद्योगिक विश्वविद्यालय में हुआ। इसके तत्कालीन कुलपति डॉ. ध्यानपाल सिंह ने कृषि तथा पशु-चिकित्सा के क्षेत्र में इस कार्य को सम्पन्न कराने के लिए सर्वप्रथम एक पृथक् निदेशालय स्थापित किया। इसमें हिंदी भाषा के विशेषज्ञ एवं सुलेखक, निदेशक, सह-निदेशक, वरिष्ठ और कनिष्ठ अनुवादक नियुक्त किए गए। विभिन्न विषयों के विशेषज्ञों के साथ मिलकर उन्हें अंग्रेजी भाषा की प्रामाणिक पाठ्यपुस्तकों के अनुवाद और मौलिक लेखन का कार्य सौंपा गया। विशेषज्ञों तथा हिंदी का अच्छा ज्ञान रखने वाले लेखकों और अनुवादकों के सहयोग से इस निदेशालय के **हिंदी में कृषि एवं पशु चिकित्सा विषयक पाठ्यपुस्तकों के अनुवाद तथा मौलिक लेखन में अभूतपूर्व कार्य करके एक नया कीर्तिमान स्थापित किया।**

यह कार्य केवल स्नातक स्तर की कृषि एवं पशु चिकित्सा, कृषि इंजीनियरी, तथा

गृह विज्ञान की पाठ्यपुस्तकों तक ही सीमित था। अभी तक वैज्ञानिक विषयों का अध्यापन हिंदी माध्यम द्वारा स्नातक कक्षाओं तक ही हो रहा हैं, किंतु एम.एस-सी. में हिंदी माध्यम का उपयोग नहीं हो रहा है। मेडिकल कॉलेजों तथा देश के औद्योगिकी की शिक्षा के क्षेत्र में सर्वोच्च माने जाने वाले पांच भारतीय संस्थानों (आई.आई.टी.) में शिक्षा अंग्रेजी में दी जाती है। इनमें **दिल्ली और कानपुर के तकनीकी संस्थान हिंदी क्षेत्र में हैं फिर भी इनमें अभी तक अंग्रेजी का पूरा प्रभुत्व और वर्चस्व है।** अभी हाल में इनमें **हिंदी को समुचित स्थान दिलाने का दो अभिनंदनीय प्रयास छात्रों द्वारा हुए हैं।**

5. प्राध्यापक तथा हिंदी माध्यम

विश्वविद्यालय स्तरीय शिक्षा में हिंदी माध्यम को लोकप्रिय तथा सफल बनाने का सबसे बड़ा उत्तरदायित्व प्राध्यापकों पर है क्योंकि विद्यार्थियों को विज्ञान की शिक्षा देना उन्हीं के हाथ में है। इस विषय में यह एक बड़ा कटु सत्य है कि अब तक प्राध्यापकों की ओर से इस विषय में अपेक्षित सहयोग पर्याप्त मात्रा में नहीं मिला है। यह सर्वथा स्वाभाविक था। सम्भवतः इसका एक बड़ा कारण यह है कि वर्तमान पीढ़ी के प्राध्यापकों ने अंग्रेजी माध्यम द्वारा शिक्षा प्राप्त की है और उसमें ही छात्रों को शिक्षा देना उनके लिए अतीव सुविधाजनक है। अपनी इस सुविधा के कारण वे अंग्रेजी माध्यम के समर्थन और हिंदी माध्यम के विरोधी हैं और वर्तमान स्थिति को बनाए रखने के पक्षपाती हैं। अंग्रेज़ी ने उन पर ऐसा जादू कर रखा है कि कुछ समय पहले तक अधिकांश प्राध्यापक यह मानते थे कि हिंदी में विज्ञान की उचित शिक्षा देना संभव नहीं है और वे इसके कट्टर विरोधी थे। इन पंक्तियों के लेखक को स्मरण है कि जब पन्तनगर विश्वविद्यालय में हिंदी पाठ्यपुस्तकों को तैयार करने के बारे में कुलपति की अध्यक्षता में 1969 में इस प्रश्न पर विचार करने के लिए प्राध्यापकों की एक सभा का आयोजन किया गया था तो उसमें एक प्राध्यापक ने यह विचार प्रकट किया था कि हिंदी माध्यम द्वारा वैज्ञानिक विषयों की शिक्षा विद्यार्थियों को कदापि नहीं दी जा सकती है। इस पर जब कुलपति महोदय ने उनसे पूछा कि वे किस देश में पैदा हुए हैं—इंगलैण्ड में या भारत में—तब उस प्राध्यापक को सही स्थिति का ज्ञान हुआ।

यह बड़े हर्ष की बात है कि **ऐसे हिंदी प्रेमी प्राध्यापकों की भी कमी नहीं है जो हिंदी माध्यम द्वारा शिक्षा देने में तथा हिंदी पाठ्यपुस्तकों के निर्माण में गहरी दिलचस्पी लेते हैं।** लेखक को स्मरण है कि जब अनुवाद निदेशालय द्वारा सस्य विज्ञान की पहली मौलिक पुस्तकें 1969-70 में तैयार करवाई गईं तो इस विश्वविद्यालय के कुछ प्राध्यापकों ने न केवल इनके लिखने में अपितु उनको प्रेस में शीघ्र छपवाने, प्रूफ संशोधन तक के कार्यों में पूरा सहयोग दिया और इस विषय के छात्रों को हिंदी माध्यम द्वारा पढ़ाने में बड़ी अभिरूचि प्रदर्शित की। हमें आशा है भविष्य में विश्वविद्यालयों में ऐसे प्राध्यापकों की संख्या बढ़ेगी और इनके सहयोग से हिंदी माध्यम का सफलता-पूर्वक उपयोग किया

जाएगा।

यदि विश्वविद्यालयों द्वारा प्राध्यापकों की नियुक्ति करते समय उनकी अन्य योग्यताओं के साथ हिंदी में पढ़ाने की क्षमता को वरीयता दी जाए, पदोन्नति आदि में हिंदी में पुस्तक लेखन को महत्व दिया जाए तो प्राध्यापकों को हिंदी माध्यम द्वारा शिक्षा देने में बड़ा प्रोत्साहन मिलेगा।

6. स्वातंत्र्योत्तर युग में शब्दावली तथा पुस्तक-निर्माण के प्रयास

स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद शिक्षा के माध्यम के प्रश्न पर विचार करने के लिए जनवरी 1948 में उप-कुलपतियों और शिक्षाशास्त्रियों की एक समिति बुलाई गई और इसने केंद्र में वैज्ञानिक शब्दावली का कोश बनाने वाले एक बोर्ड का निर्माण करने का निर्णय किया। इसमें देश के प्रमुख भाषाशास्त्री और वैज्ञानिक रखे गए। वैज्ञानिक शब्दावली बोर्ड की पहली बैठक 11 दिसम्बर 1950 को तत्कालीन शिक्षा मंत्री मौलाना आजाद की अध्यक्षता में हुई और इसके बाद हिंदी में पारिभाषिक शब्दों के निर्माण का कार्य भारत सरकार और प्रांतीय सरकारों द्वारा बड़े पैमाने पर किया जाने लगा। इसका उल्लेख करने से पहले इस क्षेत्र में कुछ साहित्यिक संस्थाओं तथा व्यक्तियों के कार्य का संक्षिप्त परिचय देना समीचीन प्रतीत होता है।

महामना मदन मोहन मालवीय द्वारा स्थापित तथा राजर्षि पुरुषोत्तम दास टंडन द्वारा संवर्धित प्रयाग के हिंदी साहित्य सम्मेलन ने विभिन्न विषयों के कई कोश प्रकाशित किए। प्रयाग की 'भारतीय हिंदी परिषद्' ने तीस हजार वैज्ञानिक शब्दों का संग्रह छापा। विभिन्न वैज्ञानिक विषयों पर इलाहाबाद की **'हिंदुस्तानी अकादमी'** एवं **'विज्ञान परिषद्'** तथा लखनऊ की **'हिंदी समिति'** ने उत्कृष्ट कोटि के वैज्ञानिक ग्रंथ छापे।

छठे दशक में वैज्ञानिक कोश विषयक व्यक्तिगत प्रयासों में **श्री सुखसंपत्ति राय भण्डारी** (1891-1962) तथा **डॉ. रघुवीर** के नाम उल्लेखनीय हैं। ये प्रयास स्वतंत्रता प्राप्ति से पहले आरंभ हुए थे, किंतु इनकी पूर्णता स्वतंत्र भारत में हुई। श्री भण्डारी ने एक लाख से अधिक शब्दों का एक पारिभाषिक कोश दस खंडों में प्रकाशित किया। इसमें न केवल राजनीति, अर्थशास्त्र, शासन विज्ञान आदि सामाजिक विज्ञानों के बल्कि भौतिकी, रसायन, चिकित्साविज्ञान, शल्यशास्त्र, गृहविज्ञान के तथा सीमेण्ट, डेयरी, चीनी, रेशम तथा कपड़ा उद्योगों से संबंध रखने वाले शब्द थे। इनके भाई **श्री चतुराज भंडारी** (1902-66) ने 10 खंडों में **वनौषधि चन्द्रोदय** तथा 5 खंडों में **'विश्व इतिहास कोश'** प्रकाशित किया।

डॉ. रघुवीर ने भारतीय भाषाओं में वैज्ञानिक शब्दावली के विकास का बड़ा उल्लेखनीय, सराहनीय और महान् प्रयास अपने पूर्ववर्तियों की तुलना में सबसे अधिक व्यवस्थित और वैज्ञानिक आधार पर बड़े मौलिक ढंग से किया है। उन्होंने विज्ञान की विभिन्न शाखाओं पर पहले पृथक् कोश प्रकाशित किए, बाद में उन सबको एकत्र करके

'कान्सालिडेटेड ग्रेट इंगलिश इंडियन डिक्शनरी' प्रकाशित की। उन्होंने हिंदी भाषा में प्रचलित स्टेशन, इंजन आदि शब्दों के भी हिंदी पर्याय संस्कृत धातुओं, उपसर्गों तथा प्रत्ययों के आधार पर बनाए। अनेक समीक्षकों ने उनकी संस्कृत मूलक शब्दावली की आलोचना दुर्बोधता और कठिनता के आधार पर की है, किंतु इसमें कोई संदेह नहीं है कि उनके आलोचकों को भी जब अन्य कोशों में अंग्रेज़ी शब्दों के पर्याय नहीं मिलते हैं तो उन्हें डॉ. रघुवीर के कोश की शरण लेनी पड़ती है।

सरकारी प्रयास : स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारतीय संविधान का निर्माण लागू होने पर भारत सरकार द्वारा सर्वप्रथम संविधान के अंग्रेज़ी शब्दों का हिंदी कोश प्रकाशित किया। आकाशवाणी द्वारा रेडियो से संबद्ध शब्दों का संग्रह किया गया। 1950 में केंद्रीय शिक्षा सलाहकार समिति के परामर्श पर एक वैज्ञानिक शब्दावली बोर्ड की स्थापना की गई। 1952 में शिक्षा मंत्रालय में हिंदी विभाग की स्थापना हुई।

हिंदी में वैज्ञानिक और तकनीकी अनुवाद*

रमेश दत्त शर्मा

स्वतंत्रता के 48 साल बाद भी न तो हमारा विज्ञान जनता से जुड़ पाया है और न वैज्ञानिक ही। वे जनता से दूर हैं। जनता और विज्ञान के बीच एक खाई हमारी शिक्षा प्रणाली में ही अंतर्निहित है, जिसमें विज्ञान की शिक्षा का माध्यम गुलामी के दिनों में भी अंग्रेज़ी था और आज़ादी के बाद भी उसी भाषा में चला आ रहा है। जब लोगों ने इसके खिलाफ आवाज़ उठाई तो उस समय हमारे देश के कर्णधारों को यह बहाना मिला कि हिंदी में वैज्ञानिक विषयों की किताबें ही नहीं, फिर पढ़ाई कहां से हो पाएगी। फिर कहा गया कि किताबें इसलिए नहीं हैं, क्योंकि शब्दावली नहीं है। जब डॉ. रघुवीर जैसे कर्मठ विद्वान ने वैज्ञानिक शब्दावली तैयार कर दी तो वह भी लोगों को पसंद नहीं आई और कहा गया कि यह तो बहुत मुश्किल है और सरल शब्दावली बनाने का काम सरकार ने अपने हाथ में ले लिया, जो अभी तक चला आ रहा है। हालांकि इस बीच गणित से लेकर अंतरिक्ष विज्ञान तक और इलेक्ट्रानिकी से लेकर मत्स्य विज्ञान तक कोई भी विषय ऐसा नहीं है, जिसकी बुनियादी शब्दावली हिंदी में न हो।

लेकिन जब हम जनता तक विज्ञान और तकनीक पहुंचाने की बात करते हैं तो यह सरकारी वैज्ञानिक शब्दावली हमारे बहुत काम की साबित नहीं होती। उदाहरण के लिए कृषि विज्ञान को ही लें। हमें भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् की लगभग 40 प्रयोगशालाओं और देश भर में फैले हुए 23 कृषि विश्वविद्यालयों में किए जा रहे वैज्ञानिक अनुसंधान द्वारा निकाली गई खेती और पशुपालन की सुधरी तकनीकों को जल्दी से जल्दी किसानों तक पहुंचाना है। इसके लिए जहां दूसरे साधन इस्तेमाल में लाए जा रहे हैं, वहीं पत्र-पत्रिकाएं, परचे, पुस्तकें, पुस्तिकाएं जैसी मुद्रित सामग्री भी बहुत जरूरी मानी गई हैं। लेकिन इस सामग्री को तैयार करने में भारत सरकार के वैज्ञानिक शब्दावली आयोग द्वारा प्रकाशित शब्दावली का सहारा लिया जाए तो एक ऐसा अनुवाद तैयार होगा जो किसानों के पल्ले नहीं पड़ने का। यहां तक कि हमारी सभी फसलों और चिड़ियों के नाम भी किसी एक शब्दकोश में सही नहीं मिलते। दूसरी ओर अनुवादक अपनी ज़मीन से कटे हुए हैं।

* विज्ञान, अप्रैल-मई 1986

बहुतों ने तो फसलें देखी ही नहीं। हमें हर साल वार्षिक रिपोर्ट और अनुसंधान की नई उपलब्धियां अनुवाद करके छापनी होती हैं। अंग्रेजी की सामग्री आते ही फरमाइश शुरू हो जाती है कि जल्दी से अनुवाद करें। मुश्किल से सात दिन का समय दिया जाता है, जिसमें 250 से 300 तक पृष्ठों का अनुवाद होना है, टाइप किए जाने हैं, मिलान होना है, पुनरीक्षण होना, संपादित होना—ये सारे काम शामिल हैं। अधिकतर विभाग इसीलिए हिंदी और अंग्रेजी की रिपोर्टें एक साथ नहीं निकाल पा रहे, क्योंकि इसके लिए जरूरी कर्मचारी भर्ती नहीं किए जाते और काम पूरा करने के लिए समय बहुत कम मिलता है।

हमने इसके लिए एक तरकीब निकाली, जिसमें बाहर के ऐसे व्यक्तियों की नामिका बनाई गई है, जो कृषिसंबंधी विषयों के भी जानकार हों और हिंदी लिखने-पढ़ने में रुचि रखते हों। जैसे-जैसे सामग्री आती है, उनको दे दी जाती है और फिर रात-रात भर बैठकर सारा काम चलता है।

इस तरह बड़ी मार-धाड़ करके पिछले लगभग 10 वर्षों से हम लगातार भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद् की रिपोर्टें हिंदी और अंग्रेजी में साथ-साथ छाप रहे हैं। लेकिन अब भी हमें अनुवादों को सुधारने में बड़ी मेहनत करनी पड़ रही है। अब भी हमारे अनुवादक 'ग्रीन ग्राम' को मूंग की बजाय 'हरा चना', 'ब्लैक ग्राम' को उड़द की बजाय 'काला चना' और 'रेड ग्राम' को 'अरहर' की बजाय 'लाल चना' लिख देते हैं। एक बार तो 'चिकवी' को 'चूजों के खाने योग्य मटर' और 'पिजन-पी' को 'कबूतरों के खाने योग्य मटर' अनुवाद कर दिया गया था।

यह उदाहरण कृषि विज्ञान के ही दिए गए हैं, लेकिन ऐसे उदाहरण लगभग सभी विषयों से दिए जा सकते हैं। इसका मूल कारण यह है कि इस समय हमने जो अनुवाद का ढांचा बना रखा है, उसमें सभी विभागों में अनुवादकों और हिंदी अधिकारियों की भर्ती भाषा की जानकारी के आधार पर होती है और निर्धारित योग्यताओं में विषय की जानकारी को कोई महत्व नहीं दिया गया। यही कारण है कि सरकारी हिंदी के नाम से भ्रष्ट अनुवादों का एक अटूट सिलसिला जारी है, जिसको रोका नहीं गया तो तकनीकी और वैज्ञानिक साहित्य की दृष्टि से और हिंदी के विकास की दृष्टि से तथा विज्ञान को जनता तक पहुंचाने की दृष्टि से बड़ा भारी अहित होगा। अधिकतर अनुवाद विभिन्न विभागों में जिस तरह किया जा रहा है, उसे कूड़ें में फेंक देने के अलावा उसका कोई और सदुपयोग भी हो सकता है, इसमें सन्देह है।

यह तो सरकारी विभागों की बात हुई, लेकिन अखबारों में भी जैसा कि हम सब जानते हैं वैज्ञानिक और तकनीकी समाचार प्रायः अंग्रेजी से अनुवाद किए हुए होते हैं, जिनमें अक्सर भयंकर भूलें होती हैं। पता नहीं क्यों हमारे पत्रकार जगत् में अब भी विज्ञान समाचार लिखने के लिए विज्ञान जानने वाले संपादकीय कर्मचारी भर्ती करने की कोई परंपरा शुरू नहीं हुई। यही कारण है कि जीवाणु के लिए इस्तेमाल होने वाले अंग्रेजी के 'बग' शब्द का अनुवाद 'खटमल' किए जाने जैसी दुर्घटनाएं दिल्ली के लब्ध प्रतिष्ठ

समाचार-पत्रों में अक्सर दिखाई दे जाती हैं। इस समस्या से निपटने का एक ही उपाय है कि जब हम 21वीं सदी की ओर बढ़ने के लिए उत्सुक हैं तो जो भी समाचार-पत्र कुछ दमखम रखता हो, विज्ञान संवाददाताओं की भर्ती जरूर करे ताकि हमारे पाठक विज्ञान-समाचारों के भ्रष्ट अनुवादों के कारण गुमराह न हों।

हिंदी में अच्छे वैज्ञानिक और तकनीकी अनुवाद भी मिलते हैं, लेकिन यह ज्यादातर उन लोगों के द्वारा किए गए हैं जो उस विषय के जानकर हैं या उसे पढ़ाते रहे हैं और हिंदी में भी लिखने की रुचि रही है। लेकिन ऐसे लोग अंगुलियों पर गिने जा सकते हैं और इसी तरह पठनीय वैज्ञानिक अनुवाद भी कुछ दर्जन ही होंगे, अन्यथा हिंदी में विज्ञान और तकनीकी विषयों पर 10 हज़ार से अधिक पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। सरकार द्वारा ठेके पर कराए गए वैज्ञानिक अनुवादों में गलती से कभी कोई किसी विज्ञान लेखक को दे दिया गया तो अच्छा हुआ है, नहीं तो अधिकतर ऐसे हैं जिनको पढ़ना मुश्किल है।

इसके कारण हिंदी की विज्ञान-संबंधी पाठ्य-पुस्तकें बहुत बोझिल हो गई हैं। छठीं, सातवीं से लेकर बी.एस-सी. तक की किताबें हैं, लेकिन अनुवाद करने वालों ने इसका बिल्कुल ध्यान नहीं रखा कि इस किताब को छठीं का बच्चा पढ़ेगा और इसको ग्यारहवीं का। इस तरह जहां-जहां विज्ञान की पढ़ाई 12वीं तक होने लगी है, वहां भी विज्ञान की जो किताबें पढ़ाई जा रही हैं, उन्हें अगर आप खुद पढ़कर देखें तो माथा पीट लें।

इस पूरी समस्या से निपटने का सबसे अच्छा उपाय तो यही है कि अनुवाद पर निर्भर रहना छोड़ दें। 12वीं तक के बच्चों के लिए तो पाठ्य-पुस्तकों का अनुवाद कराने की ज़रूरत ही नहीं है। पता नहीं, क्यों अभी तक एन.सी.ई.आर.टी. जैसी संस्थाएं यही समझती हैं कि हिंदी में विज्ञान लिखने वाले मिलेंगे ही नहीं।

सब सोचने की बात यह है कि जब वैज्ञानिक अनुवाद से पिण्ड छुड़ाना मुश्किल है तो वर्तमान परिस्थितियों में क्या कुछ किया जाए तो वर्तमान कि वैज्ञानिक और तकनीकी अनुवाद ऐसे हों, जो पढ़े जा सकें। इसके लिए मेरे सुझाव इस प्रकार हैं—

(1) वैज्ञानिक और तकनीकी अनुवाद दिखाने के लिए हिंदी और भारतीय भाषाओं में जगह-जगह कार्यशालाएं आयोजित की जाएं, पाठ्यक्रम शुरू किए जाएं और संभव हो तो डिग्री कोर्स में विज्ञान और प्रौद्योगिकी के विद्यार्थियों के लिए वैज्ञानिक अनुवाद और विज्ञान-लेखन को भी एक विषय रखा जाए। आई.आई.टी., कानपुर इस मामले में पहल करे तो अच्छी नींव पड़ जाएगी।

(2) इस समय अनुवाद-कला सिखाने के पाठ्यक्रम जहां भी चलाए जा रहे हों, जैसे कि दिल्ली विश्वविद्यालय में, वहां वैज्ञानिक और तकनीकी अनुवाद सिखाने का भी काम शुरू किया जाए और सिखाने के लिए ऐसे लोग रखे जाएं जो खुद अच्छा वैज्ञानिक अनुवाद कर सकते हों।

(3) अखबारों के लिए और अन्य प्रसार-माध्यमों के लिए विज्ञान की एक बुनियादी

शब्दावली तैयार की जाए, जिसमें कृषि विज्ञान सहित सभी विषयों के लगभग 5000 शब्द हों, जिनकी रोजमर्रा के समाचार-लेखन, समाचार-वाचन, सामयिक विषयों पर वार्ताओं और रचनाओं में जरूरत पड़ती हो।

(4) 12वीं तक विज्ञान की किताबें केवल मौलिक लिखवायी जाएं इससे ऊपर की कक्षाओं के लिए भी जहां तक संभव हो मौलिक लेखन पर ही बल दिया जाए।

(5) पत्र-पत्रिकाओं में विज्ञान के लिए अलग के संवाददाता, उपसंपादक, सहायक संपादक आदि भर्ती किए जाएं और विज्ञान की सामग्री आदि दी जाए।

(6) विज्ञान की पढ़ाई के लिए और पाठ्य-पुस्तकों में अंग्रेजी की शब्दावली इस्तेमाल करने की छूट हो। तकनीकी शब्द वैसे ही रहें तो बाकी बात हर अध्यापक अपनी मातृभाषा में समझा सकता है। यह मान लेने पर हिंदी और भारतीय भाषाओं में आप चाहें तो कल से ही सभी विषयों की पढ़ाई शुरू कर सकते हैं।

(7) यह शुभ लक्षण है कि हिंदी-पत्रों के समूह जहां-तहां फल-फूल रहे हैं, उनमें से जो भी हिंदी में विज्ञान-पत्रिका शुरू कर देगा लाखों कमायेगा, क्योंकि 'सी एस आई आर' द्वारा प्रकाशित 'विज्ञान-प्रगति' सरकारी प्रतिष्ठान से जुड़ी होने के बावजूद बिना किसी प्रचार-अभियान के हर साल सवा लाख बिक रही है।

गंगा की गरिमा : एक वैज्ञानिक विवेचन*

महाराज नारायण मेहरोत्रा

भूमिका

'गंगा' शब्द में ही कुछ अद्‌भुतता है। यह शब्द हमारे देश की संस्कृति से अभिन्न रूप से जुड़ा हुआ है। इसमें आध्यात्मिकता का बोध भी है और धार्मिकता का पुट भी। हमारे ऋषिमुनियों ने गंगा की महिमा का वर्णन किया है, शास्त्रों और धर्मग्रंथों ने इसकी गाथा गाई है। इसी पवित्र पावनी गंगा की गरिमा का यहां वैज्ञानिक विवेचन प्रस्तुत किया जा रहा है, विशेष कर आज के संदर्भ में जब कि हमारे देश में सर्वत्र गंगा-शुद्धीकरण की ध्वनि सुनाई देती है।

पिछले तीन दशकों से पर्यावरण प्रदूषण जनचर्चा का विषय हो गया है। पर्यावरण के दो मुख्य अवयव हैं : जल और वायु। ये जीवन की मूलभूत आवश्यकताएं हैं अतः इनकी ओर सभी का ध्यान जाना स्वाभाविक है। वायु विषाक्त होगी तो जीवन का अस्तित्व न रह पाएगा, इसी प्रकार जल यदि सीमा से अधिक दूषित हो गया तो मनुष्य का जीना मुश्किल हो जाएगा।

पर्यावरणीय समस्याएं पहले भी थी, पर अब इन समस्याओं ने जनसंख्या वृद्धि व उद्योगों के विकास के कारण अपेक्षाकृत उग्र रूप धारण कर लिया है। यहां तक कि बहुत से क्षेत्रों में मानव जीवन के अस्तित्व को भी खतरा पैदा हो गया है। सन् 1953 में जापान की मिनीमाटा खाड़ी की दुर्घटना से, जिसमें सैक्ड़ों व्यक्ति जल-प्रदूषण के कारण काल-कवलित हो गए, विश्व में तहलका मच गया। इस घटना ने वैज्ञानिकों को भी झकझोर दिया और पर्यावरण प्रदूषण तक अपरिहार्य विषय बन गया। प्रदूषण की दृष्टि से जल के अध्ययन को विशेष महत्त्व दिया जाने लगा और वैज्ञानिक, प्रदूषण-निवारण के उपाय ज्ञात करने की दिशा में जुट गए। उन्हें सफलता भी मिली। इग्लैंड की थेम्स नदी तथा फ्रांस की सेन नदी वैज्ञानिक प्रयासों की सफलता के ज्वलंत उदाहरण हैं।

हमारे देश में जनसंख्या वृद्धि और औद्योगीकरण के विकास के साथ-साथ

---

* विज्ञान गरिमा सिंधु, 1986

पर्यावरणीय समस्याएं पैदा हो रही हैं। बहुत-सी नदियों का जल प्रदूषित हुआ है। हमारी पवित्र पावनी गंगा भी इससे अछूती नहीं बची है। गंगा भी प्रदूषित हुई पर अन्य नदियों की अपेक्षा, उसमें स्व-शुद्धीकरण क्षमता अत्यधिक होने के कारण, उसके प्रदूषण का प्रभाव क्षेत्र बहुत सीमित रहा। इसकी स्व-शुद्धीकरण क्षमता की विवेचना करने से पूर्व इसके उद्भव और अपवाह-क्षेत्र का ज्ञान आवश्यक है।

गंगा का उद्भव एवं अपवाह-क्षेत्र

हिमालय की जटिल पर्वत शृंखलाओं में अनेक गंगा हैं। इनमें मंदाकिनी, अलकनंदा और भागीरथी प्रमुख हैं। भागीरथी गढ़वाल हिमालय में 4100 मीटर ऊंचाई पर स्थित गोमुख से निकलती है, अलकनंदा का उद्गम अलकापुरी हिमनद है। देवप्रयाग के निकट भागीरथी और अलकनंदा का संगम होता है, पर इससे पूर्व ही मंदाकिनी अलकनंदा में जा मिलती है। इस प्रकार त्रिपथगा गंगा बनती है और यही हमारी गंगा है। सागर तक अपनी 2525 किमी की यात्रा में गंगा भारत के तीन जनसंख्या बहुल प्रदेशों, उत्तर प्रदेश, बिहार और पश्चिमी बंगाल, से होकर जाती है और अंततः बंगाल की खाड़ी में गंगा सागर में समुद्र का आलिंगन करती है। गंगा का अपवाह क्षेत्र लगभग 861,404 वर्ग किलोमीटर है। इस प्रकार यह उपरोक्त तीन प्रदेशों के अतिरिक्त हिमाचल प्रदेश, पंजाब, हरियाणा, राजस्थान और मध्यप्रदेश के वृहत भागों को भी अपनी जलधारा से अभिसिंचित करती है। गंगा में जल का वार्षिक प्रवाह 468 अरब 70 करोड़ घनमीटर है। इस प्रकार यह संपूर्ण भारत के जल साधन के लगभग एक-चौथाई की पूर्ति करती है। इस क्षेत्र में देश की लगभग 37 प्रतिशत जनसंख्या का विनास है। इस प्रकार यह कृषि-प्रधान देश भारत की रीढ़ है।

गंगा-तट पर बसे नगरों की संख्या लगभग एक सौ है। जिनमें से 29 की आबादी एक लाख से अधिक है, 23 की पचास हजार से एक लाख के बीच है और 48 की जनसंख्या पचास हजार से कम है। इनके अतिरिक्त सैकड़ों तटवर्ती गांव हैं जिनकी जलापूर्ति का मुख्य साधन भी गंगा ही है।

गंगा-जल—'अमृत'

गंगा जल को अमृत की संज्ञा दी गई है। इसकी मिट्टी और जल को अत्यंत पवित्र माना गया है।

> मे पुष्यवाहिनी गंगा सकृदक्तयःवागाहिता तेषां।
> कुलानां लक्षन्तु मयात तारयते शिवा।।
> अनेक जन्मसम्भूतं पापं पुंसां पुणश्यति।
> स्नानमात्रेण गंगाया सद्यः पुण्यस्य भाजनम्।।

भावार्थ—श्रद्धा से गंगा में स्नान करने पर मनुष्य के जन्म-जन्मांतर के पाप नष्ट

हो जाते हैं और वह पवित्र हो जाता है। गंगा सहस्रों प्रकार के खतरों से उसकी और उसके वंशजों की रक्षा करती है।

—(ब्रह्मानंद पुराण)

मृत्ति के ब्रह्मपूतासि काश्यपेनाभिवंदिता।
त्वया इतेन पापेन गच्छामि परमां गतिम।।

भावार्थ—इस मिट्टी की पूजा ब्रह्मा आदि देवताओं ने की है, उन्होंने इसे पापहारिणी कहा है, इसके धारण से समस्त पापों का नाश हो जाता है और परमगति प्राप्त होती है।

—(आह्निक सूत्रावली)

हर भारतीय, विशेषकर हिंदुओं में गंगा-दर्शन, गंगातट-वास, गंगाजल सेवन तथा अंत समय में गंगा-तट पर अपनी मुक्ति की कामना बनी रहती है। हिंदुओं के लिए गंगा पतित-पावनी, पापहारिणी और मोक्षदायनी है।

तथापि गंगा मुसलमानों की भी पूज्य रही है। बंगाल के संत कवि दरफ़ान ख़ान ने अपनी अनुपम संस्कृत रचना में गंगा की स्तुति की है। रहीम के जीवन की एक साध थी कि 'गंगा सिर पर रहे'। बहुत से मुगल बादशाह अपनी यात्राओं में भी गंगाजल साथ रखते थे। अबुल फ़जल ने लिखा है कि मुग़ल सम्राट अकबर पीने के लिए केवल गंगाजल का ही प्रयोग करते थे। इस संदर्भ में तत्कालीन एक उद्धरण अप्रांसगिक न होगा :

"एक बार अकबर ने अपने दरबार में पूछा, सबसे उत्तम जल किस नदी का है? सभी दरबारियों ने कहा—गंगा का। अंत में बीरबल से पूछा गया तो उसने उत्तर दिया—यमुना का। इस पर अकबर आश्चर्य में पड़ गए और उन्होंने कहा कि बीरबल तुम यमुनाजल को सर्वोत्तम कह रहे हो, गंगाजल को क्यों नहीं? इस पर बीरबल ने उत्तर दिया, "गंगाजल कोई जल थोड़े ही है, वह तो अमृत है।"

इतना ही नहीं बहुत से विदेशी विद्वानों और वैज्ञानिकों ने भी गंगाजल की महत्ता को स्वीकारा है। लगभग सौ वर्ष पूर्व प्रसिद्ध अमरीकी यात्री मार्क-ट्वेन भारत आया, उसने वाराणसी यात्रा के दौरान अपने विवरण में लिखा है कि उन दिनों नगर में हैज़ा फैला हुआ था और गंगा में मरे हुए व्यक्तियों की लाशें बहा दी जाती थीं और उन्हीं लाशों के पास बहुत से लोग बिना किसी परवाह के नहाते रहते थे। ये देखकर उसको आश्चर्य हुआ तथा उसने गंगा के उस "विषैले, अपवित्र पानी" के नमूने इकट्ठे करके विश्लेषण करवाया तो आश्चर्यचकित रह गया कि जल में हैज़े के कीटाणु तो थे पर मरे हुए। इसकी तुलना में अन्य स्थानों के जल में हैजे के कीटाणु जीवित थे और उनकी संख्या में वृद्धि हो रही थी।

तत्कालीन संयुक्त प्रांत और मध्य प्रांत के सरकारी वैज्ञानिक डॉ. इं. हेनबरी हेनकिन ने गंगाजल का परीक्षण करके बतलाया कि गंगाजल में हैजे के कीटाणु मारने की अद्भुत शक्ति है। हैज़े के कीटाणु गंगाजल में तीन-छह घण्टे के अंदर ही मर जाते हैं। उन्होंने यह भी उल्लेख किया है कि खुले बर्तन में गरम करने पर जल की यह शक्ति न

जाने कहां चली जाती है (भार्गव 1985)।

कनाडा के मैकगिल विश्वविद्यालय के डॉ. एफ.सी. हेरिसन ने गंगाजल की विशिष्टता का वर्णन किया है। फ्रांस के प्रसिद्ध डॉ.डी. हैरले ने भी गंगा के पवित्र जल की, रोग-जनक कीटाणुओं को मारने की क्षमता का उल्लेख किया है। ब्रिटिश डॉ.सी.ई. नेलसन ने लिखा है कि कलकत्ता से लंदन तक की लंबी समुद्र यात्रा के दौरान गंगाजल 'ताजा' बना रहता है। कदाचित इसी 'ताजेपन' के कारण हमारे शास्त्रों के अनुसार भगवान पर 'बासी' गंगाजल चढ़ाया जा सकता है क्योंकि गंगाजल बासी नहीं होता है, पर बासी फूल नहीं चढ़ाए जाते और न बासी भोग ही लगाया जाता है।

गंगाजल के गुण तथा जल-कोटि

गंगा के इस अमृतरूपी जल पर भी किन्हीं-किन्हीं क्षेत्रों में अब एक प्रश्न चिह्न लग गया है। विशेषकर तटीय नगरों के समीप जहां जनसंख्या अधिक है, नगर का कूड़ा-कचरा सीधे ही नदी में बहा दिया जाता है, जहां उद्योग लगे हैं वहां उनके अपशिष्ट बिना किसी उपचार के नदी में छोड़ दिए जाते हैं। इससे जल की निर्मलता नष्ट हुई है। जल प्रदूषित हुआ है। उपरोक्त के अतिरिक्त, घाटों पर तेल, साबुन के अत्यधिक प्रयोग तथा अधजली लाशों के प्रवाह से भी प्रदूषण बढ़ा है। हरित क्रांति के मूल रासायनिक उर्वरक तथा कीटनाशकों के बढ़ते प्रयोग से भी जल की शुद्धता को खतरा पैदा हो गया है। कीटनाशी रसायनों में सीसा, पारा, कैडमियम, आर्सेनिक जैसे विषैले तत्त्व होते हैं। ये खेतों से रिस-रिस कर नीचे की ओर जाते हैं और अंततः नदी में मिल जाते हैं।

वैज्ञानिक इस जल की अशुद्धता को ज्ञात करते हैं। वे उसके रंग, तापमान, आविलता, कठोरता, विद्युत-चालकता, क्षारीयता और उसमें समाविष्ट फ्लोराइड, नाइट्रेट आदि की मात्रा का अध्ययन करते हैं। इसके अतिरिक्त वे जल में विलेय ऑक्सीजन की मात्रा, जल की जैवरासायनिक-ऑक्सीजन की आवश्यकता तथा कोलीफॉर्म जीवाणु की मात्रा ज्ञात करते हैं। जल-प्रदूषण की दृष्टि से उपर्युक्त प्राचलों (पैरामीटरों) का अध्ययन अत्यंत महत्त्वपूर्ण है।

जल में विलेय ऑक्सीजन की मात्रा

जिस प्रकार ऑक्सीजन मानव की मूल आवश्यकता है, उसी प्रकार किसी भी जल की सुरक्षा का आधार ऑक्सीजन है। जल के भौतिक और रासायनिक गुण, जल की विलेय ऑक्सीजन की मात्रा पर निर्भर हैं। ऑक्सीजन की प्रचुरता जल की स्वच्छता और ऑक्सीजन की कमी जल की मलिनता का द्योतक है। वैज्ञानिकों ने ज्ञात किया है कि उच्च कोटि के जल में प्रति लिटर में कम से कम पांच मिलिग्राम ऑक्सीजन होनी चाहिए।

जैव-रासायनिक ऑक्सीजन की आवश्यकता

यह ऑक्सीजन की अपेक्षित मात्रा है जो जीवाणुओं (बैक्टीरिया) द्वारा कार्बनिक पदार्थ के ऑक्सीकरण के लिए आवश्यक है। जल की जैव-रासायनिक ऑक्सीजन की मांग जितनी कम होगी, जल उतनी ही उत्तम कोटि का होगा। उत्तम श्रेणी के जल के लिए प्रति लिटर में जैव-रासायनिक ऑक्सीजन की मांग 2 मिलिग्राम से अधिक नहीं होनी चाहिए।

संपूर्ण कोलीफॉर्म गणना

ये जीवाणुओं का एक वर्ग है जो मनुष्य की आंतों में तथा वनस्पतियों में पाया जाता है। इनकी प्रचुरता से जल प्रदूषित हो जाता है और जलवाहित रोगों का प्रसार होता है।

उपर्युक्त तीन प्राचलों के आधार पर जल की कोटि निर्धारित की गई है (दासगुप्ता 1984)

गंगाजल के विशिष्ट गुण

जलकोटि	विलेय ऑक्सीजन मिग्रा/लिटर (न्यूनतम)	जैव रासायनिक ऑक्सीजन की आवश्यकता किग्रा./लिटर (अधिकतम)	संपूर्ण कोलीफॉर्म की गणना (अधिकतम)
क	6	2	50
ख	5	3	500
ग	4	3	5,000
घ	4	—	—
ङ	—	—	—

(क) यह जल रोगाणुनाशन (डिसइन्फेक्शन) के उपरांत पीने के काम में लाया जा सकता है।

(ख) सामूहिक स्नान के लिए उपयुक्त।

(ग) उचित उपचार एवं रोगाणुनाशक के बाद पीने के काम में लाया जा सकता है।

(घ) वन्य जीवन और मत्स्य उत्पादन के लिए उपयुक्त।

(ङ) सिंचन आदि के लिए उपयुक्त।

गंगा के प्रवाह-मार्ग में जल-प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के अंतर्गत 39 मोनीटरिंग स्टेशन हैं, जहां नियमित रूप से जल का परीक्षण होता रहता है। ऊपर वर्णित तीन प्रमुख गुणों के आधार पर गंगा के किनारे बसे कुछ प्रमुख नगरों के जल की कोटि अगले पृष्ठ पर दर्शाई गई है :

अग्रलिखित सारणी से ज्ञात होता है कि नगरों के निकट गंगाजल (ग) और (घ)

कोटि का है तथापि यह उल्लेखनीय है कि वर्ष भर गंगाजल का उपयोग पीने और नहाने के लिए किया जाता है, अर्थात् दूसरे शब्दों में, मानो कि वह जल (ख) और (क) कोटि का हो।

	मोनीटरिंग स्टेशन	संपूर्ण कोलीफॉर्म की स्थिति	विलेय ऑक्सीजन की स्थिति	जैव रासायनिक ऑक्सीजन की आवश्यकता	समग्र जलकोटि
	1	2	3	4	5
1	ऋषिकेष	ग	ख	ख	ख
2	हरिद्वार	ग	ग	घ	ग
3	कन्नौज	घ	ख	घ	ग
4	कानपुर, ऊपरी धारा	घ	ग	घ	घ
5	कानपुर, निचली धारा	घ	घ	घ	घ
6	इलाहाबाद, ऊपरी धारा	घ	क	घ	घ
7	इलाहाबाद, निचली धारा	घ	क	घ	घ
8	मिरज़ापुर	घ	क	घ	घ
9	वाराणसी, ऊपरी धारा	घ	क	घ	घ
10	वाराणीस, निचली धारा	घ	क	घ	घ
11	बक्सर	घ	क	ख	ग
12	खुरजी (पटना-ऊपरी धारा)	घ	क	ख	ग
13	गंगाब्रिज (पटना-घनिचली धारा)	घ	क	ख	ग
14	मुंगेर	घ	क	ग	ग
15	भागलपुर	घ	क	ख	ग
16	फरक्का	घ	क	क	ग
17	नवादिप	घ	क	क	ग
18	कल्याणी	घ	ख	घ	घ
19	दक्षिणेश्वर	घ	घ	घ	घ

गंगाजल के विशिष्ट गुण

अन्य नदियों के जल की तुलना में गंगा के जल में कुछ विशिष्टताएं पाई गई हैं, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। पर इन विशिष्टताओं के कारणों का पूरा पता अभी वैज्ञानिक नहीं लगा पाए हैं। हमारे धार्मिक ग्रंथों में भी गंगाजल के गुणों का उल्लेख है, पर उनके कारणों का नहीं।

राजनिर्घन्ट में श्लोक है :

अख्या जलत्य गुणा : शीतत्वम्, स्वादुत्वम्, स्वच्छत्वम्,
अत्यन्तस्च्यत्म् पथ्यत्वम्,
पावनत्वम्, पापहारित्वम्, तृष्णामोध्वसत्म्,
दीपनत्वम्, प्रज्ञा धरितत्वच, इति राजनिर्घण्टः।।

भावार्थ—गंगाजल के गुण हैं—शीतलता, मिठास, पारदर्शकता, उच्चशक्ति वर्धकता, परिपूर्णता, पेयता, अनिष्ट को दूर करने की क्षमता, निर्जलीकरण द्वारा उत्पन्न मूर्छा को दूर करने की क्षमता, पाचक शक्ति तथा प्रज्ञा (विवेक) को बनाए रखने की क्षमता।

पुराणों में उल्लेख है कि गंगाजल में अनेक जड़ी बूटियां तथा खनिज तत्त्व हैं जो शरीर को नीरोग ही नहीं रखते वरन् आत्मा को भी पवित्र करते हैं। इसमें 'गंगे' नामक एक सोम है जिसे ग्रहण करने से एक आश्चर्यजनक शक्ति उत्पन्न होती है पर सोम क्या है? जड़ी-बूटियां कौन-सी हैं? वे खनिज-तत्त्व कौन-से हैं जिन्होंने गंगाजल को 'अमृत' बनाया है? इस संबंध में हमारा ज्ञान अत्यंत सीमित है।

गंगा को ये तत्त्व अपने उद्गम स्थल और अपवाह क्षेत्र से ही प्राप्त हुए होंगे। इन्हीं अवयवों ने गंगाजल को विशिष्ट बनाया है। उसकी कीटाणुनाशक क्षमता को अन्य नदियों की अपेक्षा उच्च कोटि का बनाया है। इस दिशा में विस्तृत शोध की आवश्यकता है। इस दृष्टि से गंगा के उद्गम स्थल और अपवाह क्षेत्र की पारिस्थितिकी का ज्ञान आवश्यक है। वहां के शैलों और मिट्टियों का, उनमें विद्यमान खनिज तत्त्वों का गहन अध्ययन अपरिहार्य है। साथ ही आवश्यकता है उन क्षेत्रों की वानस्पतिकी एवं वहां उपलब्ध जड़ी-बूटियों के विस्तृत ज्ञान-की। गंगाजल के जीवाणु-संबंधी गुणों का ज्ञान भी अधूरा है। इस पर भी जो कुछ तथ्य वैज्ञानिकों के प्रयासों से ज्ञात हुए हैं, यहां समाविष्ट किए गए हैं :

(1) गंगा जल में विलेय ऑक्सीजन की मात्रा उसके पूरे प्रवाह मार्ग में केवल कुछ तटीय नगरों को छोड़कर पांच मिलिग्राम प्रति लिटर से अधिक है। इस विलेय ऑक्सीजन की महत्ता का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

(2) गंगा की अद्भुत क्षमता के कारण उसमें होने वाला कार्बनिक प्रदूषण एक दिन में ही दूर हो जाता है, अर्थात् गंगा लगभग 100 किमी बहने पर अपने में होने वाले कार्बनिक प्रदूषण एक दिन में ही दूर कर देती है।

(3) गंगाजल में गंधक, सोडियम, कैल्सियम और नाइट्रोजन की मात्रा हानिकारक सीमा से कम है, यद्यपि कहीं-कहीं नाइट्रोजन की मात्रा में असंगतियां पाई गई हैं। गंगाजल में संपूर्ण कोलीफ़ॉर्म कीटाणुओं की मात्रा में अत्यधिक विचरण पाया गया है, और यह बहुत से स्थानों पर निर्धारित प्रभाव सीमा से अधिक है।

(4) गंगाजल की हाइड्रोजन आयन सांद्रता 7 और 9 के बीच विचरित करती है अर्थात् गंगाजल अम्लीय न होकर क्षारीय है।

(5) गंगा के विद्युत रासायनिक गुणों का योगदान भी संभवतया उसकी विशिष्टता का कारण है। गंगा और उसकी बहुत-सी सहायक और उपसहायक नदियां अति उच्च पर्वत शृंखलाओं से निकलती हैं। यह तीव्र ढालों पर होकर बहती है अतः अत्यंत वेगवती है। इसके अतिरिक्त चार महीनों के भीतर केंद्रित मानसूनी वर्षा के कारण भी इसका वेग बहुत बढ़ जाता है। तीव्र ढलानों से गिरने तथा वेगवती धाराओं के संगम से विद्युत उत्पन्न होती है जिससे जल की आयनीकरण हो जाता है, और जल शक्तिशाली हो जाता है। ग्रीष्मकाल में भी इन नदियों में हिमनदों के पिघलने से जल प्राप्त होता रहता है। अतः वर्ष भर इनमें प्रवाह बना रहता है। इसके अतिरिक्त गंगा की गहराई की भिन्नता और इसका सर्पिल मार्ग भी गैसों के आदर्श वितरण तथा रसायनों के त्वरित विलयन में सहायक होता है (घोष 1985)।

(6) गंगाजल में कुछ बहिर्कोशिकीय बहुलक (एक्सोसेलुलर पॉलीमर्स) हैं जिनका जैविक क्रिया से भी निम्नीकरण नहीं होता। ये जल में दीर्घकाल तक रहते हैं तथा कोलॉयडी पदार्थ का जमाव (कोएगुलेशन) करते हैं और इस प्रकार वे पदार्थ अंततः नीचे बैठ जाते हैं (भार्गव 1985)।

इस परिप्रेक्ष्य में गंगा की तलछट का उल्लेख भी महत्वपूर्ण है। बहुत से विषैले पदार्थों, विषाक्त तत्त्वों को गंगा की तलछट अपने में समा लेती है। तलछट के ये गुण उसके मौलिक रासयनिक एवं खनिजीय संगठन पर बहुत-कुछ निर्भर हैं। कुछ विशेष प्रकार के मृदा खनिजों में विषाक्त पदार्थों को सोखने की बड़ी क्षमता होती है। इस प्रकार तलछट जल-प्रदूषण निवारण में महत्त्वपूर्ण योगदान करता है। तथापि यह भी उल्लेखनीय है कि कुछ जीवाणुओं की प्रक्रिया के फलस्वरूप ये तत्त्व परिवर्तित होकर पुनः जल में मिल सकते हैं। जल की रासायनिक प्रक्रिया के फलस्वरूप हाइड्रोजन आयन सांद्रता पर निर्भर विषाक्त धातुएं तलछट में बैठ जाती हैं। उदाहरणस्वरूप वाराणसी में मुख्य सीवर के निकट के तलछट का वैज्ञानिक विश्लेषण करने पर पता चला कि उसमें सामान्य तत्त्व, जैसे अल्यूमिनियम, सिलिकॉन, कैलशियम आदि के अतिरिक्त विषाक्त अवयव, जैसे पारा, कैलशियम, सीसा, जस्ता, क्रोमियम, टाइटेनियम, फॉसफोरस आदि भी विद्यमान हैं। (मेहरोत्रा 1984)

गंगा की गरिमा की रक्षा

हमारे ऋषि-मुनियों ने भी गंगा की गरिमा बनाए रखने के लिए कुछ नियम बनाए थे। यदि उन नियमों का पालन किया गया होता तो गंगा की आज वह स्थिति न होती जो हमें उसके निर्मलीकरण के लिए बाध्य कर रही है और गंगा-जैसी पवित्र नदी के लिए हम प्रदूषण-जैसा शब्द प्रयोग में लाने लगे हैं।

ब्रह्मानन्द पुराण में वार्णित है :

गंगा पुण्यजलां प्राप्य त्रयोदशविवर्जयेत।
शौचमान्वमनं सेकं निर्माल्यं मलघर्षणम।
गात्र संवाहनं क्रीड़ां प्रतिग्रहमथो रतिम्।
अन्यतीर्थे रतिचैवः अन्य तीर्थ प्रशंसनम्।
वस्त्र त्यागमथाघातं संतारंच विशेषतः।।

भावार्थ—गंगा में निम्नलिखित 13 कार्य वर्जित हैं : मल त्याग करना, प्रक्षालन, मूत्र त्याग करना, प्रयुक्त फूल-पत्ती चढ़ावों का फेंकना, गंदगी धोना, साबुन लगाना, आमोद-प्रमोद करना, दान लेना, अभद्रता करना, ग़लत तरीक़े से अनुचित और विशेषकर आर-पार तैरना।

गंगा की गरिमा बनाए रखने के लिए आवश्यक है कि हम उपर्युक्त नियमों का पालन करें, विशेषकर नगरों की गंदगी, मलमूत्र, कूड़ा-कचरा गंगा में प्रवाहित न करें। यह ज्ञात है कि गंगा की 75 प्रतिशत गंदगी का कारण नगरों के मल-जल-नाले हैं जो विभिन्न प्रकार की गंदगी गंगा को देते हैं। आवश्यकता है कि इन नालों को नगर के क्षेत्रों से दूर ले जाया जाए तथा जल-मल उपचार संयंत्रों द्वारा उनके हानिकारक अवयवों को दूर कर दिया जाए।

इसी प्रकार कल-कारखानों के कूड़े को भी नदी में गिराने से पहले उपचारित किया जाए ताकि हानिकारक तत्त्व दूर हो जाएं। इसके लिए उद्योगों को प्रदूषण-निवारण-संयंत्र लगाने के लिए बाध्य किया जाए।

सबसे अधिक हानि अपवाह क्षेत्र में जंगलों की कटाई से हुई है। अतः गंगा के किनारे-किनारे जहां संभव हो तथा उसके अपवाह क्षेत्र में वृक्षारोपण का कार्यक्रम बड़े पैमाने पर किया जाए। इससे कई लाभ होंगे। मृदा-अपरदन नहीं होगा और फलस्वरूप मिट्टी और गाद के अधिक बहकर न आने से गंगा का तल उथला नहीं होगा। बाढ़ के प्रकोप में कमी होगी तथा वर्षा समुचित होगी। इससे नदी के जल की मात्रा में कमी नहीं आएगी। गंगा बेसिन का केवल 14 प्रतिशत भाग ही वनों से ढका है जब कि हमारी वन-नीति के अनुसार उसके 33 प्रतिशत भाग में वन होने चाहिए। यहां यह भी उल्लेख किया जा सकता है कि गंगा क्षेत्र से बहुत-सी नहरें निकाली गई हैं जिसके परिणामस्वरूप भी उसकी जल-मात्रा में कमी आई है।

यह संतोष की बात है कि भारत सरकार ने गंगा प्राधिकरण की स्थापना करके गंगा के जल को निर्मल करने की महती योजना का कार्य आरंभ कर दिया है। पर इस योजना में जन-सहयोग भी वांछनीय है। आशा की जाती है कि इंग्लैंड के थेम्स प्राधिकरण के कार्य के फलस्वरूप जिस प्रकार वह नदी शुद्ध हो गई उसी प्रकार गंगा प्राधिकरण के प्रयासों से गंगा का जल, जहां दूषित हो गया है, निर्मल हो जाएगा, और हमारी गंगा की गरिमा बनी रहेगी।

संदर्भ सूची

घोष, शैलेन्द्र नाथ (1985) 'क्लीनिंग द गंगा' हिंदुस्तान टाइम्स, 23 अगस्त।

मेहरोत्रा, एम.एन. आदि (1984) 'टॉक्सिक मेटल्स इन गंगा रिवर सेडीमेंट्स' नेशनल कॉन्फ्रेंस ऑन पॉल्युशनल स्ट्रैस इन मेजर इंडियन रिवर बेसिन्स (एब्सट्रेक्ट्स) अलीगढ़, 19-21 मार्च

भार्गव, डी.एस. (1985) 'एक्सप्लॉइटेशन ऑफ द एक्सट्रीमली हाई सेल्फ़ प्यूरीफ़ाइंग एबिलिटीज़ ऑफ़ द गंगा फ़ॉर इट्स पॉल्यूशन एबेटमेंट स्ट्रैटजीस' जरनल, इन्स्टीच्यूट पब्लिक हेल्थ इंजीनियर्स (स्पेशल इश्यू) पृ. 22-27।

दासगुप्ता, एस.पी. (1984) 'द गंगा बेसिन, सेन्टर फ़ॉर स्टडी ऑफ़ मैन एण्ड एनवायरन-मेंट', कलकत्ता एवं सेंट्रल बोर्ड फ़ॉर द प्रिवेन्शन एण्ड कंट्रोल ऑफ़ वाटर पॉल्यूशन, नई दिल्ली।

सुदूर संवेदन तकनीक का कृषि में महत्व*

ओ.पी.एन. कल्ला और काली शंकर

किसी देश की खुशहाली में कृषि उत्पादन का बड़ा महत्व है। कृषि के क्षेत्र में आई किसी प्रकार की दैवी या भौतिक समस्या खाद्य समस्या को जन्म देती है। कृषि उत्पादन के बढ़ाव-घटाव में वर्षा की प्रमुख भूमिका के साथ-साथ फसलों में लगने वाली बीमारियों की भूमिका भी काफी महत्वपूर्ण होती है। कृषि के क्षेत्र में भावी कृषि उत्पादन से संबंधित किसी प्रकार के निर्णय लेने में कृषि संबंधित विभिन्न स्रोतों की सामयिक सूचना का बड़ा महत्व है।

ऐसी सूचनाएं हमें प्राप्त होती हैं सुदूर संवेदन तकनीक से जिसका अर्थ है किसी ऊंचे प्लेटफार्म से संवेदक की सहायता से किसी क्षेत्र का सर्वेक्षण करना। इस सर्वेक्षण का मुख्य उद्देश्य पृथ्वी की वस्तुओं और स्रोतों के विषय में सूचना एकत्र करना है। सुदूर संवेदन को दूसरे तरीके से भी समझा जा सकता है। पृथ्वी की प्रत्येक वस्तु एक प्रकार के विकिरणों का उत्सर्जन करती है। प्रत्येक वस्तु द्वारा उत्सर्जित विकिरण एक दूसरे से भिन्न होते हैं। वस्तुओं से निकलने वाले इन विकिरणों को **विद्युत-चुम्बकीय संकेत** कहते हैं। संकेत प्रत्येक पदार्थ के लिए उसी प्रकार भिन्न होते हैं जिस प्रकार हर व्यक्ति के उंगली के निशान। सुदूर संवेदन तकनीक में इन्हीं विद्युत-चुम्बकीय संकेतों से पृथ्वी की विभिन्न वस्तुओं को पहचाना जाता है तथा उसके पूर्व-ज्ञात आदर्श संकेतों से तुलना की जाती है। सुदूर संवेदन तकनीक में हवाई जहाज या उपग्रह या गुब्बारों में रखे उपकरणों से, वस्तुओं से उत्सर्जित विद्युत-चुम्बकीय विकिरण को अभिग्रहीत करके पृथ्वी की एक केंद्रीय प्रयोगशाला को भेज कर इनका लाक्षणिक विश्लेषण किया जाता है।

सुदूर संवेदन के संदर्भ में संवेदकों की सहायता से वनस्पति, मृदा, भूगर्भ तथा जल संबंधी सूचनाएं प्राप्त की जा सकती हैं।

किसी भू-खण्ड का सर्वेक्षण करने के लिए उपकरणों के साथ पैदल चलकर सारे भू-खण्ड का अवलोकन करके भू-सर्वेक्षण संबंधी आवश्यक आंकड़े प्राप्त किए जा सकते हैं। छोटे देशों के लिए तो यह विधि ठीक हो सकती है लेकिन भारत जैसे विशाल देश के लिए उपयुक्त नहीं है।

---

* विज्ञान प्रगति, मार्च 1986

मूल सिद्धांत

सुदूर संवेदन तकनीक के मूल सिद्धांतों को चित्रों द्वारा आसानी से समझा जा सकता है। चित्र-1 में **विद्युत-चुम्बकीय स्पेक्ट्रम** दिखाया गया है जो गामा किरणों से लेकर रेडियो तरंगों तक जाता है। मानव नेत्र के देखने की सीमा भी विद्युत-चुम्बकीय स्पेक्ट्रम में दर्शाई गई है। यह सर्व ज्ञात है कि विद्युत-चुम्बकीय स्पेक्ट्रम के दूसरे भागों—इन्फ्रारेड तथा माइक्रोवेव खण्डों—में अनेक अदृश्य अन्योन्य क्रियाएं घटित होती रहती हैं जिन्हें देखा नहीं जा सकता।
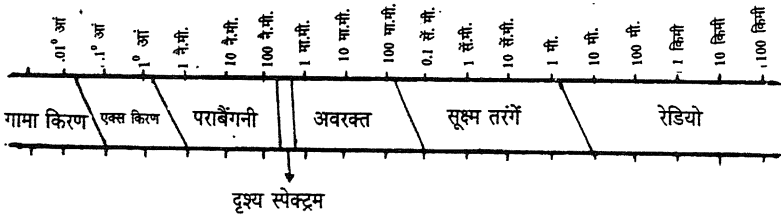
चित्र-1 : विद्युत चुम्बकीय स्पेक्ट्रम

1 माइक्रोमीटर=1×10^{-6} मीटर, 1 नैनोमीटर=1×10^{-9} मीटर, 1° आंगस्ट्रान=1×10^{-10} मीटर

सुदूर संवेदन के संदर्भ में विद्युत-चुम्बकीय स्पेक्ट्रम की संकल्पना स्रोत से संबंधित है। सूर्य से उत्सर्जित मान विद्युत-चुम्बकीय स्पेक्ट्रम के 55 माइक्रोमीटर तरंग दैर्ध्य के पास अधिक होती है जब कि पृथ्वी 'गर्म' भू-खंड के समान तापीय इन्फ्रारेड (100 माइक्रोमीटर) विकिरण उत्सर्जित करती है (चित्र 2)। वस्तुओं से उत्सर्जित विकिरण स्रोत के प्रकार और मध्यवर्ती वायुमंडल के अनुसार आपतन विकिरण में परिवर्तित हो जाता है।

पेड़-पौधों की पत्तियों की भिन्न-भिन्न संरचना के कारण वनस्पतियां विद्युत-चुम्बकीय स्पेक्ट्रम के इन्फ्रारेड-समीप क्षेत्र में परावर्तकता ज्यादा दर्शाता हैं।
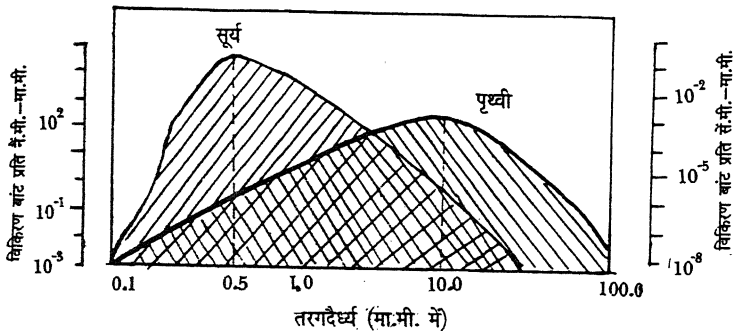
चित्र-2 पृथ्वी और सूर्य द्वारा उत्सर्जित विकिरण
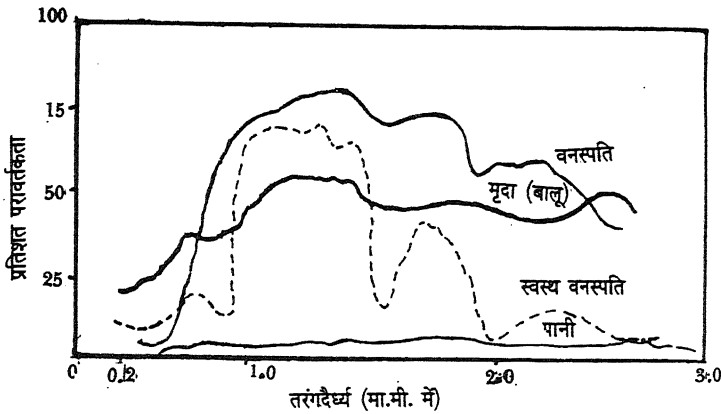
चित्र-3. विभिन्न तरंग दैर्ध्यों पर पदार्थों की परावर्तकता

विभिन्न संरचनाओं के आकार एवं तरंग दैर्ध्य का अनुपात परावर्तकता को प्रभावित करते हैं। सूर्य के प्रकाश का परावर्तन करने के साथ-साथ कुछ वनस्पतियां स्वयं भी कुछ प्रकार के विकिरण उत्सर्जित करती हैं। इसके अलावा गर्म झरने जैसे भू-तापीय स्रोत, इन्फ्रारेड विकिरण तथा विभिन्न प्रकार के ऊबड़-खाबड़ सतह युक्त समुद्र माइक्रोवेव विकिरण का उत्सर्जन करते हैं। विभिन्न प्रकार के वनस्पतिक पदार्थों के गुणों की विवेचना उनकी विद्युत-चुम्बकीय तरंगों के साथ हुई पारस्परिक क्रिया के आधार पर की जा सकती है। चित्र-3 में सुदूर संवेदन का स्पेक्ट्रल आधार बताया गया है कि भिन्न-भिन्न पदार्थों की परावर्तकता भिन्न-भिन्न तरंग दैर्ध्य के अनुसार किस प्रकार बदलती है। इस प्रकार अवशोषण, बिखराव तथा प्रेषण इत्यादि संक्रियाओं के आधार पर अनेक प्रकार की संकल्पनाओं को भली भांति समझाया जा सकता है। लेकिन वास्तविक रूप में यह कहना ही पर्याप्त होगा कि किसी पदार्थ के ठोसावस्था गुण या आणविक तथा परमाणविक गुण (चाहे वह मिट्टी हो या खनिज) सुदूर संवेदन के लिए विभिन्न प्रकार के संवेदक तथा उनकी संयुक्त अवस्थाओं के चयन में बड़े लाभकारी होते हैं।

सुदूर संवेदन के तरीके

सुदूर संवेदन क्रिया उपकरणों को हवाई जहाज में गुब्बारों को रखकर की जा सकती है। लेकिन इस तरह पृथ्वी के बहुत थोड़े भाग का ही सर्वेक्षण किया जा सकता है। यदि उपकरणों को एक उपग्रह में रखकर किया जाए तो पृथ्वी के एक विशाल क्षेत्र में सर्वेक्षण का काम संपन्न किया जा सकता है। इसका मुख्य कारण यह है कि उपग्रह या गुब्बारे या हवाई जहाज से आच्छादित पृथ्वी का क्षेत्र ऊंचाई पर निर्भर करता है (चित्र 4)।
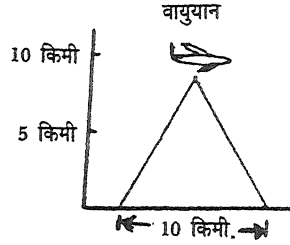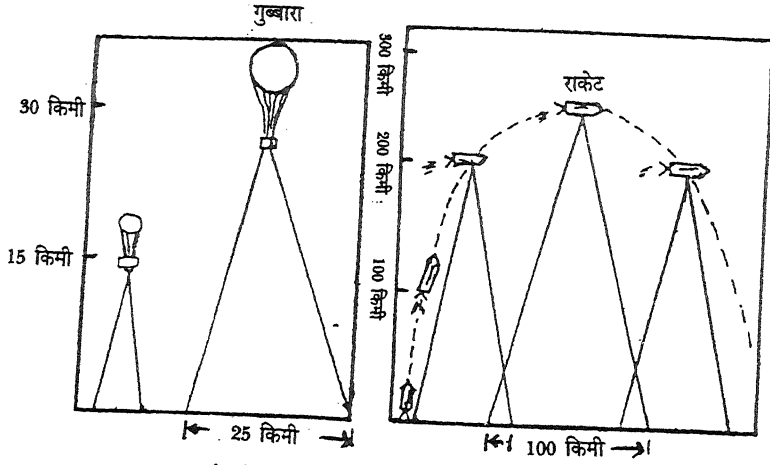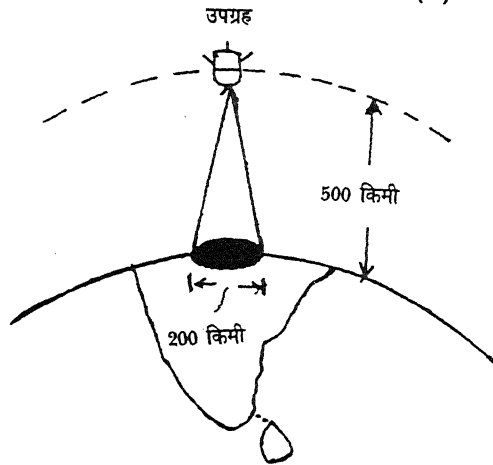
चित्र 4. सुदूर संवेदन के विभिन्न तरीके तथा सम्भाव्य क्षेत्र

सुदूर संवेदन तकनीक एक तरह की फोटोग्राफी है। हवाई फोटोग्राफी सुदूर संवेदन तकनीक का सबसे आसान तरीका है। (टोपोग्राफी) मानचित्रण, अभियांत्रिकी और पर्यावरण अध्ययनों के लिए विशेषकर इसका प्रयोग किया जाता है। हवाई फोटोग्राफी में प्रयुक्त कैमरे विद्युत-चुम्बकीय स्पेक्ट्रम के केवल दृष्टिगोचर भाग का ही संवेदन करते हैं जिसमें पृथ्वी की तरह के पदार्थों का अवलोकन भी सम्मिलित है। लेकिन इस प्रकार की फोटोग्राफी में पृथ्वी की दो भिन्न चीजों के विषय में सूक्ष्मता से अंतर का पता करना असंभव है। क्योंकि ब्लैक एण्ड व्हाइट फोटो द्वारा रिकार्ड की गई विभिन्न पदार्थों की परावर्तकता एक समान प्रतीत होती है। साथ ही सीमित स्पेक्ट्रल संवेदनशीलता होने के कारण इसे प्राकृतिक संसाधनों एवं स्रोतों के सूक्ष्म भेदीकरण के लिए प्रयुक्त नहीं किया जा सकता। दृष्टिगोचर स्पेक्ट्रम में प्रयुक्त कैमरे सुदूर संवेदन के लिए केवल दिन के समय प्रयोग किए जा सकते है। इसके लिए रात दिन या किसी भी मौसम में प्रयुक्त किए जा सकने वाले कैमरा तथा फोटोग्राफी फिल्मों का निर्माण एक प्रयोग प्रारम्भ हुआ है। पृथ्वी के प्राकृतिक संसाधनों के भेदीकरण के लिए रंगीन फोटोग्राफी तथा रंगीन इन्फ्रारेड और बहु-बैन्ड फोटोग्राफी काफी उपयोगी सिद्ध हुई है।

उपकरण

उपर्युक्त बहु-स्पेक्ट्रल संकल्पना ने बहु-बैन्ड कैमरा तथा अन्य नाजुक सूक्ष्म यंत्रों जैसे **बहु-स्पेक्ट्रल स्कैनर** (चित्र 5) तथा बहु-तरंग रेडियोमीटरों को जन्म दिया जिनका कार्य सिद्धांत पदार्थों के परावर्तकता गुणों पर ही नहीं वरन् पदार्थों में ध्रुवण एवं बिखराव गुणों
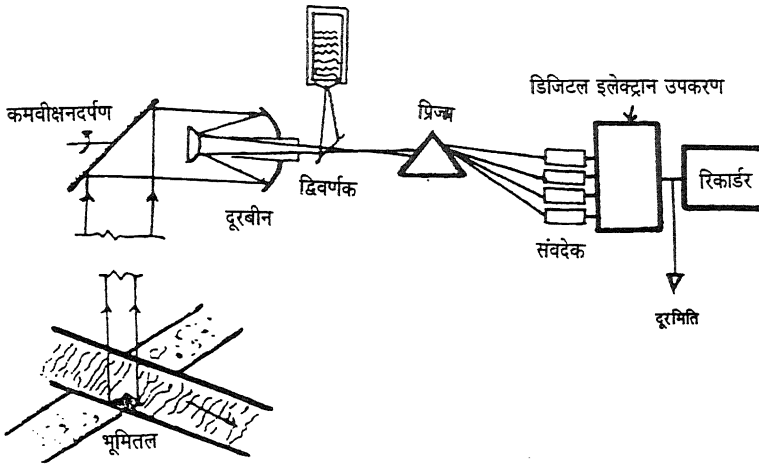
चित्र 5. वहुस्पेक्ट्रल क्रमवीक्षक

पर भी निर्भर करता है। पृथ्वी का प्रत्येक लघु हिस्सा (जिसे विभेदन अवयव कहते हैं) विकिरण उत्सर्जित करता है जिसे एक साथ कई स्पेक्ट्रल बैन्डों में रिकार्ड किया जा सकता है। इस प्रक्रिया में प्लेटफार्म, वह मंच, जिस पर उपकरण रखे जाते हैं तथा दर्पणों को थोड़ा इधर-उधर घुमाने से एक प्रतिबिंब बनता है जो त्रिविमीय तरीके से बहुत सारे स्पेक्ट्रल बैन्डों में अंकित किया जाता है। हवाई सुदूर संवेदन स्कैनर में होने वाली त्रुटि महत्वपूर्ण होती है तथा इसका संशोधन या तो बाद में या प्लेटफार्म को घुमाकर किया जाता है।

सुदूर संवेदन तकनीक के लिए दो प्रकार के सक्रिय एवं निष्क्रिय माइक्रोवेव संवेदकों का भी प्रयोग किया जाता है।

सुदूर संवेदन तकनीक कृषि के लिए बहुत उपयोगी है। इसके द्वारा समुद्र के अंदर तेल भंडारों का भी पता लगाया जा सकता है। इसके अतिरिक्त अन्य क्षेत्रों में भी यह बहुत उपयोगी है।

44

मानसिक बीमारियां*

श्री बी. मोहन

सभ्यता की उच्चतर सीढ़ियों को पार करने के उपरांत भी हम प्रतिदिन मानसिक बीमारियों से अधिक ग्रस्त होते जा रहे हैं। आज मानसिक रोग बड़ी तेजी से हैजा प्लेग, मलेरिया आदि महामारियों की तरह बढ़ते जा रहे हैं। शायद आप यह सुनकर चौकेंगे कि प्रत्येक मोहल्ले में कम से कम एक ऐसा व्यक्ति जरूर होगा जिसे मानसिक रोगी की सूची में रखा जा सकता है। मानसिक रोगियों की संख्या विदेशों में अधिक बढ़ती जा रही है अतः जहां पहले मलेरिया, तपेदिक इत्यादि बीमारियों के अस्पताल थे, वहां अब मानसिक रोगी नजर आते हैं।

मानसिक रोग के कुछ लक्षण

निर्मूल भ्रम (हैल्यूसिनेशन)—जब रोगी को किसी ऐसी वस्तु का भ्रम हो जो वहां उपस्थित ही न हो तो इस रोग को **निर्मूल भ्रम (हैल्यूसिनेशन)** कहते हैं। उदाहरण के लिए इस रोग का रोगी यह अनुभव करे कि उसके चारों ओर गुलाब खुशबू फैली हुई है जबकि वास्तव में वहां पर कुछ न हो। वह यह महसूस कर सकता है कि उसके कमरे में चारों तरफ से आवाजें आ रही हैं, उसको सीटियों की आवाजें सुनाई दे रही है, उसके बिस्तर पर चूहे या सांप लौट रहे हैं या 'चीता' खाने चला आ रहा है। जबकि वास्तव में वहां कुछ भी न हों। ऐसे मानसिक रोगी की सदैव देखभाल करनी चाहिए। अन्यथा हो सकता है वह निर्मूल भ्रम की वजह से आत्माहत्या कर बैठे। **भ्रम** (इल्यूजन)—इस दशा में वस्तु या पदार्थ की उपस्थिति तो होती है किंतु मानसिक रोगी उसे पहिचानने में गलती करता है, उदाहरणार्थ कमरे में लटकी हुई रस्सी को सांप समझ बैठता है, सड़क पर लगे हुए पेड़ को आदमी समझता है। एक स्वस्थ मनुष्य को भी भ्रम हो सकता है किंतु उसका यह भ्रम वस्तु के पास जाने पर दूर हो जाता है। जबकि मानसिक रोगी का भ्रम कभी दूर नहीं होता।

विभ्रम (डिल्यूजन) किसी गलत बातका विश्वास अपने अंदर उत्पन्न कर लेना

* आपका स्वास्थ्य, मार्च 1986

चाहिए जबकि वास्तव में वैसा न हो इस रोग को **विभ्रम** कहते हैं। एक स्वस्थ मनुष्य के अंदर भी विभ्रम उत्पन्न हो जाता है, किंतु उसका यह गलत विश्वास, समझाए जाने पर, या वाद-विवाद द्वारा दूर किया जा सकता है। किंतु किसी मानसिक रोगी का दृष्टिकोण इस तरह से ठीक नहीं किया जा सकता है।

कई प्रकार का विभ्रम

(अ) **द्वेष-विभ्रम** (डिल्यूजन आफ पर्सीक्यूशन)—इस रोग के रोगी को सदैव यह भ्रम बना रहता है कि उसके अपने दोस्त, अपने संबंधी, अपने घरवाले या दफ्तर के लोग उसको नुकसान पहुंचाना चाहते हैं। उसे मार डालना चाहते हैं या उसे जहर देना चाहते हैं इत्यादि।

(ब) **ब्रह्म विभ्रम** (डिल्यूजन आफ ग्रैंजर)—इस रोग का रोगी अपने को बहुत बड़ा समझने लगता है। हो सकता है वह अपने को भगवान समझ बैठे और सबसे कहे कि वह भगवान है या अपने को कृष्ण का अवतार समझ बैठे और हाथ में बांसुरी या डण्डा लिए हुए कृष्ण की मुद्रा में खड़ा रहा करे। हो सकता है वह अपने को किसी देश का राजकुमार या राजा समझ बैठे और लोगों को दान के रूप में अपने फटे पुराने कपड़े यह समझ कर बांटता फिरे कि वह अमूल्य रत्न और वास्त्र दान कर रहा है।

(स) **संदर्भ भ्रम** (डिल्यूजन आफ रेफरेंस)—संदर्भ भ्रम से पीड़ित मनुष्य, जब क्लब, होटल या अन्य जहां कहीं बैठता है तो उसे लगता है कि आस-पास के बैठे व्यक्ति उसके विषय में ही बातें कर रहे हैं, जबकि यह बात बिल्कुल निराधार होती है।

(द) **अव्यक्तित्व भ्रम** (डिल्यूजन आफ डिपर्सन-लाइजेशन)—इस रोग का रोगी भूल जाता है कि वह कौन है और अपने को दूसरा व्यक्ति समझने लगता है।

फ्यूग—इस रोग का रोगी अचानक अपने घर से हफ्तों महीनों के लिए गायब हो जाता है और जब लौटकर आता है तो उसे अपने इस गुजरे हुए समय के बारे में कुछ याद नहीं रहता है।

आवेग (इम्पल्स)—अचानक प्राणी के दिमाग को किसी कार्य को करने की इच्छा उठती है और कार्य कर बैठता है, यह जानते हुए कि वह यह कार्य करने जा रहा है अथवा यह कार्य बुरा हो सकता है किंतु कार्य करने से वह अपने को रोक नहीं पाता। कुछ दिनों पूर्व कानपुर में एक कनपटीमार सोते हुए व्यक्तियों की निरुद्देश्य हत्या कर दिया करता था, वह इसी रोग से ग्रस्त था।

इस रोग के मुख्य प्रकार निम्न है।—

क्लेपटोमीनिया—चोरी करने की अदम्य इच्छा उठना (यद्यपि चोरी की हुई चीजें बहुत कम मूल्यकी हों।)

डिपसोमीनिया—इस रोग में शराब पीने की अदम्य इच्छा होती है।

पाइरोमीनिया—वस्तुओं में आग लगाने की अदम्य इच्छा उठती है।

म्यूटिलोमीनिया—जानवरों को अंगविहीन करने की इच्छा उठती है।

मनोग्रस्ति (आवसेशन)—मनोग्रस्ति इस तरह के विचार को कहते हैं जो रोगी के मस्तिष्क में बार-बार उठता है यद्यपि रोगी उसको मस्तिष्क से बार-बार निकालने का प्रयत्न करता है। एक स्वस्थ मनुष्य तथा इस रोग के रोगी में अंतर निम्नलिखित उदाहरण से स्पष्ट हो जाएगा। रात्रि होने पर कोई व्यक्ति अपने घर के दरवाजे की सिटकीनी बंद करके बिस्तर पर जा लेटता है। अचानक उसे संदेह होता हैं कि शायद सिटकनी खुली रह गई है, वह फिर दरवाजे तक जाता है और पुनः सिटकनी बंद करता है। थोड़ी देर बिस्तर पर लेटे रहने के पश्चात् उसे फिर लगता है कि शायद दरवाजा खुला रह गया है और वह पुनः दरवाजे तक जाकर दरवाजा देखता है। एक स्वस्थ मनुष्य, हो सकता है यह क्रिया एक या दो बार करे, किंतु फिर उसे पूर्ण विश्वास हो जाता है कि उसने दरवाजे बंद कर दिए हैं और वह बिस्तर पर जाकर सो रहता है। मनोग्रस्ति से पीड़ित रोगी इस भ्रम के कारण पूरी रात न सो पाए और थोड़ी देर पर जाकर दरवाजे को बंद करें। एक और उदाहरण देखिए एक स्त्री जो अपने पति की मौत से पूर्व पूर्णतः स्वस्थ थी, अपनी बच्ची और अन्य संबंधियों के साथ एक घर में रहती थी, पति की मौत के बाद और बच्चों को बढ़ता देख कर उसके अंदर कन्या के विवाह की चिंता हुई। विवाह के लिए न तो उसके पास पैसा ही था और न अन्य कोई साधन। अतः वह बड़ी चिंतित रहने लगी। कुछ दिनों के पश्चात् उसके मन में कन्या को मार डालने का विचार उठा। उसने यह विचार मस्तिष्क से निकालने का बहुत प्रयत्न किया, किंतु सदा असफल रही, फलतः उसने अपने संबंधियों से कहा कि रात में बच्ची वे अपने पास लिटा लिया करें ताकि मां-बेटी एक कमरे में न रह सके, किंतु उसके संबंधियों ने इस बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया। एक दिन स्त्री बच्ची को मार डालने की भावना पर काबू न पा सकी और उसने अपनी बच्ची की हत्या कर दी।

मानसिक बीमारियों को तीन भागों में बांटा जा सकता है।

1. वे बीमारियां, जिनका कारण मस्तिष्क में किसी प्रकार की खराबी का होना है। उदाहरणार्थ—घटनावश सिर में चोट लग जाना, मस्तिष्क में ट्रयूमर का होना, सेरेब्रल हीमारेज इत्यादि।

2. वे बीमारियां जिनका कारण गुप्त हैं और पता नहीं चल पाया है। इस बीमारियों में मस्तिष्क में कोई खराबी नहीं पाई गई है।

3. वे बीमारियां जो अपरिपक्व मस्तिष्क के कारण होती हैं।

उन बीमारियों को जिनमें मस्तिष्क में कहीं पर कोई रचनात्मक खराबी नहीं मिलती है, दो मुख्य भागों में बांटा जा सकता है—

(अ) **मनोविकृति** (साइकोसिस)

(ब) **स्नायुविकार** (न्यूरोसिस)

मनोविकृति (विकृत कार्य) बीमारियां आधुनिक समाज में तीव्र गति से बढ़ती जा

रही हैं। मानसिक बीमारियों के रोगियों में से 10 प्रतिशत रोगी इस रोग से ग्रस्त होते हैं। इस अवस्था में प्राणी का अपना पुराना व्यक्तित्व पूर्ण रूप से नष्ट हो जाता है। उसका आचरण, व्यवहार विपरीत हो जाता है और समाज की दृष्टि में वह 'पागल' कहलाने लगता है। वह अपने को बीमार नहीं समझता है। उसे कोई परेशानी या बीमारी के लक्षण नजर नहीं आते। उसे अच्छे-बुरे की समझ नहीं रहती और न ही समाज की चिंता रहती है। वह अपने संसार में अलग मस्त रहता है। वह अपना इलाज कराने स्वयं नहीं आता है अपितु उसके घरवाले उसे अस्पताल में ले जाते हैं। वह अपने को भगवान या महान् व्यक्ति समझ सकता है और उसमें निर्मूल श्रम, भ्रम या विभ्रम आदि रोगों के लक्षण पाए जाते हैं। ऐसा रोगी अक्सर उग्र स्वभाव का होता है और तोड़-फोड़ कर सकता है। समाज को नुकसान पहुंचा सकता है। बात-बात पर हंसने लगता है। अचानक रो पड़ता है। मनोविकृति बीमारियों के अंतर्गत मीनिया, मेलनकोलिया, सीजोफ्रेनिया आदि बीमारियां आती हैं।

स्नायुविकार में रोगी का व्यक्तित्व पूर्णतया नष्ट नहीं हो पाता है। किंतु वह अपने को बहुत ही बीमार समझता है। चिंता एवं परेशानी हर समय उसको घेरे रहती है। अगर उससे पूछा जाए कि क्या तुम बीमार हो तो वह बीमारी के अनेक उल्टे-सीधे लक्षण बताना शुरू कर देगा। किंतु ऐसा व्यक्ति अपने को समाज में सम्मिलित रखने की चेष्टा करता है, उससे अलग नहीं रहता है। वह स्वयं डॉक्टर के पास जाता है और बीमारी के बारे में बताता है, जब कि अधिकांशतः उसको कुछ नहीं होता है या तिल का ताड़ बना देता है। उदाहरणार्थ वह कह सकता है कि उसके सिर गैस भर गई है उसे सिर में हवाई जहाज चलने की आवाज सुनाई पड़ती है, जब कि महज उसे मामूली सा दर्द हो। 90 प्रतिशत मानसिक बीमारियाँ अनावश्यक चिह्न के कारण उत्पन्न होती हैं। ऐसे रोगी समाज के लिए हानिकारक नहीं होते हैं, किंतु ये बीमारियां स्वयं उनके स्वास्थ्य के लिए हानिकारक होती हैं।

एक अन्य, तीसरी प्रकार की श्रेणी में बीमारियां आती हैं जो इस तरह के विचारों के उपजने के कारण हो जाती हैं अर्थात् यदि प्राणी अधिक चिंतित रहे, परेशान रहे तो शरीर के भीतरी अंगों में कुछ परिवर्तन हो उठते हैं और वे अंग यथार्थ में बीमारी के शिकार हो जाते हैं। इस प्रकार की बीमारियों के उदाहरण हैं।

(1) आमाशय में घाव का होना (पेप्टिक अल्सर),

(2) दमा (ब्रोंकियल अस्थमा)

चौथी श्रेणी में जो बीमारियां आती हैं उन्हें संविषाद, (डिप्रेशन) के नाम से पुकारते हैं। इनमें प्राणी चुपचाप या गुमसुम रहता है, उसे नींद नहीं आती है, किसी चीज में रुचि नहीं रहती है, एकांत पसंद करता है, अक्सर वह शून्य में एकटक देखा करता है। प्रत्येक स्वस्थ मनुष्य के जीवन में कभी न कभी ऐसे क्षण अवश्य आते हैं जब वह चुपचाप या शालीन हो उठता है, जैसे परीक्षा में फेल होने पर, अपने प्रिय व्यक्ति की मौत पर, आदि।

किंतु यह शालीनता केवल कुछ दिनों तक रहती है और वह पुनः अपने दैनिक जीवन को अपना लेता है। यदि वह शालीनता या गंभीरता साधारण अवधि को पार करके लंबे समय का रूप ले लेती है अथवा बिना किसी कारण उत्पन्न हो सकती है तब यह बीमारी समझी जाती है।

संविषाद दो प्रकार का हो सकता है—

1. प्रतिक्रियात्मक संविषाद (रिएक्टिव डिप्रेशन) जब संविषाद किसी बाह्य कारण से उत्पन्न हो, उदाहरणार्थ—मुकदमें में हार जाना, अपने प्रिय की मृत्यु हो जाना।

2. आंतरिक संविषाद (एंडोजिनस डिप्रेशन) जब संविषाद उत्पन्न होने का कोई बाह्य कारण न हो।

अपूर्ण विकसित मस्तिष्क की बीमारियां

इन बीमारियों का कारण शरीर में हारमोन की कमी या मस्तिष्क का समुचित रूप से विकसित न होना होता है। बौद्धिक लब्धि, (इंटेलीजेन्स कोशेन्ट) के आधार पर इस प्रकार की बीमारियों को तीन श्रेणियों में बांटा जा सकता है—

$$\text{बौद्धिक लब्धि} = \frac{\text{विकसित मस्तिष्क की आयु}}{\text{शारीरिक आयु}} \times 100$$

1. मंद बुद्धि (फीबल माइंडेड) इस प्रकार के व्यक्ति में बौद्धिक लब्धि 70-100 प्रतिशत होती है। वे मंद बुद्धि के होते हैं। वे किसी कार्य को स्वयं नहीं शुरू कर सकते हैं। वे अपनी जिम्मेदारियां भली प्रकार निभा नहीं सकते हैं। किंतु ऐसे लोग अधिकांशतः अपनी जीविका निर्वाह कर लेते हैं और उन्हें किसी पर आधारित रहने की आवश्यकता नहीं पड़ती है।

2. कुन्द बुद्धि (इम्बेसाइल)। ऐसे व्यक्तियों की बौद्धिक आयु 3-6 वर्ष की रहती है और बौद्धिक लब्धि 20-40 प्रतिशत रहती है। वे अपनी जीविका स्वयं नहीं कमा सकते। स्वयं कुछ सीख नहीं सकते हैं। सिखाए जाने पर शब्द बोल सकते हैं किंतु उसका अर्थ नहीं समझ पाते हैं। बहुधा वे अपने कपड़े स्वयं पहिनना एवं ठीक से भोजन करना सीख लेते हैं। आमतौर से देखा गया है कि **कुन्द मस्तिष्क वाले बच्चों के सिर बहुत छोटे एवं कान लम्बे होते हैं।** पंजाब में इन्हें 'शाह दौलाके चूहों' के नाम से पुकारते हैं।

3. निर्बुद्धि (ईडिआसि) : इस प्रकार के प्राणी की बौद्धिक आयु 3 साल से भी कम होती है तथा बौद्धिक लब्धि 20 प्रतिशत होती है। मस्तिष्क के विकसित होने की दृष्टि से इनमें और जानवरों में कोई अंतर नहीं रहता है। इनकी स्मरण शक्ति बहुत कमजोर रहती है एवं इनके अंदर भावनाओं का कोई स्थान नहीं रहता है। किसी प्रकारका कार्य स्वयं नहीं कर सकते हैं। किसी बात पर अपना ध्यान केंद्रित नहीं कर सकते हैं। देखने

में चुपचाप सीधे लगते हैं। यद्यपि ठीक से बोल नहीं पाते हैं पर अपनी बातों का मतलब संकेतों द्वारा स्पष्ट कर लेते हैं। बहुधा ये अपने से कमजोर बच्चों एवं जानवरों के साथ कठोरता से पेश आते हैं। बुढ़ापे में अक्सर व्यवहार एवं आचरण में परिवर्तन आ जाता है। जिसका कारण बुढ़ापे में मस्तिष्क में शारीरिक परिवर्तन होना है जिसे **सेनाइल डिमेंशिया** के नाम से पुकारते हैं।

नाटक

बैक्टीरिया : अदालत की चौखट पर*

अभय कुमार गुप्ता

पात्र : जज, बैक्टीरिया, सरकारी वकील, ज्यूरी के मेम्बर, बैक्टीरिया का वकील, पेशकार, चपरासी, तथा अन्य।
[अदालत का दृश्य। बैक्टीरिया कठघरे में खड़ा है और जनता मुद्दई के रूप में हाजिर है। सामने के बेंचों में वकील बैठे हैं। अदालत खचाखच भरी है।]

जज : **[हथौड़ी से मेज ठोकते हुए]** : मुकदमा पेश किया जाए।
[सरकारी वकील अपनी जगह से उठ कर जज की ओर मुखातिब होकर मुकदमे का हाल बतलाता है।]

सरकारी वकील : **[बारी-बारी से बैक्टीरिया और जनता की तरफ इशारा करते हुए]** माई लॉर्ड! यह रहा 'खूनी' और ये रहे गवाह। जनता इंसाफ की दुहाई करती है। लोग बैक्टीरिया से बहुत परेशान हो चुके हैं। इनसे लोगों का खाना-पीना और जीना हराम कर दिया है। यह लोगों के पीछे हाथ-धोकर पड़ा हुआ है।

जज : बातें खुलासा तरीके से बताई जाएं।

सरकारी वकली : माई लार्ड! एक-दो आदमियों ने नहीं बल्कि पूरी जनता ने ही बैक्टीरिया के खिलाफ नालिश की है। सैकड़ों गवाह हैं कि यह हत्यारा है! मुजरिम है! कसूरवार है! इसके काले कारनामों के कारण आए दिन जो जानें जा रही हैं, उनकी सजा, माई लॉर्ड, इसे मिलनी ही चाहिए।"

"माई लॉर्ड, अधिकांश घातक बीमारियां इसी बैक्टीरिया के कारण फैल रही हैं। मनुष्य ही नहीं पशु-पक्षी, और पेड़-पौधे भी इसके शिकार होते हैं। हम पर, हमारे जानवरों पर, हमारी फसलों पर, दरख्तों पर, यह कयामत बरपा देता है। माई लॉर्ड,

* विज्ञान प्रगति, अक्टू. 1987

इस राज का पर्दाफाश करने और सबूत के लिए, मैं बैक्टीरिया से चन्द सवालात करने की इजाजत चाहता हूं।

जज : "इजाजत है।"

[सरकारी वकील बैक्टीरिया के कठघरे की ओर बढ़ता है। बैक्टीरिया का हाथ गीता पर रखवा कर कसम खिलाई जाती है।]

सरकारी वकील : **[बैक्टीरिया से]** मेरे सवालों के जवाब केवल 'हां' या 'ना' में देने होंगे।

(प्रश्न शुरू होते है।) "क्या यह सच नहीं कि तुम ही टी.बी. की बीमारी फैलाने के जिम्मेदार हो?

बैक्टीरिया : "हां"

सरकारी वकील : "क्या यह सच नहीं कि तुम डिफ्थीरिया के बहाने बेदर्द बनकर, लोगों का गला घोंट कर उनकी जान ले लेते हो?

बैक्टीरिया : "हां।"

सरकारी वकील : "क्या यह सच नहीं है कि और भी कई खतरनाक बीमारियां फैलाने में तुम्हारा हाथ है?"

बैक्टीरिया : "हां",

सरकारी वकील : "और क्या यह झूठ है कि तुम्हारी हरकतों से आदमियों को ही नहीं बल्कि जानवरों और फसलों को भी भारी नुकसान पहुंचता है?"

बैक्टीरिया : "नहीं",

सरकारी वकील : **[एकदम खुश होकर, हाथ से इशारा करते हुए]** माई लॉर्ड! इन बातों पर गौर किया जाए। मुजरिम अपना जुर्म खुद ही कुबूल करता है।... मामला बिल्कुल साफ है।"

[इतने में बैक्टीरिया का वकील बीच में ही बात काट कर बोल उठता है।]

"मुझे एतराज है श्रीमान। दो-एक बे-सिर पैर की बातों को लेकर खामख्वाह मेरे मुवक्किल को तंग किया जा रहा है।"

सरकारी वकील : **[तिलमिलाकर]** "माई लॉर्ड, मेरे काबिल दोस्त को यह शिकायत है कि यह तंग करना है। लेकिन मैं तो अपराधी से, उसी के मुख से, सच्ची बातें निकलवा रहा हूं। और माई लॉर्ड मेरी बहस अभी पूरी नहीं हुई। बहस जारी रखने की इजाजत चाहता हूं।"

जज : "आब्जेक्शन ओवर रूल्ड! बहस जारी रहे।

[सरकारी वकील फिर अपनी बहस चालू रखता है]

सरकारी वकील : ''श्रीमान **ट्यूबरकुलोसिस बैसिलस** के लिबास में यह मनुष्यों में क्षय रोग, बैसिलस न्यूमोनी के रूप में निमोनिया, **बैसिलस टाईफरेसिस** के वेश में टायफायड, **बैसिलस कॉलरी** के नाम से हैजा, **बैसिलस डिफ्थीरी** बनकर डिफ्थीरिया, और इसी तरह विभिन्न वेश बदल कर यह शैतान, कोढ़, गेंग्रीन और पेचिश आदि भयंकर बीमारियां फैलाता है। श्रीमान इसी के कारण लोग तन्दुरुस्त नहीं रह पाते। बीमार रहते हैं और आखिर में मौत को गले लगाने को मजबूर हो जाते हैं।

''यही नहीं श्रीमान्! यह हमारे जानवरों तक को नहीं छोड़ता। उनमें भी ऐंथ्रेक्स, सेप्टीसीनिया, निमोनिया आदि बीमारियां पैदा कर देता है। इसके जुल्मों की हद ही नहीं है। यहां तक कि यह पेड़-पौधों को भी, जिन पर हमारा जीवन निर्भर रहता है, नहीं छोड़ता। उनमें एक बीमारी हो तो गिनाऊं। कई विचित्र बीमारियां जैसे फायर ब्लाइट, कैंकर, रुट राट, विल्ट, फ्यूजेरियम आदि पैदा करके उनका भी नाश कर डालता है। यह इतना खुरापाती है कि जब तन्दुरुस्त पौधों को नुकसान नहीं पहुंचा सकता तो नाइट्रोजन विनाशकारी (डी-नाइट्राफाइंग) बैक्टीरिया बन कर उनकी खुराक चट कर जाता है। इतने पर भी बात खत्म नहीं होती। इसने तो हमारी पकी-पकाई चीजों को भी नहीं बख्शा। आए दिन हमारा भोजन खराब कर देता है और मक्खन आदि को बर्बाद कर देता है। इतना जालिम है कि डिब्बा बंद चीजों तक को नहीं छोड़ता।''

''श्रीमान! अब जो यह नए-नए तरीकों से वार करने लगा है। यह ऐसे नए तरीकों से बीमारियां फैला रहा है कि हमारे चिकित्सक भी परेशान हो गए हैं। उनको रोज ही किसी न किसी नई बीमारी का इलाज खोजना पड़ता है। इसको इसकी करनी की सजा मिलनी ही चाहिए ताकि हम-लोग चैन से रह सकें।

[यह कह कर सरकारी वकील अपनी बहस बंद कर देता है। जज बैक्टीरिया से उसके बचाव के बारे में पूछते हैं।]

[तभी झट से बैक्टीरिया का वकील सामने आ कर बोल उठता है]

बैक्टीरिया का वकील : ''श्रीमान मैं बैक्टीरिया की तरफ से सफाई में कुछ कहने की इजाजत चाहता हूं।''

जज : ''इजाजत दी जाती है।''

बैक्टीरिया का वकील : ''माई लॉर्ड सरकारी वकील ने बैक्टीरिया के बारे में जो बातें कहीं हैं, हो सकता है उनके हिसाब से उसमें सच की कुछ गुंजाइश हो, लेकिन साथ ही हमें असलियत जानने के लिए ठंडे दिमाग से सोचना होगा कि आखिर इन सबके लिए जिम्मेवार कौन हैं? क्या केवल बैक्टीरिया?

''सवाल बहुत टेढ़ा है और उसका जवाब भी उतना ही पेचीदा। और अगर मैं कहूं कि इसमें हम सब, यानि सारे के सारे लोग कसूरवार हैं तो एक बार को हम सब चौंक उठेंगे। पर बात दरअसल है यही। हम ही अपने गुनाहगार हैं। लेकिन इससे पहले कि मैं पेचीदा मामले को अदालत के सामने सुलझाकर रखूं, बैक्टीरिया से जो हमें फायदें हैं उन्हें आदलत के सामने रखने की इजाजत चाहता हूं।

अदालत में खुसर-फुसर होने लगती है...''हत्यारा और फायदा!''

जज : ''आर्डर आर्डर। इजाजत है।''

बैक्टीरिया का वकील : उद्योगों के पहलू से बैक्टीरिया हमारा कितना बड़ा 'दोस्त' है, यह बात शायद बहुत कम ही जानते होंगे। सिरका, दही, मक्खन, पनीर, अचार, सन, नील, अल्कोहल, साइट्रिक एसिड, लैक्टिक एसिड, विटामिन बगैरह रोज काम आने वाली अनेक चीजें हमें केवल बैक्टीरिया की मेहरबानी से ही मिल पाती हैं। **एसीटीबैक्टर एसीटी** के वेश में हमारे लिए सिरका और एसिड बनाता है, और लैक्टिक एसिड का सफेद-चोला पहन कर यह हमारे लिए दूध से दही, मक्खन और घी बनाता है। यही बैक्टीरिया खेतों में मिट्टी की सतह के नीचे गर्मी किए रहता है जिससे बीज उचित रूप से उग आए और पौधे ठीक से गर्मी पा सकें। **राइजोबियम एजटोबैक्टर** और **क्लास्ट्रीडियम** बन कर यह हवा की नाइट्रोजन को पकड़कर नाइट्राइट और नाइट्रेट में बदल देता है, और तभी पौधों को खाद खूराक नसीब हो पाती है। **बैसिलस रेडिसिकोला** के बौने लिबास में यह दाल वाली फसलों की जड़ों में बैठकर खाद बनाता है और खाद के ढेर के ढेर जमा करके रख देता है जिससे अगली फसल भी आराम से खाद पा सके। सड़े और गन्धाते सन में रेशे और लकड़ी के बीच का गंदा पदार्थ खा कर बेचारा हमारे लिए उपयोगी रेशा अलग कर देता है।

"श्रीमान इसकी बदौलत, दही, मक्खन, मट्ठा, पनीर, मिठाइयां और अनगिनत सेहत बढ़ाने वाली वस्तुएं बनती हैं। अगर यह दूध को ज्यों का त्यों रहने दे और दही में न बदले तो हम इन वस्तुओं के लिए तरस-तरस कर मर जाएं।"

"यही नहीं हमारे जानवरों के भोजन को पचाने में भी यह मदद करता है। घास-पात खाने वाले जानवरों में यह **सैलुलोज** अर्थात पचाने वाला रस पैदा करता है, ताकि उनका खाना आसानी से पच सके। इसी की मेहरबानी से विटामिन 'के' बन पाता है तो बदन के किसी हिस्से के कटने पर रक्त का थक्का बनाकर उसे रोकने का काम करता है। और श्रीमान, सबसे घिनौना लेकिन सेवा का कार्य भी यही करता है। मरे हुए जानवरों तथा गंदी वस्तुओं को सड़ा-गला कर और सुखा कर उनको नष्ट कर देता है। अगर यह न होता तो सभी सड़ी-गली वस्तुएं ज्यों की त्यों रखी रहतीं और जीना और सांस लेना तक मुश्किल हो जाता।"

"ये तो रही इसके फायदे की बातें, लेकिन जो इसके नुकसान कहे जाते हैं जरा उनकी और भी आपका ध्यान दिलाना चाहता हूं। शिकायत है कि बैक्टीरिया हत्यारा है! बीमारी फैलाने वाला है! मुजरिम है! तो श्रीमान मैं लोगों से यह पूछना चाहता हूं कि अगर कोई आपका घर उजाड़े तो क्या आप उससे बदला नहीं लेंगे? लोग उन गंदी वस्तुओं और सड़े हुए फल-सब्जियों का सेवन करते हैं जिनमें बैक्टीरिया घर बना कर रहता है। तो क्या वह उनसे अपने बेघर किए जाने का बदला न ले?

"उन्हें तो बस एक ही बात आती है, अपना कसूर भूल कर दूसरे की बुराई और शिकायत करना। भले मानस यह भूल जाते हैं कि उनका कोई दुश्मन नहीं, वे खुद ही अपने दुश्मन हैं।"

"श्रीमान। लोग गंदे रहेंगे, गंदी वस्तुओं का सेवन करेंगे, भला इसमें बैक्टीरिया का क्या कसूर? यह गरीब तो गंदे स्थानों पर ही रहता है और यह तो सभी जानते हैं कि सफाई पसंद लोगों की तरफ यह मुंह उठा कर भी नहीं देखता। इसलिए उन्हें नुकसान पहुंचाएगा भी तो कैसे?"

"आखिर में, मैं यही दोहराना चाहूंगा कि गलती बैक्टीरिया की नहीं बल्कि उन लोगों की है जो सफाई से नहीं रहते और तन्दुरुस्ती के नियमों का पालन नहीं करते।"

इतना कहकर बैक्टीरिया का वकील अपनी बहस बंद कर देता है। अदालत में शोर-सा होने लगता है। ज्यूरी के सदस्य जज को अपनी राय देते हैं।

जज : "आर्डर-आर्डर! सभी बातों को मद्दे नजर रखते हुए अदालत इस नतीजे पर पहुंची है कि बैक्टीरिया बेकसूर है। अतः बैक्टीरिया को अदालत बाइज्जत बरी करती है। साथ ही जनता से अदालत यह अपेक्षा करती है कि वह बैक्टीरिया के बसे हुए घरों को उजाड़ने की वजाय तंदुरुस्त रहने के लिए स्वच्छता और सफाई के नियमों का पालन करे। अदालत बरखास्त होती है।"

(पर्दा गिरता है)

46

मां का दूध : सर्वोत्तम दूध*

डॉ. उषा किरण वर्मा

आज से लगभग पचास वर्ष पूर्व जब कृत्रिम दूध का आविष्कार भी नहीं हुआ था, नवजात शिशुओं का पोषण स्तनपान द्वारा ही होता था। उस समय बच्चे के स्वस्थ जीवन की शुरूआत करने में मां का यह भरसक प्रयत्न होता था कि वह शिशु को अधिक से अधिक स्तनपान करा सके। बच्चे का मानसिक और शारीरिक विकास मुख्यतः इसी बात पर निर्भर करता है कि छः महीने की उम्र तक शिशु को कैसी खुराक मिलती है।

लेकिन पिछले दशक से माताएं नवजात शिशुओं के आहार के लिए बोतल के दूध, यानि कृत्रिम दूध पर अधिक निर्भर रहने लगी हैं। यूं तो इसका मुख्य कारण महिलाओं का कामकाजी होना हो सकता है, लेकिन कुछ घरेलू महिलाएं भी जो अधिकाधिक स्तनपान करा सकती हैं, इसके महत्व को नजर अंदाज करती जा रही हैं। इससे अनेक स्वास्थ्य संबंधी तथा आर्थिक समस्याएं उत्पन्न हो रही हैं। विश्व स्वास्थ्य संगठन की एक रिपोर्ट के अनुसार छः महीने या उससे अधिक समय तक मां का दूध पीने वाले बच्चों की तुलना में ऐसे बच्चों की मृत्युदर पांच से दस गुना अधिक है, जो डिब्बे का दूध पीते हैं या जिन्हें छः महीने से कम समय तक मां का दूध पीने को मिलता है।

मां से मिलने वाले प्राकृतिक दूध में कृत्रिम दूध की अपेक्षा कई गुण अधिक पाए जाते हैं। आधुनिक शोधकर्त्ताओं ने मां से प्राप्त दूध के रासायनिक तथा जैवीय गुणों का व्यापक अध्ययन किया है। उत्तम विधि द्वारा बनाए गए कृत्रिम दूध से मातृ दूध काफी उन्नत एवं प्रभावशाली होता है। मातृ दूध जीवंत-खाद्य है, जबकि कृत्रिम दूध निष्क्रिय तथा निश्चित रचकों से बना होता है। मातृ दूध में बढ़ते हुए शिशु की आवश्यकतानुसार रचकों में परिवर्तन होता रहता है। ऐसा परिवर्तन दिन में कई बार तथा एक ही स्तर-पान के क्रम में कई बार पाया गया है।

स्तन-पान के संबंध में आज की महिलाओं में कुछ गलत धाराणाएं घर कर गई हैं। वे ऐसा मान बैठी हैं कि स्तनपान के प्रभाव से उनकी आकृति में विकृति पैदा हो सकती है, जबकि ऐसा नहीं है। वास्तव में नवजात शिशु को स्तन-पान कराने से मां गर्भावस्था

* विज्ञान प्रगति, जुलाई 1987

में संचित वसा को कम करने में सफल होती है और वसा में कमी आने से आकृति में निखार आ जाता है। यह एक आम धारणा बन गई है कि कृत्रिम दूध में विशेष रासायनिक पदार्थ मिले रहते हैं, जिसके कारण नवजात शिशु स्वस्थ रहता है। यह धारणा पूर्णतः तो नहीं, परंतु आंशिक रूप से भ्रामक अवश्य है। मां का दूध पीते समय शिशु जब स्तनों को चूसता है तो उसे तृप्ति मिलती है और वह अपने को सुरक्षित महसूस करता है। इसलिए यदि मां स्वस्थ हो, स्वयं पौष्टिक आहार लेती हो और डॉक्टर ने स्तनपान की मनाही नहीं की हो तो उसे अपने नवजात शिशु को एक निश्चित अवधि तक स्तनपान अवश्य कराना चाहिए। स्तनपान की अवधि में डॉक्टर से सलाह लेते रहना श्रेयस्कर होता है।

मातृ दूध तथा गाय का दूध

कुछ माताएं अपने दूध से गाय के दूध को अधिक उत्तम मानती हैं। परंतु यह नवजात शिशु के लिए कहां तक उपयोगी है इस, बात की जानकारी निम्नलिखित सारणी से स्पष्ट हो जाती है।

अवयव	मातृ दूध	गाय-दूध
पानी	88 प्रतिशत	88 प्रतिशत
प्रोटीन	1.1 प्रतिशत	3.3 प्रतिशत (कैसीन की मात्रा छः गुना अधिक)
वसा	3.8 प्रतिशत	3.8 प्रतिशत
लेक्टोज	7.0 प्रतिशत	4.8 प्रतिशत
खनिज	0.2 प्रतिशत	0.8 प्रतिशत (लौह तथा तांबे के अलावा अन्य खनिज अधिक मात्रा में रहते हैं)

परंतु मातृ-दूध तथा गाय-दूध दोनों में कार्बोहाइड्रेट (शर्करा) समान मात्रा में होते हैं।

दोनों ही स्रोतों से प्राप्त दूध में विटामिनों की मात्रा मां के आहार पर निर्भर करती है। दोनों दूध में विटामिन **ए** तथा विटामिन **बी-कॉम्पलेक्स** की मात्रा पर्याप्त रहती है। परंतु दोनों ही स्रोतों से प्राप्त दूध में **विटामिन-सी** तथा **विटामिन-डी** की मात्रा नवजात शिशु के जन्म के प्रथम माह की आवश्यकता से कम रहती है।

मातृ-दूध में कीटाणु संबंधी प्रदूषण नहीं रहता है, परंतु गाय-दूध में बराबर प्रदूषण का भय बना रहता है। दोनों ही स्रोतों से प्राप्त दूध में 20 किलो कैलोरी प्रति औंस या 0.67 किलो कैलोरी प्रति मिली. ताप रहने का अनुमान लगाया गया है।

यह बात उल्लेखनीय है कि गाय-दूध में मातृ-दूध की अपेक्षा प्रोटीन की मात्रा अधिक होती है, क्योंकि गाय-दूध में कैसीन अधिक होती है। कैसीन आसानी से पचने

वाला पदार्थ नहीं है। जबकि मातृ-दूध आसानी से पचने के कारण नवजात शिशु शीघ्र ही भूखा हो जाता है और कम अंतराल पर दूध पीने के लिए चिल्लाने लगता है। अक्सर देखा गया है कि नवजात शिशु को गाय का दूध पिलाने से छोटे आंत में अवरोध पैदा हो जाता है, फलस्वरूप पेट फूल जाता है। इससे कभी-कभी नवजात शिशु की मृत्यु भी हो सकती है। यदि नवजात शिशु का गुर्दा जन्म से कमजोर हो, तो गाय का दूध पिलाने से उसके रक्त में यूरिया बढ़ने की संभावना रहती है। इससे भी शिशु की मृत्यु हो सकती है। इसलिए नवजात शिशु को गाय का दूध देने से पूर्व डॉक्टर से सलाह लेना आवश्यक है।

मातृ-दूध की विशेषताएं

मातृ-दूध की अनेकानेक विशेषताएं हैं। कुछ विशेषताओं का उल्लेख नीचे किया जा रहा है—

1. मातृ-दूध आसानी से उचित तापक्रम पर उपलब्ध रहता है। इसलिए शिशु के लिए अलग से दूध बनाने की आवश्यकता नहीं रहती है।
2. यह दूध स्वच्छ एवं कीटाणु रहित रहता है जिससे शिशु की पेट के विकारों से ग्रस्त होने की संभावना कम होती है।
3. गाय के दूध से एलर्जी के कारण कई बीमारियां होती हैं।
4. स्तनपान से दूध उलटना, पेट में दर्द, एटोपिक एक्जीमा आदि के होने की संभावना घट जाती है।
5. मातृ-दूध में कीटाणु तथा वायरस का संक्रमण रोकने में इम्यूनो ग्लोबुलिन एण्टीबाडी का कार्य करता है।
6. मातृ-दूध में पोलियो वायरस से बचाव के लिए आवश्यक रासायनिक पदार्थ होता है, जिससे नवजात शिशु का पोलियो के आक्रमण से बचाव होता है।
7. मातृ-दूध में उपस्थित रासायनिक पदार्थों से नवजात शिशु का कण्ठमाल रोग, इन्फ्लुएन्जा, चेचक, जापानी-बी-एन्सेफेलाइटिस वायरस से बचाव संभव है।
8. कृत्रिम दूध पिलाने से नवजात शिशुओं में जन्म से छः माह के अंदर श्वास संबंधी संक्रमण होने की संभावना रहती है।
9. पीयूष (कोलोस्ट्रम) तथा दूध में मैक्रोफेजज सामान्यतः उपस्थित रहते हैं। जिनमें पूरक रासायनिक पदार्थ लाइसोजाइम तथा लेकटोफेरिन के संश्लेषण की संभावना बढ़ जाती है। ये पदार्थ रोग विरोधक हैं।
10. मातृ दूध लोह प्रोटीन, लेक्टोफेरीन का उत्तम स्रोत है। इनकी उपस्थिति से आंत में इ-कोलाइ जीवाणु के बढ़ने की संभावना घट जाती है।
11. स्तन पान करने वाले शिशुओं की आंत में **लेक्टोबैसिलस** समूह के जीवाणु पाए जाते हैं जबकि कृत्रिम दूध पीने वाले शिशुओं में **कोलीफोर्म** समूह के

जीवाणु अधिक पाए जाते हैं।

12. पर्याप्त मात्रा में संतुलित आहार लेने वाली माताओं के दूध में विटामिन डी, आयरन तथा क्लोराइड को छोड़कर अन्य आवश्यक पोषक पदार्थ पाए जाते हैं।
13. **स्तन पान से शिशु तथा माता में प्रगाढ़ स्नेह का संबंध स्थापित होता है।**

स्तन-पान गर्भ-निरोध में सहायक

ऐसा पाया गया है कि स्तन-पान कराने की अवधि में महिलाओं में गर्भाधान की संभावना घट जाती है। जितनी बार तथा जितना अधिक मां स्तन-पान कराती है, उतनी ही गर्भाधान की संभावना घट जाती है। स्तन-पान कराने वाली माताओं के रक्त में **प्रोलेक्टीन हारमोन** का स्तर अधिक रहता है तथा मासिक स्राव की पुनः शुरूआत विलम्ब से होती है। विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा यूनिसेफ की एक रिपोर्ट के अनुसार स्तन-पान कराने वाली महिलाओं में दो बच्चों के जन्म के बीच का अंतराल बिना गर्भ-निरोधक उपाय के 5 से 10 माह तक बढ़ जाता है। स्तन-पान कराने वाली मध्यम आयु वर्ग की 72 प्रतिशत महिलाओं में मासिक स्राव बच्चे के जन्म से पाठ माह के अंदर प्रारंभ नहीं होता है जबकि कृत्रिम दूध पिलाने वाली शत प्रतिशत महिलाओं का मासिक स्राव आठ माह के अंदर अवश्य प्रारंभ हो जाता है।

विश्व स्वास्थ्य संगठन तथा यूनीसेफ की रिपोर्ट के अनुसार स्तन-पान करने वाले शिशु अधिक शारीरिक चंचलता वाले होते हैं तथा अपने पैर से चलना शीघ्र प्रारंभ कर देते हैं।

पीयूष या कोलोस्ट्रम

शिशु जन्म के बाद दो से पांच दिन तक जो दूध स्रवित होता है वह कुछ गाढ़ा और पीला होता है। इसे **पीयूष** कहा जाता है। लोगों में यह धारणा प्रचलित है कि यह पीयूष बच्चे के स्वास्थ्य के लिए अच्छा नहीं है। आधुनिक शोध से पता चला है कि यह बाद वाले दूध से भी अच्छा है। इसमें एण्टीबाडी की सांद्रता अधिक रहती है। जिसमें संक्रमण के प्रति अवरोध पैदा करने की क्षमता रहती है। यह जिंक एवं विटामिन **ए** का उत्तम स्रोत है। आधुनिक शोध से पता चला है कि इसमें जिंक एवं विटामिन **ए** में संक्रमण के प्रति अवरोध पैदा करने की पर्याप्त क्षमता रहती है।

प्रसव के बाद शिशु को छः से बारह घंटे बाद पानी देना शुरू करना चाहिए। यदि बच्चा परिपक्व है तो बारह घंटे के बाद स्तन पान शुरू कराया जा सकता है।

स्तन-पान की अवधि

स्तन-पान बच्चे की भूख के अनुसार कराते रहना चाहिए। जल्दी बढ़ने वाले बच्चे सुस्त

बच्चे की तुलना में जल्दी भूखे हो जाते हैं। दो स्तन-पान के बीच का समय तीन से चार घंटा रखा जा सकता है। इसे मां बच्चे की आवश्यकता के अनुसार घटा-बढ़ा सकती है।

एक स्तन-पान में एक या दोनों स्तनों का प्रयोग हो, इसके लिए कोई दृढ़ नियम नहीं है। वह शिशु की भूख पर निर्भर करता है। यदि बच्चा एक ही तरफ स्तन पान से संतुष्ट हो जाता है तो दूसरे की आवश्यकता नहीं पड़ती है। **लेकिन क्रमशः दोनों का ही प्रयोग करना चाहिए, क्योंकि स्तन में दूध के अत्यधिक जमा होने का भय रहता है।**

कितनी देर तक दूध पिलाना चाहिए, यह भी निश्चित नहीं है। एक स्वस्थ बच्चा भूखा रहने पर 10-15 मिनट में पूरा दूध खींच लेता है। जबकि अपरिपक्व बच्चे को अधिक समय लगता है।

स्तन-पान छुड़ाने के लिए कोई निश्चित समय नहीं है। किंतु 3-4 माह के बाद उचित समय माना गया है। इस उम्र तक बच्चे की पाचनक्रिया मजबूत हो जाती है और वह सिर्फ मां के दूध पर ही नहीं रह सकता है। अतः उसे थोड़ी-थोड़ी मात्रा में फल का रस, अन्न इत्यादि देना आरंभ कर देना चाहिए। बच्चे की स्तन-पान धीरे-धीरे छुड़ाना चाहिए और पूरक आहार की मात्रा बढ़ानी चाहिए। कुछ समय के बाद बच्चा अपने आप ही स्तन-पान छोड़ देता है।

मां के पुनः गर्भ धारण के तुरंत बाद स्तन-पान बंद करना आवश्यक नहीं है। **गर्भ धारण करने से प्रथम तीस सप्ताह तक स्तन-पान कराया जा सकता है।**

विज्ञान अनिवार्य क्यों? क्या? और कैसे?*

सुप्रभात मुकर्जी

मानव सभ्यता जैसे-जैसे विकसित होती गई, मनुष्य की आवश्यकताएं उत्तरोत्तर उतनी ही बढ़ती गईं। मानव की अतृप्त कामनाओं ने, उसके कौतूहल और जिज्ञासा-वृत्ति ने उसे नवीन आविष्कारों के लिए प्रेरित किया। विज्ञान के आविष्कारों ने संसार में आज हजारों आश्चर्यजनक परिवर्तन उपस्थित कर दिए हैं। आज से दो-तीन सौ वर्ष पूर्व का मानव प्राचीन स्मृतियों और धारणाओं के साथ यदि इस संसार में आ जाए तो यह परिवर्तित संसार उसे विस्मित और स्तम्भित किए बिना नहीं रह सकता। विज्ञान ने मानव जीवन के सभी क्षेत्रों को प्रभावित किया है। विज्ञान की ये उपलब्धियां हमारे जीवन में इतनी घुलमिल गई हैं कि अब उनके अभाव में जीवन-यात्रा की कल्पना ही कठिन है। जब जनसाधारण इन वैज्ञानिक उपलब्धियों का दैनिक जीवन में उपयोग करता है तो उसके मन में इन उपलब्धियों के पीछे छिपे हुए रहस्यों, सिद्धांतों को जानने का कौतुहल होना स्वाभविक ही है। इस कौतुहल को शांत कैसे किया जाए! शिक्षा के लिए यह एक चुनौती है जिसका सामना करने के लिए विज्ञान अनिवार्य रूप से बढ़ाया जाना ही एक विकल्प है। विज्ञान की शिक्षा केवल कौतूहल की शांति ही नहीं वरन् वैज्ञानिक संसाधनों के समुचित उपयोग और रख-रखाव के लिए भी आवश्यक है, जिसका अनुभव आज सभी करते हैं। उदाहरण के लिए जिस व्यक्ति को किसी भी स्तर के विज्ञान का ज्ञान नहीं होता है उसे छोटे-छोटे कार्यों के लिए जैसे फ्यूज़ वायर जोड़ने के लिए दूसरों पर निर्भर रहना पड़ता है। उपरोक्त व्यावहारिक पक्ष के अतिरिक्त विज्ञान निम्नलिखित पहलुओं में सुधार लाने में भी सहायक होता है, जिसके कारण विज्ञान-शिक्षा की अनिवार्यता हेतु हम बाध्य होते हैं।

भावी नागरिकों में वैज्ञानिक दृष्टिकोण विकसित करने में सहायक

आज के समाज में सफल जीवन व्यतीत करने हेतु प्रत्येक मानव के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने वातावरण के प्रति जाग्रत रहे और वातावरण के प्रति जाग्रत रहने हेतु

* विज्ञान, अक्टूबर 1987

यह आवश्यक है कि उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक हो। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से यह तात्पर्य है कि छात्र में सही-सही प्रेक्षण लेने, उन प्रेक्षणों का विश्लेषण करने, तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकालने तथा सामान्यीकरण करने की क्षमता दो, उदाहरण के लिए हम न्यूटन के 'गुरुत्वाकर्षण' की खोज संबंधी प्रकरण को ले सकते हैं। न्यूटन अपने वातावरण के प्रति जाग्रत था या हम कह सकते हैं कि उसका दृष्टिकोण वैज्ञानिक था। जब न्यूटन ने सेब गिरते देखा, उसने इसके अंतर्निहित कारणों का विश्लेषण किया, फिर तथ्यों के आधार पर निष्कर्ष निकाले और अंत में यह सामान्यीकरण किया कि पृथ्वी प्रत्येक वस्तु को अपनी ओर आकर्षित करती है। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति प्रतिदिन छोटे से लेकर अत्यंत महत्वपूर्ण निर्णय लिया करता है। यदि दृष्टिकोण वैज्ञानिक है तो उसके निर्णय सही होंगे और वह व्यक्ति जीवन में सफल होगा अन्यथा असफल। हमारे भावी नागरिक जीवन में सफल हो सकें इसके लिए **यह आवश्यक है कि उनमें वैज्ञानिक दृष्टिकोण का विकास हो।** यह विकास विज्ञान की शिक्षा द्वारा ही संभव है। वैज्ञानिक प्रयोगों को करते समय वह सही प्रेक्षण लेने, उनका विश्लेषण करने, निष्कर्ष निकालने तथा सामान्यीकरण करने के लिए प्रशिक्षित हो जाता है, छात्रों द्वारा प्रयोगों को कराने के पीछे यही मुख्य उद्देश्य होना चाहिए।

सांस्कृतिक विषमताओं को दूर करने हेतु

वर्तमान शिक्षा व्यवस्था में कुछ छात्रों को विज्ञान की शिक्षा दी जाती है तथा कुछ को नहीं इसके फल-स्वरूप छात्रों में दो प्रकार की विचारधारा का विकास हो रहा है। एक वर्ग जिसे विज्ञान का पर्याप्त ज्ञान होता है, किसी सत्य को स्वीकार करने के लिए स्थापित मान्यताओं के पुनर्मूल्यांकन और उसके अप्रासंगिक तथ्यों या अवधारणाओं को त्यागने के लिए तत्पर रहता है, परंतु दूसरा वर्ग जिसे विज्ञान का ज्ञान नहीं प्राप्त होता, इसमें कठिनाई का अनुभव करता है। वह प्रचलित मान्यताओं पर अधिक विश्वास करता है और विज्ञान पर आधारित सत्य और वैज्ञानिक व्याख्या को स्वीकार करने के लिए प्रस्तुत नहीं रहता।

विचारधाराओं की इस विषमता के कारण समाज में इन दो वर्गों के लोगों को आपस में सामंजस्य स्थापित करने में कठिनाई होती है तथा संघर्ष एवं तनाव की स्थिति उत्पन्न होने की पर्याप्त संभावना रहती है।

इस बात से कोई इनकार नहीं कर सकता है कि विज्ञान 'सत्य' के संसाधन की प्रक्रिया है। ज्ञानप्राप्ति का प्रमुख साधन विज्ञान है, बौद्धिक विकास और सांस्कृतिक प्रगति में विज्ञान अत्यधिक सहायक रहा है, यह विज्ञान ही है जिसने हमें रुढ़ियों के गर्त से निकाला है, अंधविश्वासी मान्यताओं को तोड़ा है और फल-स्वरूप वास्तविकता से हमारा साक्षात्कार हुआ है। अतः विज्ञान को अनिवार्य रूप से बढ़ाए जाने पर सभी को उसके आधारभूत सिद्धांतों का ज्ञान होगा और भावी नागरिकों में सांस्कृतिक एकरूपता

का विकास होगा, उनके सत्य संधान और वास्तविकता को स्वीकार करने की क्षमता में वृद्धि होगी। साथ ही साथ कला वर्ग के छात्र जो एक भावना से ग्रसित रहते हैं कि उन्हें विज्ञान का पर्याप्त ज्ञान नहीं है, उसका भी अंत होगा।

समाजवादी समाज-व्यवस्था में सहायक

देश की स्वतंत्रता के समय हमने देश में समाजवादी समाज-व्यवस्था का संकल्प लिया है, जिसके लिए भावी नागरिकों में श्रम की महत्ता का आभास तथा उसके प्रति रुचि उत्पन्न करना अत्यंत आवश्यक है। इस उद्देश्य की पूर्ति भी विज्ञान के प्रायोगिक शिक्षा द्वारा ही संभव है।

शिक्षा के व्यावसायीकरण में सहायक

10+2 शिक्षा-व्यवस्था के अंतर्गत +2 स्तर पर छात्रों को व्यावसायिक शिक्षा प्रदान करना प्रस्तावित है। कक्षा 9 तथा 10 में दी जाने वाली विज्ञान की शिक्षा जिसमें विज्ञान के आधारभूत सिद्धांतों का ज्ञान छात्रों को दिया जाना है, वह व्यावसायिक शिक्षा हेतु पृष्ठभूमि का कार्य करेंगी।

अतः आशा की जाती है कि विज्ञान शिक्षा से स्वयं ही कुछ महत्वपूर्ण मूल्यों जैसे शारीरिक श्रम के प्रति आस्था, कठोर परिश्रम करने की क्षमता, सौंदर्य-बोध, अभिनव परिवर्तन, प्रयोगीकरण तथा चुनौतियों का अधिक आत्मविश्वास के साथ सामना करने की क्षमता का विकास होगा। इन मूल्यों का छात्रों में समुचित विकास होने पर वे उसके जीवन की अमूल्य थाती सिद्ध होंगी जो हमारे समाज के आर्थिक विकास के लिए आवश्यक है।

क्या?

प्रारंभ में शिक्षा कतिपय लोगों (विशिष्ट वर्ग) तक ही सीमित थी। अतः उस समय की वह शिक्षा-व्यवस्था उनकी आवश्यकताओं को ध्यान में रखकर बनाई गई थी। परंतु आज के युग में जब शिक्षा को सार्वजनीन (यूनिवर्सल) बनाने की बात कही जा रही है, उस प्राचीन व्यवस्था को जारी रखना असंगत प्रतीत होता है। शिक्षा में सामाजिक और आर्थिक परिवर्तनों के परिप्रेक्ष्य में नागरिकों की आवश्यकता के अनुरूप परिवर्तन होना वांछनीय है। **शिक्षा अर्थपूर्ण, लाभदायक, उद्देश्यपूर्ण तथा जीवनसंगत होनी चाहिए।** इसके लिए समय-समय पर पाठ्यक्रम या कोर्स के लिए निर्धारित अंश तथा शिक्षा-पद्धति में आवश्यक परिवर्तन करना आवश्यक है। यह बात विज्ञान विषय के लिए और भी अधिक सत्य है क्योंकि एक अंतराल से ऐसा अनुभव किया जा रहा है कि हमारे देश में विज्ञान की शिक्षा अधिकाधिक सैद्धांतिक और जीवन के व्यावहारिक पक्ष से दूर होती जा रही है, जिससे विज्ञान के निहित उद्देश्यों की पूर्ति नहीं हो पा रही है और उसकी लोकप्रियता में

कमी आ रही है।

कैसे?

शिक्षा के उद्देश्यों के आधार पर पाठ्यक्रम का निर्माण होता है या दूसरे शब्दों में पाठ्यक्रम शिक्षा के उद्देश्यों को प्रतिबिंबित करता है और इन उद्देश्यों की पूर्ति के लिए समुचित शिक्षण-पद्धति की आवश्यकता होती है।

उचित शिक्षण-पद्धति के अभाव में पाठ्यक्रम निरर्थक हो जाता है। अतः विज्ञान के लिए एक ऐसी शिक्षण-पद्धति की आवश्यकता है जो नैत्यिक (रोजमर्रा के) शिक्षण से दूर छात्र को अधिक रुचिकर लगे, वे विषयवस्तु को आसानी से पूर्णरूप से आत्मसात कर सकें और आवश्यकतानुसार अपने ज्ञान का स्वतंत्र रूप से अनुप्रयोग कर सकें। विज्ञान की शिक्षा का उद्देश्य कदापि यह नहीं है कि प्रत्येक छात्र को आगे चलकर वैज्ञानिक ही बनाना है वरन् इसका वास्तविक उद्देश्य छात्रों को प्रेक्षण लेने, विश्लेषण करने, अर्थ-ग्रहण करने तथा सामान्यीकरण करने के लिए प्रशिक्षित करना है और उस उद्देश्य की पूर्ति शायद हमारी विज्ञान शिक्षण की प्रचलित पद्धति द्वारा नहीं हो पा रही है। अतः इसका अनुभव करते हुए शिक्षाविदों ने इसके विकल्प के रूप में प्रायोजना विधि (प्रोजेक्ट मेथोडॉलॉजी) प्रस्तावित की है। इस विधि में शिक्षण के प्रायोगिक पक्ष पर विशेष बल देते हुए प्रत्येक स्तर पर विज्ञान शिक्षण की दैनिक जीवन के विभिन्न पहलुओं के साथ प्रासंगिकता, और किस प्रकार यह विभिन्न समस्याओं के समाधान में सहायक हो सकती है, दर्शायी जाती है जिससे छात्रों में अभिनव चिंतन शक्ति उद्दीप्त होगी और उनके मन में वैज्ञानिक मनो-स्थिति, चेतना या 'साइंटिफिक टेम्पर', मौलिकता, सृजनात्मकता तथा सुधारात्मक क्षमता आदि गुण बैठ जाएंगे, जिससे हम यह आशा कर सकते हैं कि कुछ छात्र अपनी स्वतंत्र खोज-यात्राओं में निकल पड़ेंगे।

चिंतनपरक

विज्ञान की भाषा*

शिव गोपाल मिश्र

मानव तथा पशु की विभाजन रेखा भाषा है। भाषा बुद्धिजन्य चिंतन शक्ति का परिणाम है। पशुओं में इसीलिए भाषा का अभाव है। भाषा का कोई पृथक अस्तित्व नहीं होता। भाषा मनुष्य में ही स्थित है। बोलचाल में ही उसका अस्तित्व है। प्रत्येक शब्द के उच्चरित होते ही भाषा का कार्य समाप्त हो जाता है—वह मर जाती है। लेकिन भाषा को लिखित रूप देकर मानो उसे अमर कर दिया गया हो। भाषा लिखित साहित्य को वाहिका भी है। बोलचाल में भाषा का अर्थ लिखित भाषा ही लिया जाता है।

भाषा अर्जित वस्तु है जिसे मनुष्य समाज से सीखता है। इसीलिए भाषा समाज सापेक्ष है। भाषा का मुख्य गुण उसका क्रमबद्ध होना है—शब्दों का उनके अपने उचित स्थान पर होना। शब्दों तथा शब्दक्रम के नियम भाषा विज्ञान के मुख्य अंग हैं।

किंतु विज्ञान की भाषा को ज्ञान विशेष या वर्ग विशेष (विज्ञानियों) की भाषा कहा जा सकता है। जिस तरह भाषा की आवश्यकता विचारों की अभिव्यक्ति के लिए हुई उसी तरह विज्ञान की भाषा का जन्म विज्ञान के विविध तथ्यों को यथा तथ्यरूप में अधिकाधिक सत्य के निकट लाने के प्रयास स्वरूप हुआ—यह वैज्ञानिक तथ्यों के आदान-प्रदान के लिए आवश्यक शर्त-सी बन गई। स्पष्ट है कि आमफ़हम या सामान्य भाषा से यह सर्वथा भिन्न, नितांत पारिभाषिक, चाहें तो कह सकते हैं, नितांत कृत्रिम भाषा है। **यह सार्वभौमिकता को अपना लक्ष्य बनाती है, संकुचित सीमा को नहीं।** कहना चाहें तो कह सकते हैं कि यह विश्व भाषा है।

विज्ञान तथ्यों पर अवलंबित है अतएव विज्ञान की भाषा का एकमात्र उद्देश्य सूचना देना है जब कि ललित साहित्य में भाषा का उपयोग भावनाओं को उभाड़ने के लिए किया जाता है। लेकिन तथ्य तथा ललित कल्पना या कल्पना विलास में सर्वथा विलगाव नहीं है। ऐसा नहीं है कि विज्ञानी तथ्यों की तलाश करते हुए कल्पना विलास के क्षेत्र में प्रवेश न करता हो। हां, एक सीमित मात्रा में ऐसा करता है।

रदरफोर्ड ने लिखा है, 'भली भांति बनाया गया सिद्धांत कुछ मामलों में कलात्मक

* अतएव, अक्टू-दिसं. 1987

सृजन है। आइंस्टीन का सापेक्षता सिद्धांत कला का भव्य नमूना है।' विज्ञान की आधारशिला तथ्यों में निहित और विज्ञान का मूल कार्य 'सत्य' की खोज करना है। **श्रांडिगर** का कथन है, 'विज्ञान का उद्देश्य वस्तुओं के बारे में सही-सही और पर्याप्त कथन प्रस्तुत करना है।' आजकल तथ्यों के लिए प्रेक्षण के फल, सेंस डैटा, मापन आदि शब्द प्रयुक्त किए जाते हैं और कल्पना विलास के लिए परिकल्पना, धारणा, सिद्धांत, विचार जैसे शब्द। इस तरह विज्ञान में तथ्यों एवं कल्पना विलासों की गंगा जमुनी मिलती है—अजीब संगम मिलता है। **पाइन केरे** का कहना है, 'विज्ञान के नियम न तो तथ्यों के कथनमात्र हैं जिनकी पुष्टि प्रयोगों से होती है, न ऐसे कथन है जो मन से निकले होते हैं। अपितु वे मनोकल्पित धारणाएं हैं कि कुछ शब्दों या पदों को किसी प्रकार प्रयुक्त किया गया है। ये नियम मानव मन की मुक्त उपज हैं।' **आइंस्टीन** का मत है कि प्रकृति के सारल्य को शब्दों के प्रयोग से नहीं बतलाया जा सकता। विवरण अर्थात् भाषा तथा विज्ञान के सिद्धांतों में अंतर तो रहा ही आता है।

प्रेक्षण और विज्ञान की भाषा के बीच जो अंतराल है उसके लिए सेतु का कार्य करता है आपरेशन (संक्रिया)। सरल पदों या शब्दों के अर्थ बताने के लिए आपरेशन प्रयुक्त किए जाते हैं। लेकिन शब्द चाहे कैसा भी हो उसका तब तक कोई अर्थ नहीं होता जब तक प्रयुक्त होने वाली परिस्थितियों का उल्लेख न किया जाए।

विज्ञान में सिद्धांतों की भरमार है और **अर्नस्ट माख** के अनुसार ये सिद्धांत 'प्रेक्षणों का मितव्ययी वर्णन' है। मितव्ययी वर्णन इसका स्पष्ट संकेत है कि कम से कम शब्दों का सशक्त या उचित प्रयोग हो। पारिभाषिक शब्दों का जन्म ऐसी ही परिस्थिति में होता है।

विज्ञान की सिद्धांत रचना को **'वैज्ञानिक पद्धति'** कहा जाता है। सिद्धांत रचना में किसी न किसी प्रकार की भाषा का अनिवार्य रूप से प्रयोग होता है। चूंकि भाषा अभिव्यक्ति का मुख्य साधन है इसलिए 'संचार' के लिए भाषा का प्रयोग महत्वपूर्ण साधन के रूप में किया जाता है। जैसा कि कहा जा चुका है, भाषा मौखिक या लिखित चिंहों या संकेतों का एक व्यवास्थत तंत्र है। मनुष्य प्रकृति के विभिन्न पहलुओं को भाषा के संकेतों की सहायता से समझने का प्रयत्न करता है। साधारण व्यक्ति 'वस्तु भाषा' का प्रयोग करता है किंतु वस्तु विशेष को समझाने के लिए विशेष शब्दों की आवश्यकता होती है। इसे हम 'अतिभाषा' या अति अतिभाषा अर्थात् द्वितीय या तृतीय स्तर की भाषा कह सकते है। इसे ही यू भाषा (युनिवर्सल) कहा जाता है। इसमें ऐसे संकेतों का प्रयोग किया जाता है जिसको सभी लोग सीख कर प्रयोग में ला सकते हैं। गणित के चिह्न या अंतर्राष्ट्रीय पारिभाषिक शब्द ऐसे ही हैं।

ऐसे विशेष शब्दों के प्रयोग की आवश्यकता विशेष पर्यावरण में अवस्थित व्यक्ति के द्वारा होने वाले अनुभवों को स्पष्ट भाषा में व्यक्त करने के फलस्वरूप होती है। वाणी और लिपि दोनों ही के द्वारा अनुभव व्यक्त किए जा सकते हैं। स्पष्ट है कि विज्ञान की

भाषा के उद्देश्य वे ही हैं, जो सामान्य भाषा के हैं। तो फिर भिन्नता कहां है?

कहते हैं कि ग्रीक लोग अपने अतिरिक्त संसार के अन्य लोगों को बर्बर मानते थे। फलतः वे अपनी भाषा को श्रेष्ठ तथा अन्यों की भाषा को बर्बर कहते थे। तो क्या विज्ञानी भी ऐसा ही मानता है? नहीं। ऐसा नहीं है। वह अपनी सीमाओं से परिचित है। उसमें श्रेष्ठता जताने की कोई अभिलाषा नहीं है किंतु विज्ञान के क्षेत्र में जिस प्रकार 'विशिष्टता' का प्रसार हो रहा है उसके अनुसार विज्ञानी भी 'अधिकाधिक विषयों के बारे में कम से कम ज्ञान रखने लगे हैं।' उसकी दृष्टि संकुचित हुई है। अतएव सामान्य व्यक्ति के लिए विज्ञानी के भाव जगत में प्रविष्ट हो पाना दुष्कर लगे तो कोई आश्चर्य नहीं है। फिर भी विज्ञान की भाषा 'बहुजन हिताय' है—वह अपने नियमों को लिपिबद्ध करती चलती है जिससे वह अनुशासनबद्ध रहे। किसी भी भाषा का व्याकरण भी यही कार्य करता है। किंतु विज्ञान की भाषा का व्याकरण सामान्य व्याकरण से कुछ भिन्न हो तो आश्चर्य की बात नहीं।

विज्ञान की भाषा का शब्दानुशासनः विज्ञान की भाषा में प्रतीकात्मकता का बाहुल्य है—विशेषतया रसायन, भौतिकी, गणित तथा कम्प्यूटर विज्ञान में।

विज्ञान की भाषा के दो मुख्य पक्ष हैं :

1. भाषा का तार्किक वाक्य विन्यास (सिंटैक्स एसपेक्ट)

2. वैज्ञानिक कथनों तथा उनके नामकरणों के बीच संबंध (अर्थ विज्ञान या संकेत अर्थ विज्ञान पक्ष) (सिमेंटिक एसपेक्ट)

विज्ञान की भाषा में तीन प्रकार के शब्द आते हैं :

(1) प्रेक्षणात्मक शब्द (या पद)

(2) संक्षिप्त स्वाभाविक (शील गुण धर्म) शब्द

(3) सैद्धांतिक शब्द

थेयोबोल्ड के अनुसार विज्ञान की भाषा में बिना यंत्र के इन्द्रियों से अनुभूत सीधी-सादी शब्दावली, प्रेक्षण से जनित शब्दावली और यंत्र से जनित मूर्त शब्दावली हो सकती है।

सैद्धांतिक शब्दावली जहां तक संभव हो सके सरल तथा मितव्ययी और सूत्र रूप में होनी चाहिए किंतु कालांतर में वैज्ञानिकों ने 'भारी भरकम' शब्दावली का प्रयोग प्रारंभ कर दिया। उसकी शब्दावली नवीन भाव जगत को जन्म देने वाली होती है।

गणित ही भाषा है : संकेत और प्रतीकों की बहुलता के कारण गणित को ही भाषा मान लिया गया। किंतु गणित भाषा के साथ ही तर्क भी है। यह तर्क एक कथन को दूसरे कथन से जोड़ने में सहायक होता है। गणितीय कथन ऐसा कथन होता है जो दुनिया के किसी भी कोने पर सत्य उतरे। आधुनिक गणितज्ञ अपनी शब्दावली में पांच मूलभूत मुहावरों का प्रयोग करता है : और, नहीं, कोष्ठक ( ), एप्सिलान तथा निक्षिप्त उपवाक्य।

शब्दों का सबसे बड़ा दोष है कि उनकी ठीक-ठीक परिभाषा नहीं दी जा सकती,

उनके अर्थों में अनिश्चितता रहती है। कभी-कभी शब्दों के अर्थों से नई संरचनाएं की जाती हैं जिनके लिए शब्दों में गुंजाइश नहीं रहती और तब तर्क का सहारा लेना पड़ता है।

प्राकृतिक विज्ञानों में सामान्य की संकल्पनाओं को सूक्ष्मता या परिशुद्धता के साथ परिभाषित करना होता है। यथासंभव संकल्पनाओं की संख्या कम से कम रखी जाती है और इनमें सूक्ष्मता (परिशुद्धता) होती है, 'सामान्य भाषा' इन संकल्पनाओं को प्रकट नहीं कर पाती इसीलिए गणितीय संक्षिप्तियां व्यवहृत की जाती हैं। इस तरह सामान्य भाषा में गणितीय प्रतीक मिला दिए जाते हैं और तब प्राकृतिक नियमों को प्रतीकों के माध्यम से परिभाषित किया जाता है।

भाषा का विकास : विज्ञान में नई संकल्पनाओं के विकास के साथ ही वैज्ञानिक भाषा का विकास होता है क्योंकि भाषा को नए शब्द देने पड़ते हैं। पुराने शब्दों को बदलना पड़ता है। इस तरह से सामान्य भाषा बनती जाती है। इस क्रम में ऐसा भी समय आ सकता है जब विज्ञान की भाषा अत्यंत क्लिष्ट बन जाए और संकल्पनाओं में परिवर्तन के साथ उसे त्यागना पड़े। उदाहरणार्थ, अठारहवीं शती में सुप्रसिद्ध **रसायनज्ञ लैवोजिए** के समय रसायन की भाषा का जो स्वरूप था, वह बाद में आमूल परिवर्तित हो गया।

नई संकल्पनाओं और पुरानी भाषा का यह संघर्ष चलता रहा है। उन्नीसवीं शती में 'वैद्युत चुंबकीय क्षेत्र' जैसी नवीन संकल्पनाओं का जन्म हुआ किंतु बीसवीं शती में इन संकल्पनाओं के विषय में संदेह व्यक्त किया जाने लगा। बात यह थी कि उस समय ऐसी भाषा न थी जिसमें नवीन परिस्थिति की अभिव्यक्ति हो पाती। आइंस्टीन ने गणित की वैज्ञानिक भाषा से सापेक्षता सिद्धांत का हल निकाल लिया किंतु शीघ्र ही कठिनाई उपस्थित हुई जब **क्वाटंम सिद्धांत** का जन्म हुआ। अब परमाणु के 'ताप' तथा 'रंग' की व्याख्या कर पाना दुष्कर हो गया। फलतः नई भाषा का जन्म हुआ।

अतएव जब भी सीधी-सादी भाषा असफल सिद्ध होती है या अपर्याप्त लगती है तभी ज्ञानिक भाषा का विकास होता है। उदाहरणार्थ, परमाणु संरचना को लें। इलेक्ट्रान, आर्बिट, द्रव्य, तरंगें, आवेश, घनत्व जैसे पारिभाषिक शब्द मूल संकल्पनाओं को नया स्वरूप प्रदान करने के लिए ही गढ़े गए हैं।

भाषा के दोष : इस प्रकार हम पाते हैं कि भाषा में मुख्यतया दो दोष हैं :

(1) भाषा तथ्य को उसी रूप में नहीं बता पाती-केवल असलियत का चित्र प्रस्तुत करती है। भाषा मन में उसी तरह का चित्र खींचती है—भले ही हमारे द्वारा प्रयुक्त शब्द स्पष्ट एवं सारगर्भित (ठोस) क्यों न हों। उदाहरणार्थ मास शब्द से वस्तुतः द्रव्य (अनुभवगम्य) का भार प्रकट किया जाता है किंतु बाद में इसका प्रयोग अदृश्य ऊर्जा (इनविजिबुल इनर्जी) के लिए होने लगा। गणित तो संकट में पड़ जाती है। उसे द्वैतरहित प्रणाली को जन्म देना होता है जिसे ला पाना दुष्कर काम है।

(2) जैसा कि कहा जा चुका है कोई भी रूढ़ भाषा नई परिस्थितियों का चित्रण करने में समर्थ नहीं हो पाती। फलतः भाषा का विकास आवश्यक है। जो **भाषा जितनी विकासशील होगी, उतनी ही वह विज्ञान की भाषा बनने में सक्षम होगी।**

विज्ञान की भाषा की विविध शैलियां : यदि हम सत्रहवीं शती की भाषा के स्वरूप की कल्पना पर विचार करें तो उसकी विविध शैलियों का कुछ आभास मिल सकेगा। **पी. बी. मेडावर** के अनुसार, 'विज्ञान की भाषा पौरुषमयी किंतु सरल होती है—इसमें न तो बेहूदे उद्धरण रहते हैं, न लंबे निक्षिप्त वाक्य रहते हैं, न रूपकों की चकाचौंध रहती है, न ही लफ्फाजी होती है।' इस तरह यह आशा की जाती थी कि वैज्ञानिक शैली 'उदार एवं संगमरमर की तरह सुदृढ़ हो, उसमें आदिम शुद्धि रहे और संक्षिप्तता हो।' ऐसी शैली का प्रयोग हो जो निकटता, नग्नता, सहज बोलचाल, स्पष्ट अर्थ, आदिम सरलता से युक्त हो और गणितीय सरलता के सन्निकट हो। 'रायल सोसायटी' ने इस लक्ष्य की प्राप्ति के लिए सभी प्रकार के प्रवर्धन एवं भटकाव को त्यागने के लिए आह्वान किया। उसने बल दिया कि **प्रकृति के ज्ञान को अलंकारों से, कल्पनाओं से तथा कपोलकल्पित कथाओं से यथा संभव दूर रखा जाए।**

परिणाम यह निकला कि वैज्ञानिकों ने शुष्क, नीरस, बौद्धिकता के भार से बोझिल शैली का सूत्रपात किया। यही न्यूटन की शैली थी। और अंग्रेजी तथा जर्मन भाषाओं में इसी को ग्रहण किया गया। फ्रेंच में डिकार्टे द्वारा प्रचारित कार्टीज़ियन शैली लोकप्रिय बनी रही। अंग्रेजी में रदरफ़ोर्ड इसके अपवाद माने जाते हैं। वे गंभीर से गंभीर वैज्ञानिक शोध पत्रों में वार्तालापों का उल्लेख करते—यह कार्टीजियन शैली है जिससे वातावरण में हल्कापन आता और पाठक के मन में अमिट छाप बनी रहती।

बोधगम्यता तथा स्पष्टता का तक़ाजा था कि प्रत्येक वाक्य या शब्द समूह तुरंत समझ में आ जाए; अतएव छोटे तथा स्पष्ट वाक्यों का प्रचलन हुआ। वाक्य के भीतर शब्दों का अनुक्रम विचारों के द्वारा निश्चित होने लगा अतएव वाक्यों को विचार की प्रगति के अनुसार ही एक दूसरे से जोड़ना आवश्यक हो गया। इस तरह भाषा का नियंत्रण अनुक्रम, स्पष्टता, गंभीरता, संक्षिप्तता तथा यथा तथ्यता के द्वारा होना था जब कि लिखित सामग्री में संबद्धता तथा तर्क द्वारा नियंत्रित होना था। इस तरह गद्य की शैली कम ठाट बाट वाली, कम प्रतिबद्ध, कम भावनात्मक, कम अलंकृत होती गई।

चूंकि अधिकांश लेखकों को विश्वास था कि गणित की सफलता उसकी निपट शैली में निहित है अतएव उन्होंने उसे ही ग्रहण करना शुरू कर दिया। वे शुद्ध शब्दावली में दृढ़ रहना पसंद करते भले ही यह पंडिताऊ तथा पढ़ने में कठिन क्यों न लगे। फलस्वरूप पारिभाषिक शब्दावली तथा प्रतीकात्मकता घर कर गई जो सामान्य प्रचलन के सर्वथा विपरीत थी। उनकी शैली इतनी स्पष्ट, विचारों के मितव्ययी संगठन से युक्त, काम करने के सही क्रम से युक्त तथा प्रस्तुति की ऐसी विधि थी जो सब कुछ कहने को तुली रहती है जिससे कल्पना के लिए कोई स्थान नहीं रह जाता, किंतु अपने ही

नवोद्भावन को स्मरण न रख पाने के कारण लेखक सुगमतापूर्वक गणितीय जगत की शब्दावली में सरक जाते हैं।

हमें महान वैज्ञानिकों की कृतियों में शैलियों की रंगीन झांकी देखने को मिलती है। इस प्रसंग में न्यूटन तथा डेकार्टे अग्रणी हैं। डेकार्टे अपने पाठकों को बाध्य नहीं करता था अपितु उन्हें फुसलाता था। उसकी कृतियों में प्रसाद गुण, सूक्ष्मता के साथ पठनीयता रहती थी। वह इतना विनयशील था कि अपनी वैज्ञानिक खोजों को अस्थायी (आजमाइशी) खोज बतलाता और जिस तरह से जो खोज हुई रहती उसको उसी क्रम में लिखता। वह उपाख्यान शैली से आलोचनात्मक कल्पना को उभाड़ता और पाठक को अपने पीछे-पीछे घुमाता रहता। बाद में यह फ्रांसीसी शैली बन गई।

लेकिन **न्यूटन** इसके सर्वथा विपरीत था। वह पुरानी ज्यामितीय शब्दावली में अपने विचारों को व्यक्त करता था। उसके शोध पत्र में ऐसे सत्य होते थे। जिनकी वाहवाही पाठकगण करते और वे उसमें कोई परिवर्तन नहीं कर सकते थे। यद्यपि यह शैली समझने में कठिन थी किंतु सूक्ष्मता तथा सच्चाई के लिए वैज्ञानिकों में लोकप्रिय बन गई। इससे न्यूटन अपने तरुण समकालीनों को अतिमानव तथा अनुकरणीय लगने लगा।

गैलीलियो पहला विज्ञानी था जिसकी कृतियां अपनी स्पष्ट, सशक्त तथा विनोदपूर्ण शैली के लिए मशहूर हैं। उसे तो आधुनिक इटैलियन गद्य का जन्मदाता ही कहा जाता है। इसी तरह **पैस्कल** की कृतियां सुंदर गद्य की नमूना हैं। तात्पर्य यह कि अनेक वैज्ञानिक न केवल वैज्ञानिक विचारों के स्वामी थे अपितु भाषाशैली के भी। जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है विज्ञान की भाषा सामान्य से भिन्न और कृत्रिमता लिए रहती है, उसे तो सत्य की अभिव्यक्ति का साधन बनना है अतएव उसमें सूक्ष्मता के साथ स्पष्टता का होना अनिवार्य है। यही कारण है कि विचारों के लिए शब्दों के काठिन्य पर ध्यान नहीं दिया जाता। गंभीरता, भाव प्रवणता—यही तो लक्ष्य हैं। भले ही राजनीतिज्ञ विज्ञान की भाषा को दुरूह कहें लेकिन वैज्ञानिक इसे मानने को तैयार नहीं। किंतु देश के वैज्ञानिक विद्वान हिंदी को विज्ञान की भाषा बनाने में अभी भी हिचकिचाते हैं। वे बहुभाषाविद होते हुए भी हिंदी को अभी वह सम्मान या वरीयता नहीं दे पाए जो भारतीय वैज्ञानिकों से अपेक्षित थी किंतु धीरे-धीरे हिंदी विज्ञान की भाषा बन कर रहेगी। अभी तो केवल पैंतीस-छत्तीस वर्ष हुए हैं शब्दावली का प्रचलन हुए। और विज्ञान प्रेमियों ने पाया है कि अनेक पुराने शब्द अक्षम बन चुके हैं। उनके द्वारा भाव वहन नहीं हो पाता। आज विज्ञान के प्रेम स्वयं उपयुक्त एवं सार्थक शब्दों की खोज करने लगे हैं। कहते हैं कि स्वीकृत पारिभाषिक शब्दावली के छः हजार शब्दों को इसीलिए परिवर्तित करने की आवश्यकता है क्योंकि वे आधुनिक संकल्पनाओं को सही-सही व्यक्त करने में भलीभांति सक्षम नहीं हैं।

स्मरण रहे हिंदी विज्ञान की भाषा बनी तो है किंतु अनुवाद के मार्ग से। **प्राकृतिक या सहज मार्ग तो यह होता कि देश के बड़े-बड़े वैज्ञानिक मूलतः हिंदी में अपनी शोधों को**

व्यक्त करते। चूंकि ऐसा नहीं हो पाया इसीलिए हिंदी को विज्ञान की भाषा के रूप में पल्लवित करने में समय लग रहा है। यद्यपि लोकप्रिय विज्ञान लेखकों ने मार्ग को सुगम बनाने का प्रयास किया है लेकिन वह साहित्य की भाषा के रूप में अधिक है, विज्ञान की भाषा के रूप में कम। रायल सोसायटी ने विज्ञान की भाषा के जो मानदंड प्रस्तुत किए हैं उसमें उपमा-रूपक, उपाख्यान के सन्निवेश के लिए स्थान ही कहां है! हिंदी में पर्यायवाची शब्दों का बाहुल्य है, लोकप्रिय विज्ञान में भले ही एक शब्द के लिए उसी के भार वाला दूसरा शब्द प्रयुक्त कर लिया जाए किंतु **नितांत वैज्ञानिक शोध पत्रों में एक ही पारिभाषिक शब्द का प्रयोग किया जाना चाहिए।** कोई शब्द कठिन है या बोधगम्य, यह तो शब्दावली के निर्माण के समय ध्यान रखना होगा। बाद में कोई परिवर्तन नहीं लाया जा सकता। गणितीय शैली में एक प्रतीक के लिए जो संकल्पना कर ली जाती है वह इसी तरह निरंतर प्रयोग में लाई जाती है या उस संकल्पना के लिए वही प्रतीक प्रयुक्त होता रहता है। इसी प्रकार सारे पारिभाषिक शब्द हैं। **इनका पूरे देश में एक ही रूप में प्रयोग करना तर्कसंगत होगा क्योंकि विज्ञान जिस ज्ञान का सूचक है उसकी सीमाएं नहीं होतीं।** यही कारण है कि अनेक पौधों या वनस्पतियों के नाम, जो संस्कृत में प्राप्त थे, उसी रूप में विश्व भर में प्रचलित हैं। इसी तरह से भविष्य में विज्ञान की भाषा के रूप में हिंदी विश्वव्यापी या सार्वभौम बन सकती है। हां, उसमें अधिकाधिक वैज्ञानिक कृतियां रची जाएं, विविध शैलियों का विकास हो, और अधिकाधिक वैज्ञानिक इस ओर उन्मुख हों।

मध्य युगीन भारत में गणित*

एम.ए. कुरैशी

प्राचीन भारत में अत्यंत प्रतिभाशाली गणितज्ञों की परंपरा रही है। उन गणितज्ञों के बारे में हमें काफी कुछ ज्ञात है। पर जब हम प्राचीन युग से तथाकथित मध्य युग (9वीं शताब्दी से 19वीं शताब्दी के प्रथम चरण तक) में आते हैं तो ऐसा प्रतीत होता है मानों भारत में प्रतिभासंपन्न गणितज्ञ एकदम कम हो गए। कुछ लोगों का ऐसा भी विचार है कि उस समय विज्ञान की अन्य शाखाओं में भी प्रगति काफी धीमी हो गई थी। इसी भ्रांतिवश वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति की दृष्टि से लोग मध्य युग को 'अंधकार युग' भी कहते हैं। पर वास्तविकता ऐसी नहीं है। मध्ययुग में भी गणित और विज्ञान की अन्य शाखाओं में काफी प्रगति हुई थी यद्यपि वह इतनी स्पष्ट नहीं है कि आम आदमी तक उसकी सही जानकारी पहुंच सके।

भारत का मध्य युग ऐसा काल था जब पश्चिम, मध्य और दक्षिण-पूर्व एशिया के विद्वान निरंतर भारत आते रहते थे। वे यहां गणित का अध्ययन करते और विभिन्न ग्रंथों को अपनी भाषा में अनूदित करके उनमें निहित ज्ञान को अपने देश ले जाते थे। उस काल में संस्कृत से अरबी और फारसी भाषाओं में बड़े पैमाने पर अनुवाद हुआ। वैसे कुछ अरबी-फारसी ग्रंथ संस्कृत में भी अनूदित किए गए।

यद्यपि हमें नौवीं शताब्दी से लेकर उन्नीसवीं शताब्दी तक के काल में भारत में गणित की विभिन्न शाखाओं पर रचे गए प्रकाशनों की पूरी जानकारी नहीं है पर मध्य युग की 538 पुस्तकें-टीकाएं, संग्रह, अनुवाद तथा पत्रिकाएं आदि विभिन्न संग्रहालयों में मौजूद हैं (सारणी-1)।

मध्ययुग वह काल था जब देश में मुस्लिम साम्राज्य की जड़ें जम चुकी थी। उस समय शासकों और जन साधारण की भाषाएं अलग-अलग थीं। शासक अपने साथ अपने-अपने देशों की संस्कृति भी लाए थे। उन्हें देश की जनता से घुलने-मिलने में कुछ समय लगा। इसलिए आरंभ में अरबी और फारसी भाषाओं में लिखित तकनीकी ज्ञान,

---

* विज्ञान प्रगति, रामानुजन विशेषांक 1987

सारणी-1 देश के विभिन्न पुस्तकालयों में उपलब्ध गणितीय प्रकाशन*
(नौवीं से उन्नीसवीं शताब्दी तक रचे गए)

भाषा	लेख	संग्रह	टीका	अनुवाद	पत्रिकाएं	अन्य	कुल
फारसी	131	4	21	11	6	13	186
अरबी	157	2	62	3	—	2	226
संस्कृत	59	2	58	4	—	2	126

* साइंस एण्ड टैक्नोलाजी इन मिडिविअल इंडिया से

जो शासक अपने साथ लाए थे, मुख्यतः मुस्लिम परिवारों तक ही सीमित रहा। परंतु बाद में वह आम जनता, जिसमें हिंदुओं का बहुमत था, तक भी पहुंचने लगा और देश में ही उपलब्ध तकनीकी ज्ञान के साथ उसकी अंतःक्रिया होने लगी। इस तरह धीरे-धीरे शासक और शासित, दोनों वर्ग एक दूसरे के ज्ञान से परिचित होने लगे। यद्यपि **अल-बेरूनी,** जिन्होंने हिंदू वैज्ञानिक और तकनीकी ज्ञान को सीखने के लिए ही संस्कृत सीखी थी और **जगन्नाथ,** जिन्होंने अरबी और फारसी में रचित जटिल गणितीय और खगोलशास्त्रीय ग्रंथों का संस्कृत में अनुवाद किया था; जेसे विद्वानों के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं।

दिल्ली के प्रथम मुस्लिम शासक कुतुबुद्दीन ऐबक अरबी और फारसी के ही नहीं विज्ञान की विविध शाखाओं के भी विद्वान थे। उन्होंने ऐसी अनेक मस्जिदों की स्थापना की थी जिनमें धार्मिक ग्रंथों के साथ अन्य विषयों की पुस्तकों का भी अध्ययन किया जाता था। तुगलक वंश के सुलतान विद्वानों का आदर करते थे और स्वयं भी अनेक तकनीकी विषयों के ज्ञाता थे। गयासुद्दीन तुगलक अनेक विद्वानों को वज़ीफा देते थे जबकि मोहम्मद तुगलक स्वयं तर्कशास्त्र, औषधि और गणित के प्रख्यात ज्ञाता थे। फीरोज तुगलक ने फिरोजाबाद में एक भव्य मदरसा (पाठशाला) स्थापित किया था जो उस काल के सब मदरसों से बड़ा था। उसमें गणित का अध्यापन भी किया जाता था। फीरोज के शासन काल में संस्कृत के अनेक वैज्ञानिक ग्रंथों का अनुवाद फारसी में हुआ था।

दक्षिण भारत के बहमनी राज्य के सुलतान फिरोजशाह बहुत विद्वान व्यक्ति थे। वे ज्यामिति और वनस्पति शास्त्र के ज्ञाता थे। अक्सर ही वे अन्य देशों के विद्वानों को अपने दरबार में बुलाते रहते थे। उनसे विचार-विमर्श करते और उनका बहुत सत्कार करते थे।

भारत में मुगल साम्राज्य की स्थापना के बाद गणित और खगोलशास्त्र की प्रगति पर समरकंद के गणितज्ञों का प्रभाव स्पष्ट झलकने लगा। इसका उल्लेख स्वयं बाबर ने अपनी आत्मकथा में किया है। हुमायूं स्वयं खगोलशास्त्र और भूगोल में रुचि रखते थे। यद्यपि अकबर स्वयं पढ़े-लिखे नहीं थे परंतु उनके शासनकाल में विविध वैज्ञानिक विषयों के अध्ययन में जितनी प्रगति हुई उतनी किसी भी अन्य मुगल बादशाह के जमाने में नहीं हुई। इन विषयों में ज्यामिति, खगोलशास्त्र तथा गणित की अन्य शाखाओं का प्रमुख

स्थान था।

यह प्रश्न अक्सर पूछा जाता है कि मध्य युग में गणित की शिक्षा किन विद्वानों ने और कौन से ग्रंथों से करायी? इस प्रश्न के उत्तर में यद्यपि हमें एकदम सटीक जानकारी नहीं है पर हम अरबी में रचित उन गणित ग्रंथों, पाण्डुलिपियों से जो देश के विभिन्न पुस्तकालयों में आज भी उपलबध हैं, अनुमान लगा सकते हैं। इनमें यूक्लिड के एलीमेन्ट्स की टीकाएं, आर्किमीदीज के ज्यामितीय ग्रंथों तथा अनेक अन्य विद्वानों के अंकगणितीय और बीजगणितीय ग्रंथों के अरबी अनुवाद शामिल हैं।

मध्य युग में भारत ने त्रिकोणमिति के क्षेत्र में बहुत योग दिया था। इकाई त्रिज्या वाले वृत की एक चाप द्वारा वृत के केंद्र पर बनाए जाने वाले कोणों के माप ज्ञात किए गए और उन मानों को सारणीबद्ध किया गया। यूनानी गणितज्ञों ने चाप की जीवाओं की एक सारणी तैयार की थी। मध्ययुग में दशमलव प्रणाली पर बहुत कम शोध कार्य हुआ था पर मुस्लिम और बाइजेंटिन गणितज्ञों ने इसका उपयोग अवश्य किया। **दो या अधिक चर (वेरीएबुल) वाले डायफिनटाइन समीकरण, जिनके हल संपूर्ण अंकों में प्राप्त होते हैं, भारत में ही आविष्कृत हुए थे।** इन समीकरणों का उपयोग ग्रहों की परिक्रमा-अवधि ज्ञात करने के लिए किया जाता है।
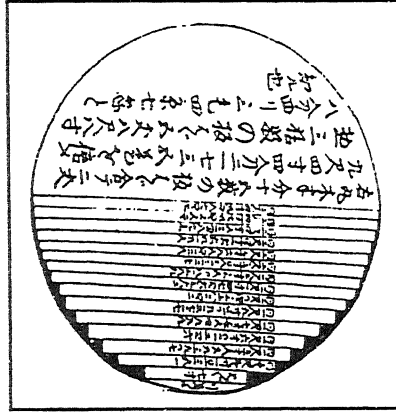
आरम्भिक प्राच्य कैलकुलस

'त्रैराशिक का नियम' प्राचीन भारत में विकसित हुआ था। समझा जाता है यह नाम ब्रह्मगुप्त और भास्कर ने दिया था। यह नियम आज भी प्रयुक्त किया जाता है। इस नियम के तीन भाग थे : 'प्रमाण', 'फल' और 'इच्छा'। इच्छा को फल से गुणा करने और प्रमाण का भाग लेने से 'उत्तर' प्राप्त होता है। इसके स्पष्टीकरण में भास्कर ने अनेक उदाहरण दिए हैं। आज हम इसे अनुपात के नियमानुसार हल करते हैं।

महावीराचार्य

मध्य युग का आरंभ होते ही हम महान गणितज्ञ महावीराचार्य को पाते हैं। वे जैन थे और समझा जाता है कि उनका जन्म दक्षिण भारत के कन्नड़ भाषी क्षेत्र में हुआ था। वे राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष नृपतुंग (814-877) के समकालीन थे। जैन परम्परा के अनुसार उन्होंने शुद्ध गणित का ही अध्ययन किया था जबकि उस समय की, ब्राह्मण परंपरा के अनुसार गणितज्ञ गणित के साथ खगोल शास्त्र का का भी अध्ययन करते थे। इसीलिए

उनके ग्रंथ **गणितसारसंग्रह** में खगोलशास्त्रीय विवरण नहीं है, केवल गणित के प्रश्नों के सरल हल दिए गए हैं। प्रश्नों के सीधे और सरल उत्तर दिए गए हैं। महावीराचार्य के ग्रंथों में चित्रों की बहुलता होती थी। वे ब्राह्मण गणितज्ञों के कार्यों, विशेष रूप से ब्रह्मगुप्त के कार्यों, से भलीभांति परिचित थे। वास्तव में उन्होंने अपने पूर्व-गणितज्ञों द्वारा उठायी गयी समस्याओं का भी अध्ययन किया था और उन्हें हल करने में काफी हद तक वे सफल भी हुए थे। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि वे मौलिक गणितज्ञ थे, मात्र टीकाकार नहीं।

महावीराचार्य के अधिकांश ग्रंथों के केवल कन्नड़ और तेलुगु अनुवाद ही उपलब्ध थे। इसलिए भास्कर-द्वितीय और अन्य उत्तर-भारतीय गणितज्ञ अपने ग्रंथों में उनका उल्लेख नहीं कर पाए थे। इसीलिए इन ग्रंथों का उल्लेख सुधाकर द्विवेद की **गणकातरंगणी** में भी नहीं मिलता।

गणितसारसंग्रह में नौ अध्याय हैं। इनमें जोड़-घटाने को छोड़कर संख्याओं की विभिन्न क्रियायों यथा वर्ग, घन, वर्गमूल, घनमूल, अंकगणितीय और ज्यामितीय श्रेणियों के संकलन (समेशन), भिन्न, त्रैराशिक, विस्तार कलन (मेन्सुरेशन) और बीजगणित, द्विघातीय (क्वाड्रेटिक) और अपरिमित (इनडिटरमिनेट) समीकरणों का विवरण है। जोड़-घटाने की क्रियाओं का विवरण न देने के पीछे कदाचित इन क्रियाओं का सर्वपरिचित होना था।

गणितसारसंग्रह में ऋणात्मक संख्याओं का भी उल्लेख है। भारत में सबसे पहली बार इस ग्रंथ में लघुत्तम गुणांक विधि का विवरण दिया गया है। उसे 'निरुद्ध' नाम दिया गया है। ग्रंथ में शून्य के साथ भी विभिन्न क्रियाएं दी गई हैं परंतु उनके उत्तर त्रुटिपूर्ण हैं।

आर्यभट-द्वितीय

विख्यात ग्रंथ **महासिद्धांत** के रचियता आर्यभट-द्वितीय का मुख्य विषय अपरिमित समीकरण था। वास्तव में यह प्राचीन भारतीय गणितज्ञों का प्रिय विषय था। आर्यभट-द्वितीय ने **महासिद्धांत** के 'कुट्टकाध्याय' नाम के अध्याय में इसका विवरण दिया है। मुख्य रूप से प्रथम स्तर के अपरिमित समीकरणों का वर्णन करते समय उन्होंने उनको हल करने की सरल और छोटी विधि सुझायी है। आर्यभट-प्रथम और ब्रह्मगुप्त के समान ही इन्होंने भी द्विघाती समीकरणों को हल करने के नियम सुझाए हैं।

महासिद्धांत में अनेक अंकगणितीय क्रियाओं, यथा चार मूलभूत क्रियाओं, शून्य के साथ क्रियाओं, वर्गमूल और घनमूल ज्ञात करने की विधियों आदि का विवरण है।

श्रीधर और श्रीपति

भास्कर-द्वितीय ने श्रीधर का उल्लेख महान गणितज्ञ के रूप में किया है। इनके सर्वाधिक ज्ञात ग्रंथ हैं **पाटीगणित** और **त्रिसतिका**। दोनों अंकगणित विषयक ग्रंथ हैं। इनमें से

पाटीगणित विस्तृत ग्रंथ है जबकि त्रिसतिका लघु ग्रंथ। दोनों ही उपलब्ध प्रतियां संपादित हैं और दोनों के अनेक संस्करण उपलब्ध है।

श्रीधर का बीजगणित काफी संक्षिप्त है। वास्तव में उनके बीजगणित के बारे में भास्कर के उल्लेखों से ही जानकारी प्राप्त होती है। त्रिसतिका में अंकगणित के वे क्षेत्र हैं जिनका विवरण ब्रह्मगुप्त, महावीर और भास्कर-द्वितीय के ग्रंथों में दिया गया है। गुणा करने के लिए उन्होंने 'प्रत्यपन्न' शब्द का इस्तेमाल किया और उसके लिए 'कपाटसंधि' विधि सुझायी है। बाद में यह विधि भारतीय, विशेष रूप से हिंदू गणितज्ञों द्वारा अत्यधिक इस्तेमाल की गई। कालांतर में यह विधि अरब पहुंची और वहां से यूरोपीय देशों में पहुंच गई। भास्कर के ग्रंथों से हमें पता चलता है कि **श्रीधर ने द्विघाती समीकरणों को हल करने की एक नई विधि की खोज की** थी।

श्रीपति, श्रीधर के समकालीन थे। उनका प्रसिद्ध ग्रंथ हैं **गणित-तिलक**। तेरहवीं शताब्दी में सिंह तिलक सूरी ने उसकी टीका लिखी थी।

भास्कर-द्वितीय

भास्कर द्वितीय गणित और खगोलविज्ञान में प्राचीन और मध्ययुगीन भारत की प्रगति के चरमोत्कर्स के प्रतीक हैं। मौलिक शोध और नई विधियों की खोज में वे आर्यभट-प्रथम और ब्रह्मगुप्त के समतुल्य हैं। गणित और खगोलशास्त्र के अमूर्त नियमों को अत्यंत सुंदर शैली में प्रस्तुत करने में उनका कोई सानी नहीं है। उनका संपूर्ण गणितीय खगोल शास्त्रीय ग्रंथ **सिद्धांतशिरोमणि**, चार खंडों में विभाजित है। इनमें से प्रथम दो खंड **लीलावती और बीजगणित** क्रमशः अंकगणित और ज्यामिति तथा बीजगणित से संबंधित है। **सिद्धांतशिरोमणि** के संपूर्ण ग्रंथ की तथा उसके विभिन्न खंडों की प्रतियां आज भी बड़ी संख्या में उपलब्ध हैं जिनसे उनकी लोकप्रियता का आभास होता है। कालांतर में इन ग्रंथों पर अनेक गणितज्ञों ने टीकाएं तैयार कीं और उन्हें अनेक भाषाओं में अनूदित किया।
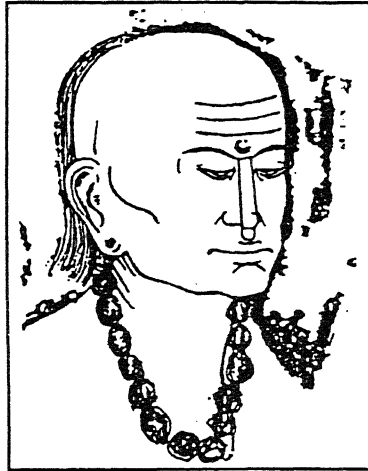
भास्कर-द्वितीय

लीलावती का संबंध अंकगणित और ज्यामिति से है और उसमें निम्न अध्याय हैं :

(1) परिभाषा, (2) संकलित-व्यावकलिता, वर्ग, वर्गमूल, घन, घनमूल, शून्यपरिक्रमा, आदि, (3) व्यस्तविधि, त्रैराशिक, (4) मिश्रक-व्यवहार, (5) श्रेष्ठी-व्यवहार, (6) क्षेत्र-व्यवहार, (7) खाता-व्यवहार (8) क्षिति, (9) क्राकश-व्यवहार, (10) राशी-व्यवहार, (11) छाया-व्यवहार,

(12) कुट्टक, (13) अंकपाश व्यवहार।
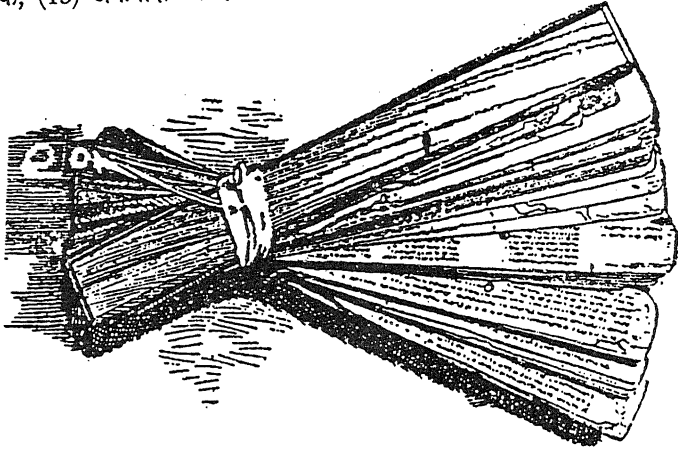
ताड़पत्र पर लिखित 'लीलावती' की पाण्डुलिपि

बीजगणित के अध्याय इस प्रकार हैं : (1) घन-विवरण, (2) शून्य-विवरण, (3) वर्ण-विवरण, (4) करणी-विवरण, (5) कुट्टक-विवरण, (6) वर्ग-विवरण, (7) एकवर्ण-समीकरण, (8) मध्यमाहरण, (9) अनेक वर्ण-समीकरण, (10) अनेक वर्ण मध्यमाहरण और (11) भाविता।
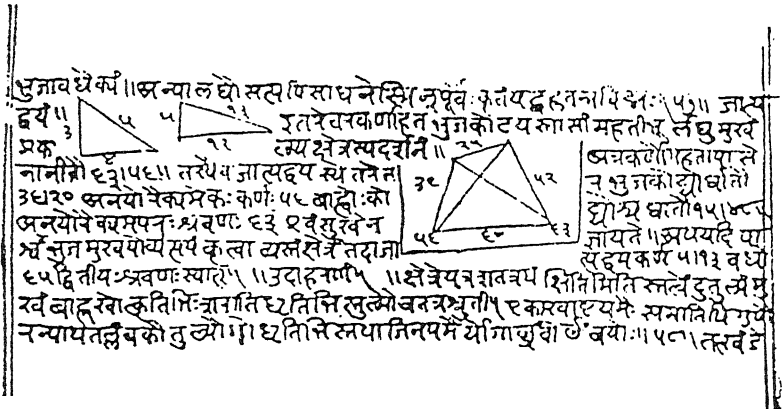
लीलावती : हस्तलिखित प्रति का एक पृष्ठ

भास्कर-द्वितीय के अंकगणित और बीजगणित दोनों में शून्य के साथ अनेक क्रियाएं दी गई हैं। शून्य से संबंधित परिणाम एकदम सही हैं। अपने बीजगणित में उन्होंने अज्ञात राशियों को दर्शाने के लिए अक्षरों का उपयोग किया है और विभिन्न किस्मों के समीकरणों जिनमें प्रथम और द्वितीय चरणों के अपरिमित समीकरण को शामिल है, का विस्तृत विवरण दिया है।

॥ लीलावती ॥ ८९

योगाच्च लम्बावधे तत्पूर्वो निजमार्गवृद्धभुजयो
योगाद्वया व्यासतः। साबाधं वत लम्बकश्च भुजयोः
खण्डाः प्रमाणे च के सर्वं गणितिक प्रचक्ष्व नितरां
चेत्ते ऽत्र दृष्टोऽसि चेत् ॥ १९५ ॥
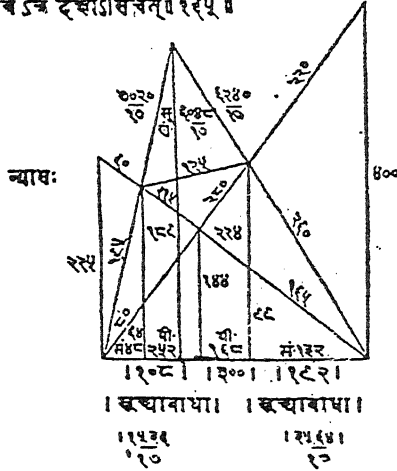
भूमानं। ३००। मुखं। १२५। बाहू। २६०। १९५।
कर्णौ। २८०। ३१५। लम्बौ। १८९। २२४।

"लीलावती" में ज्यामिति का एक प्रमेय

विश्लेषण की उनकी 'तात्कालिक' विधि में आधुनिक कैलकुलस के अंकुर स्पष्ट झलकते हैं। समकोण त्रिभुजों और 384 भुजाओं तक के बहुभुजों की मदद से उन्होंने π (पाई) के दो मान ज्ञात किए थे : 3927/1250 और 754/240=3.141666।

नारायण

नारायण नाम के अनेक विद्वान हुए हैं जिनमें से चार गणित खगोलशास्त्र और ज्योतिष शास्त्र में पारंगत थे। गणितज्ञ के रूप में सर्वाधिक प्रसिद्ध नारायण पंडित, नरसिंह दैवाज्ञ के पुत्र थे। वे फीरोजशाह तुगलक (1351-1388) के शासनकाल में हुए थे। उन्होंने दो ग्रंथों की रचना की थी। उनमें से एक अंकगणित पर है। **गणितकौमदी** और दूसरा बीजगणित पर है बीजगणितावंश। यद्यपि उनके ग्रंथों पर भास्कर-द्वितीय का प्रभाव स्पष्ट झलकता है फिर भी वे अत्यधिक लोकप्रिय थे और अनेक गणितज्ञों यथा ज्ञानराज, सूर्यदास, गणेश आदि, ने उन पर टीकाएं तैयार की हैं।

बीजगणित के क्षेत्र में किए गए नारायण पंडित के कार्य अपेक्षाकृत अधिक

लीलावती के फारसी अनुवाद का एक पृष्ठ

महत्वपूर्ण हैं और उन्हें दो भागों में विभाजित किया जाता है (1) राशियों का नियम, शून्य का अंकगणित, अज्ञात राशियों के साथ क्रियाएं, करणी (सर्ड्स), वर्ग, चक्रीय विधि (साइक्लिक मैथड) और (2) चार किस्मों का विश्लेषण, सरल समीकरण। इन विधियों की विवेचना में नारायण पंडित ने आर्यभट, ब्रह्मगुप्त, श्रीधर और भास्कर का अनुकरण किया है।

अन्य गणितज्ञ

मध्ययुगीन गणितज्ञों को प्राचीन भारतीय गणितज्ञों के अतिरिक्त फारस और अरब के गणितज्ञों के ज्ञान का विस्तृत भंडार भी उपलब्ध था। उस समय तक अनेक हिंदू गणितज्ञों के ग्रंथ भी अरबी और फारसी में अनूदित हो चुके थे और उन पर अनेक टीकाएं तैयार हो चुकी थीं। पर मध्ययुगीन गणितज्ञों के कार्य भी अत्यंत महत्वपूर्ण थे।

सन् 1555 में गोलकुण्डा के गणितज्ञ अबू इसहाक बिन-अब्दुल्ला ने **शरहूश-शमसियाह** की रचना की थी। यह ग्रंथ वास्तव में अल-तुसी के शिष्य हसन अन-निशापुरी के ग्रंथ **अश-शमसियाह** की टीका है। 1587 में अकबर के नवरत्न, अबुल फैजी ने लीलावती का फारसी में अनुवाद कर लिया था। पर भास्कर-द्वितीय के दूसरे ग्रंथ बीजगणित का अनुवाद उसके लगभग आधी शताब्दी बाद हुआ। यह अनुवाद, शाहजहां के काल में, 1634-35 में अताउल्ला रसीदी ने किया था। अताउल्ला रसीदी उत्साद अहमद नादिर, जिन्होंने ताजमहल के निर्माण में बहुत योग दिया था, के सुपुत्र थे।

सन् 1635 में ही मीर मोहम्मद हाशिम बिन-कासिम अल-हुसैनी ने अल-तुसी के ज्यामिति के ग्रंथ **तहरीर-उ-उसूली** पर एक टीका तैयार की थी—**शरह तहरीर-उ-उसूलिल-हन्दसाह वाल-हिसाब।** मेघनी मल ने 1663-64 में भास्कर की लीलावती को आधार मानकर अंकगणित के एक ग्रंथ **बदाउल-कानून** की रचना की। 1684 में इस्मतुल्ला अज-सहारनपुरी ने एक ऐसा ग्रंथ, **दाबित कवाइदुल-हिसाब,** लिखा जिसमें अंकगणित और बीजगणित, दोनों के प्रश्न थे। बहाउद्दीन उल-अमुली के अंकगणित के ग्रंथ **खुलासतुल-हिसाब** पर सत्रहवीं शताब्दी में लुत्फुल्ला मुहानदिस ने, अपने ग्रंथ **शरह खुलासतुल-हिसाब** में, और अठारहवीं शताब्दी में अमीनुद्दीन अल-लाहौरी ने अपनी पुस्तक **लवामिउल-लुबाब फि शरह खुलासतुल-हिसाब** में टिप्पणियां प्रकाशित कीं। अठारहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में मदरसा-ए-आलिया के अध्यक्ष फरीदुद्दीन अहमद खान बहादुर ने ज्यामितीय परकार पर एक ग्रंथ, **दर सनाती परकार माफवाइदुल-अफकर** की रचना की।

टीकाकार

भास्कर-द्वितीय के बाद का काल मुख्यतः टीकाकारों का काल था। पर इस काल में अनेक मौलिक ग्रंथों की रचना भी हुई। पंद्रहवीं शताब्दी के आरंभिक चरण में गुजरात के निवासी गंगाधर ने भास्कर के **लीलावती** और **बीजगणित** पर टीकाएं तैयार की। बाद में कालब्रुक ने इन टीकाओं के आधार पर ही **लीलावती** का अनुवाद किया। गंगाधर के भाई विष्णु पंडित ने श्रीधर ग्रंथ को आधार मानकर, अंकगणित का एक ग्रंथ लिखा **गणितसार।** पर पंद्रहवीं शताब्दी के सबसे बड़े टीकाकार थे केरल के नामपुत्री ब्राह्मण, **परमेश्वर।** परमेश्वर ने गणित के साथ-साथ खगोलशास्त्र के ग्रंथों पर भी टीकाएं तैयार कीं। उनकी प्रसिद्ध टीकाओं में आर्यभट पर **भटदीपका,** भास्कर-प्रथम पर **कर्मदीपका** और **सिद्धांतदीपिका** तथा भास्कर-द्वितीय पर **विवरण** अथवा **लीलावती-व्याख्या** शामिल है।

पंद्रहवीं शताब्दी और उसके बाद के युग में दक्षिण भारत, विशेष रूप से मलयालम-भाषी क्षेत्र, गणित अध्ययन का प्रमुख केंद्र बन गया था। वहां के विद्वानों ने गणित में विशेष रुचि लेनी आरंभ कर दी थी। इसके फलस्वरूप वहां अनेक ग्रंथों की रचना हुई। उनमें प्रमुख हैं **करण पद्धति, गणितायुक्ति भाषा, सदातनमाला** आदि इन ग्रंथों में प्रथम बार

त्रिकोणमितीय चिह्नों-ज्यों, कोज्या, स्पर्शज्या (टैंजेन्ट), आदि की विवेचना की गई है। यद्यपि इन ग्रंथों में दी गई सामग्री से उनके रचना काल का भली भांति अनुमान लगाया जा सकता है परंतु उनके रचनाकारों के बारे में कोई ज्ञान प्राप्त नहीं होता। समझा जाता है कि **करण पद्धति** की रचना शिवपुरा गांव के एक ब्राह्मण ने की थी। **गणितायुक्तिभाषा** किसी गुमनाम लेखक की मलयालम भाषा में अंकगणित और विस्तार कलन पर एक रचना है। उसमें मुख्यतः नीलकंठ के **तंत्रसंग्रह** के गणितीय अंशों को समझाया गया है। ये नीलकंठ दक्षिण भारत के विख्यात गणितज्ञ **नीलकंठ सोसासुत्वन** (1465-1545) थे जिन्होंने आर्यभटीय पर सर्वोत्तम टीका लिखी है। साथ ही उन्होंने **तंत्रसंग्रह** तथा अन्य सुप्रसिद्ध ग्रंथों की भी रचना की है।
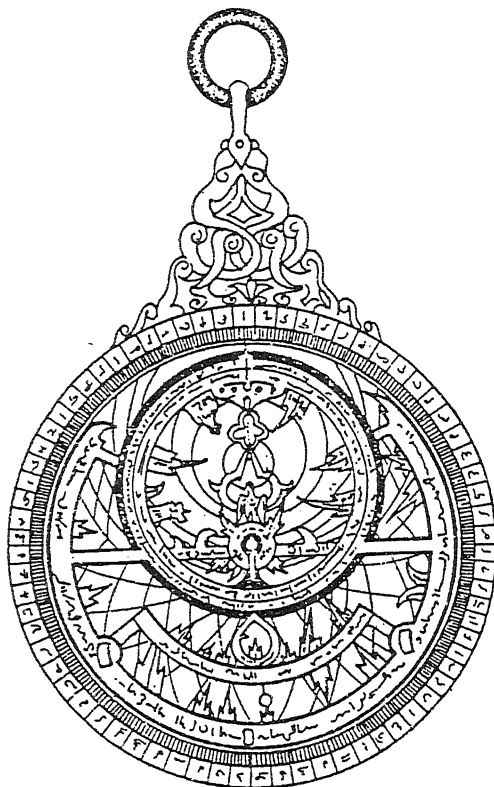
एस्ट्रोलैब

लगभग इसी काल में पश्चिम, मध्य और उत्तर भारत में भी ऐसे अनेक ब्राह्मण परिवार हुए थे। जिनमें गणित के गहन अध्ययन की परम्परा थी। इन परिवारों ने अनेक

मध्य युग में रचित गणित की कुछ प्रसिद्ध पुस्तकें

पुस्तक का नाम	लेखक	प्रकाशन	भाषा	उपलब्धि स्थल
शरह शमसियाह फिल हिसाब	अब्दुल अली बिन मोहम्म्द हुसैन अल-बरजंदी	1695	अरबी	सालरजंग, हैदराबाद
खुलास तुल हिसाब	बहाउद्दीन अल हुसैन	1600	अरबी	बांकीपुर पुस्तकालय, पटना
	अब्दुल समद अल हरीसी अल अमुला			
लतायेफुल हिसाब	अब्दुल लतीफ मुनज्जिम	1820	फारसी	सालरजंग संग्रहालय पुस्तकालय, हैदराबाद
नकादुल हिसाब	अबू अली इरतादा अली खुशनुद	1826	फारसी	सैयादाह पुस्तकालय, हैदराबाद
किताब अल फख फिल वल मुकाबिला	अबू बक्र हसन अल-खारकवी	1060	अरबी	उस्मानिया विश्वविद्यालय पुस्तकालय, हैदाराबाद
जामी बहादुर खानी	गुलाम हुसैन	1833	फारसी	सालरजंग पुस्तकालय, हैदराबाद
अल किताब फि इस्तिखराजी उल औतार पिद दायरा बी ख्वास्सी ई खुतीइल मुनहनीइल वाकेफीहा	अबू रहन अहमद अल-बैरुनी	1027	अरबी	बांकीपुर पुस्तकालय, पटन
हिसाब नामा	आनंद राम	—	फारसी	मौलाना आजाद पुस्तकालय, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़
वाक्यामृत	तुलाराजा	अठाहरवीं शताब्दी	संस्कृत	—

मौलिक ग्रंथों, संग्रहों और टीकाओं की रचना की। पंद्रहवीं शताब्दी के अंतिम चरण में, गोदावरी और विदर्भ, नदियों के संगम पर स्थित पार्थपुरा में, **ज्ञानराज** नाम के गणितज्ञ हुए थे जिन्होंने भास्कर के बीजगणित पर टीका तैयार की। परंतु वे अपने मौलिक ग्रंथ **सिद्धांतसुंदर** के लिए ही अधिक प्रसिद्ध हैं। उनके पुत्र सूर्यदास ने 1541 में **सूर्यप्रकाश** और **गणितामृत कूपिका** नाम से बीजगणित की टीकाएं तैयार की थीं।

गणेश दैवज्ञ अरब सागर के तट से लगभग 40 मील दूर स्थित नंदीग्राम, के निवासी थे। यद्यपि उनका खगोलशास्त्रीय ग्रंथ **गृहलाघव** अत्यधिक लोकप्रिय था परंतु उन्होंने लीलावती पर भी एक अत्यंत सुंदर, सचित्र, टीका, **बुद्धिविलासिनी,** तैयार की थी। उनके पिता केशव, भतीजे नरसिंह और चचेरे भाई लक्ष्मीदास भी प्रसिद्ध गणितज्ञ थे। **सिद्धांतत्वविवेका** (1658) के रचयिता कमलाकर हिंदू खगोलशास्त्र और गणित के ही ज्ञाता नहीं थे वरन् फारसी खगोलशास्त्र और गणित के भी विद्वान थे। उनके ग्रंथों में यूक्लिड के **एलीमेन्ट्स** और ईरानी खगोलशास्त्रीय ग्रंथों से सामग्री ली गई। उनके छोटे भाई रंगनाथ ने भी लीलावती पर एक टीका **मितभाषणी** तैयार की थी।

वल्लाल के पूर्वज खगोलशास्त्र और गणित के विज्ञान थे। उनके मूल निवासस्थान एलिचपुर (मध्य प्रदेश) था। उनके पांच पुत्रों में से कृष्ण दैवाज्ञ और रंगनाथ ने गणित और खगोलशास्त्र में बहुत ख्याति अर्जित की थी। कृष्ण गोलग्राम के दिवाकर के पुत्र विष्णु के शिष्य थे। कालांतर में तरक्की करके वे जहांगीर के मुख्य ज्योतिषाचार्य बन गए थे। उन्होंने भास्कर की **लीलावती** और बीजगणित दोनों पर टीकाएं लिखीं थी। उनके भाई रंगनाथ ने **सूर्य सिद्धांत** पर एक सुंदर टीका **गूढ़ार्थप्रकाश** लिखी थी।

50

बायोस्फीयर रिज़र्व*

सतीश कुमार शर्मा

हमारी पृथ्वी स्पष्ट रूप से तीन प्रकार के पदार्थों से बनी है—ठोस, द्रव तथा गैस। समस्त ठोस पदार्थ जैसे मिट्टी, चट्टानें, खनिज आदि मिलकर **भूमण्डल** (Litho sphere) कहलाते हैं। समस्त जल-स्रोत **जलमण्डल** (Hydrosphere) तथा समस्त गैसें **वायुमण्डल** (Atmosphere) का निर्माण करती हैं। ये तीनों मण्डल मिलकर **जैवमण्डल** (Biosphere) कहलाते हैं, जिसमें समस्त जीव-जंतु एवं पेड़-पौधे पनपते हैं।

पृथ्वी के एक हिस्से में किया गया अप्राकृतिक हस्तक्षेप केवल उसी हिस्से तक सीमित नहीं रहता बल्कि वह अन्य भागों में भी फैल जाता है। हस्तक्षेप के प्रति होने वाली प्राकृतिक प्रतिक्रिया समस्त जीवों एवं निर्जीव मण्डलों को प्रभावित करती है। गंभीर हस्तक्षेपों के प्रति प्रकृति भी गंभीर प्रतिक्रिया व्यक्त करती है जिससे पेड़-पौधे एवं जीव-जन्तु नष्ट तक होने लग जाते हैं। उदाहरण के लिए मैडागास्कर में **डोडो पक्षी** का मनुष्य द्वारा संपूर्ण विनाश किया गया जिसकी प्राकृतिक प्रतिक्रिया के फलस्वरूप वहां **कालबेरिया मेजर** के जंगल स्वतः ही नष्ट हो गए। बाद में पता चला कि डोडो कालबेरिया मेजर के बीज खाया करता था, जो उसके पेट एवं आंतों से गुजरते हुए पाचक रसों से उपचारित हो जाते थे, मल के साथ बाहर आकर वे बीज अंकुरित हो जाते थे, परंतु **डोडो** की समाप्ति के बाद कठोर बीजों का कोई प्राकृतिक उपचार ही शेष नहीं रहा फलतः डोडो के बाद वहां कालवेरिया का एक भी बीज नहीं उगा।

इसी प्रकार पक्षियों के विनाश से चंदन के बीजों के प्रकीर्णन पर बुरा असर पड़ता है। रेगिस्तानी क्षेत्रों में पक्षियों के विनाश से टिड्डियों की संख्या बढ़ने लगती है। सांपों को नष्ट करने से चूहों की संख्या खतरनाक ढंग से बढ़ती है। चूहों की संख्या बढ़ने से खेतों एवं गोदामों में अन्न-स्रोतों की बर्बादी में बढ़ोत्तरी होने लगती है। तीतर, बटेर जंगली मुर्गों आदि के सफाए से दीमकों को फलने-फूलने के अवसर मिल जाते हैं। इसी तरह मांसाहारी प्राणियों को बंदूक का निशाना बनाने पर शाकाहारियों की संख्या बढ़ने लगती हैं। शाकाहारी जीवों के सफाए से मांसाहारी प्राणी भूख से परेशान होकर नर-भक्षी एवं

---

* विज्ञान, जनवरी 1988

पशु-भक्षी होने लगते हैं।

जंगलों की सफाई से वर्षा पर विपरीत प्रभाव पड़ने लगता है। सूक्ष्म जलवायु में भारी परिवर्तन आने लगते हैं। वन विहीनता से मिट्टी बन्धनरहित हो जाती है जिससे वह हवा तथा पानी से कट-कट कर दूसरे स्थानों पर पहुंचने लगती है। कटाव से आई मिट्टी बांधों में जमा होकर उन्हें उथला बनाती है, नदी की गहराई भी तलछट से कम होने लगती है जिससे उसकी चौड़ाई में बढ़ोत्तरी होने लगती है। इस सबसे बाढें आने लगती हैं जिनसे जन-धन की अपार हानि तो होती ही है, हमारे वन, चारागाह, वन्यवाणी, जल-स्रोत, मिट्टी आदि महत्वपूर्ण संपदाएं भी बर्बाद हो जाती हैं।

बढ़ते औद्योगीकरण, बढ़ती जनसंख्या, प्रदूषण आदि से प्राकृतिक जंगलों को भारी नुकसान हुआ है। मानवीय हस्तक्षेपों से वन्य प्राणियों के प्राकृतिक आवासों में काफी कमी आई है। 'सूक्ष्म जलवायुओं' में तेज़ी से परिवर्तन हो रहा है। कुल मिला कर हमारा पर्यावरण असंतुलित होता जा रहा है।

मानव-जनित हस्तक्षेप से वन एवं वन्यप्राणियों का भारी विनाश हुआ है। कुछ जातियां तो हमेशा-हमेशा के लिए ही समाप्ति के गर्भ में समा चुकी हैं। कई प्रजातियों के पौधे तथा प्राणी संख्या में मात्र मुट्ठी भर ही रहे हैं। यही नहीं अनेक ऐसे जटिल पारिस्थितिकीय संबंध एवं व्यवस्थाएं भी छिन्न-भिन्न हुई हैं जिनके बारे में कोई कुछ नहीं जानता।

ऐसी परिस्थितियों में वन एवं वन्यप्राणी संपदा को बचाने तथा जटिल पारिस्थितिकीय व्यवस्थाओं को बरकरार रखने के लिए देश में जगह-जगह अभयारण्य तथा राष्ट्रीय उद्यानों की स्थापना की गई। इस तरफ हमारे देश में कितना कार्य हुआ यह इसी तथ्य से जाना जा सकता है कि वर्तमान में देश में अभयारण्यों एवं राष्ट्रीय उद्यानों की संख्या 300 से ऊपर जा चुकी है।

अभयारण्यों एवं राष्ट्रीय उद्यानों में किसी भी वन्य प्राणी को मारना या मारने की कोशिश करना एवं उसके आवास (वन) को क्षति पहुंचाना अपराध घोषित किया गया है, साथ ही यह भी प्रावधान रखा गया है कि वन्यप्राणियों की भलाई के लिए उनके आवासों में किसी सीमा तक सुधार कार्य भी किए जाने चाहिए।

अभयारण्य एवं राष्ट्रीय उद्यानों की संकल्पना भी अब पुरानी पड़ने लगी है। आवास सुधार के नाम पर हमें कुछ न कुछ तो करना ही पड़ता है। यह 'कुछ' भी क्या प्रकृति की व्यवस्थाओं के खिलाफ़ नहीं है? वन्य प्राणियों को पीने का पानी सुलभ कराने के लिए खोदा गया तालाब उन प्राणियों के लिए तो वरदान है जो इसमें पानी पीते हैं, परंतु इसकी खुदाई पर कितने ही जीवाणु, कीड़े-मकोड़े, केंचुए, छोटे-छोटे पौधे जो इस मिट्टी में रह रहे थे, नष्ट हो जाते हैं। ये छोटे-छोटे प्राणी मनुष्य के लिए तुच्छ हो सकते हैं परंतु प्रकृति की दृष्टि में वे भी इतने ही महत्वपूर्ण हैं जितने अन्य प्राणी।

इन्हीं सूक्ष्मताओं को ध्यान में रखकर यूनेस्को ने एम.ए.बी. (Man And Biosphere)

कार्यक्रम चलाया। इसी कार्यक्रम के तहत् बायोस्फीयर रिज़र्व बनाए जा रहे हैं। कोई भी क्षेत्र, जिसे बायोस्फीयर रिज़र्व घोषित कर दिया गया हो, वहां पर समस्त मानवीय हस्तक्षेप निषिद्ध होते हैं। बायोस्फीयर रिज़र्व में एक नन्हें जीवाणु को भी जीने का उतना ही अधिकार है (चाहे वह जीवाणु हानिकारक ही क्यों न हो) जितना एक बाघ या हाथी को है।

बायोस्फीयर रिज़र्व में प्रकृति के किसी भाग को जहां है, जैसा है, जितना है उसे उसी रूप में ज्यों का त्यों परिरक्षित किया जाता है। बायोस्फीयर रिज़र्व में न केवल वनस्पतियां एवं जीव-जन्तुओं को सुरक्षित किया जाता है, बल्कि मिट्टी, चट्टानें, प्राकृतिक जलस्रोत आदि सभी प्राकृतिक चीजों को भी ज्यों का त्यों सुरक्षित रखा जाता है। बायोस्फीयर रिज़र्व की गतिविधियां पूर्णरूपेण प्रकृति पर छोड़ दी जाती हैं एवं सुधार या प्राणियों के सुख के लिए कोई भी सकारात्क मानवीय प्रयास तक भी निषिद्ध होता है। दूसरे शब्दों में कहा जा सकता है कि बास्फीयर रिज़र्व में संरक्षण चरम बिंदु पर पहुंच जाता है।

नैसर्गिक वनों में प्रकृति अपने अधिकतम एवं उच्चतम् रूप में मुखरित होती है। प्राकृतिक वनों में वनस्पतियों एवं प्राणियों की सर्वाधिक किस्में पाई जाती हैं न कि मानव-निर्मित वनों में। यही कारण है बायोस्फीयर रिजर्व प्राकृतिक वनों में ही बनाए जाते हैं क्योंकि इन वनों में न्यूनतम् स्थान में अधिकतम् वनस्पतियों एवं प्राणी प्रजातियों को संरक्षित एवं प्राकृतिक रूप में संग्रहीत किया जा सकता है। यही नहीं, इन स्थानों पर जटिल पारिस्थितिकीय संबंधों को भी संरक्षित किया जा सकता है।

हमारे देश की 'राष्ट्रीय एम.ए.बी. कमेटी' ने देश के विभिन्न भागों में बायोस्फीयर रिज़र्व बनाने की सिफारिश की है। हिमालय क्षेत्र, नीलगिरी की पहाड़ियां, पश्चिमी घाट, राजस्थान का रेगिस्तान आदि कुछ चुने हुए प्रारूपिक आवासों में बायोस्फीयर रिज़र्व बना कर वहां की प्रतिनिधि वनस्पति एवं प्राणी समुदायों (Flora and Fauna) को ज्यों का त्यों संरक्षित एवं सुरक्षित करने का प्रावधान है। इससे इन क्षेत्रों का समस्त आनुवंशिक पुंज (Gene Pool) भविष्य के लिए सुरक्षित हो जाएगा एवं आने वाले दिनों में ये क्षेत्र हमारे लिए 'जीन बैंक' का कार्य करेंगे।

देश में कुछ बायोस्फीयर रिज़र्व बन भी चुके हैं। मध्य प्रदेश के बस्तर जिले में जगदलपुर के पास 'कांगेर घाटी राष्ट्रीय उद्यान' में कुछ क्षेत्र को बायोस्फीयर रिवर्ज बनाया जा चुका है। यहां कोटमसर की विशाल प्राकृतिक गुफाएं एवं सघन वन देखने लायक हैं। कुछ स्थानों पर तो बायोस्फीयर रिजर्व बनाने इसलिए भी जरूरी हैं क्योंकि आने वाले सालों में इन क्षेत्रों की जलवायु व आवासीय परिस्थितियों में आमूल परिवर्तन होने की आशंका है। जैसे राजस्थान का रेगिस्तान क्षेत्र। इस क्षेत्र में मरुगंगा 'इंदिरा गांधी नहर' की वजह से रेगिस्तान उपजाऊ क्षेत्र में बदलता जा रहा है। यदि समस्त रेगिस्तानी क्षेत्र अपना मूल स्वरूप खो बैठा तो वहां की प्रतिनिधि वनस्पतियां एवं प्राणी स्वतः ही

वहां से पलायन कर जाएंगे। अतः इस क्षेत्र में 'डेज़र्ट नेशनल पार्क, जैसलमेर' को ज्यों का त्यों सुरक्षित करना जरूरी है।

आइए आने वाली पीढ़ियों के स्थायी अस्तित्व के लिए प्रकृति एवं प्राकृतिक संसाधनों को प्रदूषणमुक्त एवं संरक्षित रखने का संकल्प लें। यदि हमने इसे गंभीरता से नहीं लिया तो आने वाली पीढ़ियां हमें कभी माफ नहीं करेंगी।

खाइए कूड़ा-करकट, पहनिए कूड़ा-करकट*

राज किशोर

जी हां! चौंकिए नहीं। कूड़ा-करकट खाने और पहनने की यह कल्पना लाल बुझक्कड़ की नहीं वरन् वैज्ञानिकों की है और शायद वैज्ञानिकों के लिए असंभव या नामुमकिन कुछ भी नहीं है। विश्व के अनेक वैज्ञानिकों की अविश्वसनीय सी लगने वाली घोषणा कि, आने वाली सदियों में मनुष्य गर्व से कूड़ा-करकट खाएगा और कूड़ा-करकट पहनेगा, के आधार पर पासा बिल्कुल पलटने वाला है!

ऐसा इसलिए नहीं कि कि तब मनुष्य महंगाई के कारण अन्य भोज्य पदार्थ नहीं खरीद पाएगा बल्कि इसलिए कि तब विभिन्न प्रकार के कूड़ा-करकट एवं व्यर्थ खाद्य पदार्थों में बचे हुए फल-फूल एवं घास-पात आदि से भी विभिन्न स्वादिष्ट पोषक पेय एवं भोज्य पदार्थ तथा सुंदर से सुंदर कपड़े एवं आकर्षक पोशाकें बनने लगेंगी इस संदर्भ में मैन्चेस्टर विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने पुराने रद्दी अखबार, किताबों और पत्र-पत्रिकाओं से भी पोषक आहार बनाने का एक नायाब तरीका खोज कर बेकार कागज की उपयोगिता में चार चांद लगा दिए हैं। इस प्रकार कूड़े-करकट के सदुपयोग की इन नवीनतम खोजों से जहां भविष्य की खाद्य समस्या हल होगी वहीं नित नए-नए भोजन और नई-नई पोशाकों के शौकीनों का भी भला होगा। इसी के साथ कूड़े-करकट, रद्दी कागज आदि से उत्पन्न होने वाली प्रदूषण-समस्या का भी निदान स्वतः हो जाएगा।

मैन्चेस्टर विश्वविद्यालय के वैज्ञानिकों ने पुराने रद्दी कागज से कीमती सेल्यूलोज निकालकर उसे पोषक आहार में परिवर्तित करने की पेशकश की है। रद्दी कागज से सेल्यूलोज निकाल कर पोषक आहार में बदलने का यह कार्य 'तकनीकी आंतों' द्वारा किया जाएगा। इस प्रकार रद्दी कागज से विखण्डित सेल्यूलोज मनुष्य के लिए पोषक आहार बन जाएगा, जो मनुष्य के स्वास्थ्य के लिए पोषक एवं उपयोगी होगा। लेकिन तब एक अन्य समस्या उत्पन्न हो जाएगी। क्योंकि तब प्रत्येक मनुष्य अपने रद्दी कागजों को बेचने के बदले उनसे अपने परिवार के लिए पोषक आहार तैयार करवाना अधिक पसंद करेगा और पुरानी किताबों, पत्रिकाओं तथा समाचार-पत्रों आदि से मोह करने वाले तथा

---

* विज्ञान प्रगति, अगस्त 1988

थोक के भाव लिखने वाले लेखकों और कवियों के लिए कागज की समस्या उत्पन्न हो जाएगी।

कैसे बनेंगे भोज्य और पेय पदार्थ?

कागजी रद्दी तथा अपशिष्ट खाद्य पदार्थ के विभिन्न स्रोतों से प्राप्त कूड़े को पोषक एवं स्वादिष्ट आहार तथा अन्य दैनिक उपभोग की वस्तुओं में बदलने के लिए संपूर्ण विश्व में द्रुत गति से शोध कार्य चल रहे हैं। फिलहाल कागजी रद्दी को पोषक पेय एवं आहार में बदलने के लिए जो विधि अपनाई गई है उसका संक्षिप्त वर्णन इस प्रकार है :

रद्दी कागज के बारीक टुकड़े बनाकर उच्च ताप पर पानी में उबाल कर उसकी लुगदी बनाई जाएगी। इस लुगदी में कृत्रिम रासायनिक क्रिया (एसिड हाइड्रोलिसिस क्रिया) द्वारा खमीर उठाया जाएगा फिर इस लुगदी से कागजी कचरे को बिलगा कर एक गाढ़ा मिश्रण प्राप्त किया जाएगा जिसे पुनः रासायनिक क्रिया द्वारा निचोड़ कर अलग कर लिया जाएगा। इस क्रिया से प्राप्त इस गाढ़े निचोड़ को वैज्ञानिकों द्वारा 'पेपर शुगर' का नाम दिया गया है। आने वाली सदियों में इसी पेपर शुगर से विभिन्न प्रकार के स्वादिष्ट एवं पोषक व्यंजन जैसे पेपर ब्रेड, पेपर बिस्कुट, पेपर चक्स, पेपर पनीर, पेपर जैली आदि बनाए जा सकेंगे और ये सभी व्यंजन उस समय के हर स्टार और नान स्टार होटलों के विशिष्ट व्यंजन होंगे तथा मीनू कार्डों में इन्हें 'विशिष्ट व्यंजन' का स्थान दिया जाएगा।

यही नहीं पेपर शुगर और कूड़े-करकट से अच्छी किस्म की शराब भी बनाई जा सकेगी, और तब सुरा प्रेमियों के लिए 'पेपर रम', 'पेपर ह्विस्की', 'पेपर ब्रांडी' और 'कूड़ा-करकट रम' एवं 'कूड़ा-करकट ह्विस्की' आदि सुलभता से उपलब्ध रहेंगी बशर्ते कि तत्कालीन सरकार इसके उत्पादन पर प्रतिबन्ध न लगा दें। शीतल पेय के शौकीनों के लिए भी 'थम्स अप' और 'कैम्पा कोला' आदि की जगह विभिन्न स्वाद एवं सुगंध वाले 'पेपर कोल्ड ड्रिक्स' और 'कूड़ा-करकट कोल्ड ड्रिक्स' हर रेस्तरां की शोभा बढ़ाएंगे। लेकिन आश्चर्य की बात नहीं है कि जब आप इनसे अपनी प्यास बुझाने के लिए रेस्तरां में जाएं तो आपको यह सुनने को मिले कि इस समय "आउट आफ मार्केट" हैं।

वैसे तो "आम के आम गुठलियों के दाम" वाली कहावत हमारे पुरखे बहुत पहले ही कह गए थे लेकिन अभी भी हम उन्हें मूर्ख मानकर आम खाकर उसकी गुठलियां कूड़े में फेंक देते हैं। लेकिन पुरखों का 'गुठलियों के दाम' वाला सपना निकट भविष्य में सच होने वाला है और इस सपने को सच में बदलने का श्रेय 'केंद्रीय खाद्य प्रौद्योगिक अनुसंधानशाला, मैसूर' के वैज्ञानिकों को है। जिन्होंने अपने अथक प्रयासों से ऐसी विधि विकसित कर ली है जिस की सहायता से अब आम की गुठली से स्वादिष्ट एवं पौष्टिक रोटियां बनाई जा सकेंगी तथा गुठलियों से तेल भी निकाला जा सकेगा। साथ ही आम के छिलकों में मौजूद पेक्टिन को बिलगाकर उसका उपयोग जेली, जैम तथा सूप आदि बनाने में किया जा सकेगा।

अभी हम संतरे, मौसमी, माल्टा तथा नींबू आदि फलों के छिलके व्यर्थ समझकर फेंक देते हैं। लेकिन अब शीघ्र ही इनसे नए-नए मधुर पेय तथा चाकलेट और च्यूंगम जैसे स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ बनाए जा सकेंगे। डीमापोल के वैज्ञानिक डॉ. जी.ई.डुबोइस और उनके सहयोगियों द्वारा इनके छिलकों पर किए गए शोध कार्यों से यह ज्ञात हुआ है कि इन छिलकों में मौजूद 'फ्लेवोनॉयड' नामक यौगिक से मनभावन मधुर पेय एवं विभिन्न खाद्य पदार्थ बनाए जा सकते हैं।

इसी शृंखला में नाटिंघम विश्वविद्यालय, इंग्लैंड के कृषि महाविद्यालय के एक विद्यार्थी ग्राहम स्विंगटर ने एक ऐसी तकनीक का विकास किया है जिसके द्वारा बूचड़खानों से व्यर्थ समझकर फेंक दिए जाने वाले रक्त तथा अन्य पदार्थों का उपयोग करके एक ऐसी प्रोटीन बनायी जा सकेगी जो संघटन, गंध, स्वाद और पोषण में सोयाबीन प्रोटीन के समतुल्य होगी।

श्रेष्ठ प्रोटीन उत्पादक कूड़ा

फ्रांस के राष्ट्रीय कृषि अनुसंधान संस्थान का दावा है कि उसने एक ऐसी आण्विक जैविक विधि का विकास किया है जिसकी सहायता से फल संरक्षण उद्योगों से प्राप्त विभिन्न फलों के व्यर्थ उत्पाद, उद्यान केंद्रों से प्राप्त आलू का रस, खेतों से प्राप्त विभिन्न फलों के डण्ठल, चीनी मिलों से प्राप्त शीरा आदि से प्रोटीन से भरपूर 'पदार्थ' प्राप्त किए जा सकेंगे। इन पदार्थों से प्राप्त प्रोटीन श्रेष्ठता में दुग्ध प्रोटीन के समतुल्य होगा।

इन शोध कार्यों में वैज्ञानिकों ने गृहणियों का भी पूरा ध्यान रखा है। गृहणियां अब भविष्य में खाना आदि पकाने के लिए सरसों के तेल तथा अन्य माध्यमों के स्थान पर कपास एवं तंबाकू के बीज तथा धान की भूसी से प्राप्त तेलों का उपयोग सरलता से कर सकेंगी। काजू के व्यर्थ समझे जाने वाले फलों में विटामिन सी, शर्करा, कैल्शियम, फास्फोरस और लौह तत्व प्रचुर मात्रा में पाए जाते हैं। इसी गुणवत्ता के कारण भविष्य में उनको संसाधित करके उससे 'जूस' प्राप्त किया जाएगा। जिसे मनभावन भोज्य पदार्थों तथा सब्जी, चटनी, चटपटे अचार एवं कैंडी आदि बनाने के लिए सुलभता से प्रयोग किया जा सकेगा।

भविष्य का पहनावा

जहां तक कपड़े-लत्ते का प्रश्न है तो इसके लिए भी आप बिल्कुल न घबराएं। वैज्ञानिकों ने इस समस्या का भी समाधान कर दिया है। भारतीय कृषि अनुसंधान परिषद्, नई दिल्ली की पटसन औद्योगिक शालाओं ने कूड़े-करकट से कपड़े-साड़ियां वगैरह बनाने की तकनीक का विकास कर लिया है।

"अन्ननास रेशा अनुसंधान केंद्र", कर्नाटक ने व्यर्थ समझकर फेंक दिए जाने वाले अन्ननास की पत्तियों से उत्तम किस्म के सफेद रंग के रेशे प्राप्त करने की विधि का

विकास कर लिया है। अन्ननास की पत्तियों से प्राप्त रेशों से आकर्षक कपड़े तथा अन्य उपयोगी सामान बनाया जा सकेगा।

इस प्रकार भविष्य में हम जो कपड़े पहनेंगे वे सभी पटसन के बाल, केले के तने, अन्ननास के पत्ते तथा खेती किसानी के बचे-खुचे कचरों से निर्मित होंगे। फिलहाल तो ये सभी पदार्थ व्यर्थ समझकर फेंक दिए जाते हैं। लेकिन विश्वास कीजिए एक बार जब इनसे कपड़े-लत्ते बनने लगेंगे तो हर कपड़े की दुकान पर ये ही छाए रहेंगे।

कैसी होगी कूड़े-करकट की दुनिया

कूड़े-करकट और रद्दी कागज से निर्मित खाद्य एवं अखाद्य वस्तुओं की अच्छाइयों-बुराइयों पर सेमिनार एवं गोष्ठियां आयोजित होंगी। कूड़े-करकट और रद्दी कागज के अधिकाधिक उपयोग और मानव शरीर पर उनके प्रभावों के अध्ययन हेतु देश-विदेश में शोध कार्य होंगे और हो सकता है तब एक बाल की खाल निकालने वाला कोई वैज्ञानिक यह भी घोषित कर दे कि फलां किस्म के कूड़ा-करकट से बने पदार्थों के उपयोग से 'फलां बीमारी' हो सकती है। अतः किचन टेक्नोलॉजी में अच्छे किस्म के कूड़े-करकट का महत्व बढ़ जाएगा। हो सकता है इन सभी बातों को देखते हुए उस समय की 'सरकार' को एक अलग 'कूड़ा-करकट मंत्रालय' भी बनाना पड़ेगा। खाद्य विशेषज्ञों को कूड़े-करकट और रद्दी कागज आदि की सुरक्षा के लिए भी—''कूड़ा-करकट और रद्दी कागज बचाओ अभियान'' के अंतर्गत नारे लगवाने पड़ेंगे, ''कूड़ा-करकट हमारा आहार है, इसकी सुरक्षा कीजिए'', ''सावधान रद्दी कागज जलाना अपराध है'', ''कूड़े-करकट को अपनाएं, एक नया संचार बनाएं'' या ''कूड़ा-करकट बचाइए, देश को आगे बढ़ाइए।

52

कैंसर और कैंसरकारी पदार्थ*

डॉ. राजीव रंजन उपाध्याय

कैंसर अथवा अर्बुद कोई नवीन व्याधि नहीं है। इसका संबंध मानव के साथ पुराकाल से ही रहा है तथा इस संबंध में प्राचीन मिस्र के सम्राटों और उनके संबंधियों के शवों (ममी) का अध्ययन करने से यह ज्ञात होता है कि कुछ की मृत्यु 'ब्रेन ट्यूमर' के हो जाने के कारण हुई थी।

कैंसर शब्द ग्रीक भाषा का है और इसका अर्थ केकड़ा होता है। कैंसर के, केकड़े की भांति धीरे-धीरे शरीर में बढ़ने अथवा गतिमान होने के कारण ही इस व्याधि का नाम कैंसर पड़ा है। यह तथ्य इस बात से और भी स्पष्ट हो जाता है, जब प्राचीन ग्रीक (यूनानी) चिकित्साचार्यों के प्रचलित नुस्खे "इस रोग में केकड़े का सूप प्रभावशाली उपचार है' की चर्चा की ओर ध्यान जाता है। इसी भांति की अवधारणा ईरान में भी प्रचलित थी और यह निश्चित रूप से यूनानियों के संपर्क में, ईरानियों के आने के कारण हुई होगी। पर इन सभी वर्णनों में कैंसर का कोई वैज्ञानिक वर्णन अथवा विवरण प्राप्त नहीं होता।

भारत की प्राचीन शल्य-चिकित्सा-पद्धति के आचार्य सुश्रुत की संहिता के अध्ययन से यह स्पष्ट हो जाता है कि कैंसर के वैज्ञानिक अध्ययन का श्रेय महर्षि सुश्रुत को दिया जाना चाहिए। प्रस्तुत हैं उनके कुछ श्लोक—

"गात्र प्रदेशे क्व त्रिदेव दोषः, सम्मूर्च्छिता मांसमभि प्रदूष्य। वृत्तं स्थिर मंदरुजं महान्तमनल्प मूलं चिर वृद्धय पाकम।। कुर्वन्त मांसोपचयं तु शोकं, तदर्बुद' शास्त्रविदो वदन्ति। वातेन पित्तेन कफेन चापि, रक्तेन मांसेन च मेदसा च।।"

(सु.सं.नि. 13, 14)

"शरीर के किसी भी प्रदेश में बढ़े हुए वातादि दोष मांस को दूषित करके गोल, स्थिर, अल्पपीड़ायुक्त, बड़ा गम्भीर धातुओं में फैला हुआ, धीरे-धीरे बनने वाला, कभी न पकने वाला, और मांस के उपचय (वृद्धि) से युक्त ऐसे शोक को पैदा करते हैं। आयुर्वेद-शास्त्र के ज्ञाता विद्वान इस रोग को अर्बुद कहते हैं।"

---

* विज्ञान, जून-जुलाई 1990

इसी प्रकार उन्होंने रक्तार्बुद (रक्त-कैंसर), अध्य-अर्बुद (मेटास्टेसिस), द्विर अर्बुद (मेटास्टेसिस के परिणाम स्वरूप शरीर में उसी प्रकार के ट्यूमर का उत्पन्न होना) तथा नासिका के कैंसर की भी चर्चा की है।

आज यह मान्य तथ्य है कि कैंसर अथवा 'नियोप्लाज़्मा' शरीर के किसी भाग में उत्पन्न हुए प्रारंभिक अवस्था के ट्यूमर की अनियंत्रित वृद्धि का परिणाम है। कोशिकाएं अपनी वृद्धि का नियंत्रण खो बैठती हैं और इस जैव रासायनिक प्रक्रिया के फलस्वरूप ट्यूमर लगातार बढ़ता जाता है। कैंसर की प्रारंभिक अवस्था में कोई बाह्य लक्षण दृष्टिगोचर नहीं होते और न कोई पीड़ा ही होती है। इसी कारण प्रारंभिक अवस्था में इसका परीक्षण कठिन होता है।

कैंसर की वृद्धि हमारी सामाजिक व्यवस्था और पर्यावरण से जुड़ी है। जब खाद्य पदार्थों में परोक्ष अथवा प्रत्यक्ष रूप से अनेक रंग आदि मिलाए जाते हैं तथा कारखानों द्वारा वातावरण को प्रदूषित किया जा रहा है, तब कैंसर ऐसे रोग की वृद्धि का होना सहज है। यदि संक्षेप में, और दूसरे शब्दों में कहा जाए तो कैंसर की वृद्धि आधुनिकता की वृद्धि से संयुक्त है।

कैंसर-वैज्ञानिकों की शब्दावली के अनुसार वे पदार्थ जो स्वतः कैंसर को शरीर में उत्पन्न करने में सक्षम हैं, उन्हें **'स्वतः कैंसरकारी' (सालेटरी कारसिनोजेन)** तथा जो स्वतः इस कार्य को संपादित करने में सक्षम नहीं है पर एक **'स्वतः कैंसरकारी'** रसायन की अति सूक्ष्म मात्रा में उपस्थित होने पर कैंसर उत्पन्न करते हैं, उन्हें **सह-कैंसरकारी (को-कारसिनोजन)** कहा जाता है।

दोनों प्रकार के कैंसरकारी तत्व 'मानव निर्मित' और 'प्रकृति-निर्मित' हो सकते हैं। पर मानव के शरीर में उत्पन्न होने वाले अंतःस्रावी हारमोन्स और अन्य रसायन भी कैंसर उत्पन्न करते हैं।

मानव शरीर में कैंसर अधिकांशतः बाह्य ''मानव निर्मित'' तथा 'प्रकृति-निर्मित'' कैंसरकारी पदार्थों के प्रभाव से होता है। इस संदर्भ में फेफड़े का कैंसर और 'धूम्रपान', चाहे वह सिगरेट, बीड़ी, सिगार, चुरुट या अन्य किसी भांति से हो, का घनिष्ट संबंध है। यहां तक कि सिगरेट आदि पीने वालों के अलग-बगल बैठे लोग भी इसके कुप्रभाव से मुक्त नहीं रह सकते। गर्भिणी माताएं यदि सिगरेट बीड़ी आदि पीती हैं तो इसका दुष्प्रभाव उनके गर्भस्थ शिशुओं पर भी पड़ता है, यह वैज्ञानिक परीक्षणों द्वारा सिद्ध हो चुका है। आज यह सर्वमान्य तथ्य है कि 80% फेफड़े का कैंसर 'धुम्रपान' के दुष्प्रभाव का परिणाम है।

द्वितीय विश्वयुद्ध में जापान के दो नगरों—हिरोशिमा एवं नागासाकी पर गिराए गए अणुबमों द्वारा उत्पन्न विकिरण (रेडिएेशन) का परिणाम है कि आज भी जापानियों में अन्य प्रकार के कैंसरों की अपेक्षा पेट का कैंसर सर्वाधिक पाया जाता है। इस प्रकार के कैंसर की अधिकता बाह्य पदार्थों (विकिरण) द्वारा शरीर में कैंसर उत्पन्न करने का एक

अन्य उदाहरण है।

दक्षिण एशिया के देश जिनमें, थाईलैण्ड, इन्डोनेशिया और फिलीपीन्स प्रमुख हैं, में मुख्य रूप से चावल मुख्य आहार है। इस चावल में वर्षा काल में एक विशेष प्रकार की फफूंदी, जो **एस्परजिलस** परिवार की है, आक्रमण करती है तथा कैंसरकारी रसायन 'ऐफ्लाटाक्सिनो' को उत्पन्न करती है। ये 'ऐफ्लाटाक्सिन' अनेक स्वरूपों तथा किसमों की होती हैं और उन देशों के वासियों के यकृत को प्रभावित कर इसी अंग का कैंसर उत्पन्न करती हैं। भारत के मुख्य रूप से चावल का आहार करने वाले क्षेत्र भी इस फफूंदी, के प्रभाव से मुक्त नहीं हैं। यह फफूंदी, मात्र चावल ही नहीं वरन्, काजू, मूंगफली तथा बादाम को भी प्रभावित करती है। अनेक देशों में इस फफूंदी के दुष्प्रभावों का (मानव एवं पशुओं पर) विस्तृत अध्ययन हुआ है। कैंसरकारी पदार्थों का वर्गीकरण निम्न प्रकार से किया जा सकता है। प्रथम श्रेणी में वे **भौतिक कैंसरकारी तत्व** है, जो मानव के अंगों में इस रोग की उत्पत्ति करते हैं। इसी वर्ग में पराकासीन किरणें, तत्व आते हैं। इन तत्वों के कारखानों में कार्यरत मजदूर अधिकांशतः कैंसर के ग्रास होते हैं।

नाक का कैंसर भी व्यवसायजन्य होता है—इसके कारण है बुरादा। इसके नाक में जाकर वहां की त्वचा पर उत्पन्न प्रभाव के कारण ही नाक का कैंसर होता है।

इसी प्रकार 'मोनाजाइट' सैण्ड तथा 'एस्बेसटॉस' के उत्पादन में लगे कार्मिकों को रक्त का कैंसर एवं फेफड़े का कैंसर होने की संभावना अधिक रहती है।

द्वितीय श्रेणी में आने वाले **रासायनिक-कैंसरकारी** पदार्थों की यदि गणना की जाए तो इनकी संख्या निश्चित रूप से 300 से कहीं अधिक होगी। ये कैंसरकारी पदार्थ कारखानों, प्रयोगशालाओं में तो निर्मित होते ही हैं, प्रकृति में भी इनका निर्माण होता है। सर्वप्रथम यहां पर कारखानों, फैक्ट्रियों में निर्मित होने वाले **स्वतः कैंसरकारी पदार्थों** की चर्चा की जाएगी। इस वर्ग में अनेक प्रकार के नाइट्रेट्स, सल्फेट्स सलफर-मस्टर्ड, सलफोनेट्स, अनेक प्रकार की ऐलीफैटिक/ एरोमेटिक अमीनूस, एमाइड्स, ऐजो-डाइज, पाली एरोमैटिने हाइड्रो कार्बनूस, नाइट्रो- कम्पाउण्ड्स, हैलोजिनेटेड पदार्थ, यूरिया, थायोयूरिया, अनेकानेक प्रकार के स्वीटनर्स (सैकरीन), साइक्लामेट्स, पेनिसिलीन, इन्सेक्टीसाइड्स, हर्बीसाइड्स तथा दवाएं जैसे क्षय-रोग के उपचार में आने वाली 'आइसोनिया जिड'' आदि आती हैं।

कारखानों में उत्पन्न होने वाले **सह-कैंसरकारी पदार्थों** में डिटर्जेन्ट्स, ट्रवीन-60 एन्थ्रालीन, कुछ विशेष प्रकार की वैक्स तथा फेनॉल और उनके अनेक यौगिक आते हैं। यहीं पर कारबोलिक सोपों के अत्यधिक प्रयोग और इनके कैंसरकारी गुणों का ध्यान जब आता है तो एक प्रश्न सहज ही उठता है कि इस प्रकार के साबुनों को प्रयोग में लाने का क्या औचित्य है? प्रकृति में व्याप्त अनेक वनस्पतियों से स्वतः कैंसरकारी एल्केलायड्स तो प्राप्त हुए ही हैं, यह सूची बिना एफ्लाटाक्सिनूस की चर्चा के अधूरी रहती। इन्हीं एफ्लाटाक्सिन्स के घातक प्रभाव के कारण मुर्गियों में प्रसिद्ध 'टर्की डिजीज' हुई थी।

'सह-कैंसरकारी' पदार्थों का सर्वप्रथम प्रभाव 'क्रोटॉन ऑयल' में पाया गया है। धीरे-धीरे जब यह स्पष्ट हो गया कि क्रोटॉन ऑयल जो कि भारत और अफ्रीका में उत्पन्न होने वाले **क्रोटॉन टिगलियस यूफोरबिया** परिवार में 'फोरबोल' नामक डाइटरपीन के अनेक फैटी एसिड डिरेवेटिवों के कारण है, तो **यूफोरबिया** परिवार का विस्तृत अध्ययन आरंभ हुआ। परिणाम था कि फोरबोल-टेटरा डेकानोइल एसीटेट, तथा इसके अन्य प्रतिरूप, इनोनॉल, रेजेनीफेरॉल आदि अनेक को-कारसिनोजेन इस समूह के पौधों से रासायनिक एवं जैव-विधि द्वारा प्राप्त किए गए। ये सभी डाइटरपीनूस **'इनीशियेशन-पमोशन'** विधि में चूहों की त्वचा पर ट्यूमर उत्पन्न करते हैं।

ईरान में इस लेखक के छात्रों द्वारा यह प्रथम बार दर्शाया गया था कि शहद की मक्खियां जब इन **यूफोरबिया** के फूलों का रस शहद बनाने के लिए लेती हैं, तो परागों में उपस्थित सह-कैंसरकारी रसायन इस मधु में परोक्ष में आ जाते हैं। यह शहद जब सामान्य रूप से मीठी नहीं रह जाती वरन् खाने के बाद मुख में जलन पैदा करती है, जो पानी पीने पर बढ़ती जाती है। इस प्रकार इस मधु का अधिक उपयोग करने वाले पहाड़ों पर वास करने वाले ईरानियों में गले के कैंसर की संभावना बढ़ जाती है।

भारत में अभी इस दिशा में बहुत कुछ करना बाकी है। अपने देश में **यूफोरबिया** के पौधों का आयुर्वेदिक चिकित्सा पद्धति में बहुविधि उपयोग वर्णित है तथा ग्रामीण जन इसके पौधों के सफेद दूध को घाव पर, मछली पकड़ने तथा खून रोकने के लिए प्रयोग करते हैं। इतना ही नहीं, शहरों में इस परिवार के पौधे बगीचों में सजावटी पौधों के रूप में उगाए जाते हैं। कैंसर की बढ़ती समस्या को ध्यान में रखकर इस परिवार के पौधों का किसी भी प्रकार उपयोग उचित नहीं है।

विषाणुओं (वाइरसों) के द्वारा उत्पन्न **'बरकिट लिम्फोमा'** तथा स्त्री जननांगो में कैंसर उत्पन्न करना कैंसर और वाइरसों के संबंध को दर्शाते हैं। इस प्रकार संक्षेप में बाह्य कैंसरकारी पदार्थ मानवों में विभिन्न प्रकार के कैंसर उत्पन्न करने में सक्षम हैं। अतः आवश्यक है कि इन पदार्थों की मात्रा में (वातावरण में) नियंत्रण तथा इन्हें बनाने की इकाइयों पर भी नियंत्रण रखा जाए। अन्यथा यदि ये पदार्थ विकास की गति के साथ वातावरण में बढ़ते गए तो कैंसर की वृद्धि भी उसी अनुपात में होती रहेगी और तब मानव स्वतः ''भस्मासुर'' की भांति हो जाएगा।

चिंतनपरक

ब्रह्मांड-विषयक सात विचार

डॉ. शिवगोपाल मिश्र

सभी विज्ञानों में भौतिकी को सर्वाधिक विकसित माना जाता है। इस विज्ञान में भौतिक ब्रह्मांड के विषय में जिज्ञासाएं की जाती हैं, जैसे–ब्रह्मांड किस तरह विकसित हुआ? भविष्य में इसका क्या होगा? पदार्थ की बुनियादी इकाइयां क्या हैं? प्रकृति की मूल शक्तियां क्या हैं? आदि-आदि।

विगत 2,500-3,000 वर्षों में ब्रह्मांड के विषय में मुख्यतः सात विचार प्रस्तुत हुए हैं, जिन्हें भौतिकी के विकास के साथ मानदण्ड भी कहा जा सकता है। इन विचारों की विशेषता यह है कि एक तो ये तिथिक्रम में हैं और दूसरे, जिन पदार्थों के विषय में हैं वे उत्तरोत्तर छोटे आकार वाले पदार्थ हैं। उदाहारणार्थ, विराट नक्षत्रों तथा तारों से लेकर परमाणुक, उपपरमाणुक तथा उपनाभिकीय कणों की खोज। आश्चर्य तो यह है कि पदार्थों के लघुतर और लघुतम होने के साथ-साथ, जो शक्ति पहले गुरुत्वाकर्षण जैसी अत्यंत क्षीण शक्ति थी, वह प्रबल से प्रबलतर होती हुई क्वार्कों को बंधित रखने वाली प्रबलतम शक्ति के रूप में अनुभव की जाने लगी है। आज भौतिकी के क्षेत्र में जो वैचारिक क्रांति परिलक्षित होती है, वह पदार्थ तथा शक्ति के मूलभूत पक्ष से हटकर नितांत अमूर्त बन चुकी है।

यह विदित तथ्य है कि राजनीति से संबंधित वैचारिक क्रांतियां आम चर्चा का विषय बन जाती हैं, किंतु विज्ञान के क्षेत्र में जब क्रांतियां होती हैं तो उनसे जनसामान्य भले ही आंदोलित न होता हो परंतु उनका दूरगामी परिणाम होता है, जिससे बौद्धिक विश्व दहलता है। मगर ऐसी क्रांतियां रातोंरात नहीं होतीं, न कभी हुई हैं। इनके होने में शताब्दियां नहीं तो कई शताब्दियां अवश्य लग जाती हैं। इन क्रांतियों से ब्रह्मांड के विषय में नवीन संकल्पनाएं प्राप्त हुई हैं, जिनसे सोचने की शैली प्रभावित हुई है और ब्रह्मांड को समझने की नई दृष्टि मिली है।

ऐसे किसी भी नियम को जो भौतिक नियमों की अवज्ञा अथवा विरोध करता हो,

---

* विज्ञान, सितम्बर 1991

विज्ञान में स्वीकृति नहीं मिल पाती। किसी भी विज्ञान के लिए यह आवश्यक है कि वह वर्णन किए जाने वाले पदार्थों का संकलन और वर्गीकरण करे तथा विभिन्न कारणों को समझाने की कोई संकल्पना प्रस्तुत करे। इस समझने-समझाने की भौतिकी में सर्वाधिक महत्व प्रदान किया जाता रहा है। भौतिकी की प्रगति-यात्रा में जितने नए मोड़ आए हैं, उतनी ही नई विचार-सरणियां भी मिलेंगी। लेकिन उनकी पहचान करना कोई सरल कार्य नहीं है। **नैथन स्पीलबर्ग** तथा **ब्रायन डी ऐन्डरसन** ने अपनी पुस्तक **''सेवेन आइडियाज दैट शुक द वर्ल्ड''** में पर्याप्त विचारमन्थन के बाद जिन सात विचारों को विज्ञान में युगांतर प्रस्तुत करने वाला माना है, वे सचमुच रोचक हैं। आगे उन्हीं की चर्चा होगी।

भौतिकी में मुख्यतः पदार्थ तथा गति के विषय में विचार होता है। वैसे तो चरम सीमा में पदार्थ को निरंतर गतिशील माना जाता है, किंतु यदि गति को शून्य मान लिया जाए तो पदार्थ 'शून्य बिंदु गति' या 'शून्य बिंदु ऊर्जा' की स्थिति में होगा। भौतिकी में कभी भी बुद्धि को पदार्थ तथा गति से ऊपर नहीं माना गया है। दार्शनिकों तथा भौतिकीविदों में यही अंतर है।

भौतिकी को समझने के लिए गणित का ज्ञान परमावश्यक है। किंतु कुछ विज्ञान-लेखकों ने न्यूनतम गणित ज्ञान के आधार पर विचारों को समझाने का प्रयास किया है। जिस तरह संगीत केवल गायकों और वादकों तक ही सीमित नहीं रहता, उसी तरह विज्ञान केवल गणितज्ञों तक ही परिसीमित नहीं हो सकता। कहते हैं कि **माइकेल फैराडे** ने अपने सीमित गणित-ज्ञान के बल पर भौतिकी तथा रसायन-विज्ञान में प्रभूत योगदान किया। लेकिन इसके लिए गहन अध्ययन के साथ ही मननशीलता भी आवश्यक है।

कुछ लोग विज्ञान की तुलना जादू से करते हैं। कुछ हद तक विज्ञान तथा जादू में आश्चर्यजनक समानताएं हैं भी। किंतु विज्ञान का ज्ञान तथा व्यवहार सबके लिए सुलभ है, जबकि जादू कुछ ही व्यक्तियों तक सीमित होता है। फिर भी दोनों के पीछे एक-सी जिज्ञासाएं कार्य करती हैं। रसायन विज्ञान का तो जन्म ही जादू-कीमियागरी से हुआ। आज भी कुछ जादूगरनियां पुतला बनाकर मारण-उच्चाटन आदि प्रयोग करती हैं और सम्प्रति विज्ञान और प्रौद्योगिकी में मॉडलों का प्रयोग धड़ल्ले से हो रहा है। इसी तरह विज्ञान और धर्म में भी समानताएं हैं। किंतु विज्ञान अपने नियमों में संशोधन स्वीकार करता है, जबकि धर्म अपने नियमों को अटल मानता है। इसीलिए धर्म को विज्ञानसम्मत बनाने में सफलता नहीं मिल पा रही है।

यदि कोई यह कहे कि विज्ञान चमत्कार है, तो यह गलत है। विज्ञान किसी दैवी प्रेरणा का प्रतिफल नहीं है। उसकी परीक्षा की जा सकती है। उसकी अपनी विधि है, जो 'वैज्ञानिक विधि' के नाम से जानी जाती है। विज्ञान केवल उन्हीं तथ्यों को स्वीकार करता है, जिनकी परीक्षा की जा सकती है, फलतः विज्ञान कभी भी मानवीय आचरण, नैतिकता या इच्छा का मार्गदर्शन नहीं कर सकता। यही नहीं, विज्ञान इस सवाल का भी कोई

निश्चित उत्तर नहीं दे सकता कि इस ब्रह्मांड का अस्तित्व क्यों है।

विज्ञान का व्यवहृत रूप प्रौद्योगिकी है। मनुष्य की सुख-सुविधा के सारे साधन प्रौद्योगिकी में आते हैं। टेलिविजन, दवाएं, जहाज, वस्त्र—ये सब प्रौद्योगिकी के घटक हैं, किंतु ये विज्ञान के घटक नहीं हैं। विज्ञान के घटक हैं—न्यूटन के गति-नियम, प्रकाशवैद्युत् नियम, अर्धचालक भौतिकी आदि। संक्षेप में, विज्ञान जानकारी है और प्रौद्योगिकी जानकारी का व्यवहार। इन दोनों का मेल लाभप्रद होता है। इसीलिए सभ्य समाजों में वैज्ञानिक शोधों पर प्रचुर धन व्यय किया जाता है।

विज्ञान का अध्ययन इसलिए आवश्यक है कि वह प्रकृति के रहस्योद्घाटन में सहायक है और उसमें वह शक्ति निहित है जो मनुष्य को विनाश से बचाकर उसका कल्याण कर सकती है। इसीलिए विगत 3,000 वर्षों में वैज्ञानिकों ने जितने भी नए विचार प्रस्तुत किए हैं, उनमें से सात को चुनकर यहां उनका परिचय दिया जा रहा है।

1. पृथ्वी ब्रह्मांड का केंद्र नहीं है (कोपर्निकस का ज्योतिष)

अरस्तू से लेकर कोलम्बस के समय तक यह विश्वास प्रचलित था कि हमारी पृथ्वी ब्रह्मांड के केंद्र में स्थित है। किंतु जो पहली वैज्ञानिक क्रांति हुई, वह थी यह नया विचार कि पृथ्वी सूर्य के चारों ओर चक्कर लगाने वाले ग्रहों में से एह लघु ग्रह मात्र है। यही नहीं, अब तो हमें यह भी ज्ञात है कि स्वयं सूर्य आकाश गंगा—जैसे विशाल तारा समूह के केंद्र से विलग एक साधारण तारा है। इस वैचारिक क्रांति का श्रेय कोपर्निकस को है। उसने प्राचीन ज्योतिष को पलटकर गति-विषयक विचारों को मान्यता दिलायी।

2. ब्रह्मांड निश्चित नियमों के अनुसार संचालित एक यंत्र है (न्यूटन की भौतिकी)

विश्व के समस्त पदार्थ भौतिकी के नियमों के अधीन हैं। न्यूटन ने गति के नियम तथा विश्वव्यापी गुरुत्वाकर्षण का अध्ययन किया, जिससे कोपर्निकस के ज्योतिष में निहित विचारों को ठोस आधारभूमि प्राप्त हो सकी। न्यूटन ने गति के विषय में जो तीन नियम प्रस्तुत किए, उनमें से दूसरा है कार्य-कारण नियम। यह नियतिवाद तथा स्वेच्छा इन दो विरोधी विचार-धाराओं को भी निर्धारित करता है।

3. इस विश्व यंत्र को चलाने वाला तत्व ऊर्जा है (ऊर्जा की संकल्पना)

यद्यपि यांत्रिकी (मैकेनिक्स) की संकल्पना न्यूटन ने दी, किंतु वह ब्रह्मांड को पूरी तरह समझाने में असमर्थ थी। प्रश्न था कि इस अद्भुत यंत्र को कौन चालू रखता है? पुराने लोग बुद्धि को या आदि गतिदाता (प्राइम मूवर) को इसका श्रेय देते थे। किंतु आधुनिक विचार के अनुसार, विश्वयंत्र का संचालन ऊर्जा द्वारा होता है। ऊर्जा कई रूपों में प्रकट होती हैं और ये विभिन्न रूप एक-दूसरे में परिवर्तित हो सकते हैं। ऊर्जा की तुलना धन से की जा सकती है। धन का अर्थ है—विनियम यानी मनुष्यों के बीच आदान-प्रदान। जिस प्रकार प्राप्य धन की एक सीमा होती है, उसी तरह प्राप्त ऊर्जा की भी सीमा है। (ऊर्जा-संरक्षण)

4. यह विश्वयंत्र विशिष्ट दिशा में चलता है (एन्ट्रॉपी तथा संभावना)

यद्यपि ऊर्जा एक रूप से दूसरे रूप में परिवर्तित हो सकती है, किंतु इस परिवर्तन की भी कुछ सीमाएं हैं। परिवर्तनशीलता की सीमाएं पासे की तरह 'संयोग' पर निर्भर है। इससे ऐसा लगता है कि नियतिवाद का विरोधी चक्र भी हो सकता है। ऊष्मा को भी ऊर्जा का अवनत रूप मानना होगा।

5. तथ्य सापेक्ष हैं, किंतु नियम अखंड हैं (सापेक्षवाद)

यह विचार कोपर्निकस के ज्योतिष में भी था, किंतु सर्वप्रथम आइन्स्टाइन ने इस पर ध्यान दिया। वह इस पर विचार कर रहा था कि कौन-सी वस्तुएं सभी प्रकार से सार्वदेशिक हैं। अंततः उसने अचर (परम) वस्तुओं से (यथा प्रकाशवेग) से प्रारम्भ करके यह दिखा दिया कि दिक् तथा काल भी सापेक्ष हैं। उसने दिक् तथा काल का पुनरावलोकन किया। उसने सिद्ध कर दिया कि दार्शनिक तथा आधिभौतिक विचारों को ताक पर नहीं रखा जा सकता।

6. न तो भविष्यवाणी संभव है, न हर वस्तु जानी जा सकती है (क्वांटम सिद्धांत)

परमाणु की सूक्ष्म संरचना को जानने के प्रयास से इस विचारधारा को बल मिला है। बीसवीं सदी के प्रारम्भ में वैज्ञानिक यह जानते थे कि परमाणुओं की रचना इलेक्ट्रॉनों तथा नाभिकों से हुई है। जब इलेक्ट्रॉनों की गति जानने के प्रयास हुए तो कोई स्पष्ट चित्र नहीं बन पाया, फिर भी सही-सही चित्रण तो प्राप्त ही है। अतः परमाणुओं तथा नाभिकों को नई विधि से वर्णित करना पड़ा। तंत्रों (सिस्टम्स) का अस्तित्व कुछ "क्वांटम अवस्थाओं" में संभव था। मापे गए परिमाण 'प्रायिकताओं' के रूप में व्यक्त हुए। इस अस्पष्ट चित्र से भी रसायन, ट्रांजिस्टर, लेसर, राडार, एन्टीबायोटिक आदि को समझा जा सकता है।

7. मूलतः वस्तुएं कभी बदलती नहीं (सिद्धांतों तथा समितियों का संरक्षण)

प्रचलित विश्वास तो यही है कि सभी वस्तुएं बदलती हैं, किंतु इसकी विरोधी विचारधारा भी विद्यमान हैं। पर उसका पूरा-पूरा उपयोग समझ में नहीं आ रहा। इसमें से कुछ परिणामों को तो स्थिर, अपरिवर्तित माना जाता है। तो भी भौतिकीविद् निरंतर इसकी खोज में है कि पदार्थ की वह संरचना क्या है, जिसमें इतनी मात्रा में शक्ति लगी है (यथा, क्वार्क) जिनसे प्रोटॉन तथा न्यूट्रॉन बने हैं। प्रश्न यह है कि क्या पदार्थ तथा ऊर्जा को दिक्-काल की सीमा से पृथक किया जा सकेगा? भले ही हमें इसका अंतिम उत्तर न मिल पाए किंतु भौतिकीविद् निरंतर शोधकार्य कर रहे हैं।

हीरा : एक विलक्षण पदार्थ*

प्रो. अजित राम वर्मा

हजारों वर्षों से मानव हीरे को एक बहुमूल्य रत्न मानता आ रहा है। बिना तराशा हुआ हीरा देखने में एक चमकदार पत्थर जैसा लगता है, इसीलिए इसे एक बहु-मूल्य पत्थर माना जाता रहा है। ऐतिहासिक तथ्यों से ऐसा लगता है कि हीरे का सर्वप्रथम स्रोत भारत ही है। प्राचीन ग्रंथों से पता चलता है कि ईसा से लगभग 400 वर्ष पूर्व भी भारत में हीरे का व्यापार होता था और यहां के जौहरी हीरे को काटने और तराशने की तकनीक जानते थे। कहा जाता है कि सन् 1728 ई. में ब्राज़ील से कुछ ऐसे पत्थर लिस्बन (पुर्तगाल की राजधानी) लाए गए थे जो वास्तव में बिना कटे या तराशे हीरे थे। कालान्तर में सन् 1870 में दक्षिण अफ्रीका में हीरे की खानें पाई गईं।

भारत में पाए गए कुछ हीरों को ऐतिहासिक ख्याति प्राप्त है। इनमें से कोहनूर हीरा तो जगविख्यात है। यह संभवतः इतिहास का सबसे पुराना और प्रसिद्ध हीरा है। हीरे का मूल्य उसके भार से आंका जाता है। एक चौथाई ग्राम या 250 मिलीग्राम भार को एक कैरेट कहते हैं। हीरे का प्राचीन मात्रक रत्ती है। कोहनूर का भार 108.8 कैरेट था। यह गोलकुण्डा की एक गुफा में पाया गया था। इसके बारे में अनेक कथाएं प्रचलित हैं। मुगल साम्राज्य के पतन के बाद सन् 1849 ई. में यह अंग्रेजों के हाथ लगा और कहते हैं कि इसे महारानी विक्टोरिया के मुकुट में जड़ दिया गया था। जो भी सच हो, फिलहाल यह अब भी लंदन में है। एक दूसरा हीरा सन् 1642 में, भारत का भ्रमण करने वाले एक अंग्रेज़, जीन बैप्टिस्ट टैवर्नियर को मिला था जो नीले रंग का था। वास्तव में उसने इस हीरे को भारत में कहीं खरीदा था। उसी के नाम पर इस हीरे को ब्लू टैवर्नियर नाम से जाना जाता है। बाद में यह फ्रांस के लुई XIV को बेच दिया गया। सन् 1792 में यह चुरा लिया गया।

इसी प्रकार सन् 1830 में टैवर्नियर की अपेक्षा कुछ छोटा हीरा, जो भारत से ही ले जाया गया था, लंदन में बिका, जिसे एक बैंकर हेनरी होप ने खरीदा। उसी के नाम पर यह हीरा होप के नाम से प्रसिद्ध हुआ। सन् 1717 में विलियम पिट एल्डर के दादा

* बी.एच.यू. पत्रिका, कौस्तुभ जयंती अंक 1991

थामस पिट भारत में मद्रास में गवर्नर होकर आए। उन्होंने एक बड़ा सा हीरा खरीदा। तराश कर इसे फ्रांस के रीजेंन्ट को 13,500 पौंड में बेचा गया। इसे रीजेंन्ट हीरा कहा गया।

हीरे की विदेशों में बड़ी मांग है। सन् 1979 में रिचार्ड बर्टन द्वारा एलिजाबेथ टेलर को दस लाख डालर का हीरा भेंट किया गया था। विश्व में हीरे के जो आभूषण बिकते हैं उनमें से लगभग आधे अमेरिका में बिकते हैं।

हीरा एक अद्वितीय पदार्थ है। इतने अधिक चमत्कारी गुणों वाला कोई अन्य पदार्थ प्रकृति में नहीं पाया जाता है। प्राचीन काल से ही इस रत्न ने राजाओं और रईसों को बेहद आकर्षित किया। हीरे की अंगूठियां पुरुषत्व जगाने के लिए, शत्रुओं पर विजय प्राप्त करने के लिए, भूत-प्रेत भगाने के लिए तथा बीमारियों से बचने के लिए पहनी जाती रही हैं। और तो और, लोगों का विश्वास था कि हीरा चाट लेने से मृत्यु हो जाती है।

जो भी हो, हीरे ने न केवल राजा-महाराजाओं को वरन् विश्व के महान वैज्ञानिकों को भी आकर्षित किया और हीरे के विषय में अनेक रहस्यों की जानकारी इन वैज्ञानिकों ने भी प्राप्त की। हीरे के गुणों की जानकारी प्राप्त करने वाले महान वैज्ञानिकों में न्यूटन, लैवाइज़ियर, डेवी, ब्रैग, पारसन, ब्रिजमैन, नर्नस्ट, साइमन, आइन्सटीन और प्रो. चन्द्रशेखर वैकटरामन के नाम विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वैज्ञानिक खोजों से हीरे के अनेक रोचक एवं अद्भुत गुणों की जानकारी प्राप्त हुई है।

हीरे के कुछ महत्त्वपूर्ण गुण उल्लेखनीय हैं :

1. हीरा प्रकृति में पाया जाने वाला कठोरतम पदार्थ है। कठोरता की माप म्हो (Mho) से की जाती है, हीरे की कठोरता 10 म्हो होती है। तात्पर्य यह है कि इस पर रगड़ का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है।

2. हीरे पर 30°C तक किसी भी रसायन (अम्ल, क्षार आदि) का कोई प्रभाव नहीं पड़ता है; यहां तक कि हाइड्रोफ्लोरिक अम्ल का भी नहीं। इसीलिए इससे संक्षारक खिड़कियां बनाई जाती हैं।

3. हीरे का अपवर्तनांक लगभग 2.5 होता है। अतः इसकी चमक निराली होती है, यह कभी नष्ट नहीं होती है; हीरा सर्वोत्तम मणि है।

4. दृश्य प्रकाश के लिए तो हीरा पारदर्शी होता ही है, यह पराबैंगनी और अवरक्त प्रकाश के लिए भी पारदर्शी होता है।

5. हीरा एक अधातु पदार्थ है, अतः यह एक उत्तम विद्युतरोधी है, किंतु इसकी ऊष्मा-चालकता धातुओं से भी अधिक, चांदी और तांबे से लगभग पांच गुनी है। एक ही पदार्थ में दो परस्पर विरोधी गुणों का मिलना आश्चर्यजनक बात है। सामान्यतः जो पदार्थ उत्तम ऊष्मा-चालक होते हैं वे उत्तम विद्युत-चालक भी होते हैं, परंतु हीरे में ऐसी बात नहीं है। हीरे की यह विशेषता इस बात की ओर संकेत करती है कि यह ट्रांजिस्टर बनाने

के लिए बहुत उत्तम पदार्थ सिद्ध हो सकता है।

6. हीरा वास्तव में एक अत्यंत सरल तत्व कार्बन (C) का क्रिस्टलीय रूप है परंतु इसकी यांत्रिक शक्ति बहुत अधिक है। इसका घनत्व 3.5 ग्राम प्रति घनसेंटीमीटर है। कमरे के ताप पर हीरा मितस्थायी है और करोड़ों वर्षों से स्थायी रूप में बना हुआ है।

7. हीरा ऊष्मा का सुचालक है किंतु इसका तापीय प्रसार (α) बहुत कम है। लगभग इनवार के बराबर, अर्थात् α लगभग 8×10^{-27} (20°C पर) है। हीरा कोयले से बना है : भूगर्भ में लगभग 200 करोड़ वर्षों पहले लगभग 200 किलोमीटर की गइराई में कोयले का हीरे के रूप में रूपांतरण हुआ है। इस प्रकार हीरे में धरती के इतिहास की 200 करोड़ वर्ष पुरानी चिट्ठी अंकित है : इससे अनेक रहस्यों की जानकारी प्राप्त होती है।

हीरे की सरल संरचना :

नोबुल पुरस्कार विजेता आचार्य **चंद्रशेखर बैंकटरामन** ने अपने एक संस्मरण में लिखा है कि : "हीरा एक बहुत ही दिलचस्प और महत्वपूर्ण पदार्थ है। अपनी बनावट या संरचना तथा संयोजन की सरलता तथा स्पेक्ट्रास्कोपिक अध्ययन-विधियों की विविधता के कारण क्रिस्टल भौतिकी को समझने में हीरे का महत्व बहुत अधिक है।"

सन् 1772 में **ऐण्टोनी लारेन्ट लैवाइज़ियर** ने हीरे को एक बेलजार में रख कर एक लेन्स से उस पर सूर्य के प्रकाश को केंद्रित किया, इससे हीरे का दहन हुआ और अंततः कार्बन डाई आक्साइड गैस बनी जैसी कि साधारण कोयला जलाने पर निकलती है। इससे सिद्ध हुआ कि हीरा वास्तव में एक सरल तत्व कार्बन ही है। आदर्श हीरा शत-प्रतिशत कार्बन होता है। जवाहरात के रूप में हीरे में लगभग 99.5% कार्बन तथा 0.5% अन्य अपद्रव्य (आक्सीजन, नाइट्रोजन, हाइड्रोजन आदि) होते हैं।

उन्नीसवीं सदी में वैज्ञानिकों ने पता लगाया कि हीरे के विपरीत एक दम काले रूप में कोयले का एक और प्रतिरूप होता है जिसे ग्रैफाइट कहते हैं। हीरा और ग्रैफाइट दोनों ही शुद्ध कार्बन हैं, किंतु दोनों के भौतिक गुणों में बहुत अधिक भिन्नता पाई जाती है। हीरा एक चमकीला रत्न है और ग्रैफाइट एक सस्ता काला पदार्थ : एक राजा, एक रंक। यह भिन्नता दोनों रूपों के भीतर की परमाणुओं की सजावट के कारण पाई जाती है। आगे चल कर वैज्ञानिकों ने इसका पता लगाया।

बीसवीं सदी के आरंभ में हीरे पर अनेक शोध कार्य हुए। सन् 1912 में म्यूनिख विश्वविद्यालय में **मैक्स वान लावे, वाल्टर फ्रेडरिच** और **पाल क्नीपिंग** ने पदार्थों द्वारा X-रे विवर्तन की खोज की। इसके शीघ्र बाद ही दो ब्रिटिश वैज्ञानिकों, पिता पुत्र—डब्लू.एच. ब्रैग और डब्लू.एल.ब्रैग, ने X-रे विवर्तन द्वारा हीरे के क्रिस्टलों का अध्ययन किया। इसके आधार पर हीरे के लिए एक परमाणु मॉडल तैयार किया गया।

इस मॉडल के अनुसार हीरे में प्रत्येक कार्बन परमाणु एक-दूसरे से चतुष्फलकीय (Tetrahedral) आबंध द्वारा जुड़ा होता है। अतएव एक चतुष्फलक के चारों कोनों पर

एक-एक कार्बन परमाणु रहता है तथा उसके केंद्र पर भी एक कार्बन रहता है। आज भी यही मॉडल हीरे की संरचना का आधार माना जाता है।
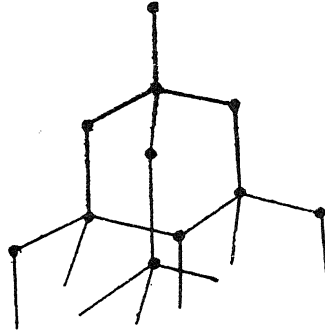
चित्र-1

ग्रेफाइट परमाणु का मॉडल :

सन् 1924 में जे.डी. बरनाल ने ग्रेफाइट के लिए एक परमाणु मॉडल प्रस्तुत किया। ग्रेफाइट में कार्बन के परमाणु द्वि-विमितीय (2-Dimensional) समषटकोणीय जालक (network) के रूप में व्यवस्थित रहते हैं। इस जालक में एक कार्बन से दूसरे कार्बन की दूरी 1.42 A° होती है--जबकि हीरे में कार्बन-कार्बन दूरी 1.54 A° है। तात्पर्य यह है कि ग्रेफाइट में कार्बन परमाणु इस जालक में बड़ी मजबूती से जुड़े होते हैं। ये जालक आपस में समांतर हैं और जालक से जालक की दूरी 3.4 A° है। यह दूरी इतनी अधिक है कि विभिन्न जालक तल एक दूसरे से दुर्बलतापूर्वक जुड़े हुए हैं। इस प्रकार एक ही तल में कार्बन-कर्बन मजबूती से जुड़े हैं परंतु इनके जालक एक दूसरे पर आसानी से फिसल सकते हैं : यही गुण ग्रेफाइट में चिकनेपन (Lubrication) या स्नेहन की विशेषता प्रदान करता है। इन्हीं मॉडलों के आधार पर हीरे तथा ग्रेफाइट के अन्य गुणों को भी समझने का प्रयास किया गया है।
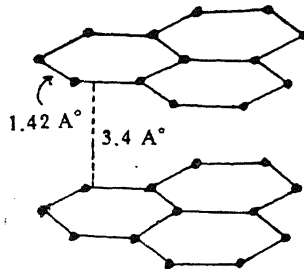
चित्र-2

हीरे की कठोरता : परिभाषा और कठोरता की माप :

जर्मन वैज्ञानिक **फ्रेडरिच म्होस** ने पदार्थों को परस्पर खरोंच कर उनकी कठोरता की जांच की थी। सभी पदार्थों में हीरा सबसे अधिक कठोर पाया गया अतः म्होस ने इसकी कठोरता को 10 अंक दिया। इस मापन के आधार पर रूबी की कठोरता 9 म्हो, क्वार्ट्ज की 7 और टोपाज़ की 8 म्हो आंकी गई। यह माप अधिक कठोर पदार्थ की, कम कठोर पदार्थ को खरौंचने की शक्ति का द्योतक है, उल्टा नहीं। भारत में भगवान बुद्ध के समय से ही हीरा सबसे अधिक कठोर पदार्थ माना जाता था।

कठोरता मापने की एक और विधि हो सकती है, जिसे दंतुरण-कठोरता कहा जाता है। दैनिक जीवन में दांत गड़ा कर या नाखून गड़ा कर भी कठोरता का अंदाज़ लगा सकते हैं। हीरे के ही नुकीले पिरामिडी भाग को किसी पदार्थ में गड़ा कर कठोरता का आकलन किया जाता है।

पदार्थों की कठोरता के अनेक उपयोग हैं। हीरा कठोरतम होता है इसलिए हीरे के नग आभूषणों में सदा चमकते रहते हैं क्योंकि उनपर कोई खरोंच नहीं आती है। हीरे द्वारा कठोर पदार्थो को काटने का काम लिया जाता है। हीरे की कलम से कांच काटा जाता है; हीरे की आरी से चट्टानें तथा पत्थर आदि काटे जाते हैं। पेट्रोलियम की खोज में पृथ्वी की गहरी खुदाई के लिए टंगस्टन-कार्बाइड के ऊपर हीरा लगा कर ड्रिल बनाई जाती है। खराद तथा अत्यंत शुद्ध कटाई के लिए भी हीरे के चूर्ण से बने औजारों का उपयोग किया जाता है; हीरे का महीन चूर्ण उत्तम पालिशिंग के लिए काम आता है। आधुनिक उद्योगों में हीरा एक सर्वश्रेष्ठ अपघर्षक (abrassive) के रूप में काम आता है। अनुमान है कि प्रति वर्ष लगभग 10 करोड़ कैरेट अर्थात् 20 टन से अधिक हीरा औद्योगिक उपयोगों में काम आता है।

हीरे का अपवर्तनांक :

हीरे का अपवर्तनांक बहुत अधिक होता है उसकी यह विशेषता भी अत्यंत उपयोगी पाई जाती है।

प्रकाश का वेग सभी माध्यमों में एक सा नहीं होता है। निर्वात में यह वेग 299792458 मीटर प्रति सेकेण्ड होता है। सघन माध्यम, जैसे पानी, में यह वेग कम होता है। किसी माध्यम में प्रकाश का वेग जिस अनुपात में कम हो जाता है उसे ही उस पदार्थ का अपवर्तनांक कहते हैं। पानी में प्रकाश का वेग निर्वात वाले वेग का 4/3 या 1.3 कहा जाता है। कांच का अपवर्तनांक 1.5 और हीरे का 2.5 होता है।

जब प्रकाश की किरणें विरल माध्यम (वायु) से सघन माध्यम (कांच) में जाती हैं तो वे अभिलंब की ओर झुक जाती हैं। किंतु जब वे सधन माध्यम से विरल माध्यम की ओर जाती है तो अभिलंब से दूर हट जाती हैं। यदि प्रवेश करने वाली किरण के आपतन

कोण को बढ़ाते जाएं तो इसका एक ऐसा मान आएगा जब बाहर निकलती हुई किरण का कोण 90° का हो जाएगा। कांच से वायु में जाने वाली किरण के लिए इस आपतन कोण का मान 40° होता है। इस स्थिति में वायु की ओर निकलने वाली किरण कांच की बाहरी सतह को स्पर्श करती हुई जाएगी। इस आपतन कोण (40°) को कांच के लिए **क्रांतिक कोण** कहते हैं। इस कोण को 40° से जरा भी बढ़ाया जाए तो किरण बाहर न निकल कर उसी सघन माध्यम में परावर्तित हो जाएगी। इस परावर्तन को पूर्ण परावर्तन कहते हैं। हीरे के लिए यह क्रांतिक कोण मात्र 24° होता है। अतः जब हीरे पर प्रकाश पड़ता है तो 24° से कम आपतन वाली किरणें तो अपवर्तित होकर बाहर आ जाती हैं परंतु इससे अधिक कोण की समस्त किरणें हीरे के भीतर से पूर्ण आंतरिक परावर्तन के बाद ही बाहर आती हैं। सामान्य प्रकाश में अनेक रंगों की किरणें होती हैं और सबके लिए क्रांतिक कोण भिन्न-भिन्न होता है, अतः पूर्ण आंतरिक परावर्तन के बाद अलग-अलग रंग की किरणें अलग-अलग निकलती हैं। अतः हीरे को घुमाने से रंग-बिरंगा प्रकाश दिखाई देता है। इसे हीरे की **कांति** या दमक कहते हैं। हीरे को तराश कर उसकी इस दमक को और भी बढ़ाया जा सकता है। अपवर्तनांक 2.5 होने से हीरे का परावर्तन गुणांक R~17% होता है, जब कि कांच का ~4% होता है। इससे बिना पालिश किए ही हीरे की सतह दर्पण की भांति चमकती है।

हीरे का संश्लेषण (कृत्रिम हीरा) :

यह पता होने पर कि हीरा और ग्रैफाइट दोनों कार्बन के ही रूप हैं, कृत्रिम हीरा बनाने के अनेक असफल प्रयास किए गए। कुछ लोगों ने तो झूठे दावे भी किए। आगे चलकर दक्षिण अफ्रीका की किम्बरले खान से प्राप्त हीरों का गहन अध्ययन किया गया। इससे यह अनुमान किया गया कि कोयले से हीरा लगभग 200 करोड़ वर्षों पूर्व, धरती के नीचे 200 किलोमीटर की गहराई में अत्यंत उच्च ताप पर बना होगा। **प्रो. एफ.सी. फ्रैंक** ने एक अत्यंत रोचक पुस्तक लिखी है : A letter to us from depths (धरती की गहराइयों से मिली 200 करोड़ वर्ष पुरानी चिट्ठी)। सन् 1946 में **पी.डब्ल्यू. ब्रिजमैन** ने कमरे के तापमान पर ग्रैफाइट से हीरा बनाने का असफल प्रयास किया। उन्हें उनके प्रयोग के लिए नोबुल पुरस्कार मिला। वे हीरा बनाने में क्यों असफल हुए इसका कारण था : ऊष्मागतिकीय व्यवधान। वैज्ञानिकों ने बाद में पता लगाया कि ग्रैफाइट से हीरा बनने के लिए तापमान 2000°C और दाब 6000 वायुमंडल होना चाहिए, इसके साथ ही एक उत्प्रेरक जैसे निकेल धातु की उपस्थिति भी आवश्यक है।

इन बातों की जानकारी के बाद सन् 1955 ई. में अमेरिका की जनरल इलेक्ट्रिक कंपनी ने सर्व प्रथम असली हीरा बनाने में सफलता प्राप्त की। सन् 1975 में भारत में राष्ट्रीय भौतिक प्रयोगशाला, दिल्ली में भी हीरों का निर्माण किया गया जो विभिन्न आकार के थे जैसे : घनाकार, अष्टफलकीय, घनअष्टफलकीय आदि। इनका आकार

50 μm से 3000 μm तक का था।

मानव निर्मित हीरे कृत्रिम हीरे नहीं हैं। समस्त वैज्ञानिक विधियों से जांचने पर वे असली हीरे ही सिद्ध होते हैं। इनका उपयोग औद्योगिक कार्यों में असली हीरे के समान ही होता है, किंतु ये जवाहरात के रूप में काम में नहीं आते क्योंकि इनका आकार अत्यंत छोटा होता है। एक कैरेट का भी हीरा बनाया गया है किंतु यह बहुत ही महंगा पड़ा है। अतः आभूषणों में प्राकृतिक हीरा ही काम आता है।

हीरे का मणि के रूप में उपयोग :

केवल प्राकृतिक हीरे का ही आभूषणों में प्रयोग किया जाता है। खानों से निकला हुआ हीरा ऊबड-खाबड़ होता है। जवाहरात के रूप में इसे सुघड़, शुद्ध, पारदर्शी, चमकीला और दोषरहित होना चाहिए। खानों से प्राप्त हीरे का कुछ ही अंश दोषरहित होता है। अतः इसका अधिकांश भाग अन्य औद्योगिक कार्यो में काम आता है।

हीरा मणि के रूप में काम आता है क्योंकि कमरे के ताप पर इस पर किसी रसायन का प्रभाव नहीं पड़ता है। इसकी यांत्रिक शक्ति अत्यंत अधिक होती है अतः इस पर किसी दाब या यांत्रिक व्यवहार पर प्रभाव नहीं होता, इसका आकार अपरिवर्तित बना रहता है। कठोरता अधिक होने के कारण इसकी चमक सदा बनी रहती हैं। पूर्ण आंतरिक परावर्तन के कारण इससे किरणें फूटती सी नजर आती हैं इसमें उत्तम कांति या दमक पाई जाती है। हीरा सामान्य प्रकाश के लिए ही नहीं, पराबैंगनी तथा अवरक्त प्रकाश के लिए भी पारदर्शी होता है।

नकली हीरा :

आभूषणों में नकली हीरों का प्रयोग बहुतायत से होता रहता है। कई प्रकार के नकली हीरे बाजार में मिलते हैं। इन नकली हीरों में हीरे के सभी गुण नहीं पाए जाते हैं। हीरे के गुणों के लिए इन नकली हीरों की जांच करके उनकी असलियत का पता लगाया जा सकता है। किंतु सभी गुणों की जांच करना समय-साध्य तथा व्यय-साध्य भी होता है। अतः जौहरी कुछ खास गुणों से ही हीरे को परख लेते हैं। ये विशेष गुण तीन हैं : अपवर्तनांक : घनत्व : कठोरता।

प्रयोगों से यह देखा गया है कि यदि किसी पारदर्शक ठोस को किसी ऐसे द्रव में डाला जाए जिसका अपवर्तनांक ठोस के अपवर्तनांक के बराबर ही हो तो ठोस उस द्रव में अदृश्य हो जाता है। जैसे यदि कांच के टुकड़े को बेंनज़ीन में डालें तो कांच अदृश्य हो जाता है क्योंकि दोनों का अपवर्तनांक बराबर होता है। इसी प्रकार हीरे को या नकली हीरे को उपयुक्त द्रवों में डुबा कर उसकी परख की जा सकती है। दूसरा गुण घनत्व का है। यदि द्रव का घनत्व अधिक हो और ठोस का कम, तो ठोस उस द्रव में तैरने लगता है। इससे भी संबद्ध ठोस की पहचान की जा सकती है। तीसरा गुण कठोरता है। इसका

पता तो सीधे खरोंच कर लगाया जा सकता है। जैसा कि हम बता चुके हैं : रूबी और कार्बोरण्डम की कठोरता 9 है। टोपाज़ की 8 और क्वार्ज की 7 है। अतः इनसे खरोंच कर नकली हीरे की परख कर सकते हैं।

कुछ नकली हीरे; कांच, क्वार्ट्ज, याग आदि के रूप में प्रचलित हैं, किंतु कठोरता और अपवर्तनांक आदि के आधार पर उनको सरलता से पहचाना जा सकता है, जैसे,

याग (येट्रियम-अल्यूमीनियम-गार्नेट) : कठोरता : 8, अप. =1.83
स्ट्रांशियम-टिटैनियम : कठोरता : 5.5, अप.=2.5
जी जी जी (गोडोलीनियम-गैलियम-गार्नेट) : कठोरता : 6.5, अप.=2.0
क्यूबिक जिर्कोनियम ZrO,CaO, Yettrium Oxide): कठोरता : 8, अप.=2.18

हीरे का आपेक्षिक घनत्व=3.52 और मीथाइल आयोडाइड का 3.33 है अतः हीरा इस द्रव में धीरे धीरे डूबता है। इसकी ऊष्मा चालकता अत्यधिक है अतः यह जाड़े में ठण्डा और गर्मियों में गर्म लगता है।

हीरे का स्पेक्ट्रस्कोपिक अध्ययन :

सबसे पहले सन् 1930 में सर राबर्ट राबर्ट-सन और जे.जे. फाक्स तथा ए.ई. मार्टिन ने हीरों के इन्फ्रारेड अवशोषण स्पेक्ट्रम का अध्ययन किया। उन्होंने सैकड़ों प्रकार के हीरों से प्रयोग किया और लगभग सबका स्पेक्ट्रम एकसा ही प्राप्त हुआ। सामान्यतः सबमें दो-दो अवशोषण-शिखर पाए गए : एक अवशोषण 3.75μm पर और दूसरा 7.5μm पर। इस प्रकार के हीरे को प्रथम कोटि का हीरा कहा गया। किंतु कुछ हीरे ऐसे भी पाए गए जिनमें केवल एक ही अवशोषण शिखर 3.75μm पर पाया गया। यह दुर्लभ हीरा द्वितीय कोटि का हीरा कहा गया। इस प्रकार स्पेक्ट्रास्कोपीय अध्ययनों के आधार पर हीरे को दो समुदायों में बांटा गया : एक सामान्य प्रकार और दूसरा दुर्लभ प्रकार। यहां यह प्रश्न उठना स्वाभाविक है कि जब हीरे से होकर इन्फ्रारेड विकिरणों गुजरती हैं तो उनका अवशोषण क्यों होता है? हो सकता है यह हीरे का कोई गुण हो? यह भी संभव है कि हीरे के अंदर जो कोई अन्य अपद्रव्य हों उनके कारण ऐसा होता हो? राबर्टसन, फाक्स और मार्टिन ने भी इन प्रश्नों पर ध्यान दिया। आचार्य रामन ने भी ये प्रश्न उठाए।

हीरे से गुजरने पर अवरक्त विकिरण का अवशोषण क्यों होता है, इस संबंध में रामन ने कहा कि क्रिस्टल से गुजरने पर इस विकिरण की विद्युत चुंबकीय ऊर्जा परमाणुओं की कंपन ऊर्जा में बदल जाती है। इस संदर्भ में रामन ने तीन प्रश्न उठाए : क्रिस्टलीय ठोस पदार्थों के परिमाण्विक कंपनों का उनकी संरचना से क्या संबंध है? क्रिस्टल से गुजरने पर प्रकाश की आवृत्ति में परिवर्तन क्यों होता है (रामन प्रभाव)? इन्फ्रारेड अवशोषण क्यों होता है? अर्थात् किन परिस्थितियों में होता है?

इन प्रश्नों का उत्तर ढूंढ़ने से पहले हम प्रयोगों से प्राप्त परिणामों पर विचार करें, जो निम्नलिखित हैं :

टाइप (प्रकार)	इन्फ्रारेड अवशोषण स्पे.	रामन स्पेक्ट्रम	रामन आवृत्ति
सामान्य टाइप I	$7.5\mu m=1332\ cm^{-1}$	$3.75\mu m=2666\ cm^{-1}$	$1332\ cm^{-1}$
दुर्लभ टाइप II	कोई नहीं	$3.75\mu m=2666\ cm^{-1}$	$1332\ cm^{-1}$

रामन ने कहा कि दोनों प्रकार के हीरे की रामन आवृत्तियां $1332\ cm^{-1}$ हैं, परंतु टाइप-I की इन्फ्रारेड अवशोषण की पहली आवृत्ति $1332\ cm^{-1}$ है और दूसरी आवृत्ति $2666\ cm^{-1}$ है जो कि पहली की ठीक दुगुनी है। इसके विपरीत टाइप II केवल एक ही (दूसरा वाला) इन्फ्रारेड अवशोषण देता है।

इससे रामन ने यह निष्कर्ष निकाला कि, हीरे की संरचना ही उसके इन्फ्रारेड अवशोषण का कारण है। इसलिए उन्होंने $1332\ cm^{-1}$ को हीरे का प्रथम-कोटि का स्पेक्ट्रम कहा और $2666\ cm^{-1}$ को उसका द्वितीय कोटि का स्पेक्ट्रम कहा। रामन तथा उनके विद्यार्थियों ने सैद्धांतिक परिकलनों से हीरे की कंपन-आवृत्तियों की गणना की। उन्होंने दिखाया कि हीरे की संरचना के अनुसार उसकी आठ आवृत्तियां हैं। इनमें से उच्चतम आवृत्ति दोनों अंतर्वेधी जालकों (interpenetrating lattices) के कार्बन नामिकों के कंपन से उत्पन्न होती है। अन्य आवृत्तियां क्रिस्टल में अष्टफलकीय (octahedral) या घनाकार (cubic) परतों के कंपनों से उत्पन्न होती हैं। ज्ञात आवृत्तियां निम्नलिखित हैं :

1332, 1273, 1219, 1176, 1087, 1010, 746, 624 cm^{-1} इनमें से निम्नलिखित आवृत्तियां हीरे में पाई गई हैं : 1219, 1176, 1098, 1087, 1010 cm^{-1} । किंतु एक प्रश्न अब भी शेष रह जाता है : सामान्य प्रकार के हीरे से प्रथम कोटि का स्पेक्ट्रम तथा रामन आवृत्ति प्राप्त होती है और द्वितीय प्रकार के हीरे से प्रथम कोटि का स्पेक्ट्रम मिलता ही नहीं पर रामन आवृत्ति वही प्राप्त होती है। इसके कारण क्या है?

इसको समझाने के लिए रामन ने **प्लास्जेक वरण नियम** (Placjek's Selection Rule) का उपयोग किया। इस नियम के अनुसार यह पाया गया है कि घनाकार क्रिस्टलों के त्रि-धा अपभ्रष्ट (degenerate) तंत्रों के कंपनों में :

अष्टफलकीय सममिति में इस कंपन का प्रदर्शन या तो इन्फ्रारेड में या प्रकाश के प्रकीर्णन में होता है, परंतु दोनों में एक साथ नहीं होता है।

और, चतुष्फलकीय (tetrahedral) सममिति में ये कंपन इन्फ्रारेड तथा प्रकाश प्रकीर्णन, दोनों में एक साथ उपस्थित होते हैं, या फिर दोनों में अनुपस्थित होते हैं।

चूंकि दोनों प्रकार के हीरे : टाइप I और टाइप II, रामन आवृत्ति देते हैं। अतः रामन ने यह निष्कर्ष निकाला कि :

बहुतायत से पाए जाने वाले टाइप I हीरे की सममिति चतुष्फलकीय (tetrahedral) होती है और दुर्लभ प्रकार : टाइप II के हीरे की सममिति अष्टफलकीय (octahedral) होती है। रामन ने हीरे की चार किस्में बताईं ये आपस में अंतर्वेधन (interpenetration) कर सकती हैं। पर रामन के अनुसार X-रे द्वारा यह पता नहीं चलाया जा सकता है कि

हीरे में कौन सी सममिति है।

सन् 1945 में **प्रो. कैथलीन लान्सडेल** (Kathleen Lonsdale) ने 'Nature' नामक शोध पत्रिका में रामन के इस कथन को चुनौती दी। उन्होंने दिखाया कि :

चतुष्फलकीय सममिति में 2 2 2 ब्रैग-परावर्तन अनुपस्थित होना चाहिए, परंतु अष्टफलकीय सममिति में 2 2 2 ब्रैग-परावर्तन दुर्बल किंतु उपस्थित होना चाहिए।

उन्होंने एक ऐसे हीरे पर प्रयोग किया जो लगभग आदर्श टाइप I माना जा सकता है। उन्हें स्पष्ट रूप से 2 2 2 ब्रैग-परावर्तन प्राप्त हुआ। अतः उन्होंने यह निष्कर्ष निकाला कि :

हीरे की क्रिस्टलीय संरचना चतुष्फलकीय नहीं है। अतएव रामन का यह कथन सत्य नहीं है कि टाइप I हीरे की क्रिस्टलीय संरचना चतुष्फलकीय होती है।

परंतु सतर्कतापूर्वक विश्लेषण करने पर लॉन्सडेल के तर्क में कुछ कमी नजर आती है। उन्होंने कहा है कि अष्टफलकीय टाइप I और टाइप II से दुर्बल 2 2 2 ब्रैग परावर्तन प्राप्त होना चाहिए। और चतुष्फलकीय टाइप I तथा टाइप II से शून्य 2 2 2 ब्रैग परावर्तन प्राप्त होना चाहिए। इसलिए दुर्बल 2 2 2 ब्रैग परावर्तन से यह तो सिद्ध होता है कि प्रयोग किए गए हीरे में अष्टफलकीय संरचना उपस्थित है। किंतु इससे यह सिद्ध नहीं होता है कि उस हीरे में चतुष्फलकीय सममिति का हिस्सा उपस्थित नहीं है, क्योंकि इससे शून्य ब्रैग-परावर्तन प्राप्त होता है। अतः इस विवर्तन से यह पता नहीं चलता है कि चतुष्फलकीय संरचना उपस्थित है या नहीं?

चतुष्फलकीय संरचना की उपस्थित का पता लगाने के लिए हम दाब-विद्युत या पीज़ोविद्युत प्रभाव का उपयोग कर सकते हैं। हम जानते हैं कि अष्टफलकीय सममिति से कोई दाब-वैद्युत संकेत (Signal) नहीं मिलता है, जब कि चतुष्फलकीय सममिति में यह मिलता है। अतएव यदि किसी क्रिष्टल में पीज़ोविद्युत संकेत प्राप्त होता है तो इसका अर्थ यह है कि उस क्रिष्टल में चतुष्फलकीय रूप उपस्थित है, क्योंकि अष्टफलकीय रूप से तो ऐसा संकेत मिल ही नहीं सकता है। फिर भी ऐसे संकेत की अनुपस्थिति में यह नहीं कहा जा सकता कि क्रिस्टल में चतुष्फलकीय रूप अनुपस्थित है, क्योंकि हो सकता है कि यह संकेत इतना कमज़ोर हो कि उसका पता न चल रहा हो?

सन् 1959 में **कैसर और बाण्ड** के प्रेयोगों ने सिद्ध किया कि हीरे में मुख्य अपद्रव्य नाइट्रोजन है। अतः अब इन्फ्रारेड अवशोषण स्पेक्ट्रम को उसी के आधार पर समझाया जाता है। परंतु इस विषय में असली समस्या यह नहीं है कि ये इन्फ्रारेड अवशोषण-स्पेक्ट्म नाइट्रोजन के कारण है या हीरे की बनावट के कारण; असली मुद्दा यह है कि क्या हीरे की बनावट में चतुष्फलकीय सममिति है या अष्टाफलकीय सममिति, या दोनों। रामन के शब्दों में तो : ''फिलहाल यह प्रश्न सबके लिए खुला है : अर्थात् अनिर्णीत है।''

55

काल की वैज्ञानिक अवधारणा*

गुणाकर मुले

द्रव्य, गति, दिक् और काल भौतिक विश्व के अस्तित्व की बुनियादी धारणाएं हैं। बहुत प्राचीनकाल से मनुष्य इनके बारे में चिंतन करता आया है, इन्हें समझने के प्रयास में मिथक या आख्यान गढ़ता आया है। प्रायः सभी धर्मों और दर्शनों ने इन धारणाओं के पारस्परिक संबंधों के बारे में अपने विचार व्यक्त किए हैं।

इन चार बुनियादी धारणाओं में से मानव को सबसे अधिक आतंकित किया है काल की धारणा ने। काल विनाशक है, इसीलिए भारतीय परंपरा में काल को मृत्यु और यम माना गया है। इसलिए भी प्राचीनकाल से ही काल के बारे में अधिक व्यापक चिंतन हुआ है।

फिर भी काल की पहेली पूरी तरह सुलझी नहीं है। आज के वैज्ञानिक भी यह दावा नहीं करते कि उन्हें काल के बारे में सभी सवालों में उत्तर मिल गए हैं। काल की दिशा या काल के तीर (The Arrow of Time) के सवाल को लेकर आजकल वैज्ञानिकों में काफी मतभेद है। दिलचस्प बात यह है कि काल की गति या दिशा के बारे में पुरातन काल से ही चिंतन होता आ रहा है। अतः काल संबंधी आज के वैज्ञानिक चिंतन को समझने के लिए काल संबंधी पुरातन मान्यताओं पर भी एक नजर डाल लेना जरूरी है।

प्राचीन भारतीयों की महाकाल संबंधी मान्यता पर ब्रह्मवैवर्त पुराण का एक प्रसिद्ध आख्यान अच्छा प्रकाश डालता है। आख्यान इस प्रकार है :

वृत्रासुर पर विजय प्राप्त करने के बाद इंद्र, देवताओं के निवास के लिए एक भव्य प्रासाद के निर्माण की योजना बनाता है। विश्वकर्मा वर्ष भर परिश्रम करके एक अनुपम प्रासाद तैयार कर देता है। परंतु उससे इन्द्र की संतुष्टि नहीं होती है। वह चाहता है कि विश्वकर्मा उसे और भी बड़ा और बेहतर प्रासाद बनाकर दें। यह काम करते-करते विश्वकर्मा थक जाता है और अंत में शिकायत करने ब्रह्मा के पास पहुंचता है। ब्रह्मा उसे सहायता का वचन देता है और इन्द्र को होश में लाने की जिम्मेदारी विष्णु को सौंपता है।

---

* बी.एच.यू पत्रिका, कौस्तुभ जयंती अंक-1991

एक दिन फटे-पुराने वस्त्र पहने हुए एक बालक इंद्र के सामने उपस्थित होता है। वह बालक वस्तुतः विष्णु था, मगर उसने इंद्र को अपनी पहचान नहीं करायी। उलटे उसने इंद्र को 'मेरे बेटे' कहकर संबोधित किया और कहा :

एक इंद्र का जीवन तथा राज्य 71 युगों तक चलता है। जब 28 इंद्रों का जीवन-काल समाप्त होता है, तब ब्रह्मा का एक अहोरात्र होता है। अहोरात्र के इस पैमाने के हिसाब से एक ब्रह्मा का जीवनकाल 108 वर्षों का होता है। लेकिन यह केवल एक ब्रह्मा का जीवनकाल हुआ। ब्रह्माओं का यह सिलसिला एक के बाद एक चलता रहता है। एक ब्रह्मा का अस्त होता है, तो दूसरे का उदय होता है। ब्रह्माओं का यह क्रम अनंत तक जारी रहता है। ब्रह्माओं का यह सिलसिला ही अंतहीन है, तो फिर इंद्रों की क्या कहें?

इसी तरह, विश्वों के उदय और अस्त का सिलसिला भी अंतहीन है। एक विश्व में एक समय में केवल एक ही ब्रह्मा और एक ही इंद्र का अस्तित्व होता है। ऐसी स्थिति में क्या तुम अतीत और वर्तमान के सभी देवताओं की संख्या बता सकते हो?

जब विष्णुरूपी बालक इन्द्र को यह सब बता रहा था, तब उसी समय वहां प्रासाद के फर्श पर चींटियां की एक लंबी-चौड़ी कतार प्रकट हुई। बालक ने उस दृश्य को देखा और वह एकाएक हंस पड़ा।

''तुम क्यों हंस रहे हो?'' इंद्र ने पूछा।

''हे इंद्र'', बालक ने उत्तर दिया, ''चींटियों की इस लंबी पलटन को देखकर मुझे हंसी आई है। इनमें से प्रत्येक चींट अतीत में इन्द्र थी। तुम्हारे तरह ही प्रत्येक ने पुण्यकार्य करके देवराज का पद प्राप्त किया था। मगर अनेकानेक जन्मों के बाद प्रत्येक इन्द्र अब चींटी बन गया है। अतीत के इन्द्रों की पलटन है...।''

इस उद्घाटन से इन्द्र का घमंड चूर-चूर हो जाता है। वह विश्वकर्मा को बुलाकर पुरष्कृत करता है और प्रासाद को विस्तृत करने की योजना त्याग देता है।

इस आख्यान से एक बात यह स्पष्ट होती है कि ब्रह्मा और इन्द्र जैसे देवता भी कालातीत नहीं हैं।

दूसरी बात यह स्पष्ट होती है कि भारतीय चिंतन परंपरा में शुरू से ही महाकाल को एक चक्र या वृत्त के रूप में माना गया है। सृष्टि और प्रलय के आवर्तन की धारणा अथर्ववेद में भी देखने को मिलती है। वस्तुतः अनंत कालचक्र और सृष्टि तथा प्रलय के आवर्तन की धारणाएं प्रायः सभी आदिम समाजों में मौजूद रही हैं।

कालचक की धारणा को बौद्ध और जैन धर्मों ने भी स्वीकार किया। हां, इन भारतीय धर्मो की युग-पद्धतियां अवश्य भिन्न-भिन्न हैं, मगर यहां उन पर हमें विचार नहीं करना है। मानव-जीवन की निस्सारता को दर्शाने के लिए ही बाद में अनंत कालचक्र की बड़ी-बड़ी संख्याओं वाले युगक्रमों में बांटा गया था। निर्वाण या मोक्ष प्राप्त करने का मतलब था अनंत कालचक्र के बंधन से मुक्ति पाना।

प्राचीन यूनानी विचारकों ने भी काल को चक्र या वृत्त के रूप में ही स्वीकार किया

था। पायथेगोरसवादियों और प्लेटोवादियों की तो यहां तक मान्यता रही है कि प्रत्येक कालचक्रों की घटनाओं की ही पुनरावृत्ति होती है। नया कुछ भी घटित नहीं होता। **ब्रह्मांडीय काल वस्तुतः घटनाओं की पुनरावृत्ति का चक्र है।**

कालचक्र संबंधी इस यूनानी चिंतन के दो मुख्य निष्कर्ष निकलते हैं। इस कालचक्र में निरपेक्ष अर्थ में किसी भी बिंदु को आरंभ का या मध्य का या अंत का बिंदु नहीं कहा जा सकता। अन्य शब्दों में, विश्व का आरंभ या अंत जैसी कोई चीज नहीं है।

दूसरा निष्कर्ष यह है कि, हालांकि यह कालचक्र अपने को दोहराता रहता है और इसलिए काल में आवर्तन विद्यमान है, मगर इसकी कोई सुनिश्चित दिशा नहीं है। इसमें निरपेक्ष कालक्रम की दृष्टि से कोई भी घटना 'पहले' या 'बाद में' नहीं है। जैसा कि अरस्तू ने कहा है, घूमते कालचक्र में हम अपने आज के बिंदु के बारे में यह कहते हैं कि यह ट्रोजन युद्ध के 'बाद' है, मगर कालचक्र घूमता रहता है और पुनः ट्रोजन युद्ध घटित होगा। तब उस घटना की दृष्टि से हमारा आज का बिंदु पूर्वकाल का द्योतक होगा।

इस प्रकार हम देखते हैं कि भारतीय तथा यूनानी विचारकों ने कालचक की धारणा को तो स्वीकार किया था, मगर दोनों के कालचक्रों में बुनियादी अंतर है।

ईसाई धर्म की काल संबंधी धारणा नितांत भिन्न रही है। ईसाई धर्म के अनुसार काल ईश्वर द्वारा विश्व की सृष्टि और उसकी सतत क्रियाशीलता के साथ जुड़ा हुआ है। ईसाई मान्यता के अनुसार काल का एक निश्चित आरंभिक बिंदु है, एक निश्चित दिशा है, और एक निश्चित लक्ष्य है। दूसरे शब्दों में, ईसाई विचारकों के अनुसार काल एक निश्चित दिशा में—अतीत से भविष्य की ओर—गमन करता है। अर्थात् , काल एक ही रैखिक दिशा में आगे बढ़ता है।

इसके विपरीत, इस्लाम धर्म काल के सातत्य को स्वीकार नहीं करता है। इस्लाम के अनुसार काल क्षणों (instants or atoms of time) का समूह है। अन्य शब्दों में, इस्लाम के अनुसार दिक् और काल, दोनों ही बिंदु-बिंदु से निर्मित समुच्चय हैं।

काल के बारे में एक और धारणा प्रचलित रही है। वह यह है कि काल टुकड़ों-टुकड़ों में विभक्त है। पूर्व के धर्मों से प्रभावित ईसाई गूढ़ज्ञानवादियों (Gnostics) की, काल के बारे में, यही मान्यता रही है। तत्काल मुक्ति की उनकी जरूरत काल को खंडित मानकर ही पूरी हो सकती है। भारतीय साधकों के लिए काल का ऐसा विखंडन अपरिहार्य था।

सारांश यह कि प्राचीन जगत में काल के बारे में तीन प्रमुख धारणाएं प्रचलित रही हैं :

1. कालचक्र की धारणा,
2. काल की गति सीधी रेखा में एकदिश है : अतीत से भविष्य की ओर, और
3. काल बिंदु-बिंदु या खंड-खंड में विभक्त है।

काल से संबंधित इन प्रमुख परंपरागत धारणाओं का यहां मैंने संक्षिप्त विवेचन

इसलिए किया है कि आज आधुनिक विज्ञान में काल संबंधी यही तीन धारणाएं, अपने नए विकसित रूपों में, वैज्ञानिकों के बीच काफी वाद-विवाद का विषय बनी हुई हैं। काल से संबंधित आज के वैज्ञानिक चिंतन को, और विवाद को भी, समझने में काल संबंधित पुराना चिंतन कुछ मदद दे सकता है, इसीलिए मैंने इनकी यहां चर्चा की है।

काल के संबंध में एक और विवाद प्राचीन काल से चला आ रहा है। वह यह कि काल की सत्ता वास्तविक है या यह एक ऐसी अमूर्त धारणा है जिसका अस्तित्व केवल मनुष्य की चेतना में ही है? दिक् के बारे में दार्शनिकों में ठीक यही मतभेद रहा है। भौतिकवादी दार्शनिक, काल को एक वस्तुनिष्ट सत्ता मानते हैं और किसी भी कालातीत सत्ता के अस्तित्व को स्वीकार नहीं करते। दूसरी ओर, चैतन्यवादी दार्शनिकों की मान्यता रही है कि काल का कोई वस्तुनिष्ठ अस्तित्व नहीं है, यह एक निरपेक्ष धारणा है और यह व्यक्ति की चेतना पर आश्रित है।

ब्रह्मवादी दार्शनिकों ने परम-सत्ता या ब्रह्म को कालातीत माना है। उसी प्रकार प्लेटो के दर्शन में प्रत्यय (Idea) कालातीत है। कान्ट के अनुसार दिक् और काल अनुभवपूर्व या प्रागनुभूत (a priori) धारणाएं हैं, अर्थात् ऐसी धारणाएं हैं जिनकी प्रामाणिकता संवेदन-प्रत्यक्ष से बिल्कुल स्वतंत्र हैं।

विपरीत, भौतिकवाद दिक् और काल की वस्तुनिष्टता को, इनकी वास्तविकता को स्वीकार करता है और ऐसी किसी सत्ता का अस्तित्व स्वीकार नहीं करता तो कालातीत हो यानी जो समय से परे हो या इससे पूर्यतया स्वतंत्र हो। भौतिकवादियों के अनुसार दिक् और काल से पृथक किसी वास्तविकता का अस्तित्व नहीं है। दिक् और काल द्रव्य के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। दिक् के तीन आयाम हैं, तो काल का केवल एक आयाम। कोई भी भौतिक क्रिया केवल एक दिशा में विकसित होती है—अतीत से भविष्य की ओर। आधुनिक भौतिकवादियों के अनुसार द्रव्य, गति, काल और दिक् एक-दूसरे के साथ अभिन्न रूप से जुड़े हुए हैं। आधुनिक विज्ञान की भी यही मान्यता है।

मगर 20वीं सदी से पहले के वैज्ञानिकों की इन धारणाओं के बारे में भिन्न मान्यताएं थीं। न्यूटन की मान्यता थी कि दिक् और काल की अपनी पृथक् और स्वतंत्र सत्ताएं हैं। ये निरपेक्ष सत्ताएं द्रव्य तथा गति से प्रभावित नहीं होतीं। वस्तुओं की गति का या इनके घटनाक्रम का काल के प्रवाह पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता है। न्यूटन का मत था कि काल का प्रवाह, बिना किसी बाह्य प्रभाव के, अनंत भूत से अनंत भविष्य तक सतत जारी रहता है।

बीसवीं सदी के अंत तक अधिकांश वैज्ञानिक मानते रहे कि दिक् एक प्रकार का निरपेक्ष आकाश है जो सदैव और सर्वत्र एक-सा है, गतिहीन है। काल के बारे में उनकी मान्यता थी कि इसका प्रवाह सदैव एक-सा बना रहता है।

यहां यह बता देना प्रासंगिक होगा कि जर्मन दार्शनिक-गणितज्ञ **लाइब्निट्ज** के दिक्

और काल संबंधी विचार न्यूटन से भिन्न थे। लाइब्निट्ज ने दिक् और काल को सापेक्ष सत्ताएं माना था। बीसवीं सदी की भौतिकी ने दिक् और काल संबंधी सभी पुरानी मान्यताओं को अस्वीकार कर दिया और गतिशील द्रव्य के साथ इनका अभिन्न संबंध स्थापित किया। **आइंस्टाइन** ने अपने आपेक्षिकता के सिद्धांत में इस तथ्य को प्रतिपादित किया कि पदार्थ से पृथक दिक् तथा काल का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। **मिंकोवस्की** के गणित के आधार पर आइंस्टाइन ने दिक् और काल की एक संयुक्त चतुर्विमितिक सततता (Four-dimentional Continuum of Space and Time) की स्थापना की। आधुनिक भौतिकी ने आइन्स्टाइन की इस स्थापना को प्रमाणित कर दिया है कि काल का प्रवाह और वस्तुओं का विस्तार इन वस्तुओं या पिंडों की गति पर आश्रित है, अर्थात, काल और दिक् भौतिक पिंडों से अपृथक् हैं और इनका सापेक्ष अस्तित्व है। आइंस्टाइन ने स्पष्ट कर दिया है कि भौतिक पिंड़ों के द्रव्यमानों द्वारा निर्मित गुरुत्वाकर्षण-क्षेत्रों के अनुसार दिक् के ज्यामितीय गुणधर्म बदलते रहते हैं। उसी प्रकार, पिंडों की गति के अनुसार काल की गति भी परिवर्तित होती है। सारांश यह कि द्रव्य, दिक्, काल और गति एक-दूसरे से जुड़े हुए हैं। आपेक्षिकता का सिद्धांत दिक्काल के परे किसी भौतिक वस्तु की सत्ता को स्वीकार नहीं करता है।

आदिम समाजों ने दिक् और काल से संबंधित अपने विचार मिथकों और आख्यानों के जरिए व्यक्त किए थे। दार्शनिकों ने इस धारणाओं से संबंधित अपनी मान्यताएं तत्व-चिंतन की विशिष्ट शब्दावली में प्रस्तुत की थीं। किंतु दिक् और काल से संबंधित आधुनिक भौतिकी की स्थापनाओं को गणित के संकेतों और समीकरणों में ही ठीक-ठीक व्यक्त किया जा सकता है। तथ्य की ओर मैंने इसलिए भी निर्देश किया है कि आजकल कुछ लोग आधुनिक भौतिकी की स्थापनाओं से स्थूल निष्कर्ष निकालकर अक्सर यह दावा पेश कर देते हैं कि इस प्रकार का चिंतन हमारे पूर्वजों ने भी किया था। परंतु वास्तविकता यह है कि द्रव्य, गति, दिक् और काल के संयोजन और अन्योन्याश्रय से संबंधित आज की वैज्ञानिक मान्यताएं पुरानी सभी मान्यताओं से सर्वथा भिन्न हैं। महत्व की बात यह कि इन मान्यताओं की प्रयोगों से पुष्टि हो गई है। पदार्थों की गतियों के अनुसार काल की गति घटती-बढ़ती रहती है, यह अब एक प्रयोग-सिद्ध तथ्य है, भले ही इस वास्तविकता के परिणाम हमें पहेली जैसे प्रतीत होते हों।

परंतु इस सारे विवेचन का निष्कर्ष यह नहीं ही है कि आधुनिक भौतिकी या आपेक्षिकता के सिद्धांत ने काल से संबंधित सभी सवालों का समाधान खोज लिया है। बीसवीं सदी में एक ओर एक अतिविशाल विश्व का उद्घाटन हुआ है, तो दूसरी ओर परमाणु के भीतर एक अतिसूक्ष्म जगत का भी उद्घाटन हुआ है। भौतिक विश्व में कुछ ऐसे घटना-क्रमों का उद्घाटन हुआ है जिन्होंने वैज्ञानिकों को काल के प्रवाह के बारे में, विशेष कर इसकी दिशा के बारे में, फिर से सोचने के लिए विवश किया है।

प्रस्तुत निबंध में मुझे काल से संबंधित वैज्ञानिकों के इसी नए चिंतन की प्रमुख रूप

से चर्चा करनी है। यह नई समस्या काल की दिशा से संबंधित है। चूंकि काल की दिशा के बारे में प्राचीन विचारकों ने भी चिंतन किया था, इसीलिए निबंध के आरंभ में मैंने काल की दिशा से संबंधित प्राचीन मान्यताओं का संक्षिप्त विवेचन प्रस्तुत किया है। हमने देखा है कि काल की दिशा के बारे में प्रमुखतः तीन मान्यताएं प्रचलित रही हैं : 1. काल चक्र या वृत्त में घूमता है, 2. काल एक ही दिशा में, भूत से भविष्य की ओर गमन करता है, और 3. काल बिंदु-बिंदुओं में बंटा हुआ है।

हमारे दैनंदिन की घटनाएं इस तथ्य की गवाही देती हैं कि हम काल को रोक नहीं सकते, इसे पीछे मोड़ नहीं सकते। घटनाक्रमों से जुड़ा हुआ काल अनिवार्यतः भूत से भविष्य की ओर आगे बढ़ता है। घटनाक्रमों और काल के साथ हम एक सुनिश्चित संबंध स्थापित कर सकते हैं। इसलिए भौतिक विज्ञान में भी काल की एक रैखिक दिशा की, काल के एक दिशा तीर को, स्वीकार कर लिया गया है। भौतिक विज्ञान ने यह मान लिया है कि काल का विपरीत दिशा में, अर्थात् वर्तमान से भूत की ओर, गमन संभव नहीं है।

किंतु चिरस्थापित यांत्रिकी और नई क्वांटम यांत्रिकी, दोनों में ही काल के प्रवाह की विपरीत दिशा को भी स्वीकार करने में कोई कठिनाई नहीं है। कारण यह है कि चिरस्थापित तथा क्वांटम यांत्रिकियों के गति के समीकरणों में काल के चिह्न को धन से ऋण में बदल दिया जाए, तब भी परिणाम एक-से ही प्राप्त होते हैं। तो क्या इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि काल का विपरीत दिशा में भी गमन संभव है?

प्रश्न बेतुका नहीं है। इधर के वर्षों में जानकारी मिली है कि विशाल जगत में काल का तीर भले ही एक ही दिशा में गमन करता हो, पर अतिसूक्ष्म जगत में कुछ ऐसी घटनाएं दिखने को मिलती हैं जो इस बात का संकेत देती हैं कि काल का तीर विपरीत दिशा में भी गमन करता है। इसमें तार्किक दृष्टि से असंगत कुछ भी नहीं है, क्योंकि चिरस्थापित भौतिकी और क्वांटम यांत्रिकी, दोनों के ही समीकरण काल-सममित (Time Symmetric) हैं। अर्थात्, इन समीकरणों के अनुसार क्रियाएं या प्रतिक्रियाएं "आगे की ओर" या "पीछे की ओर" बड़े मजे में घटित हो सकती हैं।

इस समस्या ने वैज्ञानिकों को काल के तीर के बारे में नए सिरे से सोचने के लिए विवश किया है। इस समस्या को समझने के लिए विशाल जगत और अतिसूक्ष्म जगत की कुछ घटनाओं पर दृष्टिपात करना जरूरी है।

सबसे पहले जीव जगत का उदाहरण लीजिए। हम अपना जीवन शैशवावस्था से शुरू करते हैं और बढ़ते-बढ़ते पहले तरुण और फिर बूढ़े हो जाते हैं। अंत मृत्यु में होता है। हम कहीं ऐसा कोई जीव नहीं देखते जो प्रौढ़ोवस्था से शैशवावस्था की ओर अग्रसर होता हो। अतः जीव जगत में घटना-क्रम की एक सुनिश्चित दिशा है। यह अनपलट (Irreversible) घटना-क्रम काल के जैविक तीर को निर्धारित करता है।

अब मान लीजिए कि आप बर्फ का एक एक टुकड़ा लेते हैं और उसे गर्म चाय के

एक प्याले में डालते हैं। कुछ समय बाद आप देखेंगे कि बर्फ का एक टुकड़ा प्याले में घुल गया है और चाय ठंडी हो गई है। हुआ यह कि समय के साथ ऊष्मा गर्म वस्तु की ओर प्रवाहित हुई है। हमेशा यही होता है कि किसी गर्म वस्तु के किसी ठंडी वस्तु के संसर्ग में आने पर ऊष्मा का प्रवाह उच्च तापमान से निम्न तापमान की ओर तब तक जारी रहता है जब तक दोनों में संतुलन स्थापित न हो जाए। ऊष्मा का यह प्रवाह काल की दिशा निर्धारित करता है।

कहा जा सकता है कि जिस ऊष्मा के प्रवाह को ठंडी वस्तु से गर्म वस्तु की ओर प्रवाहित होते हुए भी माना जा सकता है। मगर प्रकृति में ऐसे उलटे घटना-क्रम को कहीं देखा नहीं गया है। इस तथ्य को जिस नियम के द्वारा व्यक्त किया जाता है उसे भौतिकी में तापगतिकी के द्वितीय नियम (Second Law of Thermodynamics) नाम दिया गया है। इस नियम के अनुसार, ऊष्मा सदैव उच्च तापमान वाली वस्तुओं से निम्न तापमान वाली वस्तुओं की ओर प्रवाहित होती है। अतः तापगतिकी का दूसरा नियम भी काल के तीर को निर्धारित करता है।

इसी प्रकार, विद्युतगतिकी के क्षेत्र की घटनाएं भी काल के तीर को निर्धारित करती हैं। यदि किसी विद्युत आवेश को त्वरित किया जाए तो देखने में आता है कि उस आवेश से विद्युत्-चुंबकीय तरंगों का उत्सर्जन होता है और वे तरंगें उस आवेश से बाहर की ओर प्रसारित होती हैं। विपरीत क्रिया यानी विद्युत चुंबकीय तरंगों के आवेश पर केंद्रित होने वाली क्रिया प्रकृति में कहीं देखने को नहीं मिलती, यद्यपि **मैक्सवेल** के विद्युत-गतिकी के समीकरण दोनों स्थितियों को स्वीकार करते हैं। इस प्रकार, विद्युतगतिकी के क्षेत्र की घटनाएं भी काल के तीर को निर्धारित करती हैं।

विशाल विश्व का अध्ययन भी काल के तीर की ही पुष्टि करता है। हम जानते हैं कि दूर की मदांकिनियां बड़ी तेजी से एक-दूसरे से दूर भाग रही हैं। अन्य शब्दों में, समय के साथ दो मंदाकिनियों के बीच की दूरी निरंतर बढ़ती जा रही है। इसलिए हम कहते हैं कि विश्व का सतत विस्तार हो रहा है। दो मंदाकिनियों के बीच की दूरी घट रही है, ऐसा कहीं देखने को नहीं मिलता। यदि हम कालक्रमानुसार तीन समयों में कुछ मंदाकिनियों के चित्र उतारते हैं और उनमें मंदाकिनियों के बीच की दूरियां मापते हैं, तो देखते हैं कि काल-क्रमानुसार उनके बीच की दूरियां बढ़ती गई हैं। अतः विशाल विश्व यानी मंदाकिनियों के स्तर का घटना-क्रम भी काल के तीर को निर्धारित करता है।

इस प्रकार, भौतिक विश्व की अलग-अलग व्यवस्थाओं से काल के तीर के बारे में अनेक उदाहरण पेश किए जा सकते हैं। विभिन्न स्रोतों में जन्म लेने वाले काल के इन तीरों को एकसूत्र में बांधने के लिए वैज्ञानिकों ने एन्ट्रोपी (entropy) की धारणा का सहारा लिया है। सरल शब्दों में कहें तो भौतिकी की यह धारणा ऊर्जा के परिवर्तन की प्रक्रिया को व्यक्त करती है। **निम्न तापमान वाली ऊर्जा की एन्ट्रोपी उच्च होती है और उच्च तापमान वाली ऊर्जा की एन्ट्रोपी निम्न होती है।** हम यह भी कह सकते हैं कि

एन्ट्रोपी व्यवस्था (order) से अव्यवस्था (disorder) की ओर होने वाले बदलाव का मापन करती है। इस प्रकार, विश्व की प्रत्येक पृथक प्रणाली में एन्ट्रोपी में सदैव वृद्धि होती जाती है। किसी भी पृथक प्रणाली में एन्ट्रोपी के घटते जाने का उदाहरण कहीं देखने को नहीं मिलता। इसलिए बढ़ती एन्ट्रोपी से काल की दिशा सुस्पष्ट हो जाती है।

मगर यही बात परमाणु के भीतर सूक्ष्म जगत के बारे में यकीन के साथ नहीं कही जा सकती। चिरस्थापित भौतिकी की तरह क्वांटम यांत्रिकी के समीकरण भी काल की दोनों दिशाओं को स्वीकार करते हैं। परमाणु के भीतर के सूक्ष्म जगत की व्याख्या करने वाली क्वांटम भौतिकी काल के तीर को स्वीकार नहीं करती। क्वांटम भौतिकी के इन समीकरणों से एक ही क्षण में हम किसी परमाणु कणिका की, उदाहरणार्थ, एक इलेक्ट्रान की, गति और स्थिति एक साथ निर्धारित नहीं कर सकते। परमाणु-जगत की इस अनिर्धार्य व्यवस्था को **वेर्नेर हाइजेनबर्ग** ने स्पष्ट कर दिया है। परमाणु-जगत में अंतर्भूत यह अनिर्धार्य व्यवस्था काल की दिशा को भी अनिर्धार्य बना देती है।

तात्पर्य यह है कि परमाणु के सूक्ष्म जगत की व्याख्या करने वाले क्वांटम यांत्रिकी के समीकरण तो काल-सममित हैं ही, इस सूक्ष्म जगत में काल की दिशा भी अनिर्धार्य है।

अब विशाल पैमाने के समूचे विश्व की व्यवस्था पर विचार कीजिए। आज हम जानते हैं कि विश्व का निरंतर विस्तार हो रहा है। मंदाकिनियों के बीच की दूरियां बढ़ती जा रही हैं। विश्व का तापमान घटता जा रहा है और एन्ट्रोपी बढ़ती जा रही है। इस बात के भी सबूत मिल गए हैं कि विश्व का तापमान निरंतर घटते-घटते अब करीब 3 डिग्री केल्विन पर पहुंच गया है।

भविष्य में क्या होगा?

विश्व का भविष्य इसमें मौजूद द्रव्य की संपूर्ण द्रव्यराशि से निर्धारित होगा। वैज्ञानिकों ने आज तक विश्व में जितने द्रव्य की खोज की है वह विश्व के विस्तार को रोक सकने के लिए पर्याप्त नहीं है। इसलिए कहा जा सकता है कि विश्व का विस्तार सतत जारी रहेगा। इसका तापमान और भी अधिक घटता जाएगा। इन्ट्रोपी बढ़ती ही जाएगी। अर्थात् काल का तीर आगे ही बढ़ता जाएगा।

मगर सभी वैज्ञानिक ऐसा नहीं सोचते। विश्व में 'अदृश्य' द्रव्य की तलाश जारी है। अनेक वैज्ञानिकों की मान्यता है कि विश्व में पर्याप्त द्रव्य विद्यमान है और भविष्य में विश्व का विस्तार होना रुक जाएगा। उसके बाद, गुरुत्वाकर्षण के अंतर्गत, विश्व सिकुड़ने लग जाएगा। मंदाकिनियां एक-दूसरे के नजदीक आती जाएगी। विश्व का तापमान पुनः बढ़ता जाएगा और एन्ट्रोपी घटती जाएंगी।

वैसी स्थिति में काल की दिशा क्या होगी?

स्पष्ट है कि तब काल विपरीत दिशा में गमन करेगा। काल का तीर विपरीत दिशा में अग्रसर होगा।

तात्पर्य यह कि विशाल पैमाने के विश्व पर विचार करें तो काल की दोनों दिशाएं संभव है—एक भूत से भविष्य की ओर और दूसरी भविष्य से भूत की ओर।

आज अधिकांश वैज्ञानिकों की मान्यता है कि अतीत में, करीब 20 अरब वर्ष पहले, विश्व का समस्त द्रव्य और विकिरण अति उच्च तापमान में एक स्थान पर पूंजीभूत था। किसी कारण से उस महापुंज में अस्थिरता पैदा हुई। कहा जा सकता है कि उसमें महाविस्फोट हुआ। विश्व के इस प्रकार के आरंभ को **बिग बैंग** (Big Bang) का नाम दिया गया है। उसके बाद ही विश्व का विस्तार शुरू हुआ। उसके बाद ही काल का प्रवाह शुरू हुआ। उसके बाद ही दिक् का फैलाव आरंभ हुआ।

महाविस्फोट के समय या उसके पहले द्रव्य या विकिरण और काल तथा दिक् की क्या स्थिति रही हैं, इसके बारे में आज के वैज्ञानिक सिद्धांतों से हमें कोई स्पष्ट जानकारी नहीं मिलती। मगर महाविस्फोट के करीब दश सहस्रांश सेकंड बाद की द्रव्य, विकिरण, दिक् और काल की परिस्थितियों के बारे में आपेक्षिकता के सिद्धांत से स्पष्ट जानकारी मिल जाती है तब से लेकर आज तक के विश्व के विकास का सिलसिलेवार चित्र प्रस्तुत करना संभव है।

इस प्रकार काल की दिशा के बारे में हमें विभिन्न दशाओं के दर्शन होते हैं। तार्किक सिद्धांतों पर आधारित भौतिकी के नियम या समीकरण काल के अग्र या पश्च प्रवाह में कोई भेद नहीं मानते। विशाल पैमाने के समूचे विश्व की व्यवस्था में भी काल के पश्चगमन की संभावनाएं विद्यमान हैं। परमाणु के भीतर के सूक्ष्म जगत में भी काल के दुतर्फा गमन की व्यवस्था अंतर्निहित है। मगर विश्व की एकांकी पृथक प्रणालियों में, जैसा की हमने देखा है, काल का प्रवाह सदैव एक ही दिशा की ओर है—भूत से भविष्य की ओर।

विश्व के विभिन्न भागों में या प्रणालियों में काल-प्रवाह की दिशा में यह विभेद क्यों है? वैज्ञानिक ऐसी समस्या का समाधान खोज रहे हैं। कुछ वैज्ञानिकों का मत है कि समूचे विश्व पर केवल तापगतिकी का दूसरा नियम ही शासन करता है, इसलिए काल का प्रवाह सदैव एकदिश बना रहता है। विश्व की अनपलट प्रक्रियाएं ही वास्तविकता को व्यक्त कर सकती हैं।

जर्मन भौतिकीविद **हान्स राइखेनबाख** का मत रहा है कि समस्त विश्व के संदर्भ में काल के प्रवाह की चर्चा करना संभव नहीं है। हम विश्व के अलग-अलग भागों के संदर्भ में ही काल के प्रवाह को जान सकते हैं और इन भागों में काल का प्रवाह एकदिश होना जरूरी नहीं है।

कुछ अन्य भौतिकीविदों की मान्यता है कि विशाल घटना-क्रमों में और सूक्ष्म घटना-क्रमों में काल-प्रवाह की दिशा को लेकर जो विसंगति लक्षित होती है उसे सांख्यिकीय भौतिकी के आधार पर सुलझाना संभव है।

प्र.चीन काल से अनेक दार्शनिक और वैज्ञानिक कार्य-कारण संबंध को काल की

दिशा का एकमात्र आधार मानते हैं। मगर गहराई से देखें तो स्पष्ट होता है कि काल की दिशा को भूत से भविष्य की ओर प्रवाहित मानकर ही हम कार्य-कारण संबंध के आधार पर कालगत घटना-क्रम को निर्धारित करते हैं। अतः काल की दिशा के निर्धारण के लिए, कार्य-कारण संबंध के अलावा, अन्य कोई आधार खोजना आवश्यक है।

सारांश यह कि काल की दिशा का सवाल वैज्ञानिकों के लिए आज भी एक पहेली बना हुआ है। आइंस्टाइन के आपेक्षिकता के सिद्धांत के अनुसार, प्रकाश की गति (3,00,000 कि.मी. प्रति सेकेंड) ही विश्व की महत्तम गति है। मगर **गेराल्ड फाइनबर्ग** ने टेकियान (tachyon) नामक ऐसी कणिकाओं की कल्पना की है जिनकी गति हमेशा प्रकाश के वेग से अधिक रहती है। यदि इस कल्पना को स्वीकार किया जाए तो निष्कर्ष निकलता है कि ये कणिकाएं काल में पश्चगमन करती रहेंगी। मगर अभी टेकियानों की प्रयोगों से पुष्टि नहीं हुई है।

विश्वोत्पत्ति के महाविस्फोट के सिद्धांत के अनुसार विश्व की उत्पत्ति के साथ ही काल का भी उदगम हुआ। एक परिकल्पना यह भी है कि विश्वोत्पत्ति के बाद, एक अत्यल्प सेकडांश तक, काल का प्रवाह आगे और पीछे दोनों तरफ रहा। कुछ वैज्ञानिकों की यह भी मान्यता रही कि जिस प्रकार प्रकाश फोटान-कणिकाओं का प्रवाह है, उसी प्रकार काल-प्रवाह के लिए भी सूक्ष्म कणिकाओं या बिंदुओं का अस्तित्व होना चाहिए।

इस प्रकार हम देखते हैं काल के प्रवाह के बारे में वे सभी सवाल आज भी अनुत्तरित हैं जिन्हें प्राचीन काल के विचारकों ने उठाया था और जिनके बारे में उन्होंने अपने ढंग से गहन चिंतन किया था। हां, एक फरक अवश्य है : आज के वैज्ञानिक भौतिक विश्व के बारे में प्राप्त नई जानकारी के आधार पर काल के प्रवाह की गुत्थी सुलझाने में जुटे हुए हैं।

काल के स्वरूप के बारे में पुरानी दार्शनिक मान्यताओं और नई वैज्ञानिक मान्यताओं में एक और स्पष्ट अंतर है। आज का विज्ञान इस स्पष्ट निष्कर्ष पर पहुंचा है कि द्रव्य और गति से पृथक दिक् और काल का कोई स्वतंत्र अस्तित्व नहीं है। आधुनिक विज्ञान किसी भी कालातीत सत्ता को स्वीकार नहीं करता है।

56

परमाणु विखंडन! ऐतिहासिक दृष्टि*

प्रो. रमेशचन्द्र कपूर

नाभिकीय विखंडन की सर्वप्रथम पहचान 1939 में हुई। इस क्रांतिकारी अनुसंधान को संपन्न हुए पचास वर्ष से भी अधिक हो गए, जिसके फलस्वरूप परमाणु बम की उत्पत्ति हुई थी। उसके विनाशकारी उपयोग जापान के हिरोशिमा तथा नागासाकी नगरों पर 1945 में किए गए थे। फलस्वरूप जो भयंकर परिणाम हुए उनके प्रभाव वहां के निवासी आज भी झेल रहे हैं। जर्नन रसायनज्ञ **ओतो हान** को परमाणु विखंडन की खोज का श्रेय मिला, परंतु मान्यता यह है कि विश्वभर में फैले हुए अनेक वैज्ञानिकों के अथक प्रयास द्वारा ही यह खोज संभव हो सकी थी। इस समय इसका विंहगावलोकन करने पर ऐसा प्रतीत होता है कि नाभिकीय विखंडन की खोज समय से आठ या दस वर्ष पहले हो जानी चाहिए थी। आश्चर्य इस तथ्य पर होता है कि कुछ वैज्ञानिक तो इस तथ्य के अति निकट आकर भी उसकी खोज से वंचित रह गए। एक ने तो कुछ समय पहले विखंडन के सिद्धांत का प्रतिचालन भी किया परंतु उस समय के वैज्ञानिक समुदाय ने उसकी अनसुनी कर दी थी।

उन्नीस सौ बीस तथा तीस के दशकों में भौतिकी की अनेक रोमांचकारी खोजें हुईं और विश्व भर में अनेक वैज्ञानिक नाभिकीय संरचना तथा क्वांटम बल विज्ञान में तेजी से प्रगति कर रहे थे। सारी क्रियाओं तथा कार्यशैलियों की विवेचना करने पर हम विभिन्न वैज्ञानिकों के योगदानों का मूल्यांकन कर सकते हैं। यह समझना भी आवश्यक है कि उस ऐतिहासिक काल में, आधुनिक काल की अपेक्षा, प्रयुक्त वैज्ञानिक सभी यंत्र अत्यंत स्थूल तथा अपरिष्कृत थे। इस समय लगभग सभी तत्वों के समस्थानिकों को अलग करने के संयंत्र उपलब्ध हैं। किसी भी प्रयोग को आरंभ करने से पहले उसका कंप्यूटर द्वारा अनुकरण संभव है। आज कम्प्यूटर किसी भी प्रतिवाद की सैद्धांतिक जांच कर सकता है। उस काल में यह सब उपलब्ध न था। यदि हम उस काल के वैज्ञानिकों की कठिनाइयों का अनुमान लगाएं तो यह बात आसानी से समझ में आ सकती है कि लगभग पांच वर्षों तक नाभिकीय विखंडन के प्रयोगशाला में सफल परीक्षण के बावजूद उसकी परख क्यों

* विज्ञान, अप्रैल 1991

न हो सकी थी।

यहां यह भी समझना आवश्यक है कि रूसी रसायनज्ञ **मेन्डेलीव** की 'आवर्त सारिणी' का रासायनिक तत्त्वों पर अनुसंधान करने की शैली पर गहरा प्रभाव था। मेन्डेलीव से पूर्व भी कुछ वैज्ञानिकों ने तत्त्वों की तालिकाएं प्रस्तावित की थीं, परंतु उनकी बनाई सारिणी की विशेषता यह थी कि अपने प्रतिपादित नियमों के बल पर मेन्डेलीव ने अनेक नए तत्त्वों के खोजे जाने की भविष्यवाणी की थी जो आगे चलकर खरी उतरी। पंद्रह वर्षों के अंतराल में ऐसे तीन तत्त्वों की खोज हो गई। ये थे **गैलियम** (मेन्डेलीव द्वारा प्रस्तावित एका-एल्युमिनियम), स्कैन्डियम (एका-बोरान) तथा जर्मेनियम (एका-सिलिकन)। अपने भविष्यद् तत्त्वों के नाम प्रस्तावित करते समय मेन्डेलीव ने संस्कृत के एक–, द्वि–, त्रि– पूलिग्नों का प्रयोग किया था। इन तीनों तत्त्वों के भौतिक तथा रासायनिक गुण भी लगभग वही थे जो मेन्डेलीव ने अपनी भविष्यवाणी में कहे थे। पिछली शती के अंत में वैज्ञानिक इन तथ्यों से प्रभावित हो कर मेन्डेलीव की आवर्त सारिणी का आधार लिया करते थे। कुछ ऐसा आभास होने लगा था कि पृथ्वी के लगभग सभी तत्त्व खोजे जा चुके हैं और उनकी बनावट का भी ज्ञान हो चुका है। अब केवल उनके गुणों की सूक्ष्म गणना करनी शेष रह गई है।

परंतु इंग्लैंड के **थामसन** द्वारा इलेक्ट्रॉन तथा 1895 में जर्मनी के **रोंजेन** के द्वारा एक्स किरणों की खोजों से परिस्थिति बदल गई। कुछ ही समय पश्चात् फ्रांसीसी वैज्ञानिक **बैकेरल** ने रेडियो सक्रियता का ज्ञान प्राप्त किया। शीघ्र ही **रदरफोर्ड** ने अल्फ़ा कणों पर अनुसंधान करते समय तत्त्वों के रूपांतरण का सिद्धांत स्थापित किया। उसके कुछ समय बाद **हेनरी मोजले** ने एक्स विकिरणों की स्पेक्ट्रमी रेखाओं की विवेचना द्वारा परमाणु संख्या का सिद्धांत स्थापित किया और उसके महत्त्व को दर्शाया। तदनुसार मेन्डेलीव की आर्वत सारिणी के परमाणु भार के स्थान पर परमाणु संख्या के आधार पर गठित किया गया। इसके फलस्वरूप कुछ तत्त्वों के स्थान परिवर्तित हो गए। दुर्लभ मृदा तत्त्वों की संख्या तथा स्थान की समस्या इसी सिद्धांत पर हल ही गई थी।

डेनमार्क के सुविख्यात वैज्ञानिक **निएल बोर** ने 1921 में परमाणुओं के कक्षीय के सिद्धांत को प्रतिपादित किया था। इसके अनुसार लेंथेनम के अतिरिक्त दुर्लभ-मृदा तत्त्वों की संख्या 14 नियत की गई। साथ में 72 परमाणु संख्या वाले तत्त्व के बारे में यह जाना गया कि वह दुर्लभ-मृदा के साथ न रह कर चौथे समूह में अलग स्थान ग्रहण करेगा। बाद में चौथे समूह के अन्य तत्त्वों के खनिजों के अंदर ही इस तत्त्व की खोज हुई और इसका नाम **हेफनियम** रखा गया। लगभग इसी काल में जर्मनी के **वाल्तर** तथा **इदा नोदक** ने 43 तथा 75 परमाणु संख्या वाले तत्त्वों की खोज का दावा किया और इनके मेसूरियम (43) तथा रीनियम (75) नाम प्रस्तावित किए। मेन्डेलीव ने इन तत्त्वों की खोज की भविष्यवाणी की थी तथा इनको एक–मेंगनीज तथा द्वि–मेंगनीज नाम दिए थे। नोदक द्वारा रीनियम की खोज खरी उतरी परंतु मेसूरियम की पुष्टि न हो सकी। कुछ दिनों बाद इटली के

एमीलियो सेग्रे ने 43 तत्त्व का रेडियो-सक्रिय रूप में निर्माण किया, और इसे टेक्नीशियम नाम से पुकारा गया। यह कार्य मोलिब्डिनम पर ड्यूटीरियम नाभिकों की बमबारी से संपन्न हुआ था।

1919 में केम्ब्रिज विश्वविद्यालय की प्रसिद्ध केवेंडिश प्रयोगशाला के अध्यक्ष पद पर न्यूजीलैंड में जन्मे लब्धप्रतिष्ठ वैज्ञानिक **रदरफोर्ड** की नियुक्ति हुई। उन्होंने ही सर्वप्रथम परमाणुओं के रूपांतरों संबंधी सफल प्रयोग किए थे। 1920 में एक व्याख्यान में उन्होंने यह संभावना प्रकट की थी कि प्रोटॉन के भार के समान एक दूसरा और कण होना चाहिए जो आवेशरहित हो। रेडियोसक्रिय परमाणुओं के गुणों को समझाने के लिए इस कण की उपस्थिति आवश्यक थी। इस वर्ष तक रदरफोर्ड ने इस कण को खोजने का प्रयास किया परंतु सफलता न मिली।

दूसरी ओर 1932 में **फ्रेड्रिक जोलिएट** तथा उनकी **पत्नी इरीन क्यूरी** ने पेरिस में बोरिलियम पर अल्फा कणों की बमबारी के प्रयोग किए, जिनमें कुछ विकिरण उत्पन्न हुए। उनके अनुसार ये गामा विकिरण थे यद्यपि यह भौतिकी के सिद्धांतों के प्रतिकूल ज्ञात होता था। 1920 में रदरफोर्ड द्वारा दिए गए भाषण की ओर जोलिएट—क्यूरी ने कोई ध्यान न दिया था। यदि ऐसा किया होता तो उन्हें न्यूट्रॉन की खोज का श्रेय मिल जाता। कुछ समय पश्चात् उन्होंने खेदपूर्वक अपनी भूल स्वीकार की। उनकी धारणा थी कि अपने मौलिक विचारों को कोई भी वैज्ञानिक सामान्य भाषण में सर्वप्रथम प्रकट नहीं करता है। रदरफोर्ड के उस भाषण के प्रकाशित संस्करण को जोलिएट या क्यूरी ने पढ़ने का कोई प्रयास नहीं किया। सैद्धांतिक अनुसंधानों अथवा विचारों की उस समय उतनी साख न थी, जितनी प्रायोगिक कार्यों की थी।

परंतु रदरफोर्ड के शिष्य **चेडविक** ने जोलिएट-क्यूरी के प्रयोगों के महत्व को तुरंत पहचान लिया। उन्होंने उन प्रयोगों को दोहराया और कहा कि बेरिलियम पर अल्फाकणों की बमबारी से गामा विकिरण उत्पन्न नहीं होते, वरन् न्यूट्रॉनों की उत्पत्ति होती है। न्यूट्रॉन की खोज का श्रेय चेडविक को प्राप्त हुआ और जोलिएट-क्यूरी अपनी अनभिज्ञता के कारण इस खोज से वंचित रह गए।

एक खोज से हाथ धो बैठने के बाद जोलिएट-क्यूरी ने 1934 में कृत्रिम रेडियोसक्रियता की चमत्कारिक खोज की जो सर्वप्रथम एल्यूमिनियम पर अल्फ़ा कणों की बमबारी से संभव हुई थी। इस प्रक्रिया द्वारा धन आवेश वाले इलेक्ट्रॉन (पोजिट्रॉन) की भी पहचान की गई। इसमें आश्चर्य की बात यह हुई कि एल्यूमिनियम पर अल्फ़ा कणों की बमबारी बंद करने के पश्चात् भी पोजिट्रॉनों का उद्‌गम होता रहा जो प्राकृतिक रेडियोसक्रियता के नियमों के अनुरूप था। उन दिनों रेडियोसक्रियता द्वारा उत्पन्न विकिरण या कणों का अध्ययन 'गाइगर-मुलर गणित्रों' द्वारा ही हुआ करता था। अपने प्रयोगों के कारण फ्रेड्रिक जोलिएट बड़ी उलझन में पड़ गए। उन्हें ऐसा प्रतीत हुआ कि या तो उनके गणित्र निरंकुश हो गए हैं अथवा उनके द्वारा मूलभूत खोज हुई है। भली प्रकार जांच से यह पुष्ट

हुआ कि गणित्र बिलकुल सही काम कर रहे थे। जोलिएट-क्यूरी ने शीघ्र ही कृत्रिम रेडियोसक्रियता की खोज की घोषणा की और फलस्वरूप 'नोबेल पुरस्कार' अर्जित किया। उन्हीं दिनों अमेरिकी भौतिकविज्ञानी **लारेंस** केलिफोनिया विश्वविद्यालय में साइक्लोट्रॉन द्वारा उत्पन्न उच्च गतिज कणों की सहायता से नाभिक रूपांतरण पर अनुसंधान कर रहे थे। उनके गणित्र भी प्रायः ऐसा ही असामान्य व्यवहार करते थे। होता यह था कि गतिज कणों के नाभिकों पर बमबारी बंद करने के पश्चात् भी नाभिकों से विकिरण उत्पन्न होते रहते थे। लारेंस ने साइक्लोट्रॉन बंद करने के बाद भी गणित्र के क्रियाशील रहने की विशेषता को न समझा वरन् साइक्लोट्रॉन बंद करने के साथ ही गणित्रों को भी बंद करना आरंभ कर दिया।

उस समय तक समान रासायनिक गुणों के कारण दुर्लभ-मृदा के तत्वों को आर्वत सारिणी में एक स्थान पर रखा जाने लगा था। लैंथेनम के साथ तीसरे समूह में देखने के कारण उन्हें लैंथेनाइड तत्वों की संज्ञा दी गई। परंतु उन्हीं के अनुरूप आवर्त सारिणी की अगली शृंखला में एक्टिनाइड समूह के तत्त्वों का उस समय तक ज्ञान नहीं उभरा था। इसी कारण थोरियम को चौथे समूह तथा यूरेनियम को छठे समूह में रखा जाता था। एक्टीनियम तथा प्रोटोएक्टीनियम को क्रमशः तीसरे तथा पांचवें समूह में स्थान दिया गया था, यद्यपि अत्यंत अस्थिर अवस्था के तत्व होने के कारण उनके रासायनिक गुण उस समय तक भली प्रकार ज्ञात न थे। ऐसा अनुमान था कि यूरेनियम से उच्च परमाणु संख्या वाले पार-यूरेनियम तत्त्वों के रासायनिक गुण छठे समूह तत्वों के समान होंगे। परमाणु विखंडन क्रिया को पहचानने में इस विचार धारा के कारण भी विलंब हुआ।

फर्मी ने न्यूट्रॉन की खोज होते ही परमाणविक अभिक्रियाओं में उसकी विशेष उपयोगिता को पहचान लिया कि आवेशरहित होने के कारण न्यूट्रॉन हल्के तथा भारी दोनों ही वर्गों के नाभिकों के अत्यंत निकट आकर उनसे अभिक्रिया करने में सक्षम होंगे। शीघ्र ही लगभग सभी तत्वों के साथ उन्होंने न्यूट्रॉन प्रक्रिया के अध्ययन आरंभ किए जिससे तत्त्वों के कृत्रिम रेडियोसक्रिय समस्थानिक बने और उनके गुण-धर्मों का अध्ययन हो सका। अधिकतर उन्होंने यह पाया कि निर्मित रेडियोसक्रिय समस्थानिक से इलेक्ट्रॉन का क्षय होता था और तत्व की परमाणु संख्या एक स्थान से बढ़ जाती थी। उदाहरण के लिए सोडियम पर न्यूट्रॉन बमबारी से रेडियो-सोडियम बनता है। और इलेक्ट्रॉन निकल जाने पर वह मैग्नीसियम में रूपांतरित हो जाता है। प्रायः एक अर्ध-जीवन अवधि वाला एक ही विकिरण उदित होकर क्रिया समाप्त हो जाती है। इसके विपरीत यूरेनियम प्रयोगों के समय फर्मी ने चार प्रकार के विकिरणों की पहचान की। प्रत्येक की अलग-अलग अर्ध-जीवन अवधि भी थी। फर्मी के अनुमान से इन क्रियाओं के द्वारा पार-यूरेनियम तत्व बन रहे थे। उन्होंने 93 परमाणु संख्या वाले को-**आसेनियम** तथा 94 को-**हेस्पेरियम** कहा। अपने प्रयोगों में फर्मी ने यह भी पाया कि मंद न्यूट्रॉनों द्वारा अधिक रेडियोसक्रियता उत्पन्न होती थी। यह उस समय बलगतिकी के सिद्धांतों के विपरीत लगता था। इन

प्रयोगों को फर्मी ने इतालियन वैज्ञानिक पत्रिका में छपा कर उसकी पुनर्मुद्रित प्रतियां विश्व के चालीस विख्यात वैज्ञानिकों को प्रेषित की। **रदरफोर्ड** ने धन्यवाद सहित अपनी प्रतिक्रिया भेजी और फर्मी की प्रायोगिक कार्य करने पर बधाई दी। ऐसा लगता है कि उस समय प्रायोगिक वैज्ञानिकों को सिद्धांती की अपेक्षा उच्च स्तर का माना जाता था। अब मालूम होता है कि स्थिति पलट गई है।

अन्य वैज्ञानिकों ने भी फर्मी के अनुसंधानों पर अपनी टिप्पणियां भेजी थीं शिकागो स्थित **फान ग्रासे** ने अपने रासायनिक विश्लेषणों के आधार पर यह निष्कर्ष निकाला कि न्यूट्रॉन बमबारी से यूरेनियम को घट पर प्रोटोएक्टिनियम 91 में परिणित होना चाहिए। आधार यह था कि यदि 93 तत्व बना होता तो उसके रासायनिक गुण सातवें समूह के तत्त्वों (मैंगनीज, रीनियम) के अनुरूप होते। यह यथार्थ में न पाए गए। ग्रासे के प्रयोगों के अनुसार परिणामी तत्व के गुण प्रोटोएक्टीनियम जैसे ज्ञात होते थे। अचरज की बात यह है कि 1934 में स्वयं ग्रासे ने एक अन्य लेख में यह विचार रखा था कि लैन्थेनाइड तत्वों के अनुरूप ही 93 तथा 94 संख्या वाले तत्व एक अन्य समूह के सदस्य हो सकते हैं।

1934 में **सुश्री इदा नोदक** ने एक लेख प्रकाशित किया जिसमें सुझाव था कि यदि यूरेनियम जैसे भारी नाभिक पर न्यूट्रॉनों की बमबारी हो तो नाभिक की टुकड़ों में विभाजित होने की संभावना है। टूटे हुए खंड मूल तत्व के पड़ोसी न होकर आवर्त सारिणी की मध्यमान स्थिति के तत्त्वों के समस्थानिक होंगे। यह उद्गार भौतिकी नियमों के प्रतिकूल ज्ञात होते थे और इसी कारण कुछ समय तक नोदक इस लेख को प्रकाशित करने में हिचकिचाईं। अंततः अपने पति की सहमति से एक यात्रा के बीच में वारसा नगरी से उस लेख को डाक द्वारा छपने के लिए भेज दिया। उस समय वह एक कान्फ्रेंस में सम्मिलित होने के लिए रूस की राजधानी मास्को जा रही थीं। वह लेख जर्मन पत्रिका 'अगवनूदांते खेमि' में 1934 के एक अंक में छपा था परंतु उसमें दिए क्रांतिकारी विचार को वैज्ञानिक समुदाय ने अटकलबाजी ही समझा होगा। अब यह आश्चर्यजनक प्रतीत होता है कि उस समय किसी ने भी जांच के लिए प्रयोग नहीं किए। मुख्य कारण यह हो सकता है कि उस समय तक नाभिकों की सामूहिक गतिजि पर किसी ने ध्यान नहीं दिया था। तब तक नाभिक की बनावट के बारे में नियेल बोर ने तरल बिंदु प्रारूप सिद्धांत को प्रतिपादित नहीं किया था। सुश्री नोदक को, विशेषकर ओतो हान द्वारा, अपने सिद्धांत के अनादर का बहुत क्षोभ रहा।

फर्मी ने विशेष कारणों से कुछ समय के लिए यूरेनियम प्रयोगों से अपना ध्यान हटाकर न्यूट्रॉन के मूलभूत गुणों की जांच पर केंद्रित किया। इन अनुसंधानों के फलस्वरूप फर्मी को 'नोबेल पुरस्कार' मिला। उन्हीं दिनों इटली में फासिस्ट ताकतें अपनी जकड़ मजबूत कर रही थीं। फर्मी की पत्नी की माता के यहूदी होने के कारण उन्हें संकट की आशंका हुई। इसलिए 1938 में उन्होंने अमेरिका में बसने का निश्चय कर लिया।

फलस्वरूप यूरेनियम प्रयोग फ्रांसीसी तथा जर्मन हाथों में ही रह गए।

उस समय जर्मनी की राजधानी बर्लिन में **सुश्री महाइतनर** तथा **ओतो हॉन** यूरेनियम पर न्यूट्रॉन की बमबारी के सूक्ष्म प्रयोग कर रहे थे। उनके अनुसार बमबारी के फलस्वरूप अनेक पार-यूरेनियम तत्व निर्मित हो रहे थे जिनकी परमाणु संख्या 93 से 96 तक थी। परंतु अचम्भा इस तथ्य पर था कि प्रयोगों के कारण बीटा विकिरणों की अनेक क्रमबद्ध शृंखलाए प्रगट हो रही थीं। यूरेनियम जैसे भारी तत्वों के प्राकृतिक रेडियोसक्रिय प्रक्रम में बीटा विकिरणों के अधिकतम दो ही क्रम एक साथ मिलते थे, जिनके पश्चात् एक अल्फा कण का क्षय होता था। उधर पेरिस में जोलिएट-क्यूरी दंपत्ति ने थोरियम पर न्यूट्रॉन बमबारी से कार्य का श्रीगणेश किया और फिर उन्हें यूरेनियम पर दोहराया। प्रयोगों में उन्हें एक नवीन रेडियोसक्रियता मिली। उन्होंने एक्टीनियम के समस्थानिक को इसका स्रोत समझा, क्योंकि उत्पाद के रासायनिक गुण लैंथेनम से मिलते थे। आज हम यह समझ सकते हैं कि जोलिएट-क्यूरी के प्रयोगों से यूरेनियम का विखंडन हुआ था, जिसका एक उत्पाद लैंथेनम 141 था। यही लैंथेनम का समस्थामिक नई रेडियो-सक्रियता का स्रोत रहा होगा। अपने संस्मरणों में क्यूरी ने यह लिखा था कि उन दिनों उन्हें कभी-कभी ऐसा लगता था कि यूरेनियम प्रयोगों में आवर्त सारिणी के अधिकांश तत्व जमा हो गए थे। परंतु उन्होंने उस समय तो यही निष्कर्ष निकाला था कि 93 संख्या वाला तत्व प्रयोगों में बना था।

क्यूरी के प्रयोगों पर आधारित शोधपत्रों को पढ़ कर ओतो हान को उलझन तथा झुंझलाहट हुई! क्यूरी के प्रति फ्रेड्रिक जोलिएट से एक बार उन्होंने यहां तक कहा कि आपकी पत्नी का कार्य सर्वथा गलत है परंतु महिला होने के कारण वह उनकी खिल्ली नहीं उड़ाना चाहता। हान ने क्यूरी द्वारा ढूंढ़ें हुए रेडियोसक्रिय तत्व के नाम हंसी में क्यूरीओसम (Curiosum) रख दिया।

1930 के दशक में जर्मनी के अंदर हिटलर का उत्थान हो रहा था। सुश्री माइतनर आस्ट्रिया के एक रोमन कैथोलिक परिवार में पैदा हुई थीं, परंतु उनकी मां यहूदी नस्ल की थी। आस्ट्रिया को 1938 में दबोचने के बाद जर्मनी में बनाए यहूदी विरोधी कानून आस्ट्रिया के नागरिकों पर भी लागू हो गए और माइतनर के लिए जर्मनी छोड़ कर जाना नितांत आवश्यक हो गया। उसी वर्ष हेफनियम की खोज करने वाले **डर्क कास्टर**, माइतनर को जर्मनी से निकालने में सफल हो गए। विश्वविख्यात वैज्ञानिक **पाउली** ने कास्टर की इस सफलता पर यह बधाई का तार भेजा—"माइतनर को भगा कर तुमने उतनी ही ख्याति पाई है जितनी की हैफनियम की खोज से तुम्हें मिली थी!" माइतनर हालैंड होते हुए स्वीडन पहुंचीं और स्टाकहोम में स्थिति ज़िगबाम के शोध संस्थान में उन्हें स्थान मिल गया।

हान तथा माइतनर की प्रयोगशाला में कुछ नात्सी विचारधारा वाले युवा वैज्ञानिक भी थे। वे हिटलर द्वारा प्रचलित भूरी कमीज की पोशाक में ही काम पर आते थे। इन्हें

SS या तूफ़ानी फौजी के नाम से पुकारा जाता था। **फॉन ड्रास्टे** नामक एक ऐसे ही वैज्ञानिक से माइतनर ने यूरेनियम प्रयोगों द्वारा उत्पन्न अल्फ़ा कणों की जांच करने को कहा। आसिलसकोप पर अल्फा कणों के पुंज **फॉन ड्रास्टे** को क्षणिक काल के लिए दिखाई देकर गायब हो जाते थे। ड्रास्टे यदि यंत्र की संवेदनशीलता घटा देता तो कदाचित उसे यूरेनियम विखंडन के स्पंद दृष्टिगोचर हो जाते। अंततः वह जांच करने में असफल रहा, परंतु बाद में उसने शिकायत की कि माइतनर ने उसे 'बेकार' आदमी की संज्ञा दी गई।

माइतनर के पलायन के बाद हान ने अपने शिष्य स्ट्रासमान् के साथ कार्य जारी रखा। कुशल रासायनिक विश्लेषणों से उसे यह स्पष्ट हो गया कि अपने प्रयोगों के जिए उत्पाद को वह रेडियम समझता था वह वास्तव में बेरियम का रेडियोसक्रिय समस्थानिक था। अपने कार्य पर पूर्ण विश्वास होने से वह समझ गया कि इन प्रयोगों में यूरेनियम का क्षय रूपांतरण न होकर उसके नाभिक का विखंडन हो रहा था जिसमें उसके नाभिक टूट कर छोटे नाभिकों में बदल रहे थे इन प्रयोगों पर आधारित उसका ऐतिहासिक शोधपत्र जर्मनी की पत्रिका 'नातूरविजेनशाफ़्तन' के 1939 के अंक में प्रकाशित हुआ। उन्होंने लिखा था—''अपने प्रयोगों के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यूरेनियम पर न्यूट्रॉनों की प्रक्रिया द्वारा उत्पन्न जिन उत्पादों को हम रेडियम तथा एक्टीनियम समझते थे वे वास्तव में बेरियम, लेंथेनम वा सीजियम थे। ये परिणाम अभी तक किए गए सारे भौतिक प्रयोगों के प्रतिकूल प्रतीत होते हैं। इसी कारण नाभिकी रसायनज्ञ होने के नाते हमें इतनी बड़ी छलांग को लेना कठिन मालूम होता है।' हान को अपने परिणामों पर पूरा भरोसा था परंतु रसायनज्ञ होने के कारण वह भौतिकी की इतनी बड़ी खोज की घोषणा करने में हिचकता था। उसी समय हान ने माइतनर को अपने परिणामों के बारे में भी लिखा। उत्तर तुरंत आया कि यूरेनियम का विखंडन असंभव नहीं है। 1939 में अंग्रेजी पत्रिका 'नेचर' के एक अंक में माइतनर ने अपने भतीजे **ओतो फ्रिश** के साथ एक लेख प्रकाशित किया, जिसमें लिखा था कि उनका निष्कर्ष है कि अपने प्रयोगों द्वारा हान यूरेनियम नाभिक के विखंडन करने में सफल हुए हैं। उस लेख में nuclear fission (न्यूक्लियर फिशन) मुहावरे का सर्वप्रथम उपयोग किया गया था। यह मुहावरा जीव विज्ञान कोष-से लिया गया था। बाद में फ्रिश ने और हान ने प्रयोगों को दोहराया और यूरेनियम नाभिक के खंडित टुकड़ों से उत्पन्न स्पंदों को ओसिलॉस्कोप पर स्वयं देखा।

नाभिक विखंडन की खोज में कई वर्ष के विलम्ब होने के अनेक कारण थे। आवर्त सारिणी के मान्य प्रारूप से वैज्ञानिकों ने अपने परिणामों से गलत निष्कर्ष निकाले। कृत्रिम रेडियोसक्रियता की खोज के आरंभिक काल में यह देखा गया था कि रेडियो सक्रिय तत्व बीयक्षय के कारण अपने पड़ोसी तत्व में बदलता जाता था। इसीलिए बहुत काल तक किसी को नाभिक विखंडन का विचार न आया। 1932 में नोदक द्वारा प्रकाशित सैद्धांतिक लेख पर यदि ध्यान दिया गया होता तो कदाचित जोलिएटक्यूरी

अपने प्रयोगों में परमाणु विखंडन की पहचान कर लेते। उनकी असफलता का एक कारण यह भी था कि विखंडन क्रिया द्वारा उत्पन्न जटिल समिश्रण के रासायनिक विश्लेषण में वे असमर्थ रहे। विषम राजनैतिक परिस्थितियों में सुश्री माइतनर को हान की प्रयोगशाला छोड़ कर ऐसे समय में जाना पड़ा जब कि उनका समूह परमाणु विखंडन की खोज के निकट पहुंच चुका था। वे इसका श्रेय पाने से वंचित रह गईं। फिर भी यह मानना पड़ेगा कि माइतनर ने हान की खोज की महत्ता को सर्व प्रथम पहचाना।

इस तथ्य पर ध्यान देने से रोंगटे खड़े हो जाते हैं कि यदि हान और उनके सहयोगियों ने परमाणु विखंडन की खोज 1939 के स्थान पर 1934 में की होती जो जर्मनी के वैज्ञानिकों को द्वितीय युद्ध आरंभ होने से पहले ही परमाणु अस्त्रों के विकास के लिए समुचित समय मिल गया होता। उस स्थिति में विश्व इतिहास किसी और दिशा में मोड़ लेता।

57

सिगरेट*

अनिल श्रीवास्तव

पीजिए
महानुभाव!
कार्बन मोनोऑक्साइड,
बेंजोपायरिन,
हाइड्रोजन साइनाइड,
कार्बोलिक एसिड जैसी
खतरनाक गैसों में लिपटी;
जहरीली निकोटिन और
टारकोल के मिश्रण से तैयार;
लकवा, दमा,
फेफड़े और मुंह के कैंसर
के शानदार उपहारों से
आपको शोभित करती;
आस-पास और
घर के माहौल को विषाक्त बनाती
क्षणिक आनंद की
विषैली आदत के रूप में;
आपकी परम् पूज्या (?);
अपनी मात्र एक संख्या से
तमाम जन्मों के बाद मिले
ब्रह्मा की उत्कृष्ट
और सर्वोत्तम रचना के
पांच मिनट खा जाने वाली;
सफेद-रंगीन कागज में छिपी
बदबूदार, तुच्छ-सी सिगरेट।

---

* 'विज्ञान', मई-जून 1992

विज्ञानकथा

रोबो मिशन*

इरफान ह्यूमन

सुभाष एक फ़िल्म निर्माता था। आज उसकी नई फिल्म रिलीज हुई थी, यह उसी की पार्टी थी। पार्टी में छोटे-बड़े कलाकारों के साथ बहुत से निर्माता-निर्देशक उपस्थित थे। सुभाष मेरा बचपन का दोस्त था, उसके बहुत आग्रह पर मैं कभी-कभी उसकी शूटिंग भी देखने चला आता था। आज वह बहुत खुश दिखाई दे रहा था लेकिन जब भी उसकी कोई नई फिल्म रिलीज होती मैं उससे नाराज हो जाया करता था।

"सुभाष, तुमने फिर फिल्म का निर्माण किया जिसमें खून-खराबा और लड़ाई-दंगे के अतिरिक्त कुछ नहीं है। क्या तुम कोई...।"

"हां भई, मुझे मालूम है तुम आगे क्या कहोगे।" उसने मेरी बात काटते हुए कहा "तुम यही कहोगे न कि मैं इन सबसे हटकर कोई वैज्ञानिक फिल्म का निर्माण क्यों नहीं करता।" "हां सुभाष, तुम समझने की कोशिश क्यों नहीं करते कि विज्ञान गल्प और फंतासी हमें भावी दुनिया को गढ़ने में मदद करती है।"

हमारी बातें सुनकर सभी निर्माता व निर्देशक भी हमारी बहस में सम्मिलित हो गए और वहां वैज्ञानिक फिल्मों का निर्माण खासा चर्चा का विषय बन गया।

"वैसे वैज्ञानिक गल्प व फंतासी पर आधारित सिनेमा की शुरूआत सन् 1902 में हो गई थी जब जार्जेज मेलीज के कैमरे में एक तकनीकी खराबी आ जाने के कारण खिंची हुई फिल्म में विशेष प्रभाव अर्थात स्पेशल इफेक्ट आ पड़े। इस फिल्म को डिवेलप करने पर देखा गया कि सड़क पर चलते पुरुष अचानक स्त्रियों में बदल गए और गाड़ियां हवा में गायब हो गईं। मैंने कहा तभी एक और निर्माता बोल पड़ा—"और यह फास्ट एण्ड स्लो मोशन, मल्टिपल एक्सपोजर मैटे इफेक्ट, स्टाप मोशान, डिजाल्व फेड आदि विशेष प्रभाव मेलीज की ही खोज के परिणाम हैं।" "अच्छा बाबा ठीक है, मैं अपनी अगली फिल्म का निर्माण साइंस फिक्शन पर ही करूंगा।" सुभाष मुस्कराते हुए बोला।

"यह बात हुई न...। मैंने चहकते हुए कहा।

"लेकिन एक शर्त है।" वह बोला।

---

* विज्ञान प्रगति, जनवरी 1992

"क्या?"

"फिल्म के लिए विज्ञान पर आधारित कथा तुम ही लिखोगे।"

"देखो सुभाष...।"

"नहीं, मैं न नहीं सुनना चाहता।"

इस प्रकार उसके आग्रह पर मैंने हां कर दी। पार्टी लगभग समाप्त हो चुकी थी। सात बज चुके थे। मैंने उस फिल्म की एक वीडियो कैसेट उठाई और आज्ञा लेते हुए कहा—"अच्छा सुभाष, अब चलता हूं।"

"अच्छा, लेकिन ठहरो, अगर तुमको आपत्ति न हो तो अपनी गाड़ी में दीपिका को भी लेते जाओ।"

मैंने हामी भर दी। दीपिका उस फिल्म की अभिनेत्री थी जो मेरे फ्लैट के समीप ही रहती थी। हम लोग कार में बैठकर चल दिए। कार पथरीली सड़क पर फर्राटे भरती हुई दौड़ रही थी और दूर पहाड़ों के पीछे सूर्य डूबता हुआ पीला पड़ता जा रहा था। हम लोगों को एक घण्टा बीत चुका था। सड़क तो जैसे खत्म होने का नाम ही नहीं ले रही थी, अंधकार भी बढ़ने लगा था। पहाड़ियां खत्म करके अब सड़क के दोनों ओर पथरीले मैदान प्रारंभ हो गए थे।

"यह सड़क है या शैतान की आंत...।" दीपिका बोली।

"बस पंद्रह-बीस मिनट का रास्ता और है।" मैंने हंसकर कहा ही था कि तभी कार हिचकोले खाती हुई रूक गई, फिर मैं उसे चलाने की लाख कोशिश करता रहा पर वह अपने स्थान से टस से मस नहीं हुई।

"क्या हुआ?" दीपिका बोली।

"कुछ समझ में नहीं आ रहा...।" और तब मैंने फिर कोशिश की लेकिन कार की स्थिति में कोई परितर्वन नहीं आया। तभी मुझे दूर कहीं हल्की सीटी की आवाज सुनाई दी। ऐसी विचित्र आवाज सुनकर दीपिका ने प्रश्नवाचक दृष्टि से मेरी ओर देखा। सीटी की आवाज धीरे-धीरे बढ़ती गई। तभी आकाश में एक प्रकाश पुंज प्रकट हुआ जो धीरे-धीरे पृथ्वी की ओर बढ़ रहा था। अब प्रकाश पुंज स्पष्ट होने लगा था। वह नीले व हरे प्रकाश में नहाई हुई कोई वस्तु थी जो धीरे-धीरे मैदान में उतर रही थी।

"उड़नतश्तरी!" मैं फुसफुसाया।

उ-उड़नतश्तरी?" दीपिका ने दुहराया। उसके माथे पर पसीना छलक आया था।

उड़नतश्तरी मैदान में उतर चुकी थी। नीले हरे प्रकाश का एक चक्र उसके चारों ओर घूम रहा था। तभी उसमें एक द्वार प्रकट हुआ और प्रतीत हुआ कि कोई अज्ञात शक्ति हमें उड़नतश्तरी की ओर खींच रही है। हमारा सिर चकराने लगा था और यकायक आंखें बंद होने लगी।

आंखें खोली तो स्वयं को एक विचित्र स्थान पर पाया, सिर अभी भी चकरा रहा था। मैंने पीछे मुड़कर देखा तो दीपिका भी आंखें फाड़े चारों ओर देख रही थी। उस स्थान पर मशीनों के अतिरिक्त और कुछ दिखाई नहीं दे रहा था। सामने ही एक स्क्रीन लगी थी जिस पर कोई नीला सा गोला दिखाई पड़ रहा था।

"हम कहां हैं?" दीपिका बोल उठी।

मैंने कुछ कहने के लिए होंठ खोले ही थे कि कक्ष में एक खरखराती हुई सी आवाज गूंजी—"घबराओं नहीं, तुम जहां भी हो सुरक्षित हो।"

"पर हम हैं कहां...?" मैं बोला।

"तुम हमारे यान में हो। स्क्रीन पर जो गोला देख रहे हो वास्तव में तुम्हारी पृथ्वी है।"

"यह...ये पृथ्वी?" हमारे आश्चर्य की सीमा न रही।

"हां पृथ्वी, और इस समय हम इक्वीग्रेवीस्फीयर पर रुके हुए हैं। (इक्वीग्रेवीस्फीयर—यह पृथ्वी के चारों ओर ब्रह्माण्ड में गोलाकार सतह है, जिस पर पृथ्वी का गुरुत्वीय बल स्थिर रहता है।)

"ल-लेकिन क्यों?" हम लोग घबरा उठे।

"क्योंकि हमें तुम्हारी आवश्यकता है। खैर, सबसे पहले हम अपना परिचय दे दें। हम इसी आकाश गंगा के हैं, हमारे ग्रह की दूरी तुम्हारे सूर्य से लगभग 30,000 प्रकाश वर्ष है और हमारे ग्रह का विज्ञान तुम्हारी पृथ्वी से करोड़ों वर्ष आगे हैं।" कुछ क्षण आवाज रूककर पुनः सुनाई दी—"इस यान में प्रोफेसर पिडिलेचु अर्थात आर.ई.4, एक इथनोलोजिस्ट, डॉ. नेलेवर. अर्थात आर.जी. 10, एक जिओलोजिस्टर, डॉ. वेनेस्स्की अर्थात आर.जी.एस. 7, ए एस्ट्रोनाट और स्वयं मैं कमाण्डर आर.ए.। एक एक्सोबायोलोजिस्ट (एक्सोबायोलोजिस्ट-अन्य ग्रहों पर जीवन की संभावना का अध्ययन करने वाला) हैं।

"लेकिन कमाण्डर...?"

"घबराओं नहीं, सब पता चल जाएगा। हम जिस ग्रह से आए हैं वह अब वीरान हो चुका है। जैविक और रासायनिक युद्ध से वहां के प्राणियों ने दम तोड़ दिया है। हमें इस युद्ध का पूर्व आभास हो गया था इसलिए हमने अपने ग्रह के अभी बताए गए चारों वैज्ञानिकों के ज्ञान को अपनी फ्लोपी डिस्क में कैद कर लिया।"

"इसका मतलब यह कि तुम लोग प्राणी नहीं बल्कि सुपर कम्प्यूटर हो।" मैं बोला।

"हां, आपने ठीक समझा। हम चारों रोबोट ने अपना ग्रह नष्ट होते ही एक अन्य ग्रह की खोज कर ली जिसकी पारिस्थितिकी बिलकुल तुम्हारे ग्रह जैसी है लेकिन वहां पर कोई बुद्धिमान जीव नहीं है। "हम चाहते हैं कि उस ग्रह पर एक ऐसे समाज का गठन हो जो द्वेष और घृणा से मुक्त हो, जहां धर्म-जातियां, रंग, क्षेत्र, भाषा की समस्या और खून-खराबे का नाम तक न हो। जहां हो सिर्फ वैज्ञानिक मनोवृत्ति और मानवता।"

"इसी उद्देश्य को लेकर हम अपनी आकाश गंगा के हर ग्रह का अध्ययन कर रहे हैं। जब हमारा यान तुम्हारे ग्रह के पास से गुजरा तो हमें तुम्हारी पृथ्वी पर जीवन के लक्षण दिखाई दिए। कुछ और निकट पहुंचने पर हमारी दृष्टि तुम पर पड़ी और हमने उस ग्रह के लिए तुम लोगों को चुन लिया।"

"उस वीरान ग्रह के लिए?" मैं सूखे कण्ठ से बोला।

"हां! उस ग्रह को आबाद करने और हमारी भावनाओं के अनुरूप उस समाज के गठन करने का सौभाग्य तुम्हें ही प्राप्त होगा यदि तुम हमारे परीक्षणों के अनुकूल उतरे।

"न-नहीं-नहीं, मुझे मेरी पृथ्वी पर पहुंचा दो।" दीपिका ने घबराकर विनती की।

"घबराओं नहीं वहां तुमको पृथ्वी से भी अच्छी सुविधाएं मिलेंगी। अब मैं तुमको परीक्षण के लिए महान इथनोलोजिस्ट प्रोफेसर पिडिलेचु अर्थात आर.ई.4 के पास भेज रहा हूं। यदि तुम इनके परीक्षण पर सही उतरे तो यह यान इक्वीग्रेवीस्फीयर से बाहर निकल जाएगा और हम हर क्षण पृथ्वी से करोड़ों किलोमीटर दूर होते चले जाएंगे।"

"हे भगवान, यह अपना फैलसा बदल दें।" दीपिका आंखें मूंद ईश्वर से प्रार्थना करने लगी। तभी पीछे की समतल दीवार में एक द्वार प्रकट हुआ और एक विचित्र शक्ल-सूरत का रोबोट अंदर प्रविष्ट हुआ। उसने निकट आकर मेरे थैले की ओर इशारा किया। मैंने अपना थैला उसकी ओर बढ़ा दिया जिसमें सुभाष की दी हुई वीडियो कैसेट रखी थी।

मैं सोचने लगा कि क्या ऐसे उच्च्य विचारों को लेकर कोई रोबो मिशन हो सकता है, क्या यह हमारी भाषा बोल सकते हैं? लेकिन ऐसा संभव भी हो सकता है क्योंकि उनके ग्रह का विज्ञान हमारी पृथ्वी से इतना आगे जो ठहरा।

इस बीच रोबोट कैसेट को अपने वक्ष स्थल में स्थित हुए स्थान में लगा चुका था। अब उसकी आंखें सफेद स्क्रीन की ओर थीं। और स्क्रीन पर फिल्म के सारे दृश्य उभर रहे थे। उस समय एक लड़ाई का दृश्य था, एक व्यक्ति दूसरे व्यक्ति को जान से मारने का प्रयत्न कर रहा था और फिर चारों ओर बहता हुआ खून...।

"ओह् नहीं कमाण्डर, ये लोग हमारे मिशन के योग्य नहीं हैं। इस ग्रह के लोग हमारे उस सपनों के समाज वाले ग्रह की नींव कभी नहीं रख सकते।" अचानक आर. ई.4 चीख पड़ा।

"इसका मतलब हमें इन लोगों को वापस पृथ्वी पर भेजना होगा। खैर, अभी बहुत से ग्रह हैं जहां पर जीवन होगा। किसी न किसी ग्रह के लोग तो ऐसी दूषित भावनाओं से मुक्त होंगे।" कमाण्डर की आवाज सुनाई दी और उसने आर.जी.7 को वापस पृथ्वी पर चलने की आज्ञा दी। यान पृथ्वी की ओर बढ़ने लगा। था, तभी कक्ष में धुंध छाने लगी और जब धुंध हटी तो हमने स्वयं को अपनी कार के निकट पाया।

"बच गए...।" दीपिका ने ठंडी श्वास खींचते हुए कहा।

"हां, आज इस कैसेट ने बचा लिया वरना...।" मैंने हंसते हुए कहा।

"क्या, आज की घटना को लेकर हमारी बातों पर कोई विश्वास करेगा?" दीपिका ने मुस्कराते हुए प्रश्न किया।

"शायद नहीं! लेकिन हां, सुभाष की फिल्म के लिए आज की घटना पर विज्ञान कथा जरूर लिखी जा सकती है।" इतना कहकर मैंने कार चालू कर दी। अब हम तेजी से शहर की ओर बढ़ रहे थे।

ग्रीन हाउस प्रभाव और बदलता मौसम*

हरीश अग्रवाल

कहा जा रहा है कि 'ग्रीन हाउस प्रभाव' के कारण पृथ्वी गरम हो रही है। इस प्रभाव का यह नाम स्वीडिश रसायनविद **स्वांते आरहीनियस** ने 1896 में दिया था। उसने सिद्धांत रखा था कि फासिल ईंधनों के जलाने से वायुमंडल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा बढ़ जाएगी और पृथ्वी गरम होने लगेगी। उसने गणना की थी कि यदि वायुमंडल में कार्बन डाइऑक्साइ की मात्रा दुगुनी हो गई तो पृथ्वी का तापमान 4.5 अंश सेल्सियस बढ़ जाएगा। आज की जाने वाली गणनाओं से यह संख्या पूरा मेल खाती है।

करोड़ों वर्षों से इस 'ग्रीन हाउस प्रभाव' के कारण पृथ्वी पर जीवन पनपा है। जब किसी कांच के बने ग्रीन हाउस में सूर्य की किरणें प्रवेश करती हैं और उसे गरम कर देती हैं, उसकी दीवारें इस गरमी को बाहर की ठंडी हवा में जाने से रोक देती हैं। परिणामस्वरूप ग्रीन हाउस का तापमान बाहर के तापमान से बढ़ जाता है। ठीक इसी प्रकार ग्रीन हाउस गैसों की थोड़ी मात्रा ही सूर्य की गरमी को पकड़ लेती है और भूमि, हवा व पानी को गरम करती है और जीवन के विभिन्न रूपों को पनपने में मदद करती है।

ग्रीन हाउस गैसों की सूर्य की गरमी को पकड़ने की क्षमता के कारण, यह गरमी निचले वायुमंडल में काफी समय तक रहती है जिससे पृथ्वी, वनस्पति, नदियों, झीलों व समुद्रों से पानी के वाष्प बनने में मदद मिलती है। यही वाष्प वायुमंडल की ठंडी ऊंचाइयों में उठती है। इससे बादल बनते हैं और वर्षा होती है।

औद्योगिक युग से पूर्व वायुमंडल में प्राकृतिक रूप से विद्यमान ग्रीन हाउस गैसें सूर्य की गर्मी को ठीक मात्रा में जज्ब करती थीं। तब पृथ्वी का औसत तापमान 15 अंश सेल्सियस रहता था। अब आदमी द्वारा निर्मित गैसें निचले वायुमंडल में ज्यादा से ज्यादा सूर्य की गर्मी जज्ब कर रही हैं और इसे अंतरिक्ष में जाने से रोक रही हैं। इसके परिणामस्वरूप पृथ्वी का तापमान सन् 2100 तक 2-5 अंश सेल्सियम बढ़ने का पूर्वानुमान लगाया गया है। यह तापमान उस समय तक बढ़ता रहेगा जब तक हम ग्रीन हाउस गैसों की निकासी नहीं रोकेंगे। वायुमंडल में इनकी उपस्थिति एक बार फिर

* विज्ञान, मई-जून 1992

औद्योगिक पूर्व स्तर तक हो जानी चाहिए, तब जाकर तापमान वृद्धि रुकेगी।

हर वर्ष आदमी की गतिविधि के कारण 5.7 अरब टन कार्बन वायुमंडल में घुलता है, जिसके साथ अन्य ग्रीन हाउस गैसें भी होती हैं। ये हैं—क्लोरोफ्लोरो कार्बन, मीथेन तथा नाइट्रसआक्साइड। कार्बन डाइऑक्साइड प्रमुख ग्रीन हाउस गैस है, जिसके कारण 55 प्रतिशत तापमान की वृद्धि होती है। इसके बाद क्लोरोफ्लोरोकार्बनों का नम्बर है, जो मुख्यतः रेफ्रीजेरेशन' एयर-कंडीशनिंग, झाग-युक्त पदार्थ तथा इंसुलेशन सामग्री उत्पादन तथा एयरोसोलों में इस्तेमाल होते हैं। इनसे 24 प्रतिशत तापमान वृद्धि होती है। मीथेन से 15 प्रतिशत तथा नाइट्रस ऑक्साइड से 7 प्रतिशत वृद्धि होती है।

ग्रीन हाउस गैसें वायुमंडल में कई दशकों और यहां तक कि शताब्दियों तक रहती हैं। इस कारण यदि हम कल ही ग्रीन हाउस गैसों की निकासी बंद कर दें, पृथ्वी फिर भी गरम होती रहेगी और जलवायु कम से कम एक शताब्दी तक बदलती रहेगी।

60

विश्व का बढ़ता तापमान और उसके संभावित परिणाम*

प्रकाश तातेड़

ब्रह्माण्ड के अब तक ज्ञात ग्रहों में हमारी पृथ्वी एकमात्र जीवनधारिणी है जहां मानव सहित विविध जन्तुओं व पौधों का आवास है। ऊंचे हिम शिखर, हरी-भरी घाटियां, सघन वन, शीतल पवन, बहती नदियां, उमड़ते सागर और मनमोहक मौसम वाली हमारी सुरम्य धरती को स्वर्ग से श्रेष्ठ माना गया है। आज पृथ्वी का नैसर्गिक सौंदर्य विनष्ट होता जा रहा है। औद्योगिक संस्थानों से निकले काले धुएं और विषैले अपशिष्ट, परमाणु भट्टियों के घातक विकिरण, बढ़ती आबाद का बोझ, अंधाधुंध पेड़ों की कटाई, वाहनों का धुआं, नालियों का गंदा पानी, कचरे के ढेर, प्रदूषित जल स्रोत, पृथ्वी का बढ़ता ताप, ग्रीनहाउस प्रभाव, ओजोन मंडल में छेद, कानफोड़ शोर, बदलता मौसम, लुप्त होती वन्यजीव जातियां, पृथ्वी के वर्तमान पर्यावरण के ये दुखद परिदृश्य पृथ्वी के भविष्य के प्रति आशंकित करते हैं। पृथ्वी के इस परिवर्तित स्वरूप के विषय में फ्रांसीसी लेखक **रेने दे वातेब्रि** का कथन बड़ा ही मार्मिक है—"जंगल मनुष्य के जन्म से पहले थे, रेगिस्तान मनुष्य के कारण बने।" अतः इन विषय परिस्थितियों का कारण मानव की महत्वाकांक्षा है जिससे विकसित हुई विज्ञान व प्रौद्योगिकी ने हमें प्रकृति को नियंत्रित कर, दोहन करने की भोगवादी शिक्षा दी है। इसका दुष्परिणाम हुआ, आज पृथ्वी पर जीवन के अस्तित्व का भयावह संकट।

विश्व का बढ़ता तापमान

23 जून, 1988 को अमेरिका के राष्ट्रीय उड्डयन तथा अंतरिक्ष प्रशासन के डॉ. **जेम्स हेनसेन** ने अमेरिकी सीनेट के समक्ष यह घोषणा कर विश्व को चौंका दिया कि ग्रीनहाउस प्रभाव ने पृथ्वी के जलवायु को बदलना प्रारंभ कर दिया है जिससे हिम शिखर पिघल जाएंगे, समुद्र की उत्ताल लहरें टापुओं, व बस्तियों को जलमग्न कर देंगी, पृथ्वी पर एक

* विज्ञान, जुलाई 1992

ही ऋतु होगी—गर्मी की, जिससे झुलसने लगेंगे मानव, जन्तु और पेड़ पौधे। तब विश्व के बढ़ते तापमान में हमारी स्थिति होगी प्रेशरकुकर में रखे बैंगन की तरह, असहाय, निरुपाय।

पृथ्वी के बढ़ते तापमान की इस समस्या को गहराई से जानने के लिए हम पृथ्वी के अतीत पर दृष्टि डालें। पृथ्वी अपनी उत्पति से ही परिवर्तनशील रही है। पृथ्वी कभी अग्नि पुंज रही तो कभी हिमाच्छादित। इस पर भौगोलिक व स्थलाकृति संबंधी अनेक विशाल परिवर्तन हुए हैं। किंतु वे सारे परिवर्तन धीमी गति से हुए और पूरी तरह प्राकृतिक थे। आज जो परिवर्तन हो रहे हैं। वे मानवजन्य हैं तथा वातावरण में असंतुलन उत्पन्न करने वाले हैं।

पृथ्वी की सतह का ताप जलवायु का प्रमुख निर्देशक तत्व है। पृथ्वी को सूर्य से 5800 परम ताप पर विकिरण प्राप्त होते हैं जिसमें से लगभग 99.5 प्रतिशत विकिरण लघु तरंग दैर्ध्य के होते हैं। लगभग 30 प्रतिशत सूर्य के विकिरण बादल, गैसों, पृथ्वी तल, वायुमंडलीय कणों आदि से परावर्तित होकर अंतरिक्ष में बिखर जाते हैं। प्रकाश का यह परावर्तित भाग पृथ्वी की स्थिति (Albedo) कहलाता है। सूर्य के विकिरण के शेष भाग को दिन के समय पृथ्वी अवशोषित कर गर्म हो जाती है। साथ ही पृथ्वी इस ऊष्मा का लगातार उत्सर्जन भी करती है। वायुमंडल में विद्यमान कार्बन डाइऑक्साइड एवं जलवाष्प इस ऊष्मा का लगातार उत्सर्जन भी करती है। वायुमंडल में विद्यमान कार्बन डाइऑक्साइड एवं जलवाष्प इस ऊष्मा के कुछ भाग को पुनः पृथ्वी की ओर परावर्तित कर देती है और कुछ भाग अंतरिक्ष में चला जाता है। इससे दिन के तापमान में अधिक वृद्धि नहीं हो पाती। रात्रि के समय भी इन्हीं वायुमंडलीय परतों के कारण पृथ्वी का ताप संतुलन बना रहता है। किंतु औद्योगिक क्रांति के बाद हुए लगातार मशीनीकरण से वायुमंडल में कार्बन डाइआक्साइड की मात्रा में काफी बढ़ोत्तरी हुई है। यह अधिक कार्बन डाइऑक्साइड अंतरिक्ष में लौटाने वाली अवरक्त किरणों के अधिकांश को अवशोषित कर पुनः पृथ्वी पर भेज देती है। इसका परिणाम हुआ है—पृथ्वी के औसत तापमान में वृद्धि।

डॉ. हेनसेन ने बताया कि 1980 के दशक के पांच वर्ष रिकार्ड स्तर पर सर्वाधिक गर्म रहे। गर्मियों की अपेक्षा सर्दियों में और भूमध्य रेखा की अपेक्षा ऊंची अक्षांश रेखाओं पर तापक्रम में वृद्धि अधिक रही। 1970 के दशक की तुलना में 1980 के दशक में पृथ्वी से दृष्टिगत सूर्य की चमक में कमी आई। कुछ अन्य वैज्ञानिकों का मत है कि पृथ्वी पहले की अपेक्षा अधिक तेजी से गर्म हो रही है। वर्ष 1960 की तुलना में वायुमंडल में कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा 25 प्रतिशत अधिक हो गई है। अगली शताब्दी के मध्य तक इस बढ़ोत्तरी के कारण विश्व के औसत तापमान में 1.5 से 4.5 डिग्री सेल्सियस की वृद्धि हो सकती है। इस ताप-वृद्धि से मौमस का व्यवहार बहुत बदल सकता है। कहने का अभिप्राय यह है कि जलवायु में जो परिवर्तन कई हजार वर्षों में होना चाहिए था वह कुछ दशक में होने जा रहा है। पृथ्वी के जन्तु और पौधे इस आकस्मिक परिवर्तन को नहीं झेल

पावेंगे और तब पृथ्वी पर होगा महाप्रलय सा विकराल दृश्य।

तापमान में वृद्धि के कारण

आइए विश्व के तापमान में हो रही इस अप्रत्याशित वृद्धि के कारणों की तलाश करें। वैज्ञानिकों ने तापवृद्धि के प्रमुख कारण को 'ग्रीन हाउस प्रभाव' नाम दिया है। नाजुक पौधों को अत्यधिक धूप और सर्दी से बचाने के लिए कांच के घरों में रखा जाता है। इन्हें ग्रीन हाउस कहा जाता है। विश्व के संदर्भ में वायुमंडल में कुछ गैसें पृथ्वी के चारों ओर आच्छादित होकर घेरा बना लेती हैं जिससे सूर्य का प्रकाश पृथ्वी पर आ तो जाता है किंतु लौटती किरणें अंतरिक्ष में जाने से रोक ली जाती हैं। इससे वायुमंडल व पृथ्वी का ताप बढ़ता जाता है। इसे ही **ग्रीन हाउस प्रभाव** कहा जाता है।

ग्रीन हाउस प्रभाव पैदा करने वाली प्रमुख गैसें कार्बन डाइऑक्साइड, मीथेन, क्लोरोफ्लोरोकार्बन, नाइट्रोजन ऑक्साइड तथा ओजोन हैं। इन गैसों की मात्रा में वृद्धि के कारण हैं–

(1) मशीनीकरण,
(2) वन विनाश, और
(3) जनसंख्या वृद्धि।

औद्योगिक क्रांति के फलस्वरूप विश्व में मशीनीकरण हुआ, जिससे धुआं उगलने वाले कण कारखाने व वाहन बढ़े। इस धुएं में ग्रीन हाउस प्रभाव के लिए जिम्मेदार अधिकतर गैसें हैं। इस सबके कारण 1860 से 1987 तक कार्बन डाइऑक्साइड 25 प्रतिशत बढ़ी है तथा पिछले 30 वर्षों में यह गैस 10 प्रतिशत और बढ़ी है। ग्रीन हाउस प्रभाव उत्पन्न करने वाली क्लोरोफ्लोरोकार्बन गैस रेफ्रिजेरेटरों, एयरकण्डीशनरों, खुशबूदार स्प्रे आदि में काम आती है। यह वायुमंडल में ओजोन परत को नष्ट करने के साथ ही वायुमंडल का ताप ही बढ़ा रही है।

दूसरा मुख्य कारण तेजी से होता वन विनाश है। विभिन्न स्रोतों से उत्पन्न कार्बन डाइऑक्साइड को वृक्ष ही प्रकाश संश्लेषण की क्रिया में ग्रहण कर इसके दुष्प्रभाव को कम करते हैं किंतु विडंबना यह रही कि कल-कारखाने लगाने, नई बस्तियां व सड़कें बनाने तथा जीवन की अन्य सुविधाओं के लिए जंगलों का अनियंत्रित रूप से सफाया कर दिया गया। वर्तमान समय में विश्व में प्रतिवर्ष 6 करोड़ हेक्टेयर भूमि से वनों की कटाई हो रही है। अकेले भारत में प्रतिवर्ष 12 लाख हेक्टेयर जंगल काटे जा रहे हैं। यही गति रही तो इस शताब्दी के अंत तक कुल भूमि के मात्र 5 प्रतिशत भू-भाग पर ही वन शेष रहेंगे। इस व्यापक वन विनाश से कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा में दो तरफा वृद्धि हो रही हैं। एक तो कटे हुए पेड़ कार्बन डाइऑक्साइड ग्रहण नहीं कर रहे हैं, तो दूसरी ओर कटे हुए पेड़ों की लकड़ी जलाने से यह गैस उत्पन्न हो रही हैं।

तीसरा मुख्य कारण तेजी से बढ़ती हुई जनसंख्या है। वर्तमान में दुनिया की आबादी

प्रति सेकंड 3 व्यक्ति की दर से बढ़ रही है। जो मानव जाति के इतिहास में एक कीर्तिमान है। संयुक्त राष्ट्र संघ के जनसंख्या कोष का नवीनतम अनुमान है कि सन् 2025 में विश्व की आबादी लगभग साढ़े आठ अरब होगी। जनसंख्या वृद्धि से वायुमंडल में श्वसन द्वारा कार्बन डाइऑक्साइड छोड़ने वाले व्यक्ति उत्तरोत्तर बढ़ रहे हैं। धूम्रपान करने वाले करोड़ों लोग भी वायुमंडल में कार्बन डाइऑक्साइड की वृद्धि करते हैं। प्रति व्यक्ति ईंधन का खर्च, कल कारखानों बस्तियों व वाहनों की संख्या में वृद्धि, प्रदूषण व गंदगी में बढ़ोत्तरी जैसी बातें भी जनसंख्या वृद्धि से जुड़ी हुई है जो अंततोगत्वा ग्रीन हाउस प्रभाव को ही बढ़ाती हैं।

अनुमान है कि दहन एवं श्वसन क्रिया से प्रतिवर्ष लगभग 10 टन कार्बन डाइऑक्साइड वायुमंडल में उत्सर्जित होती है। यह गैस भारी होती है जिसे पृथ्वी की सतह के समीप ही परत बनाकर ग्रीन हाउस प्रभाव उत्पन्न कर रही है। अन्य कारणों में नदियों के किनारे बने थर्मल पावर प्रोजेक्ट हैं जो नदी के जल का ताप निरंतर बढ़ा रहे हैं जिससे जलीय जन्तुओं का जीवन संकट में पड़ा है। औद्योगिक संस्थानों में प्रयुक्त कोयले तथा तेल के दहन से बनी सल्फर आक्साइड, कार्बन के कण वायुमंडल में धुंध का निर्माण करते हैं जो सूर्य के विकिरणों को लौटाने से रोकती है। इस प्रकार विभिन्न कारकों से पृथ्वी के औसत तापमान में 10^0 से. की वृद्धि हो चुकी है और संयुक्त राष्ट्र संघ के एक पूर्वानुमान के अनुसार 2100 तक पृथ्वी का तापमान 3^0 से. तक बढ़ जाएगा। यह बढ़ा हुआ तापमान पिछले एक लाख वर्षों में बढ़े तापमान से कहीं अधिक होगा।

ताप वृद्धि के संभावित परिणाम

कोलाराडो के राष्ट्रीय वायुण्डलीय अनुसंधान केंद्र के जलवायु विशेषज्ञ **स्टीफेन स्नाइडर** 1970 के प्रारंभ से ही ग्रीन हाउस प्रभाव के बारे में विश्व को सचेत करने के काम में लगे हुए हैं। वे कहते हैं कि इतिहास में यह पहला मौका है जबकि मनुष्य संपूर्ण विश्व का पर्यावरण-संतुलन नष्ट करने पर तुला हुआ है। तापवृद्धि के सम्भावित प्रभाव इस प्रकार हैं :

1. जल-प्लावन

यदि पृथ्वी का तापमान इसी गति से बढ़ता रहा तो साइबेरिया, पश्चिमी अंटार्कटिका के विशाल बर्फीले भू-भागों तथा आर्कटिक की बर्फ तेजी से पिघलना शुरू हो जाएगी जिससे विश्व समुद्रतल 2 मीटर अधिक ऊंचा उठ जाएगा। समुद्री किनारे पर बसी विश्व की एक तिहाई जनसंख्या इससे बुरी तरह प्रभावित होगी। न्यूयार्क, पेरिस, लन्दन, शंघाई, बम्बई, कलकत्ता, मद्रास के निवासियों को सुरक्षित स्थानों पर पहुंचना होगा। अमरीकी पत्रिका 'वर्ल्ड वाच' के अनुसार मालदीव को अत्यधिक खतरा है।

2. मौसम में बदलाव

जून 1988 में हुए विश्व के 48 राष्ट्रों के वैज्ञानिकों के टोरन्टो सम्मेलन ने ग्रीन हाउस प्रभाव से पृथ्वी के मौसम में बदलाव पर अत्यधिक चिंता व्यक्त की। उनके अनुसार अत्यधिक गर्मी, सूखा, पानी की कमी, बर्फ का पिघलना आदि अप्राकृतिक घटनाओं से विश्व का मौसम बदलेगा जिसका प्रभाव जन्तुओं व पौधों के अलावा मानव स्वास्थ्य एवं सभ्यता पर भी पड़ेगा। पृथ्वी के गर्म होने से समुद्र की सतह से अधिक तेजी से वाष्पीकरण और अधिक बादल एवं फलस्वरूप अधिक वर्षा होने की संभावना बनेगी। भारत के मध्यवर्ती भू-भाग में वर्षा दो गुनी हो जाएगी। जबकि मध्य पश्चिम अमेरिका में ग्रीष्म ऋतु और भी गर्म हो जाएगी। तीन वर्ष पूर्व मालदीव द्वीप समूह तथा बांगला देश में आए भयंकर समुद्री तूफानों के क्रम बदलते मौसम के प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

3. मानव स्वास्थ्य

तापमान वृद्धि से पृथ्वी के जलवायु में जो परिवर्तन होंगे उससे मानव स्वास्थ्य पर प्रतिकूल असर पड़ेगा। तापमान वृद्धि से खाद्य सामग्री एवं पानी की उपलब्धता में कमी आएगी जिससे लाखों लोग पलायन करेंगे। जनसंख्या वृद्धि से रोग उत्पन्न होंगे।

ताप वृद्धि से होने वाले व्यापक प्रभावों का सही आकलन अभी भी शोध का विषय है तथापि इससे विश्व की भौगोलिक, सामाजिक, एवं आर्थिक स्थिति काफी गहराई तक प्रभावित होगी।

निवारण की दिशा में कदम

अब समय आ गया है कि हम विज्ञान और तकनीकी ज्ञान का लोक कल्याणकारी दृष्टि से उपयोग करें। इस दिशा में कुछ प्रयास भी प्रारंभ हो चुके हैं। यूरोपीय बारह राष्ट्रों ने अक्टूबर 1988 में घोषणा की है कि नाइट्रोजन ऑक्साइड के विभिन्न प्रयोगों में आगामी दस वर्षों में 30 प्रतिशत की कटौती करेंगे। मांट्रियल कांग्रेस एवं टोरन्टो सम्मेलन में विश्व के विभिन्न राष्ट्रों के अनेक वैज्ञानिकों ने हमारा ध्यान भावी भयावह स्थितियों की और आकृष्ट किया है। अमेरिका की सीनेट में **सिनेटर स्टे फोर्ड** ने 18 जुलाई 1988 को विश्व पर्यावरण संरक्षण अधिनियम, 1988 प्रस्तुत किया जिसमें ग्रीन हाउस प्रभाव को समाप्त करने के लिए बाईस वर्षीय योजना बनाई गई है। इसमें विषैली गैसों के स्रोतों में क्रमशः कमी करने, ट्रॉपिकल वनों को कटने से रोकने तथा पेड़ उगाने के कार्यक्रम हैं। भूमंडलीय उष्णता को कम करने में टोरन्टो सम्मेलन के वैज्ञानिकों द्वारा सुझाए गए ये उपाय भी सार्थक हैं।

1. औद्योगिक देश वर्ष 2005 तक कार्बन डाइऑक्साइड के निस्सरण में 20 प्रतिशत कमी करें।

2. कोयले के स्थान पर प्राकृतिक गैस व अन्य वैकल्पिक ऊर्जा का इस्तेमाल हो जिनमें कार्बन डाइऑक्साइड की मात्रा कम उत्पन्न हो।

3. सौर ऊर्जा, पवन ऊर्जा, भूतापीय ऊर्जा व सुरक्षित परमाणु ऊर्जा के संवर्धन हेतु और अधिक वित्तीय व्यवस्था की जाए।

4. वनों की कटाई बंद कर वन लगाने पर ध्यान दिया जाए।

5. वर्ष 2000 तक क्लोरो-फ्लोरो-कार्बन के प्रयोग पर पूर्ण प्रतिबंध लगा दिया जाए।

इस अपील का विश्व के अनेक देशों ने स्वागत किया और उसके अनुरूप कदम भी उठाए।

प्रकृति में भी इस दिशा में कुछ उपयोगी परिवर्तन हुए हैं। इस शताब्दी में उत्तरी अमेरिका, उत्तर पश्चिमी यूरोप व भारतीय उपमहाद्वीप के ऊपर बादलों के बनने में विशेष वृद्धि देखी गई है। ये बादल सूर्य की किरणों को अंतरिक्ष में परावर्तित करने तथा तापमान वृद्धि दर को कम करने में सहायक होंगे। एक अनुमान यह भी है कि तापमान वृद्धि एवं बर्फ पिघलने से पृथ्वी के उत्तरी भू-भाग यानि टुण्ड्रा प्रदेश पर घास व पौधे उगेंगे जो कार्बन डाइऑक्साइड का अवशोषण कर सकेंगे।

विश्व के तापमान को कम करने के लिए हमें हमारी वन संपदा को नष्ट होने से बचाना होगा तथा वृक्षारोपण पर जोर देना होगा क्योंकि वन कार्बन डाइऑक्साइड एवं नाइट्रोजन आक्साइड को ग्रहण करते हैं तथा संग्रहीत करते हैं। दूसरी ओर कल-कारखानों, स्वचालित वाहनों से निष्कासित धुएं में कमी करनी होगी। ऊर्जा के वैकल्पिक, हानि रहित स्रोत विकसित करने होंगे। अंत में **जनसंख्या वृद्धि रोकना भी परम आवश्यक है क्योंकि जितनी ज्यादा जनसंख्या होगी उतना ही प्राकृतिक साधनों का शोषण होगा।**

भावी पीढ़ियों के लिए पर्यावरण को सुरक्षित बचाने के लिए हमें जीवन शैली बदलनी होगी। उपभोग व अपशिष्ट को कम करना होगा। पुनः चक्रीकरण को बढ़ाना होगा। प्रौद्योगिकी का उपयोग सूझ-बूझ से करना होगा। इन सबसे बड़ी बात पर्यावरण संकट के संदर्भ में हमें विश्व को 'वसुधैव कुटुम्बकम्' मानकर विचार करना होगा। एक कवि ने कहा है—'चारों ओर लकड़हारे हैं, फिर भी पेड़ कहां हारे हैं।' इन पंक्तियों से हम प्रेरणा ग्रहण करें और पर्यावरण संरक्षण के पुनीत यज्ञ में अपना योगदान करें।

61

परिवर्तन*

रमेशचन्द्र बमराड़ा

परिवर्तन है नाम मनोहर, परिवर्तन ही आभा है।
परिवर्तन ही नियम सृष्टि का, परिवर्तन ही जीवन है।
परिवर्तन दिखता दिनेश में, परिवर्तन चन्दा में है
परिवर्तन तारों में होता, परिवर्तन सागर में है।
परिवर्तन ही नौ रस होते, बीजों में है परिवर्तन
परिवर्तन नवनीत दुग्ध का, पौधों में भी परिवर्तन।
धरणी का जीवन परिवर्तन, जल की धारा परिवर्तन
मौसम जग का परिवर्तन, ब्रह्माण्ड सकल में परिवर्तन।
परिवर्तन होता प्रभात में, कुसुमों में है परिवर्तन।
परिवर्तन है नील गगन में, मेघों में भी परिवर्तन।
औषधि से होता परिवर्तन, परिवर्तन शिक्षा-शाला
होता परिवर्तन पत्तों में, परिवर्तन रस का प्याला।
परिवर्तन है भस्म धातु की, जड़ का चेतन परिवर्तन।
परिवर्तन अलकों में दखिता, मानव मन है परिवर्तन।
कोयल परिवर्तन मिठास की, परिवर्तन दिल की धड़कन
परिवर्तन नयनों में होता, परिवर्तन है मधुर मिलन।
सुख का परिवर्तन दुःख होता, दुःख का सुख है परिवर्तन
दीप शिखा भी तिमिर नष्ट कर, जग में लाती परिवर्तन
एक अवस्था ढल जाने पर, दूजी उसका परिवर्तन।
युग का घटता-बढ़ता वैभव, सदा समेटे परिवर्तन।

* 'पर्यावरण', सितम्बर 1992

62

कैसे बना राजस्थान का थार मरुस्थल?

डॉ. विजय कुमार उपाध्याय

भारत में पश्चिमी राजस्थान तथा पाकिस्तान के सिंध प्रांत में कुल मिला कर लगभग 640 किलोमीटर लंबा तथा 160 किलोमीटर चौड़ा एक सूखा प्रदेश है, जो वनस्पतिहीन बालू के टीलों से भरा हुआ है। इस क्षेत्र का नाम है **थार मरुस्थल।** इस क्षेत्र में दक्षिणपश्चिम दिशा से चलने वाली प्रचंड आंधियों के कारण बालू के ये टीले अपना स्थान बदलते रहते हैं। यहां कई मीटर मोटी बालू की परत फैली हुई है जिस की मोटाई प्रायः बदलती रहती है। वैसे तो इस क्षेत्र की पथरीली तथा ऊबड़खाबड़ सतह बालू से ढकी हुई है। परंतु बीचबीच में कुछ चट्टानें बालू की सतह के ऊपर झांकती दिखाई देती हैं।

इस मरुस्थल के पूर्वी तथा उत्तरपूर्वी भाग में छोटीछोटी झाड़ियां एवं कंटीली वनस्पतियां पाई जाती हैं। ऐसी वनस्पतियों में शामिल हैं : नागफनी, बबूल, खजूर इत्यादि। इसी क्षेत्र में अनेक गांवों एवं नगरों के भग्नावशेष बालू के टीलों के नीचे दबे मिलते हैं। इस क्षेत्र में, जहां बालू की परत पतली है थोड़ी खेती हो सकती है, परंतु सिंचाई के लिए फिलहाल पर्याप्त जल की व्यवस्था नहीं है।

थार मरुस्थल में ही स्थित है सांभर झील, जहां से नमक प्राप्त होता है। यह झील जयपुर से लगभग 64 किलोमीटर पश्चम में स्थिर है। इस की लंबाई 32 किलोर्मीटर तथा औसत चौड़ाई लगभग 7.5 किलोमीटर है। यह समुद्र तल से 360 मीटर की ऊंचाई पर स्थित है।

ग्रीष्म ऋतु में यह झील लगभग सूख जाती है। वर्षा में 4-5 छोटीछोटी नदियां आ कर इस झील में मिलती हैं। झील की पेंदी में लगभग 22 मीटर गहरी नमक मिश्रित कीचड़ मौजूद है। इस कीचड़ से नमक प्राप्त करने का काम कई शताब्दियों से चलता आ रहा है।

अनुमान लगाया गया है कि इस दलदल की ऊपरी 4 मीटर की गहराई में औसतन 6 प्रतिशत नमक मौजूद है। इस हिसाब से प्रति वर्ग किलोमीटर क्षेत्र में लगभग 10 लाख टन नमक की मात्रा आंकी गई है।

---

* सुमन सौरभ, जनवरी 1995

गरमी की ऋतु में जब इस झील का पानी पूरी तरह सूख जाता है। तो कीचड़ की सतह पर चमकदार उजले नमक की एक पतली पपड़ी जम जाती है। भूवैज्ञानिकों का अनुमान है कि नमक की इतनी विशाल मात्रा इस झील में आ कर मिलने वाली नदियों द्वारा लाई जाती है।

सांभर झील से प्राप्त नमक के रासायनिक विश्लेषण से जो नतीजे प्राप्त हुए हैं, उन से पता चलता है कि इस में 87.30 प्रतिशत सोडियम क्लोराइड, 0.13 प्रतिशत पोटाशियम क्लोराइड, 0.05 प्रतिशत मैगनेशियम क्लोराइड, 8.60 प्रतिशत सोडियम सल्फेट, 3.80 प्रतिशत सोडियम कार्बोनेट तथा शेष अन्य पदार्थ मौजूद हैं।

राजस्थान के इस मरुस्थल में भूमिगत जल के गुण व स्वाद स्थान-स्थान पर अलग अलग हैं। मरुस्थल के पूर्वी भाग में कुओं का जल पीने तथा सिंचाई करने के लिए उपयुक्त है। कुछ भागों में कुएं का जल हलका खारा व नमकीन भी पाया जाता है। वर्षा ऋतु में मीठा जल बालू में से रिस कर जमीन के भीतर के जल में मिलता है जिस से इस का खारापन कुछ कम हो जाता है। कभी-कभी कुएं में खारे जल के ऊपर मीठे जल की एक परत तैरती हुई पाई जाती है। परंतु यह अवस्था बहुत ही कम समय के लिए रहती हैं।

इस क्षेत्र में भूमिगत जल के अत्यंत खारा होने का कारण है अंतर्देशीय जल प्रवाह, जिस की वजह से बालू में उपस्थित लवण के कण जल में घुल जाते हैं। यह घोल फिर रिस कर भूमिगत जल से मिल जाता है। बालू में उपस्थित लवण के ये कण दक्षिण-पश्चिमी मानसून द्वारा कांबे की खाड़ी या कच्छ के रन से ढो कर लाए जाते हैं।

भूवैज्ञानिकों की धारणा है कि थार क्षेत्र विगत 3-4 हजार वर्षों के दौरान हरे-भरे क्षेत्र से धीरे-धीरे मरुस्थल में परिवर्तित हो गया। पुरातात्त्विक अवशेषों के अध्ययन से पता चलता है कि प्रागैतिहासिक काल तथा प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में सिंध एवं ब्लूचिस्तान से लगा राजस्थान का क्षेत्र हराभरा था तथा वहां मनुष्य तथा अन्य जन्तुओं के निवास हेतु अनुकूल मौसम मौजूद था। मोहनजोदड़ो की प्राचीन इमारतों में पकी हुई ईंटों का इस्तेमाल इस बात का संकेत है कि उस काल में यहां का मौसम आर्द्र था। इनकी अपवाह प्रणाली (डेनेज सिस्टम) की डिजाइन भी आर्द्र मौसम को ध्यान में रख कर बनाई गई प्रतीत होती है।

यह भी जानकारी मिली है कि प्रारंभिक ऐतिहासिक काल में इस क्षेत्र में जंगली हाथी पाए जाते थे। यह भी इस बात का प्रमाण है कि यहां का मौसम नम था। परंतु उस काल तथा सिकंदर द्वारा भारत पर चढ़ाई (चौथी सदी ईसा पूर्व) के बीच मौसम बदल चुका था तथा ब्लूचिस्तान निश्चित रूप से शुष्क होने लगा था।

थार क्षेत्र के हरे-भरे जंगलों से मरुस्थल में परिवर्तन के संकेत सरस्वती नदी की सूखी घाटी से भी मिलते हैं। आज से लगभग 7 हजार वर्ष पूर्व वैदिक काल के साहित्य में सरस्वती का वर्णन एक बड़ी नदी के रूप में किया गया है। इन विवरणों से पता चलता

है कि उस काल में सरस्वती नदी सिंधु तथा गंगा से भी बड़ी थी।

उस काल तथा महाभारत काल के बीच सरस्वती नदी का ऊपरी भाग सूख चुका था। इस नदी के सूखने की वजह थी इसकी सहायक नदी यमुना के पानी का पूर्व की ओर मुड़ना सरस्वती का निचला भाग जो बीकानेर, बहावलपुर तथा सिंध (अब दोनों पाकिस्तान में) से हो कर गुजरता था। महाभारत काल (लगभग 5 हजार वर्ष पूर्व) तक जल से पूर्ण रहता था। इस कथन की सत्यता इस बात से साबित होती है कि चौथी शताब्दी ई.पू. (सिकंदर द्वारा भारत पर आक्रमण के समय) तक कच्छ का रन एक गहरी खाड़ी था तथा तत्कालीन जलयान यहां से सरस्वती नदी से गुजरते हुए सिंध तक जाते थे।

सरस्वती की सूखी घाटी के किनारे प्रागैतिहासिक काल के गांवों एवं नगरों के भग्नावशेष टीलों के रूप में जहांतहां पाए जाते हैं। ये अवशेष इस बात के प्रमाण हैं कि यह क्षेत्र उस काल में हराभरा था। धीरे-धीरे जैसे-जैसे यह क्षेत्र मरुस्थल में परिवर्तित होता गया। यह नदी भी सूखती गई तथा ये गांव एवं नगर वीरान होते गए।

अनुमान है कि ईसा की 13वीं शताब्दी के आते-आते सरस्वती नदी पूरी तरह सूख गई क्योंकि इसी काल में यहां के निवासी जलाभाव एवं सूखे के कारण इस क्षेत्र को छोड़ने के लिए मजबूर हुए।

राजस्थान में थार क्षेत्र के मरुस्थल बनने के कुछ विशेष कारण थे। प्रारंभ में इस क्षेत्र की अरावली पर्वत शृंखला काफी ऊंची थी जो दक्षिण पश्चिम से आने वाली मानसून हवाओं को रोक कर इस क्षेत्र में वर्षा करवाती थी जिस से यह क्षेत्र हराभरा रहता था। परंतु धीरे-धीरे ये पहाड़ घिसते या धंसते गए नतीजा यह हुआ कि दक्षिण-पश्चिम से आने वाली मानसून हवाओं को रोकने वाला अवरोध छोटा होता गया जिससे वर्षा की मात्रा धीरे-धीरे घटती गई तथा राजस्थान हरे-भरे क्षेत्र से मरुस्थल में बदलता गया। यह मानसून हवाएं आज भी राजस्थान से हो कर गुजरती हैं पर यहां नगण्य वर्षा करती हैं।

मौसम में बढ़ती शुष्कता तथा दैनिक तापमान में बहुत अधिक परिवर्तन होने के कारण यहां की चट्टानें टूटती गईं तथा यह क्षेत्र बालू से भरता गया। तेज गति से बहने वाली वायु के कारण इस बालू का सभी जगह समान रूप से वितरण होता गया तथा आज थार मरुस्थल विस्तृत बालुका क्षेत्र के रूप में दिखाई पड़ता है।

एकांकी

63

पर्यावरण नगर का प्रदूषण राजा*

डॉ. आर.एस.सेंगर

स्थान : **(एक पेड़ के नीचे नारद ऋषि बैठे हैं तभी एक तरफ से एक शिष्य का पोटली लिए हुए प्रवेश)** प्रणाम मुनिवर!

मुनि : बच्चा आज भिक्षा में क्या लाए हो?

शिष्य : महाराज! आज भिक्षा में 12 रुपए मिले हैं, जिसमें से मैंने दो रुपए की बीड़ी, चार रुपए का तंबाकू तथा बाकी की चौकलेट ले आया हूं।

मुनि : बच्चा! इस शहर में क्या मुझे खाने की और कोई फायदे की चीज नहीं मिली। क्या नाम है इस नगर का?

शिष्य : मुनिवर! यह **पर्यावरण नगर** है। इसके राजा का नाम **पर्यावरण-प्रदूषण सिंह** है। यहां पर वे चीजें बड़ी मात्रा में उपलब्ध हैं।

मुनि : अच्छा! तब तो यह बड़ी विचित्र नगरी है, आओ देखें इसमें क्या-क्या गोलमाल हो रहा है।

× × ×

मंत्री : आज अत्यंत प्रसन्नता का दिवस है। हमारे आदरणीय महाराज पर्यावरण विज्ञान की पढ़ाई के लिए विदेश गए थे। जैसे कि आप जानते हैं आज वे अपनी विदेशी महारानी के साथ वापस आ रहे हैं। अतः उन्हीं के स्वागत के लिए इस सभा का आयोजन किया गया है। आप सभी लोग जोरदार तालियों से उनका स्वागत करें।

पहरेदार : होशियार। खबरदार। मजेदार। जायेकदार, खर-प्रदूषण पुत्र महाराज पर्यावरण-प्रदूषण सिंह पधार रहे हैं।

(एक तरह ठुमकते हुए राजा-रानी का प्रवेश। राजा के साथ अगल-बगल में दो नौकर चल रहे हैं। एक के कंधे पर थर्मस लटक रहा है और हाथों में हरे पौधे तथा फूलों का गमला है। दूसरे नौकर के हाथों में खूब सारी किताबें हैं, जिन्हें उठाने के प्रयत्न में वह बोझ से लदा जा रहा है।

* विज्ञान गरिमा सिंधु, 1996—अंक 21

...राजा के प्रवेश के साथ ही-तालियों की गड़गड़ाहट। राजा-रानी बैठते हैं फिर राजा अचानक खड़ा हो जाता है)।

राजा : ये क्या हो रहा है, यह शोर बंद कीजिए, वरना मैं बहरा हो जाऊंगा। **(तालियों की आवाज बंद हो जाती है, सभा में सन्नाटा छा जाता है)।** इतना ध्वनि प्रदूषण बाप रे! क्या आप लोग जानते है कि प्रदूषण कितना भयंकर होता है।

मंत्री : महाराज! शायद ये लोग अभी नहीं जानते कि प्रदूषण अब जवान हो गया। जवानी तो दीवानी होती है। लिहाजा यह प्रदूषण पूरे देश में छा गया है। अन्य सारी बुराइयां बुरी तरफ फ्लाप हो गईं, प्रदूषण सुपरस्टार हो गया।

सेनापति : महाराज! जमाना तो सदियों से जवानी का दुश्मन रहा है। लिहाजा प्रदूषण की ताका झांकी चल रही है। पर्यावरणी शोधकर्ताओं ने छुप-छुप कर प्रदूषण की गतिविधियों पर नजर रखना शुरू किया है।

राजा : मंत्री जी आप ध्यान रखिए कि यह प्रदूषण कब उठता है, कहां को जाता है। किस-किस के साथ उसकी मेल-मिलाप है। कौन-कौन उसके सखा-सहेली हैं। वह कहां देर तक रुकता है। किसके साथ कैसे संबंध हैं। क्या खाता है। क्या पीता है, यह किसका कहा मानता है। किस पर जान छिड़कता है, और किससे इसकी नहीं पटती है?

मंत्री : महाराज अब शोधकर्ताओं ने प्रदूषणी प्रेम कथाओं पर सैकड़ों तत्व कथाएं लिख डाली हैं। वीडियो फिल्में और वृत्त-चित्र और न जाने क्या-क्या ढोंग किए हैं। आज प्रयोगशालाओं में प्रदूषण पर कुछ-न-कुछ शोध कार्य कर डालने की होड़-सी लगी है, लेकिन नियंत्रण के नाम पर लोग डरते हैं।

सेनापति : महाराज कौन अक्खड़ प्रदूषण के मुंह लगे। लिहाजा नियंत्रण की घेराबंदी के नाम पर विस्तार की प्रक्रिया और तेज होती गई, ज्यों-ज्यों दवा की गई मर्ज बढ़ता ही गया।

राजा : मंत्री जी! थोड़ा फ्रिज का पानी पिलाइए, गलां सूखा जा रहा है।

मंत्री : लीजिए साहब फ्रिज का ठंडा पानी। साहब मैं आपके लिए कोल्ड ड्रिंक भी ले आया हूं।

राजा : तुम ऐसा कोल्ड ड्रिंक लाए हो जिसमें बी.वी.ओ. न मिला हो क्योंकि आप लोग तो जानते ही हैं कि बी.वो.ओ. से कैंसर हो जाता है।

मंत्री : इसके बारे में मैं कुछ नहीं जानता था महाराज।

राजा : मंत्री जी! फ्रिज से बड़ी खतरनाक गैस निकलती है, जिसको क्लोरोफ्लोरो कार्बन कहते हैं। आप जानते हैं कि हमारी धरती के वायुमंडल के ऊपर जो ओजोन की छतरी है न, क्लोरोफ्लोरो कार्बन गैस उसमें छेद कर देती है।

मंत्री : तो इससे क्या महाराज।

राजा : (डांटकर) आप इतना भी नहीं जानते। अरे जब ओज़ोन की परत नहीं होगी तो... आगे आप बताइए सेनापति जी।

सेनापति : महाराज! जब ओज़ोन की परत नहीं होगी तो सूर्य की अल्ट्रावायलेट किरणें यानि परा-बैंगनी किरणें पृथ्वी पर आएंगी।

राजा : हां भई हां। इन किरणों से जानवरों और पौधों में बीमारियां फैलती हैं। कैंसर हो जाता है। त्वचा पर काले-काले तिल और चकत्ते पड़ जाते हैं, वगैरह-वगैरह।

सेनापति : ये वगैरह-वगैरह क्या महाराज।

मंत्री : अरे बीमारियों के नाम होंगे जैसे कि महाराज जानते हैं।

राजा : मंत्री जी।

मंत्री : जी, महाराज!

राजा : हमारे राज्य में यह हुक्म जारी कर दो कि हर व्यक्ति कम से कम पांच पेड़ लगाए तथा उनकी रक्षा भी करे। इस काम के लिए सामाजिक वानिकी विभाग के नसीम साहब, सेंगर साहब, पांडेय जी तथा सक्सेना साहब से मदद लीजिए।

मंत्री : अभी जाता हूं महाराजा।

राजा : मंत्री जी! पहले नगरपालिका के अधिकारी को बुलवाइए।

मंत्री : नगरपालिका अधिकारी हाजिर हों।

अधिकारी : शुभ पर्यावरण महाराज!

राजा : अधिकारी जी! आप अपने घर के पास की गली का कूड़ा तो साफ नहीं करवा पाते हैं और प्रदूषण पर फिल्म बनाते हैं, अखबार निकालते हैं, हास्य नाटक कराते हैं, भाषण झाड़ते हैं और न जाने क्या-क्या करते हैं। जाइए मलबा साफ कराइए, लोगों से पेड़ लगवाइए। उनको साक्षर बनाइए। जाइए जब हमें आपकी जरूरत होगी बुलावा लेंगे।

अधिकारी : जी सर! राइट सर! ओ.के.सर (चले जाते हैं)।

राजा : मंत्री जी! मैं भाषण देकर ऊबने लगा हूं। कुछ सिगरेट पिलाओ।

मंत्री : महाराज यह बहुत हानिकारक है। इसके धुएं से कैंसर हो जाता है।

राजा : मंत्री जी! आप बोलते-बोलते बकरियों की तरह जुगाली क्या कर रहे हैं।

मंत्री : महाराज! इसे पान पराग कहते हैं। लड़के वाले शादी में अब केवल दहेज ही नहीं मांगते हैं, बल्कि बरातियों के लिए पान पराग भी मांगते हैं। इससे इज्जत बढ़ती है। स्मार्टनेस आती है।

(तभी बाहर से एक स्त्री की आवाज–''दुहाई हो महाराज'' कहते हुए प्रवेश)

राजा : बू आई है, कहां से आई है बू।

स्त्री : बू नहीं दु दु...दुहाई है महाराज।

राजा : अच्छा-अच्छा दुहाई है। हां क्या कष्ट है तुम्हें?

स्त्री : महाराज! हम बहुत गरीब हैं। दो महीने ठंड से कांपते हुए गुजार दिए, नगर महापालिका ने अलाव नहीं जलवाया। हमारा मरद रोज की सारी कमाई शाम को दारू पीने में खर्च कर देता है। चारों बच्चे भी ठंड से ठिठुरते हैं।

राजा : (डांटकर) क्या मदद करें...हैं...हैं क्या मदद करें। क्या तुम चाहती हो कि हम पेड़ों का सत्यानाश करवाएं। वायु प्रदूषण फैलाएं। क्या सूरज ने गर्मी देनी बंद कर दी है। जाओ और 10 पेड़ लगाओ।

स्त्री : महाराज न मेरे पास पेड़ खरीदने के लिए पैसा और न लगाने के लिए जमीन।

राजा : तो तो तो फिर तुम जीवित क्यों हो। क्या तुम महान डार्विन के नियम से अनजान हो। तुम्हें जानना चाहिए कि जीवन संघर्ष में योग्य व्यक्ति ही सफल होते हैं। जाओ और पहले जीने के योग्य बनो तभी कुछ हो सकता है।

मंत्री : अब राज्य में कहीं निकल कर जाओ तो टन-टन-टन-टन-टन-टन।

राजा : अरे क्या टन-टन लगा रखी है। कुछ आगे भी तो बोलो।

मंत्री : नगरी में अब बहुत ध्वनि प्रदूषण होने लगा है।

राजा : कितने डेसीबेल की आवाज करते हैं?

मंत्री : महाराज नब्बे से सौ डेसीबल तक।

राजा : अरे यह तो भयंकर ध्वनि प्रदूषण हो रहा है। साठ डेसीबल से अधिक का शोर स्वास्थ्य के लिए हानिकारक है।

मंत्री : जब लोगों को मना किया जाता है तो ये लोग जमा होकर बुरा-भला कहते हैं।

राजा : नहीं-नहीं, इन लोगों को समझाना होगा।

मंत्री : महाराज ऐसे ही मौके की तलाश करते रहते हैं नारेबाज।

राजा : कौन कहता है इस पर नियंत्रण नहीं हो सकता है। आज यहां सभी लोगों को बुलाया जाए।

(आनन-फानन में देश के बहुमूल्य विचारक, समाजशास्त्री, वजनदार चिंतक और बुद्धिजीवी सब आमने-सामने आ जुटते हैं। पाल्यूशन कंट्रोल पर बहस चालू हो गयी)।

राजा : प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के अधिकारी को बुलवाइए।

मंत्री : पहरेदार को इशारा करके बुलवाने को कहता है।

पहरेदार : प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के अधिकारी जी हाजिर हों।

(प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड के अधिकारी का प्रवेश)

नागरिक : साहब फैक्ट्री से निकलता काला घना धुंआ दिन-रात हमारे कस्बे पर छाया

रहता है। हमारे मुहल्ले के सारे निवासी खांसते ओर बीमार रहते हैं। सांस लेना तक दूभर हो गया है। काफी लोग एक साथ बोलते हैं—ऐसा ही तो हमारे यहां होता है, मरे जा रहे हैं।

उद्योगपति : देखिए आप अपना सामान उठाकर कहीं और ले जाइए। एक तो बरसों चप्पल, जूते घिसे, राजनैतिक उखाड़-पछाड़ की, कितनों को पटाया तब कहीं जाकर ये फैक्ट्रियां पाई हैं। मालूम है कितने लोग पल रहे हैं इनसे। तुम लोग दूसरे के पेट पर लात मारना चाहते हो, तुम इंसानों की खातिर अपना मकान तक नहीं बदल सकते।

नागरिक : जंगलों का सफाया हो रहा है, लोग पानी बरसने को तरस रहे हैं। खेत सूखे पड़े हैं। सूखा साल-दर-साल बढ़ रहा है। कुंओं में पानी घटता चला जा रहा है, अरे साहब अब तो भूखे मरने की नौबत आ गई है।

राजा : कौन काटता है हमारे हरे-भरे पेड़। हमने कानून बना दिया है। तुमने सरकारी गज़ट नहीं देखा। कैसे नागरिक हो। जाओ जंगल दफ्तर से पर्चे लेकर पेड़ों पर चिपकवा दो कि पेड़ काटना जुर्म है। वैसे हमें पता है कि जंगल बढ़ रहे हैं, आंकड़े तो खुद बोलते हैं।

उद्योगपति : जाने क्यों लोग विकास और प्रगति को समझते नहीं। यही तो कमी है हमारे देश में। अभी प्रगति शुरू ही हुई है कि शिकायतें आने लगीं। पता नहीं क्या चाहते हैं ये। क्या जंगली जीवन फिर से लौटा लिया जाए। खाओ पत्तियां और घास, रहो जंगलों में।

राजा : अरे आप लोग समझते नहीं हो प्रगति का रथ चल पड़ा है। प्रदूषण होता है, तो उसे सहन करो। धीरे-धीरे शरीर खुद सहनशील हो जाएगा। तुम लोग देश की प्रगति का पहिया मोड़ना चाहते हो।

नागरिक : अरे साहब हम प्रगति और विकास का विरोध नहीं कर रहे हैं। पर प्रदूषण तो हमारी जान लेने पर ही तुल गया है। इस गंदगी को हम कहां ले जाएं इसका कुछ उपाय भी होना चाहिए।

अधिकारी : गंदगी तो गंदगी है। रहेगी ही। घर में कचरा होता ही है। रोज हम उसे झाड़ पोंछ लेते हैं। अब कहो कि घर ही मत बनाओ तो यह कोई बात हुई। नदी में गंदगी आ रही है। अब नदी की मर्जी है, जहां चाहे वहां ले जाए...फिर हमारे देश की नदियां। आहा! अमृत भरा है उनमें, उनमें पाप मोचन का चमत्कार है। अपनी महान नदियों की आलोचना हम नहीं सुन सकते हैं।

नागरिक : इसका अर्थ हुआ कि जैसा चल रहा है वैसा ही चलने दें। आप और हम उसमें कुछ नहीं कर सकते यानि प्रदूषण के आगे लाचार होकर बैठ जाएं।

अधिकारी : आप युवक-युवतियां प्रदूषण के विरुद्ध नारे लगाएं, स्वयं सेवी संस्थाएं, परिचर्चा, सेमीनार और संगोष्ठियां आयोजित करें। इनके लिए सरकार से

धन मांग सकते हैं। ज्यादा हाइलाइट करना हो तो माननीय नेताओं से वृक्षारोपण करा सकते हैं।

नागरिक : साहब इससे क्या होगा?

राजा : अरे मूर्ख! आपको पर्यावरण मंत्रालय पुरस्कार देगा। आप लोकप्रिय हो जाएंगे।

(कुछ समय बाद एक शिकारी की गर्दन पकड़े हुए दो कर्मचारियों का प्रवेश)

राजा : ये क्या हो रहा है इस सभा में।

शिकारी : आपके सैनिक न जाने क्यों पकड़ लाए हैं मुझे, मैं तो जानवरों की खाल का आयात-निर्यात का धंधा करता हूं। वैसे मेरे बाप और बाप के बाप, बाप के बाप और बाप के बाप...

राजा : अरे भाई कुछ बोलोगे या खाली बाप-बाप ही बकते रहोगे।

शिकारी : जी साहब मेरे बाप शिकारी थे और मैं भी शिकारी हूं। मेरा नाम जब्बर सिंह है।

मंत्री : महाराज! यह आदमी वन्य जीवों की हत्या करता है।

राजा : अच्छा। हत्या। यानि की दफा 302, सेनापति जी।

सेनापति : जी महाराज!

राजा : जरा वन विभाग के अधिकारी को बुलाओ।

पहरेदार : वन विभाग के अधिकारी हाजिर हों।

अधिकारी : महाराज की जय हो, महाराज क्या आदेश है।

राजा : हां, आप यह बताइए कि सुरक्षित जंगल में शिकार करने पर जीव अधिनियम के अनुसार दंड का क्या प्रावधान है?

अधिकारी : महाराज! वाइल्ड लाइफ प्रोटेक्शन ऐक्ट के अनुसार सुरक्षित वन में शिकार करने पर छह महीने की कैद और पांच हजार रुपए जुर्माना दोनों सजाएं एक साथ दी जा सकती हैं।

राजा : हां ठीक है। मंत्री जी इस शिकारी को छह महीने के लिए जेल में डाल दो और पांच हजार रुपए का जुर्माना लगा दो और जेल अधिकारी को भी यह आदेश दे दो कि संविधान के अनुसार इनकी जमानत नहीं होनी चाहिए।

(इसी समय शिष्यों के साथ नारद जी का प्रवेश)

नारद : नारायण, नारायण, नारायण!

(सभी लोग सादर अभिवादन करते हैं, प्रणाम मुनिवर)

...आयुष्मान भव। राजन्! आपके राज्य में क्या हो रहा है। हर तरफ प्रदूषण ही प्रदूषण है। पर्यावरण का घोर विनाश हो रहा है। अब तो नारायण ही आपके राज्य का बेड़ा पार लगा सकेंगे।

राजा : मुनिवर! आप क्या कह रहे हैं हमने तो अपने राज्य में प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड

का दफ्तर भी खुलवा दिया है। विश्वविद्यालय में पर्यावरण विभाग खुलवा दिए हैं, जिसमें कई प्रोफेसर और शोध छात्र प्रदूषण पर शोध कर रहे हैं। प्रदूषण पर आडिटोरियम में रोज कोई न कोई सेमीनार होता रहता है। 'पर्यावरण दिवस' पर पोस्टर प्रतियोगिता तथा प्रदर्शनी लगवा देते हैं, जिसमें लाखों रुपया खर्च हो जाता है। तब भी पर्यावरण प्रदूषण है क्या?

नारद : वो तो सब ठीक है राजन्! लेकिन यह सब सिर्फ पत्तों को सींचने वाली बातें है। कृपया जड़ों को सींचें और ठोस कार्यक्रम बनाएं।

राजन्! अब तो कल्याण तभी होगा जब सबको यह सीख मिलेगी—

जन जन की यही पुकार, पेड़ लगाओ करो उपकार।
वृक्षारोपण कार्य महान, एक वृक्ष दस पुत्र समान।।
हो गांव-नगर का अपना वन, मिटेगा तभी पर्यावरण प्रदूषण।
मिटेगा तभी पर्यावरण प्रदूषण, वन होंगे जब धरती के आभूषण।।

(पटाक्षेप)

64

आओ करें निदान*

भानुदत्त त्रिपाठी 'मधुरेश'

विषमय वातावरण हो रहा, बहुत बढ़ा विज्ञान,
धुआं-धुआं हो रही दिशाएं, आओ करें निदान।

'कालियदह' हो गए जलाशय, फणी रहे फुंकार,
गंगा-यमुना की पावनता करती करुण पुकार।
नहीं आचमन को मन करता, कौन करे फिर स्नान,
आओ करें निदान।

वनदेवी-वनदेव कहां? जब वन ही हुए विनष्ट,
हा हा करती धरती मां का कैसे कम हो कष्ट?
पशु-पक्षी सब विकल हो रहे, भरते आह किसान,
आओ करें निदान।

विष से बोझिल पवन, न उसमें रहा सुरभि का वास,
घुट घुट करके जीव जगत यह आज ले रहा श्वास।
सुमनों के अधरों की भी अब मंद हुई मुस्कान,
आओ करें निदान।

जल में, स्थल में, नभमंडल में विष ही विष अब घोर,
त्राहि-त्राहि मच रही विश्व में अब तो चारों ओर।
तान दिया फिर वृत्रासुर ने अपना विकट वितान,
आओ करें निदान।

* 'पर्यावरण पत्रिका', सितम्बर 1995

भौतिकता की धन की आंधी में मनुज हो रहा अन्ध,
दानवता से उसने अपना जोड़ लिया संबंध।
मानवता के मूल मिट रहे, खंडित है पहचान,
आओ करें निदान।

भोग संस्कृति का अब ऐसा फैला भीषण रोग,
नहीं सूझता सुपथ, स्वार्थ में अंधराए हैं लोग।
फिर भी मानव अपने को ही मान रहा महिमान,
आओ करें निदान।

पर्यावरण बने सब सुंदर, खुलें सुमति के द्वार,
सब हों सुखी, स्वस्थ, सब कोई करे सभी से प्यार।
अखिल विश्व में मानवता का आए पुण्य विहान।
आओ करें निदा।

65

स्पेक्ट्रोस्कोपी का इतिहास*

स्व. डॉ. नन्दलाल सिंह

रंग और प्रकाश-प्रकृति का प्रत्येक दृश्य मनुष्य के मन में कुतूहल उत्पन्न करता है। विभिन्न प्रकार के फूलों को, रंग-बिरंगे पशु-पक्षियों को तथा आकाश के नीले पर्दे पर सतरंगी 'इन्द्रधनुष' को देखकर आदिकाल से ही मनुष्य के हृदय में इन रंगों का रहस्य जानने की उत्कण्ठा स्वाभाविक रूप से जाग्रत होती रही। इन रहस्यों को जानने के लिए जिज्ञासु प्रत्यनशील भी थे, किंतु उनके लेखों के अध्ययन से ऐसा पता लगता है कि उन्हें रंग और प्रकाश के रहस्यों की वास्तविक जानकारी नहीं प्राप्त हो सकी। इसका कारण यह था कि उन्हें प्रकाश के परावर्तन (Reflection), वर्तन (Refraction) विवर्तन (Diffraction), और व्यतिकरण (Interference) आदि गुणों की जानकारी नहीं थी। इतना ही नहीं, उन्हें यह भी नहीं ज्ञात था कि 'प्रकाश' क्या है? हम जानते हैं कि वस्तुएं 'प्रकाश' की उपस्थिति में ही दिखाई पड़ती हैं। अतः स्पष्ट है कि रंग का अस्तित्व भी 'प्रकाश' पर ही निर्भर है। रंगीन फूल-पत्ते रात्रि के अंधकार में समान रूप से काले दिखाई पड़ते हैं, उनके रंगों का पता तो दिन में ही लगता है। सूर्य की उपस्थिति में ही 'इन्द्रधनुष' दिखाई पड़ता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूर्य, अग्नि तथा बत्ती आदि से कोई ऐसी ऊर्जा (Energy) निकलती है जिसके कारण वे स्वयं दिखाई पड़ते हैं और उनकी उपस्थिति में ही हमें अन्य वस्तुएं भी दिखाई पड़ती हैं। इसी ऊर्जा को हम 'प्रकाश' (Light) कहते हैं। जिन पिण्डों से प्रकाश निकलता है उन्हें प्रकाशमान पिण्ड ((Luminous bodies) कहते हैं। ऐसे ही पिण्डों के प्रकाश से अन्य प्रकाश-हीन वस्तुएं भी दिखाई पड़ती है। चन्द्रमा प्रकाशमान पिण्ड नहीं है, अपितु सूर्य के प्रकाश से प्रकाशमान मालूम पड़ता है। रंग और प्रकाश के संबंध में प्राचीन दार्शनिकों की धारणा स्पष्ट नहीं थी।

प्राचीन दार्शनिकों के मत–प्रकाश के संबंध में प्राचीन दार्शनिकों ने विभिन्न मत प्रकट किए हैं। **पाइथेगोरस** (Pythagoras छठी शताब्दी ई.पू.) ने बताया कि पदार्थों से अत्यंत सूक्ष्म कणिकाएं निकलकर आंखों पर पड़ती हैं और इन्हीं के आघात से हमें प्रकाश की अनुभूति होती है। सूर्य से अत्यधिक मात्रा में चन्द्रमा से कम मात्रा में और ईंट, पत्थर

* विज्ञान, नवम्बर 1997

आदि वस्तुओं से बहुत कम मात्रा में ऐसी कणिकाएं निकलती हैं। इसके विपरीत **एम्पीडोक्लीज** (Empedocles 440 ई.पू.) का कहना था कि हमारी आंखों से ही सूक्ष्म कणिकाएं निकलती हैं जो जाकर वस्तु से टकराती हैं और इनके टकराने से ही हमें वस्तु के रूप का ज्ञान होता है। **प्लेटो** (Plato 430 ई.पू.) की धारणा थी कि हमारी आंखों से दैवी किरणें निकलकर सूर्य की किरणों (Divine Rays) से मिलती हैं, फिर दोनों मिलकर वस्तु से टकराती हैं, और तीसरे रूप में आकर हमें वस्तु के रूप का ज्ञान कराती हैं।

प्राचीन दार्शनिकों की जानकारी

प्लेटो के अनुयायिओं को प्रकाश के परावर्तन और रेखीय गमन का पता था। **अरस्तू** (Aristotle) का अनुमान था कि आकाश में इन्द्र धनुष और सूर्य तथा चन्द्रमा पर प्रभा-मंडल (Haloes) की रचना पानी की बूंदों में सूर्य की किरणों के परावर्तन से होती है। **आर्किमिडीज** ने (287 ई.पू.) नतोदर दर्पण द्वारा सूर्य की किरणों को केंद्रित करके रोम के आक्रमणकारी बेड़े को जला दिया था। इस ऐतिहासिक घटना से यह ज्ञात होता है कि आर्किमिडीज को परावर्तन की जानकारी थी।

इटली के ज्योतिषी **टॉलमी** (Ptolemy सन् 2 ई.) को प्रकाश के वर्तन का ज्ञान था। उन्होंने लिखा है कि क्षितिज के समीप सूर्य और चन्द्रमा के बिम्ब, वायुमंडल में प्रकाश की किरणों के मुड़ने के कारण, बड़े दिखाई पड़ते हैं। **क्लियमिडीस** ने (Cleomedes सन् 50 ई.) भी बताया कि किरणें एक माध्यम से दूसरे माध्यम में प्रविष्ट होते ही मुड़ जाती हैं, परंतु इन दार्शनिकों को वर्तन के नियम नहीं मालूम थे। इन नियमों की खोज लगभग 1000 वर्ष बाद अरब निवासी **अलहाजेन** (Alhagen) ने ग्यारहवीं सदी में किया। उन्हें आंख की रचना तथा उसके विभिन्न भागों की क्रिया-विधि समझने की बड़ी इच्छा थी। उन्होंने यह समझने की बड़ी चेष्टा किया कि मनुष्य एक ही वस्तु को दो आंखों से किस प्रकार देखता है। सन् 1611 ई. में **एण्टोनियो-दि-डामिनीस** (Antonio de-dominis) ने पहले-पहल इन्द्र धनुष की शुद्ध व्याख्या वर्तन के नियमों के आधार पर किया और सन् 1621 ई. में स्नेलियस (W.Snelius) ने वर्तन के नियमों का ठीक-ठीक प्रतिपादन किया जिससे 2000 वर्ष की बहुत सी उलझनें दूर हुई। वर्तन के नियम जो स्नेल के नाम से आज भी प्रसिद्ध हैं, निम्नलिखित हैं–

जब प्रकाश की किरणें एक माध्यम से दूसरे माध्यम में प्रवेश करती हैं तो–

1. आपतित किरण, वर्तित किरण और अभिलम्ब एक ही समतल में होते हैं और

2. आयतन कोण की ज्या तथा वर्तनकोण की ज्या (Sine) का अनुपात एक स्थिरांक होता है।

यह स्थिरांक पहले माध्यम की तुलना में दूसरे माध्यम का वर्तनांक म्यू (μ) कहलाता है।

इसी के साथ-साथ खगोलविद्या (Astronomy) की ओर भी लोगों की रुचि बढ़ रही थी। ब्रिटेन के वैज्ञानिक **रोजर बेकन** (Roger Bacon) ने सन् 1214 ई. में वस्तुओं के अभिवर्द्धित प्रतिबिंब बनाकर उनका निरीक्षण करने के लिए लेंस और दर्पणों का उपयोग किया। उन्होंने यह भी सुझाया कि इनका उपयोग सुदूरवर्ती आकाशीय पिंडों के निरीक्षण में भी किया जा सकता है। **विटीलियो** (Vitileo 1270 ई.), **कॉपर्निकस** (Copernicus 1473 ई.) और **केप्लर** (Keplar 1611 ई.) आदि वैज्ञानिक इसी विधि से ग्रह तथा तारों के निरीक्षण में संलग्न हुए और ग्रह-उपग्रहों की गति का पता लगाया।

चश्मा बनाने तथा एक से अधिक लेंसों का दूरबीन बनाने में लगातार उपयोग होने लगा। दूरबीन का निर्माण सर्वप्रथम मिडिलवुर्ग निवासी **हांसलीपर्सी** (Hanslippercy) ने किया। हांसली पर्सी चश्में के व्यवसायी थे। सन् 1610 ई. में गैलीलियो ने बृहस्पति के उपग्रहों को देखने के लिए अपने बनाए हुए दूरबीन का प्रयोग किया।

प्रकाश का मिश्रित रूप

सत्रहवीं सदी के वैज्ञानिकों को प्रकाश के मिश्रित रूप की जानकारी नहीं थी। उनका अनुमान था कि 'प्रकाश' और 'अन्धकार' दो पृथक-पृथक सत्ताएं हैं। न्यूटन के समय में भी वैज्ञानिकों की धारणा थी कि श्वेत प्रकाश में विभिन्न मात्रा में अंधकार के मिलने से भिन्न-भिन्न रंग के प्रकाश उत्पन्न होते हैं। **आइजक न्यूटन** के प्राध्यापक **डॉ. आइज़क बैरो** (Issac Barrow) ने, जो उनसे पहले कैम्ब्रिज विश्वविद्यालय में गणित केल्यूकेशियन प्रोफेसर थे, प्रकाश-विज्ञान पर 'लेक्सिआन आप्टिसी' नाम की एक पुस्तक लिखा। इस पुस्तक में रंगीन प्रकाश के संबंध में उन्होंने अपने विचार निम्नलिखित रूप से व्यक्त किया है—'श्वेत' प्रकाश वह है जो प्रत्येक दिशा में समान रूप से अत्यधिक मात्रा में प्रसरित होता है। 'काला' वह है जिससे कोई प्रकाश नहीं निकलता है, अथवा यदा-कदा थोड़ी मात्रा में निकलता है। 'नीला' वह है जिसमें हल्का प्रकाश पाया जाता है। 'लाल' वह है जो सामान्य से अधिक मात्रा में और विशेषतः शुद्ध पाया जाता है। 'हरा' लगभग 'नीले' के समान होता है। 'पीले' में 'श्वेत' प्रकाश अधिक और 'लाल' कुछ हल्के अंश में मिला रहता है। 'नारंगी' में 'नीले' प्रकाश की मात्रा अधिक और 'लाल' की मात्रा कम पाई जाती है। समुद्र का नीला रंग शुद्ध जल के काले रंग में श्वेत नमक के घुलने से उत्पन्न होता है। जब हम किसी बत्ती के सामने एक छड़ी रख कर कागज पर उसकी छाया देख हैं तो छाया का नीलापन कागज़ की सफेदी से सांध्य प्रकाश (Twilight) के मिलने से उत्पन्न होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्राचीन दार्शनिकों की रंग और प्रकाश के संबंध में कितनी भ्रांतिपूर्ण धारणा थी।

रश्मि या स्पेक्ट्रम (Spectrum)

न्यूटन के प्रयोग

प्रकाश और रंग के संबंध में प्राचीन दार्शनिकों की धारणाएं मुख्यतः अनुमान पर आधारित थीं। पदार्थ की रचना तथा प्रकाश और पदार्थ के संबंध की जानकारी उन्हें थी ही नहीं। अतः प्रकाश और रंग के रहस्य का ज्ञान प्राप्त करना उनके लिए संभव नहीं था। आज इनके संबंध में हमारी जानकारी प्राचीन धारणाओं से बहुत भिन्न है। प्रकाश और रंग के रहस्यों की खोज, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से, न्यूटन ने आरंभ किया। न्यूटन पर प्रो. बैरो के व्याख्यानों का प्रभाव था। साथ ही उन्हें केप्लर की पुस्तक डाइआप्ट्रे (Dioptre) पढ़ने को मिली। केप्लर का यह अनुमान है कि किसी माध्यम में प्रकाश की किरण का वर्तन-कोण उसके आयतन कोण का समानुपाती होता है—न्यूटन को असंगत जान पड़ा। इसी समय आर्कविशप **एण्टानियों दि डामिनीस** द्वारा की गई इन्द्रधनुष की व्याख्या भी न्यूटन को पढ़ने को मिली। उन्होंने स्नेल के नियमों पर भी मनन किया। वर्तन के नियम न्यूटन को संभवतः **डकार्ते** से ज्ञात हुए थे। प्रकाश और रंग के संबंध में डकार्ते (Descartes) का अनुमान आधुनिक मत से कुछ सामन्जस्य रखता है। उनकी धारणा थी कि प्रज्जवलित पिंडों द्वारा विकीर्ण प्रकाश के रंग उनके भीतरी कणों की गति पर निर्भर करते हैं। वस्तु के कण स्थिर नहीं होते, अपितु उनमें गति पाई जाती है जो ताप देने पर बढ़ती जाती है। जिन कणों की गति बहुत अधिक होती है उनसे 'लाल' रंग का प्रकाश निकलता है। कम गति वाले कणों से 'पीला' तथा उनसे भी धीमी गति वाले कणों से 'हरा' और 'नीला' प्रकाश निकलता है। यद्यपि रंगीन प्रकाश के संबंध में हमारा आधुनिक ज्ञान उक्त धारणा के विपरीत है किंतु डकार्ते का यह अनुमान कि प्रकाश के विभिन्न वर्णों का भेद प्रज्जवलित पिण्ड के कणों की गति पर आश्रित है, उस समय की जानकारी के अनुसार अवश्य ही अनोखा और सराहनीय रहा।

विद्वानों की संगति और पुस्तकों के अध्ययन से न्यूटन की जिज्ञासा बढ़ती गई। उन्होंने विभिन्न प्रकार के लेंस और दूरबीन बनाने का प्रयास किया। रंगीन प्रकाश का रहस्य जानने के लिए तेइस वर्ष की अवस्था में ही उन्होंने त्रिपार्श्व (Prism) द्वारा प्रयोग करना आरंभ किया। सन् 1666 ई. से 1672 ई. तक के प्रयोगों का विवरण उन्होंने रायल सोयासटी (Transactions of Royal Society) की पत्रिका में प्रकाशित किया। इन प्रयोगों का विवरण उन्होंने अपनी पुस्तक 'आप्टिक्स' में संगृहीत किया है। यहां उनके कुछ प्रयोगों का संक्षिप्त विवरण देना अनुचित नहीं होगा।

न्यूटन के कागज़ की दो पट्टियां एक लाल और दूसरी नीली-लिया। इन्हें अगल-बगल रखकर एक त्रिपार्श्व के भीतर से उनका निरीक्षण किया। उन्होंने देखा कि दोनों पट्टियां अपने स्थान से भिन्न-भिन्न मात्रा में स्थानांतरित हो जाती हैं।

एक दूसरे प्रयोग में उन्होंने खिड़की के गोल छिद्र से आती हुई सूर्य की किरणों को त्रिपार्श्व पर डाला और पारगत (Transmitted) प्रकाश को एक पर्दे पर पड़ने दिया। पर्दे पर गोल छिद्र के समीपवर्ती कई प्रतिबिंब भिन्न-भिन्न रंग के दिखाई पड़े। इस रंगमाला का नाम उन्होंने स्पेक्ट्रम (spectrum) रखा। हम इसे रश्मिग्राम कहेंगे। इसी प्रयोग में उन्होंने त्रिपार्श्व से निकली हुई किरणों के मार्ग में एक दूसरा त्रिपार्श्व भी रखा। पर्दे पर बने हुए प्रतिबिंबों की संख्या उतनी ही रही परंतु उन्होंने देखा कि ये प्रतिबिंब अधिक फैल जाते हैं और उनका पारस्परिक अंतर भी बढ़ जाता है।

उक्त प्रयोगों में दोनों त्रिपार्श्वों के वर्तक-कोर एक ही ओर रखे गए थे। अतः दूसरी बार उन्होंने दूसरे त्रिपार्श्व को इस प्रकार उलट कर रखा कि उसका वर्तक-कोर (Refracting Edge) पहले त्रिपार्श्व के वर्तक-कोर के विपरीत पड़े। अब की बार छिद्र का केवल एक ही बिंब बना और वह श्वेत था।

इन प्रयोगों से उन्होंने निष्कर्ष निकाला कि श्वेत प्रकाश विभिन्न रश्मियों का विषम (Heterogeneous) मिश्रण होता है। रंगीन प्रतिबिंबों की रचना विभिन्न प्रकार की किरणों के पृथक हो जाने के कारण होती हैं। ये रश्मियां त्रिपार्श्व द्वारा भिन्न-भिन्न मात्रा में वर्तित होती है क्योंकि इनकी वर्तनीयता भी भिन्न होती है। इस प्रकार एक रंग का प्रतिबिंब केवल एक प्रकार के रश्मियों द्वारा बनता है। श्वेत प्रकाश-पुंज में जितने प्रकार की रश्मियां होती हैं, पर्दे पर उतने ही प्रतिबिंब बनते हैं। दूसरा त्रिपार्श्व पहले त्रिपार्श्व से निकली हुई किरणों को विपरीत दिशा में मोड़ देता है जिससे सभी प्रकार की किरणों द्वारा बने हुए प्रतिबिम्ब संपाती हो जाते हैं और पुनः अकेला श्वेत बिंब बन जाता है।

न्यूटन ने उपर्युक्त रीति से जो रश्मिग्राम प्राप्त किया उसके रंग एक दूसरे से विलग नहीं थे। अतः शुद्ध रश्मिग्राम प्राप्त करने के लिए उन्होंने लेंस का उपयोग किया। गोल छिद्र के सामने उन्होंने एक लेंस को इस प्रकार रखा कि छिद्र का स्पष्ट प्रतिबिंब पर्दे पर बन जाए। इसके बाद लेंस और पर्दे के बीच त्रिपार्श्व को लेंस के निकट रखा। इस आयोजन से रश्मिग्राम की शुद्धता अवश्य बढ़ी परंतु छिद्र के समीपवर्ती प्रतिबिंब एक दूसरे को कुछ न कुछ ढके ही रहे। इस प्रकार न्यूटन ने सन् 1666 ई. में स्पेक्ट्रोस्कोप का निर्माण किया जो आजकल के स्पेक्ट्रोस्कोप के समान ही था। उन्होंने 10 इंच लंबा सौर रश्मिग्राम (Solar Spectrum) भी प्राप्त किया परंतु गोल छिद्र के कारण उसकी शुद्धता नहीं बढ़ सकी और सौर रश्मिग्राम में उन्हें कोई विशेषता नहीं ज्ञात हुई। यदि गोलछिद्र के स्थान पर न्यूटन ने दीर्घछिद्र (Slit) का उपयोग किया होता तो रश्मिग्राम की वे विशेषताएं जो लगभग डेढ़ सौ वर्ष बाद मा़लूम हुई, उन्हें ही ज्ञात हो जातीं।

इस प्रकार रंगीन किरणों का विश्लेषण करके न्यूटन ने स्पेक्ट्रोसकोपी (Spectrosocopy) की नींव डाली, किंतु यह कहना अनुचित न होगा कि इस नवीन विज्ञान की प्रगति में उनका व्यक्तित्व बाधक भी सिद्ध हुआ। प्रकाश-विज्ञान के संबंध में उनकी जो धारणाएं थीं उनके विपरीत सोचने का साहस किसी भी समकालीन वैज्ञानिक

को नहीं हुआ उनके बाद भी लगभग 100 वर्षों तक स्पेक्ट्रोस्कोपी की प्रगति रुकी ही रही। उन्होंने कहा कि हर प्रकार के कांच समान विस्तरण-क्षमता (Dispersive power) के होते हैं। उन्हें यह विश्वास था कि लेंसों का रश्मि विपथन (Chromatic aberration) तथा रंग संबंधी दोष दूर नहीं किया जा सकता, यद्यपि उन्होंने स्वयं लेसों के संयोग से ऐसे दूरबीनों का निर्माण किया जिनमें रश्मि विपथन न्यूनतम था। न्यूटन के इन भ्रांत विचारों के कारण वैज्ञानिक लगभग डेढ़ सौ वर्षों तक अच्छे लेंस नहीं बना सके।

प्रत्यक्ष रूप से देखने पर विभिन्न अल्कली (Alkali) ज्वालाओं का प्रकाश एक दूसरे से भिन्न मालूम पड़ता है किंतु न्यूटन को सभी ज्वालाओं के रश्मिग्राम समान दिखाई पड़े क्योंकि अपने साधारण स्पेक्ट्रोस्कोप में उन्होंने गोल छिद्र का ही उपयोग किया। ज्वालाओं द्वारा प्राप्त अविच्छिन्न (Continuous) रश्मिग्राम में केवल एक प्रखर पीला प्रतिबिंब दिखाई पड़ता था जो सभी ज्वालाओं के रश्मिग्राम में बनता था। अतः उन्होंने लिखा है कि सभी ज्वालाएं समान होती हैं तथा उनका प्रकाश प्रज्जवलित वस्तुओं की कणिकाओं के आवृत्ति से उत्पन्न होता है। उनकी धारणा थी कि इन ज्वालाओं में विभिन्न रंग उसी कारण दिखाई पड़ते हैं जिस कारण साबुन के बुलबुले अथवा पानी पर फैली तेल की पर्तों (Films) में भिन्न रंग दिखाई पड़ते हैं। न्यूटन ने इन रंगों की व्याख्या कणिका सिद्धांत पर किया गया था। उनका अनुमान था कि प्रकाश सूक्ष्म कणिकाओं से बनता है। प्रकाश की इन कणिकाओं में दौरे (Fits) आते हैं जिनके फलस्वरूप तेल की पर्तों तथा साबुन के बुलबुलों में विभिन्न प्रकार के रंगों का आभास होता है। न्यूटन को अपने **कणिका-सिद्धांत** (Corpuscular Theory) पर इतनी आस्था थी कि मनमानी कल्पनाओं द्वारा प्रत्येक प्रोगात्मक घटना की व्याख्या देकर वे संतुष्ट हो जाते थे। उनकी बातों पर लोगों को इतना विश्वास था कि सन् 1802 ई. में **टामस यंग** (Thomas Young) ने भी बत्ती के प्रकाश के रशमिग्राम की पीली रेखा की उत्पत्ति कणिका-सिद्धांत द्वारा ही समझाया।

इसी प्रकार **ब्रूस्टर** (Brewster) और **ग्लैइस्टन** (Gladstone) ने फ्रानहोफर रेखाओं की व्याख्या इस सिद्धांत पर किया इससे विदित होता है कि न्यूटन तथा उनके अनुयायी इस तथ्य तक नहीं पहुंच सके कि प्रज्जवलित पदार्थों से निकलने वाली किरणों अणु तथा परमाणु की रचना का रहस्य बता सकती हैं। न्यूटन के बाद भी लगभग सौ वर्ष तक स्पेक्ट्रोस्कोपी के इतिहास में प्रगति के चिह्न नहीं दिखलाई पड़ते हैं। अठारहवीं शताब्दी में **टामस मेलविल** (Thomas Melvill) ने सोडियम ज्वालक का रश्मिग्राम प्रिज्मस्पेक्ट्रोस्कोप द्वारा देखा और सन् 1752 ई. में उन्होंने उत्सर्जन रश्मिग्राम की चर्चा किया। इसके बाद स्पेक्ट्रोस्कोपी की प्रगति का नया अध्याय उन्नीसवीं सदी में आरंभ हुआ।

स्पेक्ट्रोस्कोपी के अदृश्य क्षेत्रों की खोज

सन् 1800 ई. में ब्रिटिश ज्योतिषी **हर्शेल** (W.Herschel) सौर ऊष्मा (Solar Heat) का

अध्ययन कर रहे थे। सौर रश्मिग्राम के प्रत्येक खंड में ऊष्मा की मात्रा का पता लगाने के लिए उन्होंने एक सुग्राही तापमापक की घुंडी को रश्मिग्राम के विभिन्न रंगवाले खंडों में रखकर तापक्रम का निरीक्षण किया। ज्यों ही तापमापक बढ़ता हुआ दिखाई पड़ा, हर्शेल ने प्रकाश से भिन्न किसी अपरोक्ष ऊर्जा का अनुमान लगाया। वास्तव में इन्फ्रारेड (Infra-red) किरणों की यह सर्वप्रथम घोषणा थी। दूसरे ही वर्ष सन् 1801 ई. में **प्रो. रिटर** (W. Ritter) सिल्वर क्लोराइड के लेप पर रश्मिग्राम के विभिन्न भागों का रासायनिक प्रभाव देख रहे थे। उन्हें बैंगनी रंग से आगे कुछ अदृश्य किरणों का पता लगा जो लेप कर अधिक प्रभाव डालती हैं। इन किरणों को आल्ट्रावायलेट (Ultraviolet) नाम दिया गया है।

उन्नीसवीं शताब्दी में स्पेक्ट्रोस्कोपी की प्रगति

सन् 1802 ई. में **वोलास्टन** (Wollaston) ने स्पेक्ट्रोस्कोप में दीर्घछिद्र (Slit) का सर्वप्रथम उपयोग किया। गोलछिद्र के स्थान पर दीर्घछिद्र से प्राप्त सौर रश्मिग्राम अधिक शुद्ध मिला। सौर रश्मिग्राम में वोलास्टन ने कुछ काली रेखाओं को देखा, किंतु इन पर उन्होंने विशेष ध्यान नहीं दिया। उन रेखाओं को उन्होंने दो समीपवर्ती रंगीन पट्टियों की विभाजक रेखा समझा। सन् 1814 ई. में **फ्रानहोफर** ने प्रिज्म और पर्दे के बीच एक और लेंस लगाकर विशुद्ध रश्मिग्राम प्राप्त किया जिसमें काली रेखाएं और भी स्पष्ट मिलीं इन रेखाओं का अध्ययन फ्रानहोफर ने किया और वे फ्रानहोफर रेखाओं के नाम से प्रसिद्ध हुई। वोलास्टन ने ज्वालाओं तथा विद्युत स्पार्क के भी रश्मिग्राम लिए और उनका अध्ययन किया, किंतु उनके सूक्ष्म भेंदों पर ध्यान नहीं दिया। इस कारण विभिन्न तत्वों के रश्मिग्राम में जो उन्हें कोई अंतर नहीं मिला। उन्होंने लिखा है "विभिन्न तत्वों के रश्मिग्राम में जो अंतर दिखाई पड़ता है वह विकीर्ण प्रकाश की प्रखरता पर निर्भर करता है। इनके सामान्य भेदों का विवरण देना मैं निर्थक समझता हूं।" इस प्रकार वोलास्टन ने रश्मिग्राम के सामान्य भेदों का महत्व नहीं समझा। हम आगे चलकर यह देखेंगे कि ऐसे सूक्ष्म भेद कितने महत्वपूर्ण सिद्ध हुए। इन्हीं भेदों का अध्ययन करके वैज्ञानिक इस निष्कर्ष पर पहुंचे है कि तत्वों और यौगिकों के रश्मिग्राम परमाणुओं और अणुओं की आंतरिक रचना के द्योतक होते हैं। रश्मिग्राम के सूक्ष्म भेंदों की ओर वोलास्टन जैसे वैज्ञानिक का ध्यान नहीं गया, इसका कारण यह था कि उन्नीसवीं सदी में उनके सम्मुख अनेक व्यावहारिक कठिनाइयां थीं। उन्हें न तो अच्छे स्पेक्ट्रोस्कोप उपलब्ध थे और न रश्मिग्राम मापन के सुगम यंत्र ही।

अब तक तरंग सिद्धांत की नींव पड़ चुकी थी। प्रयोगों द्वारा यह स्पष्ट हो चुका था कि प्रकाश तरंगों के रूप में चलता है। इसी सिद्धांत के आधार पर यह समझा गया कि एक वर्ण की रश्मियों में एक ही प्रकार की प्रकाश-तरंगें होती हैं, अथवा एक वर्ण की रश्मियों का एक निश्चित तरंग-दैर्घ्य (Wave Length) होता है। इसी सिद्धांत से प्रकाश

तरंगों के व्यतिकरण और प्रबलीकरण (Reinforcement) की व्याख्या की गई। इसी सिद्धांत पर साबुन के बुलबुलों और तेल की पर्तों में दिखाई देने वाले रंगों की व्याख्या तथा न्यूटन-वलय (Newton's Ring) की रचना समझी जा सकी। ऐसे ही सिद्धांतों तथा प्रयोगों द्वारा **टामस यंग, ग्रिमाल्डी** (Crimaldi), **फ्रेस्नेल** (Fresnel) तथा **फ्रानहोफर** आदि वैज्ञानिकों ने रश्मिग्राम की विभिन्न रश्मियों का तरंग दैर्घ्य नापने की चेष्टा किया, किंतु कठिनाई यह थी कि न तो तरंगदैर्घ्य नापने के अच्छे यंत्र उपलब्ध थे और न यह निर्णय हो सका था कि किस तरंग-दैर्ध्य को प्रमाण तरंगदैर्ध्य माना जाए। इनके अतिरिक्त किसी तत्व या यौगिक का शुद्ध रश्मिग्राम प्राप्त करना भी सहज नहीं था। स्पेक्ट्रोस्कोपी की इन्हीं मूल बातों के संबंध में फ्रानहोफर के कार्य विशेष प्रशंसनीय हैं। अतः यहां उनका संक्षिप्त विवरण देना अनुपयुक्त न होगा।

फ्रानहोफर के अनुसंधान

फ्रानहोफर को किसी संस्था में शिक्षा नहीं मिली थी, 20 वर्ष की आयु में अपनी कार्यदक्षता के कारण वे कांच के एक कारखाने में डाइरेक्टर नियुक्त हुए। उन्होंने नई मशीनें और शुद्ध कांच के लेंस तथा त्रिपार्श्व बनवाए जिनके द्वारा वे अपनी सूझ के अनुसार नए-नए प्रयोग करने लगे। इन प्रयोगों से उन्हें नई बातों का पता लगा और उनकी अभिरुचि वैज्ञानिक अनुसंधानों की ओर बढ़ने लगी। कारखाने में कई प्रकार के कांच बनाए जाते थे। उनका यथार्थ वर्तनांक ज्ञात करने के लिए एकवर्णी रश्मियों (Monochromatic Rays) की आवश्यकता पड़ती थी, अतः उन्होंने शुद्ध सौर-रश्मिग्राम प्राप्त करने की योजना बनाया। उन्होंने दीर्घछिद्र का उपयोग किया और त्रिपार्श्व के दोनों ओर एक-एक लेंस रखा। पहला लेंस इस प्रकार रखा कि दीर्घछिद्र उसकी नाभि (focus) पर पड़े ताकि त्रिपार्श्व पर पड़ने वाली किरणें सामांतर किरणों को पर्दे पर अलग-अलग केंद्रित कर दें। इस प्रकार दीर्घछिद्र के प्रतिबिंब प्रत्येक वर्ग की किरणों द्वारा अलग-अलग बनते हैं और शुद्ध रश्मिग्राम प्राप्त होता है।

सौर रश्मिग्राम के निरीक्षण के लिए वास्तव में फ्रानहोफर ने दूसरे लेंस के स्थान पर दूरबीन का प्रयोग किया था। इस दूरबीन को उन्होंने दीर्घछिद्र के प्रतिबिंब देखने के लिए फोकस कर रखा था। इस प्रकार बड़ा किंतु प्रतीयमान (Virtual) अविछिन्न सौर-रश्मिग्राम मिला जिसमें अनेक काली रेखाएं स्पष्ट दिखाई पड़ीं। पहले प्रयोग में उन्होंने 60° कोण वाले कांच के त्रिपार्श्व को दीर्घछिद्र से 24 फीट की दूरी पर रखा था। बाद में उन्होंने कई त्रिपार्श्व बदले और प्रायोगिक आयोजन में भी परिवर्तन किया, किंतु रश्मिग्राम का रूप नहीं बदला। इतना ही नहीं, उन्हें काली रेखाओं की स्थिति में भी कोई परिवर्तन नहीं मिला। अतः यह निश्चय हो गया कि इन काली रेखाओं का संबंध सूर्य के प्रकाश से ही है। फ्रानहोफर ने लगभग 70 काली रेखाओं की गणना किया और उनमें से आठ प्रमुख रेखाओं का नामक्रमशः ए,बी,सी,डी,ई,एफ,जी तथा एच (ABCDE FGH) रखा। इन्हीं

रेखाओं के तरंगदैर्ध्य को प्रमाण मानकर अन्य रेखाओं का मापन आरंभ हुआ। इस प्रकार स्पेक्ट्रोसकोपी का कार्य यथार्थ ज्ञान के रूप में आगे बढ़ने लगा। इसके बाद फ्रानहोफर ग्रह और तारों के रश्मिग्राम उतारने और उनका अध्ययन करने में संलग्न हुए। उन्होंने देखा कि **सीरियस** (Sirius) नामक तारे का रश्मिग्राम पट्टदार होता है। ऐसे रश्मिग्राम को बैंड रश्मिग्राम (Band Spectrum) कहा जाता है। अन्य कई तारों के रश्मिग्राम में रेखाएं दिखाई पड़ी। ग्रहों के रश्मिग्राम सौर-रश्मिग्राम के समान किंतु मन्द प्रखरता (Intense) के तथा तारों के रश्मिग्राम से भिन्न पाए गए। इस प्रकार फ्रानहोफर ने **ज्योति विज्ञान** (Astrophysics) की नींव डाली। इसके अतिरिक्त उन्होंने प्रकाश-विज्ञान के अध्ययन के लिए कई बड़े और सूक्ष्मग्राही उपकरणों का निर्माण किया, जिससे अन्य वैज्ञानिक भी स्पेक्ट्रोस्कोपी के अनुसंधानों की ओर आकृष्ट हुए।

एड्स दे रहा दस्तक*

डॉ. वी.के. तिवारी, एम.डी.

इन्सानों के शत्रु एड्स से, विश्व को मुक्त कराओ।
इस महामारी से बचाव का, संदेश घर-घर पहुंचाओ।।

एड्स दे रहा दस्तक, अपने घर को इससे बचाओ।
इस भयंकर व्याधि से, बचाव के साधन अपनाओ।।
रक्तदान से पूर्व रक्त का, उचित परीक्षण करवाओ।
सुरक्षित यौन संबंध का संदेश घर-घर पहुंचाओ।।

जिसको संक्रमित किया एड्स ने, वह तो एक दिन जाएगा।
मानवता के लिए वह एक, संदेश छोड़ता जाएगा।।
पति-पत्नी के पावन रिश्ते की, सीमा को जो तोड़ेगा।
वह अपने घर परिवार के, सुख-चैन से मुंह मोड़ेगा।।

एच. आई. वी. संक्रमण से होते, भयाक्रांत और त्रस्त लोग।
रोग प्रतिरोधक क्षमता समाप्त कर, आमंत्रित करता अनेकों रोग।।
इनसे सीधे संबंधित हैं, चरित्र, व्यसन, रक्तदान व संभोग।
बचाव के साधन अपना कर, रहें सभी स्वस्थ और निरोग।।

वजन में कमी, क्षुधा में गिरावट एक माह से अधिक ज्वर आना।
चर्म दोष, बार-बार दस्त, सफेद छाले, लंबी खांसी का आना।।
गिल्टियों का बढ़ना, रोग-प्रतिरोधक शक्ति का लोप हो जाना।
न्यूमोनिया, क्षय रोग, हर चीज, मैनिन्जाइटिस का प्रकोप होना।।

---

* विज्ञान, सितम्बर 1998

निरोध का करें प्रयोग, रति रोगी से यौन संबंध न बनाओ।
असामान्य, समलैंगिक मैथुन, वेश्या-गमन को न अपनाओ।।
पति-पत्नी के मध्य यौन संबंध, सदैव ही सुखदायी होगा।
सामाजिक एवं सांस्कृतिक व्यतिक्रम, बड़ा ही दुखदायी होगा।।

पर्याप्त शुद्धिकरण करके उपकरणों का उपयोग करो।
सुरक्षित रहना है तो डिस्पोजेबल सीरिंज ही प्रयोग करो।।
स्वास्थ्य-शिक्षा का प्रचार कर, जन-जन में जागरूकता लाओ।
भ्रांतियों को दूर कर बचाव का संदेश घर-घर पहुंचाओ।।

यह नहीं होता, रोगी से हाथ मिलाने, उसके साथ बात करने से।
उसके साथ खाने-खेलने से, साथ-साथ कार्य करने से।।
रोगी के वस्त्र, वर्तन, भोजन से, उसके खांसने या छींकने से।
रोगी मां के स्तन-पान से, या रोगी संग यात्रा करने से।।

घर-घर विद्यालयों, कार्यालयों, निजी प्रतिष्ठानों में जाए।
सभी धर्म, जाति आयु व्यवसाय या समुदाय वालों को बतलाएं।।
गरीब, अमीर, पढ़े, अनपढ़, बचाव के साधन अपनाएं।
बचाव ही श्रेष्ठ साधन है, यह बात घर-घर पहुंचाएं।

67

अंग प्रत्यारोपण*

—डॉ. सीताराम सिंह पंकज

जब से इस पृथ्वी पर मानव का प्रादुर्भाव हुआ, तभी से रोगों और चोटों के रूप में वह 'देह दंड' भुगतता आ रहा है। मानव-देह के इन विकारों का सही निदान करके इनका प्रतिकार करने और साथ ही ऐसी तकनीकें खोजने में आयुर्विज्ञान के विशेषज्ञ बराबर लगे हैं कि देह में विकार पैदा ही न हों, परंतु दंतक्षय या कैंसर, धमनी-काठिन्य, गठिया-जैसे तमाम रोगों के कारण बहुत बार देह को अपने किसी न किसी जरूरी अंग अथवा ऊतक से हाथ धोना पड़ता है। मानव-चिकित्सा का इतिहास बताता है कि शुरू से ही रोग या दुर्घटनाग्रस्त अंग की जगह कामचलाऊ पुर्जे लगाने या किसी तरह कटे-फटे हिस्से को दुरूस्त करने की कोशिशें चलती रही है। शुरू में नकली अंग ऐसे होते थे कि आंख गई तो उसकी जगह कांच या पत्थर की आंख जमा दी या टांग कटी तो लकड़ी की टांग लगा दी और दांत टूट गया तो सोने या चांदी के दांत लगा दिए।

स्पेयर पार्ट सर्जरी

आजकल हमारी देह में टूट-फूट की मरम्मत के नायाब तरीके आजमाए जा रहे हैं, जिन्हें कई बार 'स्पेयर पार्ट सर्जरी' जैसी सुर्खियों में बयान किया जाता है। इसकी शुरूआत कैसे हुई, यह जानने के लिए हमें करीब एक सौ वर्ष पीछे झांकना होगा, जब शरीर में जमाकर फिट करने वाली युक्तियां खोज ली गई थीं। सही मायने में देह की मरमत सन-साठ के दशक में शुरू हुई, क्योंकि उस समय शरीर में रोपने योग्य नई सामग्री खोजने और प्रत्यारोपण की शल्यक्रिया में मानव ने काफी कुछ हासिल कर लिया था। इन्हीं दिनों दिल के कपाट (वाल्व) और मानव के कूल्हे बदलने की तकनीकों में कामयाबी मिली। अब तो सामग्रीविज्ञान, सूक्ष्म इलैक्ट्रोनिकी, भेषजविज्ञान और कोशिका जैविकी तथा विज्ञान की अन्य शाखाओं में इतनी प्रगति हुई है कि पुनर्रचना के शल्यविज्ञान में बड़े रोमांचकारी अध्याय जुड़ रहे हैं जिन्हें कर पाना चंद सालों पहले तक असंभव लगा था लेकिन आज वे चमत्कार संभव हो गए हैं और टूटी-फूटी देह को एक तरह से फिर से नया किया जा सकता है।

* विज्ञान गरिमा सिंधु, 1998-अंक 25

जैव अभियांत्रिकी (बायोइंजीनियरिंग)

अब तो इलैक्ट्रोनिक युक्तियों का ऐसा युग शुरू हो चुका है, जहां अलग-अलग कारणों से देह में लगे **आले*** भीतर की बात बाहर और बाहर की बात अंदर पहुंचा सकते हैं। ये युक्तियां दवाओं को बहुत बारीक खुराकों से सही जगह पर छोड़ती रहेंगी और दवा की दर अंदर लगे माइक्रोप्रोसेसर से नियंत्रित होगी तथा इनको बाहर से दूरमिति (टेलीमिट्री) के द्वारा संचालित किया जा सकेगा।

गाय के दिल की दीवार से ली गई ऊतक के बनाए वाल्व हमारे दिल में जगह पाएंगे या हड्डी की जगह हड्डी बनाने वाले बनावटी खनिज से लेंगे। यहां तक कि पॉलिमर यौगिकों, प्राकृतिक पालिमरों और रोगी की अपनी कोशिकाओं के मिलाने से नई त्वचा भी चढ़ाई जा सकेगी। हालांकि ये तमाम तकनीकें आयुर्विज्ञान सहित विविध विज्ञानों की अनेक शाखाओं से जुड़ी हुई हैं लेकिन इनको हम कुल मिलाकर जैव अभियांत्रिकी में रख सकते हैं। कायदे से इसका मतलब जीवन की अभियांत्रिकी होना चाहिए, लेकिन यह परिभाषा जैव प्रौद्योगिकी (बायो-टेक्नोलोजी) के लिए सुरक्षित हो गई है। जैव अभियांत्रिकी में इंजीनियरी और भौतिक विज्ञानों के सिद्धांत और तकनीके, उपचार और स्वास्थ्य रखा में अपनाई जाती हैं। शरीर में जोड़ने के लिए पुर्जे बनाना तो बायोइंजीनियरी का केवल एक पक्ष है।

शरीर द्वारा स्वीकारने योग्य सामग्रियां

विचार करने योग्य पहली बात यह है कि ऐसी कौन-सी कृत्रिम इंजीनियरी सामग्रियां हो सकती हैं, जो शरीर के ऊतकों में रोपी जा सकें। शरीर के अंदर जाकर ये सामग्रियां खराब नहीं होनी चाहिए और साथ ही इनकी वजह से देह के ऊतकों को कोई नुकसान भी न हो। जो भी सामग्री देह में रोपी गई है, उसे जंग लग सकती है या उसका अपघटन हो सकता है। साथ ही सामग्री के कारण देह के ऊतकों में कोई विषैला प्रभाव या कोई संक्रमण आ सकता है या फिर भी हो सकता है कि ऊतक इस बाहरी सामग्री को स्वीकार ही न करें। इन्हीं दोनों पक्षों को वैज्ञानिक जैव संगतता (बायोकंपैटिबिलिटी) के नाम से परखते हैं। पुनर्रचना की बायोइंजीनियरी में सफलता के लिए एक तो सामग्री और ऊतकों के बीच सामंजस्य बिठाना जरूरी है और दूसरी ओर यह भी कि जो भी सामग्री काम में लाई गई है, वह हर कसौटी पर खरी उतरे। श्रेष्ठ तकनीक से विकसित सामग्री के लिए देह के ऊतकों में ऐसी कोई अंतर्निहित दुष्क्रिया नहीं होती कि वे उसे निकाल बाहर करें। हां, इतना जरूर है कि बहुत-से पदार्थों में ऊतकों के संपर्क में आने पर कुछ सूक्ष्म अपघटन-क्रियाएं शुरू हो जाती हैं।

अनुसंधानों से पता चला है कि रक्त के तरल अंश प्लाज्मा में मौजूद प्रोटीन

---

* आले = Instruments

सामान्य लवणीय विलयन में धातुओं में जंग लगने की प्रक्रिया को दस गुना बढ़ा देते हैं। इसी तरह कुछ ऊतकों से ऐसे एंजाइम निकलते हैं, जो पॉलिमर और प्लास्टिक-जैसी संश्लेषित सामग्री पर क्रिया करके उसका अपघटन कर देते हैं, जबकि सामान्यतया वह सामग्री बेहद टिकाऊ होती है। सामग्री में जंग लगने या अपघटन की किसी भी क्रिया या शरीर के अंदर तक दुष्परिणाम यह होता है कि कुछ उत्तेजनकारी या विषैले पदार्थ रिसने लगते हैं और अनुसंधानों से स्पष्ट होता जा रहा है कि ऊतक इस तरह की छीजन को तनिक भी बर्दाश्त नहीं कर पाते। एक बात यह और पता चली है कि किसी भी पदार्थ के विषाक्त होने के बारे में हमारे सामान्य ज्ञान से इसका कोई अंदाजा नहीं लग पाता है कि देह के भीतर ऊतकों के संपर्क में आने पर उस पदार्थ की कैसी अभिक्रिया होगी। उदाहरण के लिए ऐलुमीनियम इतनी निरापद धातु है कि उसके बर्तन रसोई में काम आते हैं, लेकिन सीधे ऊतकों में जमा देने पर ऐलुमिनियम से बने पुर्जे आसपास की कोशिकाओं के लिए घातक सिद्ध होते हैं। इसलिए ऐसे पदार्थों की खोज पर ध्यान गया, जो ऊतकों के साथ लाभकारी क्रियाएं करते हों। ऐसी खोज अक्सर मानव-निर्मित कृत्रिम पदार्थों के बजाय प्राणियों से मिलने वाले प्राकृतिक ऊतकों तक ले गई; जैसे कि गाय के दिल की दीवार के ऊतक-पेरीकार्डियम तक इसकी ग्लूटैरेल्डिहाइड के साथ मिलाकर इस्तेमाल किया गया या फिर प्राकृतिक ऊतक सरीखे पदार्थ खोजे गए, जैसे कि टूटी-फूटी हड्डियों को फिर से हूबहू बनाने के लिए कैल्शियम हाइड्रॉक्सिल एपेटाइट। कुछ बनावटी पदार्थों को बनाने के बाद इस तरह उपचारित भी किया गया कि वे प्राकृतिक लगें।

रक्त से प्राकृतिक संगति बिठाना

ये पदार्थ प्रायः शरीर के ऊतकों के साथ तालमेल बिठा लेते हैं, पर जिनको बहते रक्त के संपर्क में रहना हो, उनके इस्तेमाल में बड़ी कठिनाई आती है। ऐसे शारीरिक पुर्जों में नकली धमनियां और शिराएं दिल के वाल्व, मूत्रवाहिकाएं, गुर्दे और दिल का काम करने वाली मशीनें और कृत्रिम हृदय शामिल है।

यहां कांटे की बात यह है कि किसी भी स्वस्थ व्यक्ति का खून एक प्रकार की गतिशील साम्यावस्था में रहता है। इसका मतलब यह कि जब जरूरत पड़े खून, रासायनिक और भौतिक दोनों तरह से, अपने आप को बदल सकता है; जैसे कि चोट की जगह थक्के बनाकर उसे जमाने के लिए। यह बड़ी सूक्ष्म प्रक्रिया है और किसी भी बाहरी हस्तक्षेप से या तो बिना जरूरत के भी शुरू की जा सकती है या उसमें गड़बड़ी पैदा हो सकती है। अगर बिना बात किसी जगह खून के थक्के जमने लगे तो स्वस्थ व्यक्ति में इससे कोई खास परेशानी नहीं होगी। लेकिन अगर इसका उल्टा हो गया और शरीर को लगने लगा कि थक्के जमाकर खून बहना रोकने की जरूरत नहीं है, तो काफी परेशानी पैदा हो सकती है। अनेक रक्त-विकारों में थक्के बनने या न बनने के बीच का यह संतुलन सचमुच गड़बड़ा जाएगा। अनेक कृत्रिम पदार्थों की बाहरी सतह के संपर्क में आने

पर रक्त के थक्के जमने की क्रिया को काफी बढ़ावा मिलता है। दुनिया की प्रयोगशालाओं में इस खोज के लिए काफी अक्ल और पूंजी खर्च हो रही है कि किसी तरह बाहरी पदार्थों की सतह का यह दोष मिटाया जा सके। उदाहरण के लिए, पूरी तरह से कृत्रिम हृदय बनाने में सबसे बड़ी बाधा यही है।

कृत्रिम रक्तवाहिनियां

खून के बराबर संपर्क में सबसे ज्यादा रहने वाले कृत्रिम अंगों में कृत्रिम धमनियां और शिराएं मुख्य हैं। रक्त तंत्र के बहुत-से रोग हैं जो धमनियों और शिराओं को बेकार कर देते हैं, जैसे कि धमनीकाठिन्य (ऐथिरोस्क्लेरोसिस) में धमनियां कड़ी बन जाती हैं। इसका कारण यह है कि धमनियों के अस्तर में बहते खून से आ-आकर थक्के जमा होते चले जाते हैं। धीरे-धीरे संकरी होकर धमनी का मुंह इतना छोटा हो जाता है कि खून के प्रवाह में रुकावट आ जाती है और यह रक्तचाप बढ़ने का कारण बन जाता है। यह समस्या हृदय की महाधमनी—जैसी बड़ी धमनियों में भी पैदा हो सकती है और उसकी मुख्य शाखाओं में या फिर हृदय को जाने वाली छोटी-छोटी धमनियों में या शरीर की सतह पर फैली धमनियों-जैसी टांग की धमनियों में। इस समस्या से निपटने के कई तरीके हैं, कुछ में चीर-फाड़ करनी होती है और कुछ में बिना चीर-फाड़ के दवाओं से ही काम चल जाता है। जरूरत पड़ने पर एक ही चारा बच रहता है कि खराब धमनी को काटकर उसकी जगह कृत्रिम धमनी लगा दी जाए। कई बार तो रोगी की देह की किसी और जगह से धमनी लेकर खराब धमनी की जगह लगा देते हैं; लेकिन कई मामलों में सर्जन को कृत्रिम धमनी ही लगानी पड़ती है।

महाधमनी-जैसी बड़ी धमनियों की जगह कृत्रिम धमनी लगाना आसान है, पर छोटी धमनियों को बदलना बहुत टेढ़ा है। छह मिलीमीटर से कम व्यास वाली कोई भी धमनी सर्जन की पकड़ में बड़ी मुश्किल से आती है, इसका एक बड़ा कारण यह है कि धमनी जितनी पतली होती, उसके अंदर थक्के जमने से रूकावट पैदा होने की उतनी ही ज्यादा आशंका रहती है। कृत्रिम धमनियां भी कोई ठोस तो होती नहीं। अंदर से पोली बनाई जाती है। चुने हुए पॉलिमरों को बड़ी बारीकी से बुनकर ये धमनियां बनती हैं। जैसे ही इस नकली धमनी में से खून बहना शुरू होता है कि उसकी बुनी हुई दीवार के बीच की सूक्ष्म खाली जगहों में से वह फूट-फूटकर निकलने लगता है और थक्के बनने शुरू हो जाते हैं। यह एक तरह से अपने आप ही रुक जाने वाली प्रक्रिया है। लेकिन धमनी छह मिलीमीटर से ज्यादा व्यास की हुई तो इसी प्रक्रिया से सामान्य धमनी में पाई जाने वाले थक्कों की तह-जैसी पूरी परत अंदर से थक्कों-सी हो जाती है और धमनी पक्की हो जाती है। इस पक्की कृत्रिम धमनी का रोपना बहुत कामयाब रहता है। तरह-तरह के प्रयोगों से साबित हो गया है कि यह कृत्रिम धमनी बड़े काम की चीज है। आजकल इसे कुछ रोगियों पर आजमाया जा रहा है। आशा है कि अनेक हृदय रोगों और हाथ-पांव के

धमनी-विकारों में इसका प्रयोग किया जा सकेगा।

चेहरे बदल जाएंगे

चेहरे और उसके आस-पास के ऊतकों में काफी गड़बड़ी हो जाती है—शायद उनमें होने वाले रोगों या लगने वाली चोटों से भी ज्यादा। परंतु अब इनमें से काफी मामलों में इन ऊतकों को फिर से गढ़ा जा सकता है। सड़े-गले दांतों की जगह बनावटी दांत लगाना अब आम बात है। चोट से अथवा कीड़ा या जीवाणु लग जाने से टूटे या खराब हुए दांत या दंतावली को बदलने के अलावा उन्हें जमाकर रखने के लिए 'ब्रिज' भी बांध दिए जाते हैं। इस तरह दंत-विशेषज्ञ अपने रोगी की बत्तीसी करीब-करीब कुदरती-जैसी ही बरकरार रखते हैं। अब इसकी नई तकनीक, 'दांत रोपने की' भी निकल गई है, जिसे अधिकाधिक विशेषज्ञ अपनाने लगे हैं।

कुछ समय पहले दांत-रोपण टेढ़ी खीर थी। होता यह था कि जैसे ही 'बनावटी दांत' रोपा गया कि मसूड़ों की ऊपरी परत की कोशिकाएं उसके साथ-साथ बढ़ने लगती थीं। इनमें से कई इतनी बढ़ जाती थीं कि दांत और उसके नीचे की ऊतक की बीच में एक दीवार-सी बना देती थीं।

जैव संवेदक

बायोइंजीनियरी के क्षेत्र में बड़े अनूठे उपयोगों के रास्ते खुलने वाले हैं। शरीर के भीतर चल रही पेचीदगी भरी क्रियाओं का पल-प्रतिपल जायजा लेने और उन्हें दर्ज करने के ऐसे बहुत-से नए आले निकाले गए हैं, जो शरीर के अंदर रोप दिए जाएंगे और वहीं से वे बराबर भीतर की सारी खबर बाहर भेजते रहेंगे। इनहें 'क्लिनिकल ट्रांसड्यूसर' और 'बायोसैन्सर' कहते हैं। यहां भी 'जैव संवेदकों' (बायोसैन्सर) के साथ यह कठिनाई आ रही है कि लंबे समय तक देह के अंदर रहने पर उनकी सतह पर खून के प्लाज्मा के प्रोटीन अपनी तह जमा देते हैं। इसकी तरह दूसरे शारीरिक तरल भी रुकावट डालते हैं। वे जिन क्रियाओं को माप कर दर्ज करने के लिए लगाए गए हैं, उनके मापांकन में भी इन बाधाओं के कारण त्रुटि होने की आशंका बढ़ जाती है; जैसे कि खून में जमा हो रही गैस मापने में। ऑक्सफोर्ड युनिवर्सिटी के वैज्ञानिकों के सहयोग से लिवरपूल में विशेषज्ञों की एक टोली रोपे गए जैव संवेदकों की सतह पर शरीर के अंदर के तरल पदार्थों की दुष्क्रिया रोकने के प्रयास कर रही है।

आगे चलकर शरीर में लगाई जाने वाली तमाम तरह की जैव-रासायनिक और भेषजीय युक्तियों में जैवसंवेदन लगाना एक तरह से जरूरी हो जाएगा, जैसे कि इंसुलिन स्रावित करने वाली बनावटी अग्न्याशय ग्रंथि (पैन्क्रिआज) रोपने में।

भविष्य में कुछ ऐसी दिशाओं के मार्ग प्रशस्त हो रहे हैं कि शरीर के अंदर जरूरत पड़ने पर सही मात्रा में सही खुराक छोड़ने वाली दवाओं की युक्तियां रोपी जा सकें।

चिकित्सक इनको छोटी-मोटी दवाओं का डिपो ही बताते हैं जिन्हें शरीर के अंदर खोला जाएगा। वहां देर तक इनको टिकाऊ व चालू रखने और आसपास के ऊतकों से मूल बैठाने की तमाम दिक्कतें उभरेंगी। इधर हर तरह की इलेक्ट्रोनिक युक्तियां भी देह के अंदर रोपने के प्रयास भी हो रहे हैं लेकिन इनके शरीर की तंत्रिकाओं के बीच तालमेल बिठाए बिना इसमें कामयाबी नहीं मिलेगी। इस दिशा में भी खोजें चल रही हैं। जहां तक बायोइंजीनियरी का सवाल है, इतना तो भरोसे से कहा जा सकता है कि दिनोंदिन शरीर के अधिक से अधिक अंग बदलने में महारत हासिल होने लगेगी और रोपने वाली युक्तियां भले ही जटिल हों परंतु पहले से बेहतर और टिकाऊ बनती जाएंगी। इस तरह आने वाली सदी में शरीर के तमाम अंग उसी तरह बेहिचक बदले जाएंगे, जैसे किसी मशीन के पुराने पड़ गए या टूटे-फूटे पुर्जे बदले जाते हैं।

परमाणु बिजलीघर की आत्मकथा*

–दिलीप भाटिया

मैं अपनी आत्मकथा उन सबके लिए लिख रहा हूं, जिन्हें परमाणु बिजलीघर के बारे में नगण्य जानकारी है तथा कुछ पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित भ्रमपूर्ण समाचारों से जिनके मन में शंका और संदेह घर कर गए हैं। मेरी इस आत्मकथा या सच कहूं तो मन की व्यथा का उद्देश्य आपको सामान्य जानकारी देना है ताकि तकनीकी जानकारी से आप ऊबें भी नहीं और आपके मन से शंका-संदेह के बादल भी छंट सकें। आत्मकथा बहुत विस्तृत भी होती है, परंतु मैं संक्षेप में बहुत थोड़ी जानकारी देकर प्रारंभिक बातें ही बतलाऊंगा।

यह भ्रम मत पालिए कि मेरे घर में कोई परमाणु बम बनता है। जी हां, मैं सत्य कह रहा हूं, मेरा घर बम-फैक्ट्री नहीं है। मेरे घर में बिजली बनती है, जिसकी आवश्यकता हमें तब महसूस होती है जब दो-तीन घंटे की विद्युत कटौती की घोषणा होती है। 'पावर-कट' का नाम सुनते ही सबका दिल छोटा हो जाता है। यह भी सत्य है कि आपकी बिजली की आवश्यकताओं की अधिकतम पूर्ति ताप तथा पन बिजली घर ही कर रहे हैं। परंतु मांग और आपूर्ति में जो गहरी खाई है, उसके लिए कोई न कोई विकल्प तो निकालना ही है। हमारे देश में इतना परमाणु ईंधन है कि मेरे घर का चूल्हा कई शताब्दियों तक जलता रहेगा। भारत में हम पांच साथी हैं–पांच बिजलीघर जो विद्युत-उत्पादन कर रहे हैं। वर्तमान में तो हमने कई पुराने रिकार्ड तोड़कर अपने गृहस्वामी को बहुत फायदा पहुंचाया है। नरोरा तथा काकरापार वाले साथी तो इतने अच्छे साबित हो रहे हैं कि उनकी जितनी सराहना की जाए, उतनी कम है। हमारा तारापुर वाला साथी हम सबमें सबसे बड़ा है, जो पूरा-पूरा योगदान दे रहा है। हां, हमारे राजस्थान में रावतभाटा के समीप स्थित एक साथी की शल्य-क्रिया हुई है और इसमें पूरा नया दिल लगाकर उसे शीघ्र ही पुनर्जीवित कर दिया जाएगा। रावतभाटा में ही एक साथी की अवस्था ऐसी हो गई थी कि डॉक्टरों ने भी जवाब दे दिया था, परंतु यहीं के स्थानीय चिकित्सकों ने ऐसा चमत्कार फरवरी 1997 में कर दिखाया। उससे मानो इसे संजीवनी

* विज्ञान गरिमा सिंधु, 1998-अंक 25

बूटी मिल गई हो। आपको यह जानकर प्रसन्नता होगी कि हमारे रावतभाटा वाले साथी के घर में जो चूल्हे बंद थे, उनसे शीघ्र ही पुनः उत्पादन होकर हमारा योगदान चलता रहेगा।

आपको इतना बताता चलूं कि मेरे घर में यूरेनियम ईंधन होता है। भारी- पानी मंदक तथा शीतलक के रूप में काम में लिया जाता है। ब्वाइलर, टरबाइन, जेनेरेटर, ट्रांसफार्मर, स्विचगार्ड तो वैसे ही होते हैं, जैसे ताप बिजली-घर में होते हैं। मैं पूर्ण सुरक्षित रूप से काम करूं, इसके लिए इतने सारे प्रावधान हैं कि उन सबका उल्लेख करना फिलहाल इस छोटी कथा में संभव नहीं है। बस, आप इतना जान लीजिए कि आप सबकी सुरक्षा सर्वोपरि है। मेरे अपने घर में बिजली बनने से आपको इस बिजली का लाभ ही लाभ है, हानि बिल्कुल नहीं। कहना ही पड़ रहा है कि मैं इतना सक्षम, समर्थ और योग्य हूं कि आप को कभी कोई नुकसान नहीं पहुंचाऊंगा, मेरी किसी भी क्रिया से आपके स्वास्थ्य पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।

आप सोच रहे होंगे कि मैं विकिरण (रेडिएशन) की बात छिपा रहा हूं। जी नहीं, मेरा तो पूरा जीवन तो साफ और पारदर्शी है। जो भी हूं, जैसा भी हूं बिल्कुल आपके सामने हूं। आप कभी मेरे यहां पधारने का कष्ट करें। आपको मात्र बैठक तक ही सीमित नहीं रखा जाएगा, बल्कि आप मेरा पूरा घर देख सकते हैं और जो जानना चाहते हैं वह सब पूछ सकते हैं। मेरे परिवार में गुणी, जानकार तथा विद्वानों का सत्कार ही होगा। रेडिएशन की बात हो रही थी। यह तो प्रकृति में सभी जगह वैसे भी है। मेरे बिजली बनाने से इनमें जो 2.6 प्रतिशत की हल्की-सी वृद्धि होती है, वह पूर्णतया सुरक्षित सीमा में है। आप के लिए जो सीमा है—(100 मिलीरेम प्रति वर्ष) उसका मात्र अधिक से अधिक 5 प्रतिशत आपको मिलता है, परंतु मेरे ही घर के सदस्यों को हर वर्ष 2000 मिलीरेम (आपसे 400 गुना ज्यादा) रेडिएशन मिलता रहता है। वे तो पूर्ण निरोगी और स्वस्थ हैं। माता-पिता ही नहीं, दादा-नाना बनकर तीसरी पीढ़ी का लालन-पालन कर रहे हैं। सेवा निवृत्ति के बाद भी मेरे पड़ोस में ही रहना चाहते हैं। सोचिए, मुझ से उन्हें कोई नुकसान होता, तो वे रिटायर होने के बाद तो मुझ से दूर भागते, परंतु उन्होंने अपने जीवन की 35-40 सालों की लंबी सेवा में ऐसा कोई कष्ट नहीं पाया, जिससे वे मुझसे पीछा छुटाने की कोशिश करते। रेडिएशन तो आपको एक्स-रे, सी टी स्केन, टी.वी., अल्ट्रा साउंड और पता नहीं कितने-कितने स्रोतों से मिलता रहता है। यह आपके स्वास्थ्य के लिए आवश्यक जो हो जाता है। इसलिए, मेरे द्वारा दिए गए हल्के-से रेडिएशन से घबराएं नहीं। इस बारे में और अधिक जानकारी मैं आपको अगली बार दूंगा।

आत्मकथा के इस अंश को पहला विश्राम यहीं देता हूं। आप विश्वास रखिए कि मेरे द्वारा बनाई गई बिजली आपके लिए आवश्यक भी है और लाभकारी भी। अच्छा है कि मेरे साथियों की संख्या में वृद्धि हो रही है। विदेशों में तो मेरे अनेक साथी हैं, जिस देश में हिरोशिमा तथा नागासाकी पर बम वर्षा हुई, उस देश जापान में 30 प्रतिशत

विद्युत की आपूर्ति मेरे साथियों द्वारा हो रही है। सोचिए, जिन्होंने परमाणु बम की यातना भोगी है, वे मुझे क्यों अपनाते। परमाणु बम-जैसी मदों से परिवार का नुकसान होगा ही, परंतु आप मुझ—जैसी इकाई को भी तो समझने का और अपनी सेवाएं देने का मौका दीजिए। आपके पत्रों की मैं प्रतीक्षा करूंगा, ताकि अपनी रामकहानी को आगे और विस्तार से कह-लिख सकूं।

आगामी शताब्दी में जैव तकनीकी : अवसर और चुनौतियां*

–डॉ. मंजु शर्मा

अभी-अभी हमने अपनी स्वतंत्रता की 50 वीं वर्षगांठ मनाई है। इस देश के प्रथम प्रधानमंत्री पं. जवाहरलाल नेहरू वैज्ञानिक दृष्टिकोण से युक्त थे और विज्ञान तथा वैज्ञानिकों के विकास के प्रबल पक्षधर थे। पं. नेहरू के विचार में आर्थिक, सामाजिक तथा सांस्कृतिक विकास में विज्ञान और तकनीकी ज्ञान एक शक्तिदायक कारक के रूप में कार्य करता है। इसी दृष्टिकोण से उन्होंने 1985 में विज्ञान नीति प्रस्ताव प्रस्तुत किया था जो आज की प्रगति के लिए एक आधार के रूप में विद्यमान है।

हमारे वर्तमान प्रधानमंत्री माननीय अटल बिहारी वाजपेई ने 'जय जवान, जय किसान तथा जय विज्ञान' के मंत्र के रूप में हमारे समक्ष विज्ञान के लिए नई प्रेरणा प्रस्तुत की है। गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले लोगों के सामाजिक आर्थिक स्तर को सुधारने तथा जीविकोपार्जन के साधन व सुरक्षा उपलब्ध कराने को माननीय प्रधानमंत्री जी ने प्रमुख लक्ष्य माना है। हम सारे वैज्ञानिक इस स्वप्न को वास्तविकता में बदलने के लिए हर संभव प्रयास करेंगे।

इस समय विश्व में गणित, भौतिकी, रसायन, विज्ञान, जैव तकनीकी, जीव विज्ञान, इलेक्ट्रॉनिकी, सूचना तकनीक, इंजीनियरिंग, अंतरिक्ष विज्ञान तथा अन्य कई क्षेत्रों में आशातीत प्रगति हो चुकी है। परमाणु युग का आरंभ 1945 में ही नाभिकीय विस्फोट के साथ तथा आधुनिक इलेक्ट्रानिक युग का आरंभ 1947 में ट्रांजिस्टर के आविष्कार के साथ ही हो चुका है। इसी प्रकार अंतरिक्ष युग का आरंभ स्पूतनिक के 1957 में प्रक्षेपण के साथ तथा आधुनिक जीव विज्ञान का आरंभ 1953 में डी.एन.ए. के डबल हेलिक्स स्ट्रक्चर की खोज के साथ हो चुका है।

जीव विज्ञान का अध्ययन मुख्य रूप से पौधों तथा जन्तुओं की विविधता के

---

* विज्ञान, अप्रेल 1999

वर्गीकरण से संबंधित है। **मेण्डल** द्वारा 1865 में की गई ऐतिहासिक खोजों के पश्चात आधुनिक जीव विज्ञान की शुरूआत हुई। मेण्डल का कार्य मुख्य रूप से आनुवंशिकी से संबंधित था। **डारविन** का 1859 में विकासवाद भी इस दिशा में निर्णायक कार्य था। मानव सभ्यता के प्रारंभिक दौर से कृषि के क्षेत्र में जैव तकनीक (बायोटेक्नालोजी) के चमत्कार से जीव विज्ञान का महत्व और भी स्पष्ट हो जाता है। 17वीं शताब्दी में **लीवन हॉक** द्वारा सूक्ष्मदर्शी के आविष्कार और बैक्टीरिया की खोज एवं 19वीं शताब्दी में **पास्चर** के माइक्रोबायलॉजी तथा इम्यूनोलॉजी से संबंधित खोजें महत्वपूर्ण घटनाएं थीं।

आधुनिक जैवतकनीकी की प्रगति जीव विज्ञान में रासायनिक रूप से निर्मित ब्लॉक की आधारीय विधियों के नियंत्रण की मूलभूत जानकारी की वैज्ञानिकों के समझ की क्षमता पर निर्भर करती है। पशु चारे के निर्माण में, दुग्ध उद्योग में तथा कृषि में सूक्ष्म जीवों की लाभदायक क्रियाएं पहले से ही ज्ञात थीं। आज आनुवांशिक अभियांत्रिकी पौधों तथा जन्तुओं के प्रजनन में अधिकता से इस्तेमाल की जा रही है। जैव तकनीकी से संबंधित अब तक उपलब्ध जानकारी से वैज्ञानिकों, तकनीकविदों, तथा औद्योगिक मालिकों के बीच उल्लेखनीय सहजीवन की प्रबल संभावनाएं हैं।

प्रकृति के व्यवहार और कार्य को समझने में आनुवंशिकी की महत्वपूर्ण भूमिका रही है। न्यूक्लियोटाइड के सार पर जीनोम की संरचना के विश्लेषण से संबंधित अनुसंधान के प्रयास प्रगति पर हैं। कृषि के क्षेत्र में जैव का सीमित भूमि से पर्याप्त खाद्य पदार्थ उपलब्ध कराने में सहायता मिलेगी। आगामी शताब्दी में जनसंख्या की अनुमानित 2 प्रतिशत वृद्धि के लिए खाद्यान्न उत्पादन को दुगना बढ़ाना होगा। आधुनिक जैव तकनीकी के बिना यह मुश्किल ही नहीं असंभव भी होगा। यह आशा की जाती है कि खाद्यान्न उत्पादन में तीन चौथाई वृद्धि उपलब्ध भूमि पर जैव तनकीकी के प्रयोग द्वारा सघन खेती पद्धति से प्राप्त होगी। पश्च-हरित क्रांति को अब जीन क्रांति के रूप में बदलने की आवश्यकता है।

21वीं शताब्दी में हमें प्राकृतिक खेती/कार्बनिक खेती की पद्धति को अत्यधिक प्रोत्साहन देना होगा। जैव उर्वरकों, जैव कीटनाशियों, वर्मीकल्चर के व्यापक स्तर पर प्रयोग को वास्तविकता को रूप देना होगा। पशुधन की नस्ल सुधार एवं दुग्ध, अण्डे मांस इत्यादि के उत्पादन के बढ़ाने के लिए जेनेटिक मैनिपुलेशन की मदद लेनी होगी। भ्रूण प्रत्यारोपण तनकीकी की सहायता से अपने पशुधन की नस्ल सुधारने में हम सक्षम हो गए हैं। ''उत्तम मादा'' (सुपीरियर फीमेल) बनाकर पीढ़ी-अंतराल को कम करने में मदद मिल रही है। पशुओं की विभिन्न संक्रामक बीमारियों यथा-खुरपका-मुंहपका, वाइरल फीवर आदि की रोकथाम तथा पशुओं द्वारा प्राप्त सह-उत्पाद यथा-चमड़ा आदि की प्रोसेसिंग में जैव तकनीक काफी कारगर सिद्ध हुई है। मछली उत्पादन में भी जैवतकनीक से आशातीत वृद्धि हुई है।

पर्यावरण संरक्षण के क्षेत्र में जैव विविधता को बरकरार रखने में तथा प्रदूषण नियंत्रण में जैव तकनीकी से काफी सहायता मिली है। सारांश रूप में ही यह कहा जा सकता है कि जैव तकनीक की सहायता से आगामी शताब्दी की खाद्य, पशुधन, जैवविविधता, प्रदूषण तथा स्वास्थ्य की चुनौतियों का हम डटकर मुकाबला करने में सक्षम होंगे।

70

एंजियोप्लास्टी से दिल का इलाज*

डॉ. राजीव लोचन

ताउम्र धड़कने वाले हृदय को कोरोनरी या हृदय धमनियां ही शुद्ध रक्त के रूप में खुराक मुहैया कराती है। लेकिन जब इस धमनियों में से एक या अधिक धमकियों का रास्ता तंग हो जाता है वह तब हृदय को साफ व शुद्ध रक्त की आपूर्ति घट जाती है। ऐसा उम्र बढ़ने तथा गलत खान-पान और रहन-सहन की वजह से होता है। इन कारणों से हृदय धमनियों की भीतरी परत पर वसा या कोलेस्ट्राल का जमाव होने लगता है जो रक्त प्रवाह में रुकावट डालता है। इसके कारण दिल का दौरा पड़ता है जिससे मौत भी हो सकती है।

हृदय धमनियों में वसा के जमाव का पता तब चलता है जब चालीस साल से ऊपर की अवस्था में चलने-फिरने के दौरान सांस लेने में कठिनाई होती है और सीने या पेट में दर्द होता है। दौरे के दौरान खून की नली में वसा जमाव के अलावा रक्त का थक्का भी बन सकता है जो हृदय में रक्त प्रवाह को रोक देता है। स्ट्रेप्टोकाइनेज और थ्रोम्बोलिटिक उपचार से रक्त के थक्के को घुलाया जाता है। यह इलाज लगभग हर बड़े शहरों में उपलब्ध है। लेकिन अमेरिका में कुछ अध्ययन में पाया गया है कि 60 से 70 प्रतिशत मरीज इस विधि से फायदा नहीं उठा पाते क्योंकि इसके कई दुष्प्रभाव होते हैं। इसके प्रयोग से पेट में अल्सर, ब्रेन हैमरेज और अत्यधिक रक्त स्राव का अंदेशा रहता है। इसलिए दिल का दौरा पड़ने पर तत्काल इलाज के लिए प्राइमरी एंजियोप्लास्टी की जाती है। इसके जरिए हृदय की धमनी में रुकावट का तुरंत निदान कर, रक्त के प्रवाह को ठीक कर दिया जाता है।

प्राइमरी एंजियोप्लास्टी बिना चीड़-फाड़ के बंद धमनियों को खोलने की प्रचलित प्रक्रिया की तरह ही है। इसमें एक पतले ट्यूब के जरिए जमाव को फैलाया जाता है ताकि रक्त प्रवाह पहले की तरह हो सके। इसमें 15 से 30 मिनट का समय लगता है। यह दिल के दौरे के दौरान किया जाता है। दिल का दौरा पड़ने पर ई.सी.जी. (कार्डियोग्राम) किया जाता है तथा प्राथमिक चिकित्सा के तौर पर मरीज को जीभ के नीचे रखकर चूसने

* 'आपका स्वास्थ्य' नवम्बर-दिसम्बर 1999

वाली दवा दी जाती है, फिर उसकी एंजियोप्लास्टी कर ली जाती है। इससे यह पता चलता है कि हृदय की धमनियों में कहां पर 'ब्लाक' है। इसका पता चलते ही मरीज की प्राइमरी एंजियोप्लास्टी कर दी जाती है। दोबारा जमाव को रोकने के लिए बंद हृदय धमनियों को खोलने के दौरान कैथेटर डालकर एक दवा दी जाती है जो खून के थक्के को जमने से रोकती है।

लेकिन इस प्रक्रिया को और कारगर बनाने के लिए स्टेंट पर रखकर दवा दी जाती है। स्टेंट एक स्प्रिंगनुमा यंत्र (डिवाइस) है जिसे एक छोटे से गुब्बारे के साथ डालकर 'ब्लाक' तक पहुंचाया जाता है। इस पर हिपैरिन जैसी औषधि देने से प्राइमरी एंजियोप्लास्टी के जरिए खोली गई धमनियों के दुबारा बंद होने की संभावना लगभग न्यूनतम हो जाती है। इसी कारण प्राइमरी एंजियोप्लास्टी की सफलता 85 से 90 प्रतिशत तक है। यह इतनी सरल प्रक्रिया है कि जरूरत पड़ने पर दुबारा या तिबारा भी की जा सकती है और इसका कोई नकारात्मक प्रभाव भी नहीं पड़ता है। एंजियोप्लास्टी के साथ स्टेंट के प्रयोग से इतने सकारात्मक परिणाम आ रहे हैं कि लगता है आने वाला कल हृदय रोगियों के लिए वरदान सिद्ध होगा। लेकिन यह नवीनतम इलाज कुशल चिकित्सकों द्वारा आधुनिक सुविधाओं से लैस अस्पतालों में ही हो सकता है।

एंजियोप्लास्टी ग्रीक शब्द एंजियोस और प्लास्टी से मिलकर बना है। एंजियोस का अर्थ होता है धमनी और प्लास्टी का मतलब होता है मरम्मत। अर्थात् खराब धमनियों की मरम्मत की प्रक्रिया ही एंजियोप्लास्टी है। उसको संक्षेप में पी.टी.सी.ए. या परक्यूटेनियस टान्सलूमिनल कॉरोनरी एंजियोप्लास्टी कहा जाता है। स्विटजनलैंड के चिकित्सा विज्ञानी **एंड्रियाज ग्रूंजिक** ने 1977 में इस विधि की खोज की थी। उन्होंने इसी वर्ष के सितंबर माह में अपनी इजाद की गई विधि से पहले मरीज को ठीक किया था। तब से इसके विकास की प्रक्रिया अनवरत जारी है और आज इसने एंजियोप्लास्टी और स्टेंट के प्रयोग तक का सफर तय किया है।

एंजियोप्लास्टी की सफलता से उत्साहित होकर भारत में जीन थीरेपी पर काम हो रहा है। वैज्ञानिक ऐसे जीन की खोज में हैं जो हृदय धमनियों में हार्ट अटैक के दौरान बनने वाले खून के थक्के को न बनने दे। अभी यह परीक्षण के दौर में है। वैज्ञानिकों का मानना है कि यदि यह विधि सफल हो जाती है तो यह हृदय रोगियों के लिए जीवनदायनी साबित होगी।

लगभग 22 वर्ष पहले तक हृदय रोगियों के लिए बाइपास सर्जरी के अलावा कोई इलाज नहीं था। लेकिन इसके खतरनाक और खर्चीले होने के कारण लोग इसे कराने से डरते थे। इसलिए वैज्ञानिक इस प्रयास में थे कि ऐसी विधि इजाद की जाए ताकि हृदय रोगियों को बाइपास सर्जरी की नौबत से बचाया जा सके। उनके प्रयास का परिणाम है—एंजियोप्लास्टी और फिर प्राथमिक एंजियोप्लास्टी। दोनों में अंतर सिर्फ इतना है कि प्राइमरी एंजियोप्लास्टी हार्ट एटैक के दौरान की जाती है जबकि एंजियोप्लास्टी कभी भी

की जा सकती है। इसकी आवश्यकता हृदय धमनियों में ब्लॉकेज 70 प्रतिशत से ज्यादा होने पर पड़ती है, जब दवा बेअसर हो जाती है। इसका मतलब यह कदापि नहीं है कि बाइपास सर्जरी बीते दिनों की बात हो गई है, बल्कि तीनों हृदय धमनियों के बंद होने पर अभी भी यह एकमात्र उपाय है।

हमारे देश में एंजियोप्लास्टी की लोकप्रियता काफी कम है। अमेरिका में बीते वर्षों की तुलना में आज जहां 10 से 12 लाख हृदय रोगी एंजियोप्लास्टी और मात्र 2 से 3 लाख रोगी बाइपास सर्जरी कराते हैं, वहीं भारत में 40 से 50 हजार लोग बाइपास सर्जरी और मात्र 8 से 9 हजार लोग एंजियोप्लास्टी कराते हैं। इसका मुख्य कारण यह है कि जनसाधारण में एंजियोप्लास्टी के बारे में गलत धारणा है कि यह अस्थाई इलाज है। इसके अलावा जो चिकित्सक इस नई विधि से इलाज नहीं कराते या इसकी नवीनतम उपलब्धियों से वाकिफ नहीं है, वे अभी भी ऑपरेशन के पुराने तरीके को ही अमल में लाते हैं।

दिल के दौरे का इलाज कितना भी सरल क्यों न हो, हमारी संतुलित दिनचर्या और संयमित खान-पान ही हमें लंबे समय तक इसकी काली छाया से बचा सकते हैं। नियमित व्यायाम और चिकनाई रहित भोजन धमनियों को वसा के जमाव से सुरक्षित रख सकता है। शरीर में अत्यधिक वसा के जमाव को रोकने के लिए चोकरयुक्त आटे से बनी रोटियां, हरी सब्जियां, चना, फल, कर्डी या सनफ्लावर के तेल लाभदायक साबित हुए हैं। नियमित व्यायाम बहुत ही लाभकारी है, पर आज की मशीनी जिंदगी में यह लोगों के लिए संभव नहीं रह गया है। फिर भी इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि बचाव इलाज से बेहतर है।

71

सोचना होगा हमें फिर एक बार*

देवव्रत द्विवेदी

आज कल अपने आसपास, चारों ओर,
सुनाई पड़ता है वाहनों, यंत्रों का शोर।
नहीं दिखते हरे-भरे पौधे और पेड़,
हर तरफ फैले हैं कूड़े-कचरे के ढेर।
नदियां बदलती जा रही हैं गंदे नालों में,
शुद्ध वायु मिलती है बस ख्यालों में।
कारखानों से निकलता धुएं का जहर,
मानवता पर बरस रहा बन कर कहर।
अम्ल वर्षा, अलनीनो, ग्रीन हाउस प्रभाव,
फैला रहे प्रतिपल अपना दुष्प्रभाव।
कभी-कभी उठता है मन में यह सवाल,
आज हो गया है पर्यावरण का क्या हाल।
हमने है किया बहुत वैज्ञानिक विकास,
पर साथ ही साथ पर्यावरण का विनाश।
हम खड़े हैं आज इक्कीसवीं सदी के द्वार,
एक ऊंची छलांग लगाने को तैयार।
किंतु सोचना होगा हमें फिर एक बार,
कैसा छोड़ेंगे हम अगली पीढ़ी के लिए संसार।
दुर्गंध, घुटन, शोर, जहर भरा वातावरण,
या शुद्ध वायु, स्वच्छ जल, हरे-भरे वन।

---

* विज्ञान, जुलाई 1999

72

ब्लास्ट ऑफ़!!*

डॉ. अरविन्द मिश्र

''पापा...''

''बोलो''

''एक बात बताइए...यह जो मिलेनियम बग का मामला है...क्या इससे सचमुच बड़ी मुसीबतें आ जाएंगी?...क्या बैंकों में जमा राशियों के हिसाब-किताब में गड़बड़ी आ जाएगी? रेल, वायुयानों का आरक्षण, यात्रा और यहां तक कि ट्रैफिक आदि भी प्रभावित हो जाएगी??''

''तुम्हें कोई शक है क्या?''

''नहींऽऽऽ'' एक लम्बे खिंचाव के साथ इस शब्द का उच्चारण करते हुए मेरे सुपुत्र ने फिर से अपनी आंखें टाइम्स आफ इण्डिया के इसी समस्या पर एक विशेष परिशिष्ट में छपे लेख पर गड़ा दी, जिसे अखबार ने सुर्खियों में बड़ी प्रमुखता से छापा था। लेख भारतीय कम्प्यूटरों में वाई-2 के समस्या पर था और सुबह ही मैं उस पर एक सरसरी निगाह डाल चुका था। और बातों के अलावा सबसे बड़ी हैरत मुझे इस बात की थी कि कम्प्यूटर वैज्ञानिक इतने अदूरदर्शी कैसे हो गए थे—वे जरा सी इस बात का पूर्वाकलन नहीं कर पाए कि द्विपक्षीय पद्धति पर आधारित कम्प्यूटर नई सदी या सहस्त्राब्दी यानी 2000 के आते ही बेकार हो जाएंगे। उनके लिए 2000 का मतलब सिर्फ दो ज़ीरो (00) ही रह जाएगा। सारी गणनाएं गडमड हो जाएंगी...?

''पापा, अचानक ही मेरे मन में एक विचार आया है...'' इस उद्घोष ने सहसा मेरी चिंतन प्रक्रिया पर फुलस्टाप लगा दिया। किंचित झुंझलाहट भरे लहजे में मैंने सुबह-सुबह के इस वैज्ञानिक आक्रमण को रोकना चाहा—''डोन्ट डिस्टर्ब मी मिकी...पहले पूरा लेख पढ़ लो फिर शाम को चर्चा करेंगे फुरसत में'' मैंने देखा अपने उत्कंठा को दबाने में मिकी का चेहरा बेबसी से भर उठा था...मैं भी सुबह-सुबह किसी सैद्धांतिक बहस में नहीं पड़ना चाहता था। मुझे आफिस की तैयारी करनी थी...एक रोजमर्रा के ज़ेहाद की तैयारी!

---

* विज्ञान, जुलाई 1999

सुबह बीती, शाम आ धमकी। मिकी महाराज का पूरा चेहरा अब तक एक गोलनुमा से प्रश्नचिह्न में तब्दील हो गया था। मुझे रहम आ गई। आखिर पिता का दिल जो ठहरा...

"हां बोलो भई, तुम्हारे मिलेनियम बग पर चर्चा कर ही लेते हैं, चलो शुरू हो जाओ..."

"मेरी एक शंका है पापा..."

"लघु या दीर्घ?"

"मजाक छोड़िए..."

"अच्छा चलो, आगे बोलो...लेकिन बिना भूमिका के...सीधे सवाल पर आओ...।"

"ठीक है, जिसकी स्पेस शिप्स शटलें और मिसाइलें हैं उन्हें लांच करने में उल्टी गिनती का विधान है...यानी काउन्ट डाऊन, जैसे...10,9,8,7,6,5,4,3,2,1 और फिर जीरो... और ब्लास्ट ऑफ!!...पलक झपकते सारा मंजर आंखों से ओझल।

"ठीक है...ठीक है...इतना विस्तार से यह सब बताने की क्या जरूरत है?"

"क्योंकि इसका संबंध वाई-2-के से हैं..."

"वह भला कैसे?" सहसा ही मेरी जिज्ञासा का ग्राफ जम्प कर गया।

"वह इस तरह कि जहां जहां भी सुरक्षा या प्रहार के आयुधों के काउन्ट डाउन कम्प्यूटर से जुड़े होंगे...जैसे मारक मिसाइलों को ही ले लीजिए...इस सदी की अंतिम आधी रात के तत्क्षण बाद ही कम्प्यूटर में '00' के आते ही सब ब्लास्ट आफ कर जाएंगे. ..तब होगा एक अनचाहा भयंकर विनाश..." "मिकी, यह सब तुम्हारे हादसा फिल्मों के ज्यादा देखने का दुष्परिणाम है दरअसल ब्लास्ट ऑफ तुम्हारे वाइल्ड इमैजिनेशन का है ऐसा थोड़े ही होता है..." कहने को तो मैं यह एक सांस में कह गया, लेकिन एक डरावनी आशंका मेरे मन में भी जन्म ले चुकी थी।

"पापा आपने पढ़ा नहीं था, कई वर्षों पहले तक विदेशी एजेन्सी के हवाले से एक समाचार छपा था कि एक छोटी सी गणितीय भूल के चलते अमरीका की अंतरद्वीपीय मिसाइलें सहसा रूस की ओर चल पड़ने वाली ही थीं कि उन्हें हठात् ऐन वक्त पर रोक लिया गया था..."

"मुझे मुझे स्मरण है किंतु 'वाई-2-के' से इसका क्या संबंध?"

"कोई प्रत्यक्ष संबंध तो नहीं, मेरी एक शंका भर है..."

"...यह कि कम्प्यूटर में नई सदी की आधी रात्त के बाद '00' होते ही ढेर सारी मिसाइलें शटल, अंतरिक्ष यान सभी गंतव्य की ओर अकस्मात चल पड़ेंगे...और भारी अफरा तफरी मचेगी...वाह, क्या सोचा है तुमने? तुम कम्प्यूटर वैज्ञानिकों, आयुध विज्ञानियों और सुरक्षा विशेषज्ञों को क्या निरा मूर्ख समझते हो...?"

"नहीं पापा, मेरा आशय केवल यह जानने का था क्या ऐसा हो सकता है? जब कितनी ही जुगतें, प्रौद्योगिकी इस प्रॉब्लम के चपेट में आ गई लगती हैं, तो ऐसा भी हो

सकता है कि सेना या सुरक्षा के आयुधों की कार्य प्रणाली भी प्रभावित हो जाए...बस आप यह बताइए कि ऐसा हो सकता है क्या?''

''भई, मैं न तो कोई कम्प्यूटर विशेषज्ञ हूं, और न ही सैन्य शास्त्री...इन मामलों के क ख ग का भी मुझे ज्ञान नहीं है...एक आम आदमी सरीखा ज्ञान है मेरा...तुम्हें यह सवाल अपने स्कूल के कम्प्यूटर टीचर से पूंछना चाहिए...'' मैंने पीछा छुड़ाने की कोशिश की।

''पूछा था मैंने, अपने कम्प्यूटर सर से...''

''क्या बताया उन्होंने''

''सवाल सुन कर बस हंस पड़े थे, जवाब नहीं दिया उन्होंने''

''तुम्हें फिर पूछना चाहिए था''

''फिर पूंछा तो डांट खानी पड़ी...उन्होंने कहा कि मुझे अपने कोर्स पर कन्सन्ट्रेट करना चाहिए...'वाई-2-के' समस्या पर हमारे सिलैबस में नहीं है...''

''हां, यह तो है'' मैंने भी मिकी से कम्प्यूटर 'सर' की बात का समर्थन किया।

''पापा इतनी बड़ी समस्या पूरे विश्व को परेशान किए हुए है...आप भी सिलैबस की बात कर रहे हैं...''

''तो भई मैं क्या करूं'' मुझे अपनी भूल का अहसास हुआ।

''आप कुछ नहीं कर सकते तो इस पर एक कहानी ही लिख कर 'विज्ञान' को भेज दीजिए...हो सकता है मेरी शंका का समाधान कोई कर दें मेरे बेटे ने चुटकी ली।

''इसकी क्या गारंटी कि ऊल जलूल बातों वाली तुम्हारी यह कहानी छप ही जाएगी?'' मैंने उसी के लहजे में जवाब दिया।

''कहानी छपवाने के पक्ष में अब तुम सारी दुनिया की दुहाई दे रहे हो?'' मैंने कुरेदा। ''पापा, मेरी शंका जेनुईन है, इसका जवाब मुझे चाहिए ही...और यदि सचमुच ऐसी घटना हो सकती है तो आपकी कहानी पढ़ कर इससे जुड़े लोग आगाह हो जाएंगे ...एक भयंकर विनाश की घटना टाली जा सकेगी।''

मैं बेसाख्ता हंस पड़ा...बचपन सभी का ऐसा ही होता है। पर कभी-कभी बचपन की (बचकानी) बातों में भी कोई पते की बात निकल आती है।...बच्चे सो गए हैं...मैंने आखिर मिकी की मनुहार मान ली है...उसके अपने बीच हुए संवाद को शब्दों में उकेर दिया है अब आगे का काम 'विज्ञान' पत्रिका के संपादक का है। उन्हें भी मानवता की चिंता होगी ही। अब यह कहानी है या अकहानी मैंने इसका नामकरण भी कर दिया है ...'' बलास्ट ऑफ??'' इसके छपने की प्रतीक्षा मुझे भी रहेगी...नई सदी के ज़रा पहले ही छप जाए तो बेहतर।

विज्ञान का रोमांच*

प्रो. एम.जी.के. मेनन

विज्ञान और प्रौद्योगिकी मानव क्रिया-कलापों के उस पक्ष का द्योतक है जिसमें सृजनात्मकता है, उद्‌बोधनमय रोमांच है, मौलिकता और नवीनता है, और उत्कृष्ट अनुप्रयोग समाहित हैं। विज्ञान और प्रौद्योगिकी की यही विशिष्टताएं इसके वर्तमान स्वरूप में विकसित होने में सहायक बनती हैं। विगत शताब्दियों में विज्ञान और प्रौद्योगिकी का विकास बहुत तेजी से हुआ है। यह समाज में आए उन बदलावों के तरीकों का प्रतिफल है, जिनमें अधिक स्वतंत्रता की, क्रम परम्परा और अधिकारवाद में कमी की, और अधिक वस्तुपरक सोच की आवश्यकता का अनुभव किया गया और इस कारण भी कि मानव समाज में सूचना एवं ज्ञान का चतुर्दिक प्रसार संभव हुआ है और ये सभी को सुगम हो गए हैं। आधुनिक सूचना युग के सूत्रपात के बाद विगत वर्षों में यह विकास कुछ अधिक प्रमुख बन गया है। मैं पहले इसी पहलू पर चर्चा करूंगा।

विगत शताब्दी में हमने विज्ञान की अनवरत प्रगति और गणित, भौतिकी, रसायन शास्त्र, जीव-विज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में आश्चर्यजनक उपलब्धियों को देखा है। मेटेरियल्स टेक्नोलॉजी, इन्फॉर्मेशन टेक्नोलॉजी, बायोटेक्नोलॉजी आदि विज्ञान से संबंधित हैं और इसी से उत्पन्न हैं। उद्योग, कृषि, स्वास्थ्य और पर्यावरण के कई आधारभूत अनुप्रयोग क्षेत्रों में अभूतपूर्व विकास हुआ है।

भारतवर्ष मानव सभ्यता के उद्‌गमों में से एक महत्वपूर्ण उद्‌गम है। विश्व के तीन महान धर्मों-हिंदू, बौद्ध, जैन-का प्रादुर्भाव भारतवर्ष में हुआ। पूर्व एवं दक्षिण-पूर्व एशिया में बौद्ध-धर्म का प्रसार भारत से ही हुआ। विश्व में अधिकांश लोग भारतवर्ष को इसके दर्शन, रहस्यवाद, वास्तु, शिल्प, अभिनव कलाओं आदि से जानते हैं। बहुत कम लोगों को विदित है कि भारतवर्ष महत्वपूर्ण आधारभूत वैज्ञानिक विकास और दृष्टिकोणों का मूल स्रोत भी था। इस अज्ञानता का कारण यह है कि ऐसा कोई बड़ा शोधकार्य नहीं हुआ और न ही इस विज्ञान-कार्य के परिदृश्य और सिंहावलोकन का लेखा-जोखा प्राप्त है, जो

* विज्ञान, नवम्बर 1999

भारतीय परम्परा का अंग बन सका हो और हमारी आज की संस्कृति को पोषित करता हो।

शून्य और नौ संख्याओं के आधार पर दशमलव स्थान-मान गणना प्रणाली से लेकर पश्चिम के मेडिकल सिस्टम से बिल्कुल भिन्न आयुर्वेद तक जिसमें आयुर्विज्ञान के अतिविकसित एकीकृत समग्र दर्शन और अनुपालन-विधियां वर्णित हैं, भारतवर्ष से उद्भूत हैं और विज्ञान के लिए महत्वपूर्ण देन हैं। भविष्य में उन सहक्रियात्मक विधाओं (Synergistic approaches) की समझ बहुत महत्वपूर्ण होगी जो समग्र तंत्रों (Systems) और उनके बीच पारस्परिक क्रिया प्रभावों का संसाधन अथवा निरूपण एकीकृत आधार पर करें।

गणित की अनेक उपलब्धियां, जिनके आविष्कर्ता आजकल पश्चिमी वैज्ञानिक माने जाते हैं, भारतवर्ष में बहुत पहले से ज्ञात थीं। भारत में खगोल-विज्ञान, रसायन-विज्ञान, धातु-विज्ञान, पादप-विज्ञान में कई आविष्कार और भारतीय दर्शन के अंग के रूप में तर्क, भाषा-विज्ञान अैर व्याकरण के अति परिष्कृत पहलुओं पर कार्य हुए। 12वीं से 18वीं सदी के बीच के केवल 600 वर्षों में भारत में विज्ञान और प्रौद्योगिकी पर 10 हज़ार से अधिक पुस्तकें लिखी गईं। भारत की पांडुलिपियों का अनुवाद अरबी और फारसी में हुआ, बहुतेरा ज्ञान भारत से बाहर गया। इसी प्रकार भारत ने भी बाहर से वैज्ञानिक विचारों, तरीकों और प्राविधियों को लिया और आत्मसात किया जो वैज्ञानिक परंपरा की उदारता और तर्कसंगत व्यवहार की विशिष्टताओं का परिचायक है। हम गर्व से स्मरण करें कि हम इसी 'परंपरा' के अंग हैं। इसमें यह बसी हुई है। इसको प्रस्फुटित होने के लिए उपयुक्त वातावरण और प्रोत्साहन की आवश्यकता है। फिर भी, अपने इतिहास पर आत्मसंतोष करके बैठना नहीं चाहिए। जैसे-जैसे हम भविष्य की ओर बढ़ें, हमें अग्रिम पंक्ति में होना चाहिए, अग्रणी बनकर नेतृत्व देना चाहिए।

स्वाधीनता संग्राम के अंतः क्षोभ और पुनर्जागरण ने विज्ञान के पुनरुत्थान के लिए एक ऐसा ही वातावरण दिया था। जहां एक ओर पश्चिम में हो रही बड़ी-बड़ी वैज्ञानिक उन्नतियों के बारे में सूचना मिल रही थी, वहीं ऐसे महान् भारतीय वैज्ञानिक भी थे, जिन्होंने बिल्कुल मौलिक तरीके से सोचने और काम करने का साहस किया।

शताब्दी के पूर्वार्द्ध में **जगदीश चन्द्र बोस, मेघनाद साहा, चन्द्रशेखर वेंकट रामन, श्रीनिवास रामानुजन** के महान कार्य प्रमुख हैं। निकट अतीत में **होमी भाभा, एस. चन्द्रशेखर** और **हरगोविन्द खुराना** के कार्य उल्लेखनीय हैं, और इसी उपमहाद्वीप में **अब्दुल कलाम** जैसी महान हस्ती ने जन्म लिया। रामन, चन्द्रशेखर, खुराना और कलाम जैसे कई वैज्ञानिकों को उनके कार्य क्षेत्रों में 'नोबल पुरस्कार' भी मिले। इसमें कोई शक नहीं कि अन्य वैज्ञानिकों ने भी उच्चतम-स्तर के कार्य किए जिन्हें 'नोबेल पुरस्कार' की कोटि में रखा जा सकता है।

इनमें से प्रत्येक वैज्ञानिक ने उत्कृष्ट योगदान किया, लेकिन किसी पद, संपदा

अथवा शक्ति-प्रयोग की लोलुपता के लिए नहीं किया। इनमें से किसी को भी इस विश्व की शक्तिसंपन्न और समृद्ध हस्तियों की कोटि में नहीं रखा जा सकता। वे प्रकृति को समझने के लिए अंतर्प्रेरित थे, अभिनव ज्ञान की खोज और विज्ञान-प्रयोगों के प्रति उत्साहन के लिए अभिप्रेरित थे। उन्हें अपने ही भावातिरेक से अनुप्रेरणा मिली जो विज्ञान का महत्वपूर्ण गुण है। अपने आसपास की अनंत सृष्टि और प्रकृति के बारे में 'क्या', 'क्यों', 'कैसे' प्रश्न करने की इच्छा और मानव सुलभ जिज्ञासा से यह विज्ञानोन्मुखी अंतर्प्रेरणा बढ़ी। इनके लिए 'कौन' प्रश्न अहम् नहीं था जो साधारण स्तर के लोगों के लिए महत्वपूर्ण होता है। विज्ञान के विकास के लिए हमें सभी को, खासतौर से नई पीढ़ी को, प्रोत्साहित करना होगा, जिनमें ऊर्जस्विता है, कर्मशक्ति है, जिनमें बालसुलभ जिज्ञासा है, और जो अपने चतुर्दिक हरेक चीज़ के बारे में लगातार पूछने और 'क्या', 'कैसे', 'कहां' और 'क्यों' प्रश्न करने के किसी प्रकार के निषेध से ग्रस्ति नहीं हैं। इस प्रकार रोमांच (Excitement) की अनुभूति करता है, जो समझ और खोज के मार्ग पर चलते समय सदैव उनका साथी रहेगा।

मैं विज्ञान में व्याप्त रोमांच को समझाने के लिए इस देश के वैज्ञानिकों के काम से कुछ ज्वलंत उदाहरण देता हूं। मेरा इरादा इनका विस्तृत विवरण देने का नहीं है। मेरा मात्र एक प्रयोजन है कि आपको इस कार्य में निरूपित अंतर्प्रेरणा और रोमांच को समझाऊं। निकट अतीत के प्रारंभिक महान भारतीय वैज्ञानिकों में से **एक वैज्ञानिक जगदीश चन्द्र बोस** थे। मई, 1895 में सर्वप्रथम कतिपय मिलीमीटर तरंगदैर्ध्य की विद्युत्-चुम्बकीय तरंगें पैदा कीं। प्रेसीडेंसी कॉलेज, कलकत्ता में 20 वर्गफुट छोटे से कमरे में उन्होंने आवश्यक उपकरण का निर्माण किया, तरंगें उत्पन्न की और उनके गुणों का अध्ययन किया। भारत में यह प्रायोगिक भौतिकी (Experimental Physical Sciences) का प्रारंभ था। इसने नए विषय 'माइक्रोवेव फ़िज़िक्स' को जन्म दिया। बोस उन वैज्ञानिकों में से एक थे जो **क्लार्क मैक्सवेल** के काम से बहुत अधिक प्रभावित हुए। 1888 में उन्हें **हर्ट्ज** के द्वारा प्रायोगिक संरूपण (Experimental Conformation) की जानकारी मिली कि विद्युत्-चुम्बकीय तरंगों को प्रयोगों से पैदा कर सकते हैं और पता लगा सकते हैं। **रदरफोर्ड, मारकोनी** जैसे विश्वविख्यात वैज्ञानिकों की विशिष्ट मंडली में बोस अग्रणी थे। वास्तव में, बोस ही ने 1899 में टेलीफोन के साथ मर्करी कोहेरर का आविष्कार किया। यह 'रॉयल सोसायटी' को सूचित किया गया और मुख्यरूप से इसी को मारकोनी ने युगांतरकारी ट्रांस अटलांटिक वायरलेस सिग्नलिंग के लिए प्रयुक्त किया।

किंतु बोस केवल इसी क्षेत्र तक सीमित नहीं रहे। उन्होंने पौधों पर जैव-भौतिक (Biophysical) प्रयोग किए और दूरगामी निष्कर्ष निकाले। वे पहले वैज्ञानिक थे जिन्होंने पर्यावरण से प्रतिक्रिया समन्वयन के लिए पादप-कोशिकाओं के बीच विद्युतीय संकेत (Electrical Signalling) की महत्ता को पहचाना। इन दो भिन्न क्षेत्रों में दो महान योगदानों ने बोस को इतिहासपुरुष बना दिया।

उस समय के एक अन्य **महान वैज्ञानिक चन्द्रशेखर वेंकट रामन को** लें। इस देश के अधिकांश लोग रामन को 'रामन प्रभाव' (Raman Effect) के आविष्कार के लिए याद करते हैं, जिसके लिए उन्हें भौतिकी में 'नोबेल पुरस्कार' मिला। 'नोबेल पुरस्कार' की चर्चा करते समय कई लोग के.एस. कृष्णन के योगदान, रूस में किए गए कार्य को प्राथमिकता इत्यादि के विवाद में चले जाते हैं। किंतु यह याद रखना चाहिए कि रामन देदीप्यमान क्लासिकल भौतिकीविद् थे, जिन्होंने क्वांटम यांत्रिकी घटना (Quantum Mechanical Phenomenon) की आश्चर्यजनक प्रायोगिक खोज की, जिसने भौतिक विज्ञान, रसायन विज्ञान और टैक्नोलॉजी को भी प्रभावित किया, जैसा कि उन्होंने अपने 'नोबेल भाषण' में बताया। हम इस दिग्गज की समग्र महानता को प्रायः भूल जाते हैं। रामन प्रखर बुद्धि के विद्यार्थी थे, उन्होंने बहुत कम आयु में शोधपत्र लिखे। वायलिन पर उनका काम आज भी अद्वितीय व क्लासिक माना जाता है। ध्वनिवेत्ता आश्चर्य करते हैं कि उन दिनों वे इस पर इतने सुंदर प्रयोगों और सिद्धांतों पर किस प्रकार काम कर सके। वे रैले और **माइकेलसन** की श्रेणी में प्रकाशिकी (Optics) में पारंगत थे। 'नोबेल पुरस्कार' वाले कार्य के बाद, क्रिस्टलों पर उनका कार्य विश्वस्तरीय कोटि का है। उनके कई मेधावी छात्र थे, उनमें एक जी.एन. रामचन्द्रन वस्तुतः महान थे। रामन भूमध्य सागर, नीला आकाश, हीरा, रत्न, खनिज और अन्य क्रिस्टलों के रंगों में, ध्वनि विज्ञान (Acoustics) और संगीत में रुचि रखते थे। वास्तव में उन्होंने अपने चारों ओर जो भी देखा उसे बच्चे की भांति पाने और समझने के लिए अन्वेषण की इच्छा की।

रामन ने कहा है—"विश्लेषण करने पर विज्ञान उस प्रकृति के प्रति प्रेम और उसका अध्ययन करने के अतिरिक्त और क्या है? अमूर्त पूजा के रूप में अभिव्यक्ति नहीं, परंतु प्रकृति को समझने की क्रियात्मक चेष्टा है? जितना अधिक मैं विज्ञान की खोज में लगा रहता हूं, उतना ही अधिक विश्व के आश्चर्यों और अनंत रमणीयता से प्रभावित होता हूं।" उनका कहना था—"भारतीय संस्कृति का एक पहलू प्रकृति की गहरी समझ है। अधिकांश भारतीय दर्शन प्राकृतिक घटनाओं के अर्थ और तार्किक आधार को समझने से संबंधित हैं।"

आइए! अब एक अन्य महान भारतीय सपूत **सुब्रमण्यम चन्द्रशेखर** को लें, जो अपने समय के शीर्ष वैज्ञानिक थे। उनके योगदान की गहराई और विविधता की पहुंच की बराबरी विरले ही कर सकते हैं। वास्तव में वह आइज़ेक न्यूटन के आध्यात्मिक अवतार थे, उनके बेहिचक प्रशंसक थे और उन्होंने उनकी 'प्रिंसिपिया' नामक पुस्तक पर अनुरक्त होकर भाषण दिए। यहां फिर से कोई भी 'नोबेल पुरस्कार' जैसे सांसारिक पुरस्कारों के बारे में विस्मित हो जाता है। अधिकतर लोग श्वेत वामन (White dwarfs) पर उनके आरंभिक कार्यों से और उनकी इस सनसनीखेज खोज से ही परिचित हैं कि इनका द्रव्यमान सौर-द्रव्यमान के 1.4 गुणा से अधिक नहीं हो सकता। 'चन्द्रशेखर लिमिट' सभी को याद है। लेकिन वह इन सबसे और अधिक बढ़कर एक प्रतिभा-संपन्न

व्यक्ति थे। जब वे 18 वर्ष के थे, उनका पहला शोधपत्र रॉयल सोसाइटी में प्रकाशित हुआ था। एक वर्ष बाद कैम्ब्रिज गए और श्वेत वामनों पर खोज की। अगले पांच वर्षों में उन्हें आश्चर्यजनक परिणाम मिले जिसके आधार पर आजकल हम लोग न्यूट्रॉन स्टार, ब्लैक होल इत्यादि की चर्चा करते हैं। वे एक क्षेत्र से हटकर दूसरे क्षेत्रों में गए और सभी क्षेत्रों में अत्यंत महत्वपूर्ण स्मरणीय योगदान दिया, जिसे हम चिरस्थायी कीर्तिस्तम्भ के रूप में देख सकते हैं। संगीत, साहित्य और कला के प्रति उनका रुझान चौंकाने वाला था, और इसी तरह गद्य और काव्य की उनकी समझ थी। उनके 50 से अधिक शोध-पत्र विश्व-ख्याति प्राप्ति थे। उनमें से एक छात्र की टिप्पणी है,—"चन्द्रशेखर उत्साह का संचरण करते हैं।" उन्होंने स्वयं कहा है—"विज्ञान के अनुशीलन की तुलना प्रायः ऊंचे, मगर बहुत ऊंचे नहीं, पर्वतों को मापने से की जाती है। लेकिन इसमें से कितने एवरेस्ट को मापने और इस चोटी पर पहुंचने की आशा तो क्या कल्पना भी कर सकते हैं जहां आकाश नीला है, वायु शांत है और वायु के इस सूनेपन में अनंत तक फैली चकाचौंध करने वाली धवल हिम से आच्छादित हिमालय की सभी चोटियों का सर्वेक्षण करने की क्या कल्पना भी कर सकते हैं? इसमें से किसी में भी हमारे इर्द गिर्द व्यापत ब्रह्माण्ड और प्रकृति की दिव्यदर्शन की तुलना में दृष्टि नहीं है। लेकिन घाटी के तल पर खड़े होकर कंचनजंगा की चोटी पर अरुणोदय की प्रतीक्षा करने में तो कोई क्षुद्रता नहीं है।"

विज्ञान और प्रौद्योगिकी : उदीयमान सूचना समाज का नया आधार

पिछले तीन दशकों के दौरान सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में उल्लेखनीय विकास हुए हैं जैसे कि अंकीय प्रौद्योगिकी तथा माइक्रोइलेक्ट्रॉनिकी, लेसर तथा प्रकाशिक तंतु (Optical fibre) प्रणालियां, बहुप्रचलित बायरलेस, मोबाइल/सेलुलर प्रणालियों में वृद्धि, अंतरिक्ष-संचार में विकास-कार्य आदि। मेरा मानना है कि निकट भविष्य अर्थात् शताब्दी के प्रथम चतुर्थांश तक इस प्रकार के विकास होते रहेंगे। यह वैज्ञानिक कार्यों के एक समृद्ध विषय क्षेत्र का परिचायक है। यह समाज के लिए प्रासंगिक अनुप्रयोगों का एक बहुत ही महत्वपूर्ण क्षेत्र भी है।

सूचना प्रौद्योगिकी (Information Technology) एक बहुत ही प्रचलित पारिभाषिक शब्द बन गया है। अधिकांश लोगों के लिए इसका अर्थ है कम्प्यूटर तथा वर्कस्टेशन। बहुत कम लोग इसमें अंतर्निहित भौतिकी, रसायन शास्त्र, पदार्थ विज्ञान एवं इंजीनियरी, और विशेष रूप से माइक्रोइलेक्ट्रॉनिकी पर ध्यान देते हैं, जो हमारे द्वारा वास्तव में प्रयोग में लाई जाने वाली प्रणालियों के मुख्य अंग हैं और न ही कोई सॉफ्टवेयर तथा प्रोग्रामिंग के गणितीय आधार पर ध्यान देता है। इस तथ्य की विवेचना बहुत ही कम की जाती है कि सूचना प्रौद्योगिकी का वर्तमान स्वरूप संयोजन (Connectivity) पर आधारित है। कम्प्यूटर तथा वर्कस्टेशन, जो सूचना को भण्डारित कहते हैं और उन पर कार्य करते हैं, उनका आपस में अंतर-संपर्क होना जरूरी है। इंटरनेट और वर्ल्ड वाइड वेब (www) की

विशेषता है संपर्क और सभी के द्वारा उसका लाभ उठाना, जो आज हमें मिल रहा है। दूरसंचार प्रौद्योगिकी पर आधारित सूचना सुपरहाइवे, सूचना प्रौद्योगिकी का एक अनिवार्य अंग है। इसके अतिरिक्त, प्रसारण माध्यम अर्थात् रेडियो एवं टेलीविजन, और पाठ (Text) के रूप में रखी गई सभी सूचना भी समग्र एकीकृत सूचना प्रौद्योगिकी प्रणाली में एकरूप हो गई है और उनका आपस में अंतर-संपर्क है। इस अबाधित अभिसारिता (Convergence) के कारण ही सूचना से संबंधित सभी उपकरणों का आपस में संपर्क हो गया है और इसके परिणामस्वरूप आज सूचना प्रौद्योगिकी की उल्लेखनीय प्रगति संभव हुई है।

इस व्याख्यान के माध्यम से मेरा अभिप्राय सूचना प्रौद्योगिकी के आर्थिक, वित्तीय, सामाजिक और अन्य प्रभाव के बारे में बताना नहीं है। हमें यह महसूस करना चाहिए कि सूचना प्रौद्योगिकी मानव कार्यकलापों का केवल एक क्षेत्र नहीं है बल्कि यह सर्वव्यापी है जो उस परिवेश का परिचय देती है जिसमें हम रहते हैं जैसे कि वातावरण और हवा जिसमें हम सांस लेते हैं। मेरा अभिप्राय इस व्याख्यान के विषय पर बात करना है अर्थात् विज्ञान और प्रौद्योगिकी के वे महान् आविष्कारोन्मुखी विकासकार्य जिनके कारण सूचना युग का प्रादुर्भाव संभव हुआ है।

सूचना युग का आधार एक सार्वभौम भाषा है जो द्विअंकीय प्रणाली 0 तथा 1 से तैयार हुई है। गणितज्ञ इसे **बूलियन बीजगणित** कहते हैं। इसे समझने के लिए मैं आपको दैनिक जीवन के कुछ उदाहरण देता हूं हम सभी इलेक्ट्रिक स्विचों से परिचित हैं। उनकी दो स्थितियां होती हैं : 'ऑन' तथा 'ऑफ'। जब उन्हें 'ऑन' किया जाता है तो बिजली का प्रवाह होता है और आप बत्ती, पंखा, मोटर आदि जैसे बिजली के सामान चला सकते हैं। 'ऑफ' की स्थिति में बिजली का प्रवाह नहीं होगा। इसमें से अधिकांश लोगों ने टेलीग्राफ भेजा है। हम इन्हें सामान्य रूप से प्रयोग में लाई जाने वाली भाषा अंग्रेजी, हिंदी आदि में लिखते हैं, लेकिन अक्सर यह नहीं जानना चाहते हैं कि इन्हें कैसे भेजा जाता है। इसे टेलीग्राफ की तारों पर एक कुंजी का प्रयोग करके भेजा जाता है, जिसमें केवल दो संकेत हैं—बिंदु (dot) तथा डैश (dash)। पूरे संदेश को, जिसमें वाक्य, शब्द तथा वर्ण होते हैं। डॉट तथा डैश में तोड़ा जा सकता है। प्राप्त करने वाले स्थान पर इसे पुनः प्राकृतिक भाषा में बदल लिया जाता है, जिसे प्राप्तकर्ता समझ सकता है। अंकीय प्रौद्योगिकी इसी प्रकार बूलियन बीजगणित पर आधारित है, अर्थात् प्रत्येक ऐसी सामग्री को 0 तथा 1 की प्रणाली में परिवर्तित किया जा सकता है, जिसे एक स्थान से दूसरे स्थान पर भेजना पड़ता है। संचार प्रणाली में इसी 0 तथा 1 का सम्प्रेषण किया जाता है। अधिकांश लोग सूचना युग के जिस मुख्य आधार से परिचित हैं वह है **अंकीय कम्प्यूटर**। उसकी संकल्पना मूल रूप में बैबेज द्वारा की गई थी और उसका विकास **टूरिंग** ने किया। ये दोनों इंग्लैण्ड के थे। इसका पहला निर्माण **वॉन न्यूमैन** ने संयुक्त राज्य अमेरिका में किया। अंकीय कम्प्यूटर आज वास्तव में सर्वव्यापी बन गया है।

मैंने पहले ही बताया है कि अधिकांश लोगों के लिए सूचना प्रौद्योगिकी का तात्पर्य कम्प्यूटर तथा वर्कस्टेशन से है। पहले इलेक्ट्रॉनिकी कम्प्यूटर का निर्माण टूरिंग द्वारा इंग्लैण्ड में और वॉन न्यूमैन द्वारा संयुक्त राज्य अमेरिका के प्रिंसटन में किया गया। ये इलेक्ट्रॉनिक वाल्व पर आधारित थे। इस अवधि की प्रौद्योगिकी की विशेषता थी सीमित क्षमता, बहुत बड़ा स्थान, अत्यधिक ऊर्जा तथा ताप का सृजन। उसके बाद 1947 में **कोकले बारडीन** तथा **ब्राटेन** ने ट्रांजिस्टर का विकास किया। यह पहला अवसर था जब माइक्रोइलेक्ट्रॉनिक युक्तियां वाल्व का स्थान लेने में सक्षम बन गई। उसके बाद हमने तेज़ गति से माइक्रोइलेक्ट्रॉनिकी के कई चरण पार किए हैं और सिंगल ट्रांजिस्टर से चलकर हम एकीकृत परिपथ के स्तर तक पहुंच गए हैं। परिपथ पहले बहुत ही सीमित मात्रा में थे, लेकिन बाद में सिलिकन की एक ही बहुत छोटी चिप पर ट्रांजिस्टरों की संख्या बढ़ाना संभव हो गया। यह आशा की जाती है कि वर्ष 2020 तक तक चिप पर (10^{11}) यानी, 10,000 करोड़ के बराबर ट्रांजिस्टर होंगे। इस विकास कार्य के परिणामस्वरूप कम्प्यूटरों का आकार बहुत छोटा हो गया है, बहुत कम ऊर्जा की जरूरत होती है, ताप का सृजन बहुत कम होता है और विश्वसनीयता का स्तर बहुत अधिक होता है (क्योंकि इसके आसपास कोई लूज वायरिंग नहीं होती) और साथ ही ये बहुत जटिल कार्य कर सकते हैं। विश्व में वर्ष 1972 में लगभग 150,000 कम्प्यूटरों से आरंभ करके अगले वर्ष तक केवल इन्टेल द्वारा ही 100 मिलियन से भी ज्यादा कम्प्यूटर बेचे जाने की संभावना है। मैं आपको याद दिलाना चाहता हूं कि आईबीएम के अध्यक्ष, **थॉमस वाटमन** ने 1943 में कहा था—"मेरे ख्याल से विश्व बाजार में लगभग 5 कम्प्यूटरों की जरूरत है।" माइक्रो इलेक्ट्रॉनिकी के कारण बड़े पैमाने पर यह परिवर्तन आया है। पिछले 30 वर्षों के दौरान, प्रत्येक 18 महीने में अभिकलन शक्ति दुगनी हुई है और प्रत्येक 18 महीने में कीमत आधी हुई है (मूर का नियम, Moor's Law)। ऐसा कोई अन्य विषय क्षेत्र नहीं है जहां इसके आसपास भी कोई विकास हुआ है। प्रमुख विकास-कार्य दूरसंचार के क्षेत्र में हुआ है। दूरसंचार के लिए पहले प्रयोग में लाई गई स्विचन प्रणालियां यांत्रिक (mechanical) थीं, और बाद में विद्युत्-यांत्रिक (electromechanical)। ये बहुत ही धीमी गति वाली एवं बोझिल प्रणालियां थीं। इस शताब्दी के विगत चतुर्थांश के दौरान ये इलेक्ट्रॉनिक बन गई हैं। इससे भी अधिक महत्वपूर्ण बात यह है कि इसका स्वरूप एनालॉग से बदलकर द्वि-अंकीय प्रणाली के आधार पर हो गया है, जो वर्तमान कम्प्यूटरों की भाषा बन गई है। इसके परिणाम-स्वरूप, जिस 'शून्य' एवं 'एक' पर सूचना को परिवर्तित करके कम्प्यूटर के स्मृतिकोश में रखा जा सकता है और जिस पर अभिकलन का कार्य किया जाता है तथा जिस सूचना का प्रयोग किया जा सकता है, उसे अब इलेक्ट्रॉनिक अंकीय स्विचन प्रणालियों के जरिए दूरसंचार की लाइनों पर आसानी से भेजा जा सकता है। पहले अधिकांश संचार धातु की केबिल वाली सम्प्रेषण लाइनों, माइक्रोवेव लाइन ऑफ साइट लिंक तथा कम प्रभावी बेतार प्रणालियों पर आधारित थे। आज सूचना के सम्प्रेषण के

लिए तथा प्रकाशित तंतु केबिल शामिल हैं जिन पर संकेत का सम्प्रेषण विद्युत् द्वारा नहीं बल्कि प्रकाश द्वारा होता है। प्रकाशिक तंतु केबिल के सूचना के प्रवाह के लिए पट्ट चौड़ाई (band width) का प्रचुर विस्तार हुआ है। लगभग 45 वर्ष पहले लेसर (Laser) की खोज से यह संभव हुआ है। व्यापक रेंज के चैनलों की इस विस्तृत क्षमता को ही सूचना सुपरहाइवे कहा जाता है, जिन पर अब सूचना का प्रवाह हो सकता है।

हमने जितने आसान तरीके से यह सब कहा है, उससे कोई भी इस बात का अनुमान नहीं लगा सकता कि इसे मूर्त रूप देने में कितना श्रम करना पड़ा होगा। प्राकशिक तंतुओं के माध्यम से संकेत भेजने के लिए सही किस्म के लेसरों का विकास करना आवश्यक होता है। ऐसी प्रकाशित तंतुओं का विकास करने की आवश्यकता हुई थी जिनके माध्यम से प्रकाश बिना प्रत्यावर्तित हुए और संघनता में कमी के बिना जा सके। आरंभिक स्तर पर सघनता में कमी आ जाती थी जिसमें पूरी केबिल प्रणाली में कई रिपीटर स्टेशनों की आवश्यकता होती थी। आज प्रकाशित तंतु के केबिल लेसर युक्तियों का प्रयोग करके सागर की गहराइयों तक इन प्रकाश संकेतों को पहुंचाते हैं। एक मनोरंजक लेकिन गंभीर समस्या शार्क मछलियों की थी जो केबिलों को काट देती हैं। इसके लिए निदान ढूंढ़ने पड़े। वर्तमान मूलभूत खोज एवं व्यावहारिक समाधान इस महान उद्यम के भाग हैं।

अंतरिक्ष कार्यक्रम एक अन्य उल्लेखनीय विकास कार्य है जिसकी नींव विज्ञान और प्रौद्योगिकी है। ऐसा रसायन प्रौद्योगिकी, सामग्री प्रौद्योगिकी, अभिकलनात्मक क्षमताओं, नियंत्रण प्रणालियों, और प्रकाश वोल्टीय बैटरियों, रेडियो प्रौद्योगिकियों की क्षमताओं में तेजी से वृद्धि तथा कई अन्य कारणों से संभव हुआ है। 1957 में स्पूतनिक के प्रक्षेपण से आरंभ करके, जो एक छोटी सी वस्तु थी, जिससे केवल यह संकेत मिलता था कि यह पृथ्वी की परिक्रमा कर रही है, आज हमारे पास बृहद बहुप्रयोजनसमूह उपग्रह हैं। अंतरिक्ष कार्यक्रम ने हमें बाह्य अंतरिक्ष की खोज करने, सौर-मंडल के अन्य ग्रहों में पहुंचने, चांद पर मनुष्य को उतारने, तथा अंतरिक्ष संबंधी विभिन्न प्रकार की खोज करने की क्षमताएं उपलब्ध कराई हैं जैसे कि पृथ्वी के बाहरी वातावरण से इन्फ्रा-रेड, एक्स-रे तथा माइक्रोवेव पृष्ठभूमि विकिरण। इन सभी के परिणामस्वरूप खगोल भौतिकी तथा ब्रह्माण्ड विज्ञान में उन्नति हुई है और ब्रह्माण्ड के बारे में हमारे ज्ञान में विशेष वृद्धि हुई है।

सूचना सुपरहाइवे के माध्यम से अब हमारे पास सूचना से संबंधित सभी युक्तियों को संयोजित करने की क्षमता है, चाहे वे कहीं भी स्थित क्यों न हों। इन्टरनेट का जन्म और विकास कैसे हुआ, मैं उसके विस्तार में नहीं जाऊंगा। यह अपने आप में एक रोचक कहानी है जो एक नम्य केंद्रीय नेटवर्क हासिल करने के प्रयास के रूप में वर्ष 1970 से शुरू हुई और वर्ष 1990 से वास्तविक रूप में एक व्यावसायिक उद्यम बन गया है, जिसमें बड़ी संख्या में इन्टरनेट सेवा प्रदानकर्ता शामिल हैं। वर्ष 1971 में केवल 4 इन्टरनेट प्रयोगकर्ता थे, 1981 में 21,000, 1991 में 7,30,000 और अगली शताब्दी में पहुंचते-पहुंचते

यह संख्या 5 करोड़ से भी ज्यादा हो जाएगी।

उसके बाद वर्ल्ड वाइड वेब की शुरुआत हुई। इसके फलस्वरूप हाइपर लिंक के माध्यम से दस्तावेजों को देखना और विभिन्न दस्तावेजों तथा कम्प्यूटरों का संचालन संभव हो गया है। वर्ष 1993 में वेब साइटों की संख्या 600 थी जो तेज गति से बढ़कर दस लाख हो गई है।

सूचना प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में वास्तव में बड़े पैमाने पर विस्तार हुआ है। उच्चस्तरीय विज्ञान के नोबेल तथा समस्तरीय पुरस्कार प्राप्त आविष्कारों और अनेक संबद्ध क्षेत्रों की उन्नत प्रौद्योगिकियों के द्वारा इसे नया आधार मिला है। इन प्रौद्योगिकियों का सम्मिलन इस प्रकार हो रहा है जैसे सरिताएं एक नदी में मिलती हैं और नदियां एक साथ प्रवाहित होकर सागर तथा महासागर में जाकर मिलती हैं (प्रयाग)। यही परिवेश पूरे विश्व में सूचना के निर्बाध प्रवाह का है, जिसकी लागत बहुत कम है और जिसमें इस पृथ्वी पर रहने वाले छह बिलियन तथा उनसे भी अधिक लोगों को आपस में जोड़ने की क्षमता है और यह सूचना के नए युग की विशेषता होगी। विज्ञान की इन नई शक्तियों के प्रयोग से नई समस्याएं पैदा होंगी, और समाज को इनसे अभ्यस्त होना तथा इनका सामना करना होगा। लेकिन इनसे ऐसे अवसर भी पैदा होंगे जिनकी कल्पना भी नहीं की गई होगी। ये विज्ञान और प्रौद्योगिकी के रोमांच एवं मौलिकता हैं जिससे इस महान अभियान को ऊर्जा मिली है, जो सभ्यता के एक नए युग में ले जाएगा।

मैंने सूचना प्रौद्योगिकी के विकास के बारे में अपने कुछ विचार व्यक्त किए हैं। इतना ही मान लेना महत्त्वपूर्ण नहीं है कि वैज्ञानिक दृष्टि से यह उत्साहप्रेरक है, प्रत्युत उच्चस्तरीय अंतर-विषयी समाहार के बिना इसका उद्‌भव संभव नहीं था। हाल ही में हुए वैज्ञानिक विकास-कार्यों की अति असाधारण विशेषताओं में से एक है : किस प्रकार वर्तमान विषय-क्षेत्रों का मिलन बिल्कुल नए विषय को जन्म देता है। गहन अंतर-विषयी स्वरूप के विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी का विस्मयकारी असाधारण उदाहरण है—जैव-प्रौद्योगिकी (बायो टेक्नोलॉजी)। मैं इसके बारे में नहीं बोलूंगा, क्योंकि इसके साथ न्याय करने के लिए एक और भाषण देना आवश्यक हो जाएगा।

अंतर-विषयी समाहरण की प्रवृत्ति न केवल विज्ञान के विविध विषय-क्षेत्रों के बीच विकसित हो रही है, प्रत्युत मौलिक एवं अनुप्रयुक्त विज्ञान-विषयों के बीच भी बढ़ते हुए नज़दीकी पारस्परिक क्रिया-प्रभावों में, और इंजीनियरिंग, कृषि, औषधि/आयुर्विज्ञान, पर्यावरण इत्यादि के अनुप्रयोग के विषय-क्षेत्रों के बीच भी समाहरण की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही। भविष्य में हमें आशा है कि नैसर्गिक और सामाजिक विज्ञान क्षेत्रों के बीच और अधिक अंतर-विषयी समाहरण की प्रवृत्ति दिखाई देगी। अभिनव विकसित विषय अव्यवस्था, असंतुलन, अरैखिक गति- विज्ञान से संबंधित है, और पारस्परिक क्रियाएं उन विषय-क्षेत्रों में प्रमुख भूमिका अदा करेंगी जो समाज से सीधे संबद्ध हैं जैसे अर्थशास्त्र, पर्यावरण, पारिस्थितिकी, शहरी समस्याएं इत्यादि।

पुनश्च, जब कोई मानव मस्तिष्क और मानव के मन के अनुशीलन से संबंधित विज्ञान के किसी एक उभरते हुए महान सीमांत विज्ञान-विषय पर नजर डालता है तो स्पष्ट हो जाता है कि न्यूरोसाइंस, कम्प्यूटेशनल साइंस, फ़िज़िक्स और आधुनिक बायोलॉजी की तकनीकों, मनोविज्ञान, संज्ञानात्मक विज्ञान, भाषा, व्यवहार विज्ञान इत्यादि का सम्मिलन व समाहार आवश्यक है। यह अंतर-विषयी समाहरण उन विभिन्न विषयों से संभव नहीं हुआ है जिनमें अपनी अलग विशिष्ट भाषा में अपने-अपने विषय-क्षेत्र का वर्णन है। उन सभी को किसी एक स्वीकार्य भाषा के माध्यम से एक-दूसरे को समझना होगा जिस प्रकार सूचना प्रौद्योगिकी में समाहरण एक द्वि-अंकीय भाषा के माध्यम से समझना संभव हो सका है।

विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के क्षेत्र में निरंतर आश्चर्यजनक प्रगति हो रही है और यह बहुत तेज़ी से उभरते हुए बिल्कुल नए विषयों को मिलाकर बड़े व्यापक विषय-क्षेत्र को निरंतर उत्प्रेरित कर रही है। आवश्यकता है जिज्ञासा की, उस सहज प्रवृत्ति को जीवंत रखने की जो मानव को परिभाषित करे और जानने की कोशिश करने के लिए ओर लालसापूर्वक समझने के लिए अंतःअभिरुचि को प्रेरित करे।

रामन ने कहा था—"यदि कभी मुझसे पूछा गया कि मैं ईश्वर में विश्वास करता हूं या नहीं, तो मैं कहूंगा कि यदि ईश्वर है तो वह इस विश्व में हमारे सामने है।" यही वह वास्तविकता है जिसे हमें समझने का प्रयास करने की आवश्यकता है।

प्रो. सालिगराम भार्गव स्मृति व्याख्यान-1998

74

भारत में पर्यावरण-चेतना*

विश्वंभर प्रसाद 'गुप्त-बन्धु',

0.0 मंगलाचरण

0.1. ओअम् चित्रं देवानामुदगादनी कं चक्षुमिंत्रस्य वरुणस्याग्ने।
आ प्रा द्यावा पृथिवी अंतरिक्ष, सूर्य आत्मा जगतस्तस्युषश्व स्वाहा।।

—यजुर्वेद 7.42

0.2. सम्मान्य मित्रगण! यह यजुर्वेद के सातवें अध्याय का 42वां मंत्र है जिसे हम लोग प्रातः-सायं संध्या-प्रार्थना करते समय उपस्थान मंत्र के रूप में गाया करते हैं। उपस्थान का अर्थ है, देवता के पास उपस्थित होना। देवता का अर्थ है, स्वर्ग में वास करने वाला दिव्य-शक्ति-संपन्न अमर प्राणी-बृहत् हिंदी कोश। अब स्वर्ग क्या है, उस पर ध्यान दीजिए। स्वः एक महाव्याहति, अर्थात परमात्मा का श्रेष्ठ नाम है। 'स्वः' या 'स्वर' परम आनंद को भी कहते हैं जो परमेश्वर का गुण है। अतः स्वर्ग हुआ परम आनंद का, या मोक्ष का, दुख से मुक्ति का स्थान। यह कहीं चौथे या सातवें आसमान में नहीं है, बल्कि महषि वेदव्यास के अनुसार, अत्रैव नरकः स्वर्गः, अर्थात नरक और स्वर्ग यहीं (इसी धरती पर) है। स्पष्ट है कि वह भू-भाग जहां दुख ही दुख है, नरक है, और इसके विपरीत, जहां आनंद ही आनंद है, दुख से अत्यंत निवृत्ति है, मोक्ष है, वही स्वर्ग है। इसी से संबंधित शब्द है 'दिव्य' जिसका तात्पर्य है दैवी, लोकोत्तर, सर्वोत्तम और दिव्य शक्ति से तात्पर्य है ऐसी शक्ति से जो सामान्यतया अन्यत्र न मिल सकती हो। इन अर्थों पर ध्यान रखते हुए हमारे उपस्थान मंत्र को समझने की आवश्यकता है। देखिए कि हम किस देवता के पास उपस्थित होकर प्रार्थना करते हैं।

0.3. इस मंत्र का अर्थ देवताओं का, अर्थात् ईश्वर की जो दिव्य-शक्ति-संपन्न देन है, सूर्य, चंद्र, नक्षत्र, ग्रह, वायु, जल, अग्नि आदि उन सबका अद्भुत चित्र (तेज) प्रकट हुआ है। वह तेज द्युलोक अंतरिक्ष और पृथ्वी लोक में व्याप्त है, और सूर्य-रूप से समस्त चेतन और जड़ जगत् का आत्मा (जीवनाधार) है। हम उन सब देवताओं के पास परम

* विज्ञान, अप्रैल 1999

आनंद के भागी बनते हुए रहते है और ईश्वर का धन्यवाद देते हैं कि यह कितना अच्छा है।

0.4. मंत्र से स्पष्ट है कि जिन दिव्य पदार्थों के बीच हम रह रहे हैं, वे ही जिन्हें हम पर्यावरण कहते हैं, हमें स्वर्गोपम आनंद देते हैं और हमारे जीवन का आधार है। इनके लिए ईश्वर को धन्यवाद देना चाहिए।

1.0 पर्यावरण क्या है?

1.1. पर्यावरण दो शब्दों से मिलकर बना है : परि=सब ओर से+आवरण=ढकना। अर्थात् पर्यावरण वह सब कुछ है जो किसी को सब ओर से ढके या घेरे रहता है। इसी को परिवेश भी कहते हैं। पर्यावरण से मतलब किसी एक व्यक्ति के परिवेश से नहीं होता, बल्कि वह व्यक्ति का, समाज का, राष्ट्र का और इस सारे विश्व का परिवेश है जिसका प्रभाव व्यक्ति, समाज, राष्ट्र और सारे संसार पर पड़ता है। हमारा पर्यावरण पेड़-पौधे, नदी-पहाड़, आदि ही नहीं होते, बल्कि वह सब कुछ है जिसके कारण और जिसके बीच इस पृथक पर जीव-जगत् है और विकास करता है।

1.2. यह जीव-जगत् पांच तत्वों (घटकों) से बना है। ये हैं पृथ्वी, जल, वायु, अग्नि और आकाश। ये सभी तत्व बहुत शक्तिशाली होते हैं। इनकी दिव्य शक्तियों के कारण ही इन्हें देवी या देवता कहते हैं। ये ही हमारे पर्यावरण के घटक हैं, क्योंकि ये हमारे चारों ओर मौजूद हैं। पेड़-पौधों, नदी-पहाड़, पशु-पक्षी आदि भी पर्यावरण के घटक है, क्योंकि ये सब हमारे इर्द-गिर्द रहते हैं और हमारे जीवन के आधार है।

1.3. जिन परिस्थितियों में पृथ्वी पर स्वस्थ जीवन बना रहता है, उनका अध्ययन करना पारिस्थितिकी (इकॉलॉजी) कहलाता है। इसे ही पर्यावरण-विज्ञान सीखकर प्रत्येक व्यक्ति को अपना जीवन सुधारना चाहिए और पर्यावरण-मैत्री के द्वारा, अर्थात् पर्यावरण के साथ मित्रवत व्यवहार करके अपनी, अपने समाज की ओर मानवता की उन्नति करनी चाहिए।

2.0. पर्यावरण और जीवन

2.1. जब तक पर्यावरण ठीक-ठीक काम करता रहता है, हम कहते हैं, स्वच्छ पर्यावरणः स्वस्थ जीवन है। किंतु जब पर्यावरण में कोई खराबी आ जाती है तब जीवन भी स्वस्थ नहीं रहता। गंदी हवा में सांस लेने से तरह-तरह के रोग हो जाते हैंः जैसे खांसी, श्वास, दमा, क्षय आदि। गंदा पानी पीने से भी हैजा, पेचिस, पीलिया आदि बीमारियां होती हैं। पर्यावरण दूषित होने से जन-स्वास्थ्य को खतरा पैदा हो जाता है। महामारियां फैलती हैं, मृत्यु-दर बढ़ती है, और लोगों की औसत आयु भी घट जाती है।

2.2. हवा, पानी आदि दूषित होने से पशु-पक्षी भी बीमार होकर मरने लगते हैं। प्रदूषण का प्रभाव वनस्पति पर भी पड़ता है। वृक्षों की बाढ़ रुक जाती है। बहुत से वृक्षों में कीड़े लग जाते हैं। बहुत सी जड़ी-बूटियां, जो पहले औषधि के रूप में काम आती थीं,

आज-कल पैदा ही नहीं होती क्योंकि उनके लिए उपयुक्त परिस्थितियां अब नहीं रहीं।

2.3. इस प्रकार पर्यावरण दूषित हो जाने से मनुष्य, पशु-पक्षी, जीव-जन्तु, पेड़-पौधों, सभी का अहित होता है। आज-कल प्रदूषण बढ़ने के कारण रोग बढ़ रहे है, महामारियां प्रायः फैलती रहती हैं। बड़े शहरों में तो सांस लेने में भी कठिनाइयां हुआ करती हैं। जो जीते है वे मरे-मरे से स्वस्थ रहकर किसी भांति दिन काट रहे हैं। हंसते-खिलखिलाते चेहरे तो अब देहात में भी बहुत कम दिखाई देते हैं।

3.0 पर्यावरण-चेतना

3.1. पर्यावरण का जीव-जगत से कितना घना संबंध है, इसकी सार्थक समझदारी ही पर्यावरण-चेतना कहलाती है। मंगलाचरण में उद्धृत वेद-मंत्र से यह स्पष्ट है कि भारत में प्राचीन काल में यह चेतना न केवल मौजूद थी, बल्कि हद दर्जे तक विकसित भी थी। ऐसे असंख्य मंत्र वेदों में मिलते हैं और असंख्य उल्लेख भारतीय साहित्य में हैं जिनमें देवता-स्वरूप इन शक्तियों को सान्निध्य की कामना की गई है, इनकी स्तुति की गई है, इनके स्वच्छ, शुद्ध, शांत और प्रसन्न रखने के उपाय बताए गए हैं। पर्यावरण के प्रति देव-बुद्धि रखना हमारी संस्कृति में ही समाया है।

3.2. पृथ्वी हम सबकी माता है (माता भूमिः पुत्रो अहंपृथिव्याः—अथर्ववेद 12.12.12) क्योंकि वही अन्न-जल देकर सबका पालन-पोषण करती है। पशु-पक्षियों का भी पालन करती है जो मनुष्य के लिए उपयोगी और हितकारी होते हैं।

3.3. जल भी देवता है (जल को वरुण भी कहते हैं जो ईश्वर का प्रसिद्ध नाम है।) बिना पानी के मनुष्य एक-दो दिन से अधिक नहीं जी सकता। जल से ही अन्न होता है जिससे यह शरीर पलता है। कहावत है, जल ही जीवन है। इसीलिए नदियों को भी मां-जैसा सम्मान दिया जाता है—गंगा जमुना को हम गंगा-मैया, जमुना-मैया कहते हैं।

3.4. वायु तो जल से भी अधिक आवश्यक है। वायु में ही हम सांस लेते हैं। वायु न हो तो सांस लेना रुक जाए और हम मर जाएं। दो-चार घंटे क्या कुछ मिनट भी वायु के बिना जीवित रहना संभव नहीं होता। जीवन शब्द 'जीव' धातु से बना है जिसका अर्थ है 'सांस लेना।'

3.5. पर्यावरण के अन्य घटक भी मनुष्य के जीवित रहने में सहायक होते हैं। वृक्षों से फल मिलते हैं जो खाने के काम आते हैं। पेड़-पौधों से भांति-भांति की दवाएं बनती हैं जो रोग दूर करती हैं। कुछ पेड़-पौधें तो इतने अधिक उपयोगी होते हैं कि उन्हें भी देवता के समान सम्मान दिया जाता है। पीपल और बरगद को देवता मानते हैं। पीपल तो अंधेरे में भी आक्सीजन प्रदान करता है जबकि अन्य पेड़-पौधे सूर्य के प्रकाश में ही आक्सीजन दे पाते हैं। तुलसी को तुलसी-सेवन-पूजन करते हैं। इसमें महत्वपूर्ण औषधीय गुण होते हैं।

3.6. पर्वतों में भांति-भांति के खनिज पदार्थ मिलते हैं और औषधियाँ उत्पन्न होती

है। पानी-भरे बादल हवा में उड़ते हुए जब पर्वतों से टकराते हैं, तब वर्षा होती है। वर्षा न हो तो भूमि रेगिस्तान बन जाए और हमें अन्न-जल कुछ भी न प्राप्त हो। इसलिए पहाड़ों को 'भूभृत' या 'महीभृत्' अर्थात् पृथ्वी का भरण-पोषण करने वाला कहा जाता है। संस्कृत के महाकवि कालिदास ने हिमालय को देवतात्मा कहा है।

3.7. पर्यावरण के सभी घटकों का महत्व, शक्ति, उपयोगिता और जीवन के लिए अनिवार्यता समझकर उनके प्रति देव-बुद्धि रखना भारतीयों में अति विकसित पर्यावरण-चेतना का पुष्ट प्रमाण है।

4.0. पर्यावरण का प्रदूषण और शोधन

4.1. पर्यावरण का प्रदूषण कुछ तो प्राकृतिक कारणों से भी होता है। जैसे ज्वालामुखी फटने, भूकंप आने, और दावानल आदि से पर्यावरण को काफी हानि पहुंचती है। किंतु कुछ थोड़ा-बहुत लाभ भी होता है। जैसे दावानल से जहां मूल्यवान संपत्ति जल जाती है, वहीं बहुत सा प्रदूषण भी नष्ट हो जाता है। प्रकृति में जो स्वाभाविक प्रदूषण होता रहता है, उसमें निपटने की शक्ति भी होती है। पर्यावरण का स्वाभाविक शोधन होता रहता है।

उदाहरण के लिए जीव सांस लेते हैं, तो जो सांस बाहर निकलती है, उसमें कार्बन-डाई-आक्साइड गैस अधिक होती है। यह गैस पेड़-पौधों का भोजन है। सूर्य के प्रकाश में वे इसे पचाकर हवा में आक्सीजन छोड़ते हैं। इस प्रकार हवा शुद्ध होती रहती है। जल-जीव जल में पड़ी गंदगी पचाकर हवा में आक्सीजन छोड़ते हैं। इस प्रकार हवा शुद्ध होती रहती है। जल-जीव जल में पड़ी गंदगी पचाकर जल शुद्ध करते रहते हैं। पेड़-पौधे अपने पत्ते गिराकर और पृथ्वी के जीव अपने मल-मूत्र गोबर आदि से जैव खाद पहुंचाते रहते हैं जिससे मिट्टी उपजाऊ बनी रहती है। केंचुए आदि भी मिट्टी को शुद्ध करते रहते हैं। इस प्रकार संतुलन बना रहता है। जीव-जगत् की सामान्य गति-विधियों से जितना प्रदूषण होता है, उतनी शुद्धि अपने-आप होती रहती है। कौआ और गिद्ध आदि बहुत से पक्षी अपने भोजन के बहाने सफाई ही करते रहते हैं। बिल्ली और मोर का तो नाम ही मार्जर, मार्जरी मार्जरक अर्थात् झाड़ू देने वाले पड़ गया है।

4.2. असामान्य गति-विधियों से या दुरुपयोग के फलस्वरूप प्रदूषण भी असाधारण गंभीर होता है जिससे निबटने में प्रकृति प्रायः असमर्थ रहती है। इनके शोधन के लिए विशेष उपाय करने की आवश्यकता होती है।

5.0. पर्यावरण मैत्री वाली मानव संस्कृति

5.1. पर्यावरण—मैत्री कोई नया विषय या नई खोज नहीं है। मानव के स्वस्थ विकास की यात्रा की दिशा, यानी जीवन का आधार पर्यावरण के दुरुपयोग से बचने और सदुपयोग करते रहने की जीवन-पद्धति ही श्रेष्ठ मानव संस्कृति है। भारतीय चिंतकों ने जिस श्रेष्ठ का अनुसंधान और अनुसरण किया था, उसका आधार पर्यावरण-विज्ञान ही रहा है।

5.2. अत्यंत व्यापक, दीर्घकालीन और विशाल प्रयोगों और अनुभवों के फलस्वरूप भारतीय संस्कृति निश्चित की गई थी। वही संसार की सबसे पुरानी, श्रेष्ठ और विश्व के लिए वरणीय संस्कृति है (सा प्रथमा संस्कृतिविश्ववारा-यजुर्वेद 7.14)। इससे इतर जो भी है, वह मानव की संस्कृति नहीं, अपसंस्कृति या विकृति ही हो सकती है, क्योंकि वह स्वस्थ विकास की नहीं, विनाश की दिशा ही दिला सकती है। भारतीय संस्कृति काल-जयी है, क्योंकि इसका केंद्र पर्यावरण है जो जीवन का आधार है। गंगा-यमुना आदि नदियों का सेवन-पूजन, जल से नित्य ही (विशेषकर व्रतों-त्योहारों में) स्नान करना, सूर्य-नमस्कार करना अग्नि में आहुति देना आवश्यक समझा जाता है। पूजा में भी केशर, जल, वंदन और नारियल आदि लगते हैं और यह सब इस संस्कृति में धर्म—(अर्थात् अवश्य-करणीय) कर्म समझा गया है।

5.3. ''पर-हित सरिस धर्म महिं भाईः पर-पीरा सम नहिं अधमाई'' (तुलसी : मानस) भारतीय संस्कृति का मूल मंत्र है। वेद ज्ञान के कोश हैं। वे कहते हैं कि प्रत्येक वस्तु का त्याग करके उपयोग करना चाहिए, और सब कुछ स्वयं ही हड़प लेने का लोभ न करना चाहिए (तेन त्यक्तेन भुंजीथाः मा गृधः कस्याविद्धनम्-यजुर्वेद 40.1 इशोपनिषद् 1) कुछ दूसरों के लिए भी छोड़ना चाहिए। अपनी आवश्यकताएं कम रखनी चाहिए। ऐसी स्वार्थ-त्याग-वाली और शोषण-विरोधी संस्कृति में पर्यावरण-मैत्री मात्र विचार या कोरी कल्पना नहीं है, बल्कि आचरण में अपनाने योग्य धर्म है। पर्यावरण के प्रति देव-बुद्धि रखना मानव का कर्तव्य है। संत तुलसीदास के शब्दों में,

''जड़ चेतन जग जीव जत सकल राम-मय जानि।
बंदहुं सबके पद-कमल सदा जोरि जुग पानि।।''

मानस, बालकांड 7 (ग)

इस श्रेष्ठ संस्कृति से विमुख होने के कारण ही मनुष्य पर्यावरण बिगाड़ने पर उतारू होता है और संकट बुलाता है।

5.4. महाभारत का एक प्रसंग है, विराटनगर में जब राजा के साले कीचक के दुव्यवहार से दुखी द्रोपदी न्याय पाने हेतु राज-दरबार में पहुंची तो वहां भी कीचक ने उसे गिराकर एक लात मार दी। दरबार में कंक नाम से छिपे युधिष्ठर के पास पाकशाला-अध्यक्ष बल्लव नाम से छिये भीम भी बैठे थे। वे क्रोध से तिलमिला उठे और कीचक को तत्काल मार डालने की इच्छा से बाहर एक वृक्ष की ओर ताकने लगे, मानो उनका वश चले तो उसे ही उखाड़कर कीचक पर दे मारे। ऐसी संभावना भांपकर युधिष्ठिर ने कहा, ''बल्लभ, तुम ईंधन के लिए वृक्ष को देख रहे हो? रसोई के लिए लकड़ी चाहिए तो बाहर जाकर सूखी लकड़ी किसी वृक्ष से ले लो। शीतल छाया देने वाले हरे-भरे वृक्ष के उपकारों का ध्यान रखते हुए उसके एक पत्ते को भी हानि न पहुंचानी चाहिए।'' यह सुनते भीम ने अपना क्रोध छिपा लिया। ऐसी थी पर्यावरण के प्रति मानव की प्रखर चेतना और भारत की पर्यावरण-मैत्री-वाली श्रेष्ठ संस्कृति जो मानव का संस्कार करके उसे देवता बना देती

है, अन्यथा संस्कृति से कटा मानव दानव ही हो जाता है।

5.5. भारतीय संस्कृति यज्ञमय जीवन ही जीने की अनुमति देती है। उपनिषद् कहते हैं कि यज्ञ-कार्य भी जन-कल्याण के लिए होते है। (यज्ञोऽपि तस्यै जनतायै कल्पते—ऐतरेय), और यज्ञ ही श्रेष्ठतम कर्म है। (यज्ञो वै श्रेष्ठतमं कर्म शतपथ 1.7.1.5) यज्ञ अनेक प्रकार के होते हैं, किंतु पांच महायज्ञ माने जाते हैं जो प्रत्येक गृहस्थ को अवश्य करने चाहिए। इन्हीं में से एक है देव-यज्ञ अर्थात् हवन, अग्निहोत्र या होम करना, जिसे पर्यावरण की शुद्धि होती है और रोग दूर होते है। भूत-यज्ञ एक और महायज्ञ है : बराबर प्राणि मात्र के प्रति सद्भावना रखना। मनुष्य, पशु-पक्षी, और पेड़-पौधों आदि का समुचित पालन-पोषण आदि ही भूत-यज्ञ है।

5.6. देव-यज्ञ या होम देवताओं की प्रसन्नता के लिए किया जाता है। श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार,

> ''देवान्भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
> परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।—3.11

अर्थात् तुम लोग इस यज्ञ के द्वारा देवताओं (पर्यावरण के घटकों) को उन्नत (शुद्ध, पवित्र, स्वस्थ, प्रसन्न) करो और देवता तुम लोगों को उन्नत करें। इस प्रकार एक-दूसरे को उन्नत करते हुए तुम लोग परम कल्याण को प्राप्त हो जाओगे। इस प्रकार होम से सभी प्राणियों का कल्याण होता है और होम करने वाला भी सुखी रहता है। आपस की मैत्री ही संसार में कल्याणकारी होती है।

6.0. वर्तमान विश्व-परिदृश्य

6.1. पर्यावरण का साधारण प्रदूषण दूर करके प्रकृति में संतुलन बनाए रखने वाला कारक भी पर्यावरण ही है। किंतु आजकल पर्यावरण को भी इतनी क्षति पहुंच रही है कि वह अपना पूरा शोधन नहीं कर पाता। उधर प्रदूषण बढ़ता जाता है। यानी यह एक दुश्चक्र है : प्रदूषण बढ़ा—क्षति हुई—शोधन घटा—प्रदूषण बढ़ा—आदि।

6.2. गांवों में पहिले प्रातः-सायं पशुओं की पंक्तियों पर पंक्तियां निकला करती थीं, किंतु अब बहुत थोड़े गाय-बैल ही दिखते हैं। बड़े-बड़े किसान अब बैल नहीं पालते, ट्रैक्टर खरीदते हैं। लोग भूल गए है कि शिव (कल्याण) के वाहन बैल ही होते हैं, ट्रैक्टर नहीं हो सकते। बैल न रहेंगे तो कल्याण नहीं होगा। गाए भी बहुत कम पाली जाती है। वे अब उतना दूध भी नहीं देती। महाभारत में लिखा है कि किसी के पास दस गाए हों तो उनसे पूरे परिवार का भरण-पोषण अच्छी तरह हो सकता है। गायों की संख्या के अनुसार ही लोग धनी समझे जाया करते थे। किंतु अब तो पशु-पालन का धंधा ही समाप्त होता दीखता है चरागाहें ही नहीं रहीं, वन ही नहीं रहे, तो पशु-पालन कैसे चल सकता है? गत 30 वर्षों में ही भारतीय वन-क्षेत्र सकल क्षेत्र के 20 प्रतिशत से सिकुड़कर मात्र 10 प्रतिशत रह गया है।

6.3. यदि लोग अपनी आवश्यकताएं बढ़ाते गए तो पर्यावरण का प्रदूषण भी बढ़ता जाएगा और मानव-जीवन के लिए खतरा उतना ही बढ़ेगा। फिर तो धीरे-धीरे रेत पर बनाए निशान की भांति मनुष्य का निशान भी संसार से मिट सकता है। सभ्यता के केंद्र शहरों का तो बहुत ही बुरा हाल है। हवा में इतना प्रदूषण बढ़ गया है कि वह प्राण-दाता के बजाय जान-लेवा हो रही है। केंद्रीय प्रदूषण-नियंत्रण बोर्ड दिल्ली की रिपोर्ट (नमूना सारणी 1) हर दूसरे-चौथे समाचार-पत्रों में प्रकाशित होती रहती है जिसके अनुसार प्रदूषण मानव-स्वास्थ्य के लिए खतरनाक स्थिति से भी बहुत अधिक है, और दिन-प्रति-दिन तेजी से बढ़ता जा रहा है। विद्वानों का अनुमान है कि ऐसा जमाना जल्दी ही आ सकता है जब लोग आक्सीजन की थैलियां लेकर घर से निकला करेंगे और आवश्यकतानुसार उसे सूंघते हुए अपना सफर पूरा किया करेंगे।

6.4. हवा के बाद पानी दूसरी अनिवार्य आवश्यकता है जिसकी हालत भी शोचनीय है। संयुक्त राष्ट्र की 1997 की रिपोर्ट के अनुसार विश्व की कुल जनसंख्या में से 20 प्रतिशत को स्वास्थ्यप्रद पेय जल उपलब्ध नहीं है। अनुमान है कि सन् 2025 तक विश्व की दो-तिहाई आबादी पानी की समस्या से त्रस्त होगी। चेन्नई भारत का चौथा महानगर है। वहां अधिकतर नागरिकों को प्रति दिन केवल दो घंटे ही जल प्राप्त होता है। विश्व के 80 देशों में पानी की कमी है, पर मध्य पूर्व, उत्तरी अफ्रीका, केंद्रीय एशिया और सहारा अफ्रीका के देशों में समस्या गंभीर है।

6.5. प्रदूषण ने जल के एक बड़े भाग को उपयोग के योग्य ही नहीं छोड़ा है। विकासशील देशों में 90 प्रतिशत मल-जल (सीवेज) बिना किसी उपचारण के ही जल-संसाधनों में मिला दिया जाता है। अच्छा पानी तो अभी भी दुर्लभ हो रहा है। बाजार से बोतल-बंद स्वच्छ पानी खरीद-कर प्रायः लोग उसे ही पीते है।

6.6. विद्वानों के एक अनुमान के अनुसार पर्यावरण स्वस्थ बनाए रखने के लिए भूमि का एक-तिहाई भाग वनों से ढका रहना चाहिए। किंतु लकड़ी, कागज आदि के कारखाने चालू रखने के लिए जंगल बुरी तरह काटे गए। फल यह हुआ कि बहुत सी मिट्टी वर्षा में कटकर बह गई, भूमि बंजर होने लगी, ऊपर और मरुस्थल बढ़ते गए। हवा में आक्सीजन कम होने लगी। कृत्रिम खाद देने से अन्न की पौष्टिकता बहुत कम हो गई। कारखाने अपना कूड़ा-कचरा और गंदा पानी नदियों में बहा देते हैं जिससे जल-जीव मरते जा रहे है! ऊंची-ऊंची चिमनियां दिन-रात धुआं और विषैली गैसें उगल रही हैं। मुंबई में तो गंधक का धुआं फैलने से तेजाब की वर्षा तक हो चुकी है। एक बड़ा हवाई जहाज एक दिन में जितनी आक्सीजन खर्च करता है, उतनी 1700 हेक्टेअर वन में तैयार होती है। व्यापक वन-विनाश के कारण हवा में प्राण-वायु आक्सीजन घट रही है जबकि विषैली गैसें बढ़ रही हैं।

6.7. संक्षेप में कहे तो जीवन का आधार मिटाया जा रहा है विकास, उन्नति और प्रगति के नाम पर। यह है नरक होती जा रही हमारी दुनिया का विहंगम दृश्य कि आदमी

तो बढ़े हैं किंतु उनके चेहरों से खुशी गायब है। एक कवि के शब्दों में—

"हम जीवित हैं, पर नाथ, रहा इस जीवन में कुछ सार नहीं।
उठता जगदीश, न शीश कभी, हिलता तक है दुख-भार नहीं।।

7.0. प्रदूषण-वृद्धि के मूल कारण

7.1. मनुष्य अपनी बढ़ती हुई आवश्यकता पूरी करने में दिन-रात जुटा रहता है। वह भांति-भांति की वस्तुओं का संग्रह करता है, दूसरों से प्रतियोगिता करता है और अधिक से अधिक प्राप्त करने का प्रयत्न करता है। यह प्रवृत्ति 'लोभ' कहलाती है। ऋषियों ने इसे एक बड़ा दुर्गुण कहा है, क्योंकि इससे उसे पर-हित का ध्यान नहीं रहता और वह दूसरों को उनका आवश्यक भाग प्राप्त करने से वंचित रखता है। पश्चिमी सभ्यता की चकाचौंध के कारण लोग उसकी ओर आकर्षित होने का लोभ संवरण नहीं कर पाते, और आवश्यकताएं बढ़ाते जाते है। जो वस्तुएं पहिले विलासिता समझी जाती थीं, वे अब आवश्यक समझी जाने लगी है। ठंडी अलमारी (फ्रिज), दूरदर्शन (टेलीविजन), मोटर, धुलाई-मशीन, सफाई-मशीन, सिलाई-मशीन, स्टोव-चूल्हे आदि अब बहुत से लोगों के लिए अनिवार्य हो गए हैं। लोभ की प्रवृत्ति बराबर बढ़ती जा रही है।

7.2. अपनी बढ़ी हुई आवश्यकता की वस्तुएं तैयार करने, हथियाने, और दूसरों से आगे रहने को ही कुछ लोग विकास, उन्नति या प्रगति मान बैठे हैं। किंतु वास्तव में लोगों में लोभ और स्वार्थ-वृद्धि का ही विकास हुआ है। उस तथाकथित विकास के लिए वे अपने आस-पास के पर्यावरण का दोहन करते हैं, जल-थल-वायु ही नहीं, पेड़-पौधों, पशु-पक्षियों और जीव-जन्तुओं तक का अधिक से अधिक उपभोग करते हैं। सभी शक्तियों का अपने स्वार्थ के लिए शोषण करते हैं। अपने-अपने भारी उद्योग पनपाने के लिए एक मनुष्य दूसरे मनुष्य का, एक समाज दूसरे समाज का, और एक देश दूसरे देश का शोषण करता है। यह शोषण इतना सार्व तथा व्यापक है, और इसका स्वरूप इतना गुप्त और जटिल है कि आसानी से सबको दिखाई नहीं देता। मनुष्य की स्वार्थ-बुद्धि इतनी चतुर हो गई है कि ढोंगी विकास की आड़ में छिपी उसकी दूषित नीयत और कुत्सित विचार आम आदमी की समझ में नहीं आ पाते।

7.3. विकास और सहायता के नाम पर विकसित देश अल्प-विकसित या विकासशील देशों का शोषण कर रहे हैं। अमेरिका एक विकसित देश समझा जाता है। वहां दुनिया की 7.5 प्रतिशत आबादी रहती है, किंतु वह दुनिया के 50 प्रतिशत बुनियादी साधनों का उपयोग करता है। अल्प-विकसित और अविकसित देशों में दुनिया के खनिज भंडारों का 70 प्रतिशत भी इन्हीं देशों में हैं। किंतु दुनिया के सारे औद्योगिक उत्पादन का केवल सात प्रतिशत ही इन देशों में होता है। यह भी शोषण का एक उदाहरण है।

7.4. जब यह किसी से छिपा नहीं है कि कुछ-एक देश अपने स्वार्थ के लिए संसार की संपदा चट कर जाने पर उतार हैं। यह विश्व-पर्यावरण के साथ बलात्कार ही है। इसका शिकार सारा जीव-जगत् और स्वयं मनुष्य भी हो रहा है। यह बुद्धिमानी नहीं है।

यह तो विचारों दरिद्रता की पराकाष्ठा है, कुछ लोगों के लोभ का घिनौना चेहरा है, उनकी स्वार्थ-बुद्धि का विषैला फल है। मनुष्य अपने स्वार्थ के लिए प्रकृति के स्वाभाविक काम में बेजा छेड़-छाड़ करना है जिससे संतुलन बिगड़ जाता है, जल-थल-वायु सभी इतने प्रदूषित हो जाते हैं कि प्रकृति उन्हें नहीं कर पाती।

8.0. विकास के नाम पर विनाश

8.1. जब यह सिद्ध हो चुका है कि पर्यावरण का व्यापक प्रदूषण मनुष्य की गलत सोच का ही परिणाम है। **भारी उद्योगों वाली सभ्यता का केंद्र पूंजी हैं, धर्म स्वार्थ और लक्ष्य है उपभोक्ता का दोहन जिसका साधन है व्यापक शोषण। इस सारे तंत्र की सूत्रधार है मनुष्य की स्वार्थ-बुद्धि, उसकी पर-हित-विरोधी सोच और परिणाम है विकास के नाम पर विनाश।**

8.2. किंतु जैसे-जैसे पर्यावरण-चेतना बढ़ रही है, विकास की कलई भी खुलती जा रही है, भोली-भाली जनता के साथ होने वाले स्वार्थ में रंगे सियारों के छल का कच्चा चिट्ठा सबके सामने आ रहा है। जितने ही अधिक भारी उद्योग बढ़े, जल-थल-वायु का उतना ही अधिक प्रदूषण हुआ। विकास का ढोल पीट-पीटकर प्राकृतिक संपदा का अधिक से अधिक विनाश किया गया। गलत सोच का उदाहरण देखिए : एक मोटर-वाहन 970 किलोमीटर की यात्रा में उतनी आक्सीजन फूंक डालता है जितनी एक व्यक्ति को एक वर्ष में आवश्यक होती है। केंद्रीय प्रदूषण-नियंत्रण बोर्ड दिल्ली बराबर चेतावनी प्रसारित करता रहता है (अखबारों में प्रकाशित नमूना सारणी-1 देखिए) कि मोटरों से निकलने वाली कार्बन-मोनो-आक्साइड की मात्रा अधिकतम अनुमत सीमा की चार-गुनी से भी अधिक हो रही है। फिर भी मोटर बनाने का उद्योग फैलता जा रहा है भले ही सड़कें संकरी पड़ती जा रही हैं, चौराहों पर ट्रैफिक-जाम बढ़ता जा रहा है। भारत में ही नए प्रस्तावित कारखानों से दो-साल बाद तैयार होकर निकलनेवाली मोटरों (छोटी कारों) के लिए भी वे दो लाख से ऊपर आर्डर बुक हो चुके हैं, जब कि सुनते हैं, न्यूयार्क में मोटर छोड़ साइकिल चलाने का फैशन शुरू हो रहा है।

8.3. यह युग का दुखांत ही है कि भारत भी पश्चिम की अर्थ-काम-प्रधान अप-संस्कृति (या विकृति) की आंधी में उड़ता हुआ विनाश की ओर जा रहा है, यहां तक कि विश्व के सर्वाधिक प्रदूषित दस महानगरों में से तीन भारत के हैं। संयुक्त राष्ट्र पापुलेशन फंड की ओर से न्यूयार्क में संयुक्त राष्ट्र पर्यावरण कार्यक्रम (यू.एन.डी.पी.) और संयुक्त राष्ट्र मानव रिहाइश केंद्र (हेबिटैट) द्वारा हाल में जारी की गई रिपोर्ट के अनुसार आनेवाले दशकों में हमारे शहरों की हालत नारकीय हो जाएगी।

9.0 प्रदूषण-नियंत्रण के प्रयत्न

9.1. प्रदूषण के प्रति मानव की चिंता बढ़ रही है। वह किसी भांति इस संकट से छुटकारा पाने के लिए छटपटा रहा है। दशाब्दियों से यह संकट टालने के उपाय भी हो

रहे हैं, किंतु उद्देश्य के प्रति ईमानदारी प्रायः नहीं होती। उसकी स्वार्थ-बुद्धि उसके निजी हितों से ऊपर नहीं उठ पाती, और यह नहीं सोच पाती कि सभी का, सारे जीव-जगत् का हित कैसे हो। समस्या से जूझने के लिए भारत ने 'मानव-संसधन-विकास मंत्रालय' और 'पर्यावरण मंत्रालय' भी बना रखे हैं। 'परंतु', वृंदावन के एक विद्वान डॉ. शरण विहारी गोस्वामी के शब्दों में, 'संस्कार तो अब भी विरोधी है। प्रकृति को बचाना भी चाहते हैं, उसका विनाश भी बंद नहीं कर रहे हैं। सर्वप्रथम तो मन का प्रदूषण दूर करना होगा। मन को सहज संस्कारों में ढालना होगा, तभी प्रदूषण-विरोध और पर्यावरण-रक्षण-आंदोलन सफल होगा। इसके लिए जो जीवन-दृष्टि चाहिए, वह भारत के पास है।'' (डॉ. हर्षनंदिनी भाटिया की पुस्तक 'ब्रज-निधि : वनश्री' की भूमिका से)

9.2. सोच के पीछे ईमानदारी और दृढ़ इच्छा-शक्ति के अभाव में हमारे प्रयास बहुधा दिखावटी और छोटे होते हैं। छोटे-छोटे वन-महोत्सव भारी वन-विनाश की भर-पाई नहीं कर पाते हैं। वे ऊंट के मुंह में जीरा सिद्ध होते हैं। चिपको आंदोलन का प्रभाव भी स्थानीय ही होता है। इसका सिद्धांत सत्याग्रह द्वारा वन-विनाशकों का हृदय-परिवर्तन है। किंतु जब तक उनकी सोच न बदले, उनके विचार न शुद्ध हो, उनमें सबका हित साधने की सुमति न आए, तब तक उनका हृदय-परिवर्तन संभव नहीं होता। वे लोग पर्यावरण-मैत्री की संस्कृति से इतनी दूर जा चुके हैं कि सत्याग्रहियों पर दया दिखाने के लिए घड़ियाली आंसू ही बहाते रहेंगे।

9.3. बचपन में डाले हुए संस्कार ही टिकाऊ होते है। पर्यावरण-मैत्री का पाठ भी बचपन में ही पढ़ाकर यह भूली हुई संस्कृति सिखाई जा सकती है। पर्यावरण-चेतना जन-जन में जगाने के लिए एक विश्वव्यापी वैचारिक क्रांति करनी होगी। बूढ़ा तोता राम-राम नहीं पढ़ता। स्वार्थ की दृष्टि भी सरलता से नहीं छूटती। लोग पर-हित का मुंह से पाठ करते हैं और हाथ में स्वार्थ की माला जपते हैं। यह बुद्धि बदलनी चाहिए। डॉ. गोस्वामी द्वारा इंगित भारतीय जीवन-दृष्टि सोई हुई है : उसे जगाना होगा। इसके लिए पीढ़ियों तक बचपन से ही पर्यावरण-विज्ञान की शिक्षा मिलनी चाहिए। तभी लोग पर्यावरण-मैत्री वाली संस्कृति अपनाएंगे और स्वार्थ छोड़ भारतीय जीवन-दृष्टि पाएंगे।

10.0. पर्यावरण-विज्ञान अर्थात् यज्ञ-विज्ञान

10.1. संसार यह अनुभव करने लगा है कि प्रदूषण की गंभीर समस्या का एक मात्र सुनिश्चित, सुप्रभावी और स्थायी समाधान है, पुनः पर्यावरण-मैत्री वाली संस्कृति की शरण जाना, यज्ञमय जीवन पद्धति अपनाना, भावी नागरिकों में यज्ञ-होम के प्रति रुचि बढ़ाना और बचपन से ही उन्हें होम द्वारा पर्यावरण-देवताओं का तुष्टीकरण सिखाना। जर्मनी में पर्यावरणवादी 'ग्रीन पार्टी' शासन-सत्ता में भागीदार हो गई है, इटली, स्वीडन और स्विट्जरलैंड की सरकारों पर भी हरित आंदोलन का दबाव बढ़ता जा रहा है। प्रदूषण-निवारण के एक मात्र प्रभावी और स्थायी उपाय, 'अग्निहोत्र' के प्रति अमेरिका,

चिली, पोलैंड और पश्चिमी जर्मनी में विशेष रुचि बढ़ी है। अमेरिका में तो मेरीलैंड (बाल्टीमोर) में 'अग्निहोत्र प्रेस फार्म' है जहां 1979 से दिन-रात अखंड यज्ञ चल रहा है मैडिसना (वर्जीनिया) में प्रथम यज्ञशाला का उद्घाटन 1973 में हुआ था, जहां राजधानी से डेढ़ घंटे में पहुंचा जा सकता है। राजधानी वाशिंगटन, डी.सी. में अग्निहोत्र विश्वविद्यालय की स्थापना भी हो चुकी है।

10.2. होम का सिद्धांत यह है कि कोई भी वस्तु आग में डालने से नष्ट नहीं होती, बल्कि जलने से उस वस्तु का प्रभाव हजारों गुना बढ़ जाता है। जलती हुई वस्तु के सूक्ष्म कण गैस बनकर दूर-दूर तक फैलते है और बहुत से प्राणियों को लाभ पहुंचते है। हवन-सामग्री में ऋतु के अनुसार औषधियां और जड़ी-बूटी, घी, शक्कर और मेवे आदि होते हैं। उनके जलने से घरों के हानिकर कीट, मच्छर आदि और अनेक रोगों के कीटाणु मर जाते हैं। होम की राख में भी औषधीय गुण होते हैं। वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके देखा है कि खांड जलाने से जो गैस बनती है उससे अनेक रोग-कीटाणु मर जाते हैं और क्षय, चेचक, हैजा आदि बीमारियां शीघ्र दूर हो जाती हैं। मुनक्का, किशमिश आदि मेवों में शकर आदि होती है, इनके जलाने से टाइफाइड ज्वर के रोग-कीट आधे घंटे में नष्ट हो जाते हैं मद्रास (अब चेन्नई) में एक सैनिटरी कमिश्नर ने सन् 1882 ई. में बताया था कि घी और चावल में केशर मिलाकर जलाने से प्लेग से बचा जा सकता है। टी.बी. उपचार केंद्र जबलपुर में तीन-चार दशक पहिले यज्ञ के प्रयोग किए गए थे। वहां डॉ. फुंदनलाल अग्निहोत्री ने 80 प्रतिशत क्षय-रोगियों को यज्ञ से लाभ पहुंचाया था। प्रयोगों से यह सिद्ध हुआ था कि गाय के घी से यज्ञ करने पर रोगी शीघ्र चंगे हो जाते हैं। **वास्तव में पर्यावरण-विज्ञान का ही दूसरा नाम यज्ञ-विज्ञान है।**

10.3. होम से वायु शुद्ध होती है, इससे वृष्टि भी होती है। (गीता 3.14)। शुद्ध वायु के संपर्क में आकर वर्ष-जल शुद्ध हो जाता है और उसके पृथ्वी पर गिरने से भूमि भी शुद्ध होती है। होम की राख खाद का काम देती है। खेतों में होम करने से उपज बढ़ती है, फसल में कीड़े नहीं लगते और अन्न भी अधिक स्वादिष्ट तथा पौष्टिक होता है। गोशाला में होम करने से गाए अधिक दूध देती हैं। इस प्रकार होम के कारण अच्छा अन्न-जल-वायु और दूध-घी मिलने से लोगों का स्वास्थ्य सुधरता है, उनकी आयु बढ़ती है। होम में एक और भी रहस्य है। आहुतियां देते समय प्रत्येक बार 'स्वाहा' बोला जाता है जिसका अर्थ है कि मैं अपना कुछ त्याग करता हूं, अथवा मैं अपनेपन का, अहं-भाव का नाश करता हूं। इसी प्रकार आहुति के बाद भी 'इदं न मम' बोला जाता है अर्थात् यह मेरे लिए नहीं वरन्... के लिए है। ऐसा बार-बार कहने से मनुष्य का अहंकार धीरे-धीरे नष्ट होता रहता है। उसकी त्याग-भावना बढ़ती है, स्वार्थ छोड़ने का उसका मानसिक संकल्प दृढ़ होता है और पर-हित की ओर रुचि उत्पन्न होती है। उसका मन शुद्ध होता है, स्वभाव सुधरता है और वैचारिक प्रदूषण दूर होता है। मंत्रों के उच्चारण से अवांछनीय ध्वनियां दबी रहती हैं और अशंतः ध्वनि-प्रदूषण रुकता है।

11.0. नरक को स्वर्ग बनाने का अमोघ उपाय

11.1. संतोष का विषय है कि भारत की जीवन-दृष्टि जग उठी है और यज्ञ-विज्ञान के प्रति जागरुकता विश्व में बढ़ रही है। पर्यावरण-संरक्षण-संघ, नासिक; इंस्टिट्यूट फार स्टडीज इन वैदिक साइसेंज, शिवपुरी (महाराष्ट्र); माधवाश्रम, भोपाल; ब्रह्मवर्चस् शोध संस्थान, हरिद्वार; अमेरिका में अग्निहोत्र यूनिवर्सिटी और नेशनल हार्टिकल्चरल सोसायटी, जर्मनी में क्रिया-योग जैसी संस्थाएं यज्ञमय जीवन पर गंभीर शोध और व्यापक प्रचार-कार्य कर रही हैं। अनेक पत्रिकाएं निकल रही हैं और पुस्तकें प्रकाशित हो रही हैं। पर्यावरण-संरक्षण-संघ के प्रो.एस.सी मुले 'मेडिसिन पल्टरनेटिया' द्वारा आयोजित विश्व-सम्मेलन में होम का प्रदर्शन किया था। उन्होंने बताया था कि पृथ्वी और सूर्य के बीच का वातावरण प्रदूषण के कारण बिगड़ गया है। इसे होम द्वारा आसानी से अनुकूल बनाया जा सकता है। 'होम- या 'यज्ञ' संस्कृत शब्द वैदिक काल के जैव-ऊर्जा-विज्ञान का तकनीकी शब्द है जिसका अर्थ है, अग्नि के माध्यम से पर्यावरण के विषैले तत्व दूर करने की प्रक्रिया। प्रो. मुले ने बताया कि होम से आक्सीजन की पुनर्चक्रण प्रणाली में संतुलन बना रहता है। जल-स्रोतों द्वारा सूर्य-किरणों का अवशोषण करने की क्षमता भी होम से बढ़ती है जिससे शैवाल और जीवाणुओं की अनचाही वृद्धि रुकती है।

11.2. प्रतिदिन प्रातःसायं प्रत्येक घर से सामान्य होम और पर्व या त्योहारों पर विशेष होम करने से पर्यावरण शुद्ध होता रहता है, हानिकारक कीट-मच्छर आदि भाग जाते हैं और मनुष्य के स्वास्थ्य एवं अचार-विचार सभी सुधरते हैं। इस प्रकार होम से मनुष्य का सर्वांगीण विकास या 'संस्कार' होता है। वह मानव से श्रेष्ठ मानव और अंततः देवता बन जाता है—'देवो भूत्वा देवान्प्येति' (बृहराण्यक 4.2.1)। उसके बसने की जगह 'वसुधा' नरक नहीं स्वर्ग बन जाती है। यज्ञवाली संस्कृति अथवा पर्यावरण-केंद्रित संस्कृति ही भारत की (ज्ञान पर आधारित : कंडिका 5.1) संस्कृति है। यही मानव मात्र की संस्कृति होनी चाहिए। इस संस्कृति से विमुख होने के कारण ही मनुष्य नारकीय जीवन जी रहा है। मनुष्य के सोलह संस्कारों में एक होता है—'यज्ञोपवीत' (यज्ञ उप वीत)। इसका अर्थ है यज्ञ मय जीवन के पास ले जाने की प्रेरणा देना। यह संस्कार बचपन में ही प्रत्येक व्यक्ति का होना चाहिए ताकि वह जीवन भर यज्ञ अर्थात् पर-हित से जुड़ा रहे और अपने राष्ट्र का श्रेष्ठ नागरिक बनकर, दद्दा मैथिलीशरण गुप्त के राम की भांति गर्व और विश्वास के साथ कह सके :

> "संदेश नहीं मैं यहां स्वर्ग का लाया।
> इस वसुधा को ही स्वर्ग बनाने आया।" —साकेत।

11.3. यह कोई दिवा-स्वप्न नहीं हैं। यज्ञ से प्रदूषण-निवारण में निश्चत और आशातीत सफलता मिलती है। पुणे के फर्ग्युसन कालेज के जीवाणुओं-शास्त्रियों ने प्रयोग के रूप में लगभग 10×7×3 मीटर के एक हाल में एक समय का अग्निहोत्र किया।

फलस्वरूप 210 घन मीटर वायु में कृत्रिम रूप में निर्मित प्रदूषण का 77.5 प्रतिशत भाग समाप्त हो गया। उन्होंने यह भी देखा कि एक समय के होम से ही 96 प्रतिशत कीटाणु नष्ट होते हैं। पंजाब केसरी 13.2.83 अंक में छपा था कि अग्निहोत्र से मानसिक रूप से अविकसित बच्चों का बौद्धिक स्तर (आई.क्यू.) भी बढ़ गया। यज्ञ से मनुष्य के मन और विचार सुधरने से प्रदूषण फैलाने के कारणों में कमी होती है। स्वार्थ त्यागकर पर-हित साधनेवाला व्यक्ति जनहित-विरोधी कार्य करने से हिचकेगा और जान-बूझकर, दूसरों को छलकर या धोखे में रखकर कोई जनहित-विरोधी योजना नहीं सोचेगा।

11.4. दो दिसंबर, 1994 की भोपाल की गैस-रिसाव-दुर्घटना के समय होम के चमत्कारी प्रभाव के बारे में 'हिंदू' समाचार-पत्र में श्री के.पी. नारायण ने लिखा था कि "33-वर्षीय श्रीएम.एस. राठौर अपनी पत्नी, चार बच्चों, मां तथा भाई के साथ भोपाल रेलवे स्टेशन के निकट रहते थे। उस क्षेत्र में गैस के विष के फलस्वरूप दर्जनों व्यक्ति मर गए। गैस की जानकारी होते ही श्री राठौर अपने पूरे परिवार को बिठाकर यज्ञ करने लगे और मंत्रों के समाप्त होते ही 'त्रयंबक यज्ञ' (मृत्युंजय मंत्र से आहुतियां देना) शुरू कर दिया। इस परिवार पर गैस का कोई दुष्प्रभाव नहीं पड़ा। इसी प्रकार यज्ञ के कारण श्री एस.एस. कुशवाहा का परिवार भी दुष्प्रभाव से बच गया।

11.5. निष्कर्ष यह है कि पर्यावरण-विज्ञान की शिक्षा संसार में छोटे-बड़े सबको मिलनी चाहिए और बच्चों की शिक्षा में इसे सम्मिलित करना अनिवार्य होना चाहिए। यही कल्याण का मार्ग है जिससे विश्व-शांति संभव है।

ओउम् शांतिः शांतिः शांतिः।
प्रभो! यज्ञमय सार्थक जीवन भा-रत जन-जन पाए।
शांति व्यक्ति में शांति राष्ट्र में शांति विश्व में आए।

नमूना सारणी-1

दिल्ली में वायु-प्रदूषण	आई.टी.ओ. चौक	1.2.99
पैमाना	अधिकतम सीमा (माइक्रोग्राम प्रति घन मीटर)	वास्तविक
सल्फर-डाई-आक्साइड	80	19
नाइट्रोजन-डाई-आक्साइड	80	58
धूल के कण	200	439
कार्बन-मोनो-आक्साइड	2000 (प्रातः 6 से दोपहर 2)	6484
	(दोपहर 2 से रात 10)	8155
	(रात 10 से प्रातः 6)	5985

स्रोत : केन्द्रीय प्रदूषण-नियंत्रण बोर्ड, दिल्ली।

75

पर्यावरण*

दिलीप भाटिया

कटते पेड़
प्रदूषित नदियां
काला धुआं
अम्लीय गैसें
फटे प्लास्टिक
सड़ता कचरा
बढ़ती गर्मी
घटती वर्षा
दूषित वायु
उद्योग अपशिष्ट
सभी कह रहे
चीख चीख कर
प्रगतिशील मानव से
सोचो कुछ तो
कहो मत केवल
करो कुछ तो
बचाओगे हमें
नष्ट होने से
वरना अगली पीढ़ी
कोसेगी तुम्हें
ज़हरीले वातावरण में
वह जी तो लेगी
परंतु घुट-घुट कर
रोग पाल कर
दवाई खा कर
निभाएगी बस
जीने की औपचारिकता
इसलिए
सुनहरे कल के लिए
आज कुछ करना होगा
पर्यावरण को
बचाना होगा।

* विज्ञान, जून 2000

76

साइबर अपराध एवं उपचार*

अरूण कुमार गौतम

कम्प्यूटर बहुत ही तीव्र गति वाला इलैक्ट्रानिक डाटा प्रोसेसिंग उपकरण है, जो न केवल तेजी से सूचनाओं का संग्रह करता है बल्कि उपयोगकर्ता के निर्देश पर संप्रेषित भी करता है। पिछले एक दशक के दौरान, भारत में इलेक्ट्रानिक उद्योग का तेजी से विकास हुआ है। आज शायद ही कोई क्षेत्र है, जीवन का ऐसा पहलू है, ऐसा व्यक्ति है जो या तो इलेक्ट्रानिकी की संभावनाओं पर निर्भर नहीं करता या उसका उपयोग नहीं करता। आज संचार का युग है। सहस्राब्दि से पहले सूचना अथवा संचार के साधनों में मुख्यतः डाक, तार, टेलीफोन, टेलेक्स तथा टेलीप्रिंटर आदि का प्रचलन था। संचार क्रांति के कारण आज हमारे समक्ष सैकड़ों संचार के अत्याधुनिक विकल्प एवं साधन उपलब्ध है। जैसे इंटरनेट, ई-कॉमर्स, फैक्स, ई-मेल, मोबाइल फोन, काम्पेक्ट डिस्क, वेबसाइट आदि। जैसे तो इंटरनेट का प्रारंभ 1969 में हुआ परंतु वर्ल्ड वाइड वेब की शुरुआत 1990 के प्रारंभ में हुई जिसे WWW कहा जाता है। जब इंटरनेट की शुरुआत हुई तो किसी ने यह नहीं सोचा था कि इसका दुरुपयोग होगा अथवा किसी साइबर कानून की आवश्यकता होगी परंतु विज्ञान की हमेशा यह नियति रही है कि जब किसी तकनीकी का अत्याधिक प्रचलन हो जाता है तो उसके दुष्परिणाम आने प्रारंभ हो जाते हैं और शनैः-शनैः उसका दुरुपयोग तथा डुप्लीकेशन भी प्रारंभ हो जाता है। संचार युग से जहां हमें व्यापार क्षेत्र में अत्याधुनिक प्रगति हुई वहां साइबर तथा ई-कॉमर्स के बढ़ते अपराधों के प्रति भी हमें सचेत किया है।

कम्प्यूटर से संबंधित सर्वप्रथम कानून जर्मन राज्य के हेज (Hesse) में सन् 1970 में डाटा संरक्षण अधिनियम के रूप में बनाया गया। जिसमें नाजी शासन के अंतर्गत रिकॉर्डों को बड़े स्तर पर दुरूपयोग किया गया था। इसके पश्चात् 1973 में स्वीडन सरकार ने भी इस संबंध में एक राष्ट्रीय कानून बनाया। अब तक ज्यादातर कम्प्यूटर से संबंधित समस्याओं को साक्ष्य अधिनियम एवं कापीराइट अधिनियम के अंतर्गत ही सुलझाया जाता रहा है। इग्लैंड सरकार ने डाटा के संरक्षण हेतु डाटा प्रोटेक्शन एक्ट

* ऊर्जा दीप्ति, अक्टूबर 2000

1984 बनाया जिसमें डाटा प्रयोग करने के लिए कुछ आठ महत्वपूर्ण सिद्धांत प्रतिपादित किए जिसमें कहा गया कि डाटा का उपयोग उचित एवं विधिक रूप से किया जाना चाहिए। बिना उचित कारण के उस डाटा का खुलासा नहीं किया जाएगा। डाटा जहां भी रखा जाए सुरक्षित, स्पष्ट एवं वास्तविक हो। व्यक्तिगत डाटा को अवैध रूप से हेरफेर करने, खुलासा करने एवं नष्ट करने संबंधी उपायों के लिए उचित दंड एवं कार्रवाई करने का प्रावधान रखा गया।

यह बड़े गर्व कि बात है कि भारत मात्र एक ऐसा देश है जिसके कापीराइट अधिनियम में सभी महत्वपूर्ण साइबर अपराध पहले ही शामिल हैं। इस अधिनियम के अंतर्गत लिटरली वर्क की परिभाशा के अंतर्गत कम्प्यूटर प्रोग्रामिंट, टेबल्स तथा कम्प्यूटर डाटावेस में संकलन आदि शामिल है। कोई भी मौलिक प्रकाशित एवं अप्रकाशित लिटरली कार्य भी इस अधिनियम के अंतर्गत संरक्षित है।

साइबर संबंधी अपराधों में ई-कॉमर्स एवं इंटरनेट उल्लेखनीय है। ई-कॉमर्स से तात्पर्य इलैक्ट्रानिक कॉमर्स से है जिसका मूल अर्थ व्यापार को **इलैक्ट्रॉनिक माध्यम** जैसे इंटरनेट द्वारा संचालित करना। ई-कॉमर्स दो प्रकार अर्थात् व्यापार में व्यापार द्वारा तथा उपभोक्ता से व्यापार द्वारा से होता है। ई-कॉमर्स का सर्वाधिक लाभ व्यापार की सूचनाओं के प्रवाह में वृद्धि करना है। क्योंकि इसी माध्यम से केवल 24 घंटे के भीतर किसी भी व्यापार की स्थिति की वास्तविक एवं स्पष्ट जानकारी मिल जाती है। परंतु इसके माध्यम से व्यापार में प्रतिस्पर्धा व्यापार जोखिम तथा व्यापार पूंजी की स्थिति पर आकस्मिक कब्जा आदि की संभावना रहती है। भारत सरकार के वाणिज्य मंत्रालय ने **इलैक्ट्रानिक कॉमर्स एक्ट** तथा **इलैक्ट्रानिक कॉमर्स सपोर्ट एक्ट** भी तैयार किया है। इलैक्ट्रानिक विभाग द्वारा भी इस पर नियंत्रण सूचना करने के लिए मई, 2000 को एक टेक्नोलॉजी बिल (Information Technology Bill) पारित किया गया। इलैक्ट्रॉनिक कॉमर्स सपोर्ट एक्ट को कारगर बनाने के लिए विभिन्न केंद्रीय अधिनियमों में संशोधन किया गया है। इसके अलावा सूचना टेक्नोलॉजी एक्ट के अंतर्गत डिजिटल हस्ताक्षर पर धाराएं तथा कम्प्यूटर अपराध तथा डाटा संरक्षण से संबंधित मुद्दों को शामिल किया गया है। भारत सरकार ने **डिजीटल हस्ताक्षर** के प्रयोग को प्रभावी बनाने के लिए एक चीफ सर्टीफिकेशन अथारिटी निकाय की स्थापना की है जिसका मुखिया कंट्रोलर ऑफ सर्टीफिकेशन ॲथोरिटी (सीसीए) होता है जो डिजिटल हस्ताक्षर जारी करने से पूर्व इस हस्ताक्षर को सत्यापित करेगा। कंट्रोलर की निगरानी में भी प्रमाणन एजेंसियों को लाइसेंस दिए जाएंगे, जिन्हें डिजिटल हस्ताक्षर के प्रमाणपत्र देने का अधिकार होगा। इस क्षेत्र को और प्रभावशाली बनाने के लिए इंस्टीट्यूट ऑफ कंपनी सक्रेट्रीज ऑफ इंडिया तथा सेंटर फार कारपोरेट रिसर्च एवं ट्रेनिंग को कठोर कदम उठाने होंगे क्योंकि इस क्षेत्र में डिजीटलाइजेंशन कम्यूनिकेशन ट्रेडमार्क, सर्विस मार्क, कॉट्रेक्ट पेटेंट, डोमेन नेम्स, ट्रेड सीक्रेट, इलैक्ट्रानिक सर्विस डिलीवरी, इलैक्ट्रानिक लेन-देन, अवैध सौदेबाजी, सर्विस एग्रीमेंट, तृतीय पार्टी

उत्तरदायित्व, कापीराईट आदि प्रमुख चुनौतियां हैं इसके अतिरिक्त इंटरनेट पर की जाने वाली गैर-कानूनी गतिविधियों को दंडनीय अपराध घोषित किया है। इन साइबर अपराधों की केवल एक डीएसपी स्तर का पुलिस अधिकारी ही छानबीन कर सकता है। इस कानून में एडजुडिकेटिंग आफिसर्स हर प्रकार के उल्लंघन की छानबीन करके पैनल्टी लगा सकते हैं। इस कानून ने इंटरनेट सर्विस प्रोवाइडर्स को भी लपेटे में ले लिया है और उन्हें उनकी सर्विस पर लगभग हर जानकारी के लिए जिम्मेदार ठहराया गया है।

बिट्रेन में विधि आयोग की अंतिम रिपोर्ट प्रकाशित की गई जिसमें कम्प्यूटर दुरूपयोग अधिनियम बनाने की सिफारिश की गई थी जिसे 1990 में अधिनियमित किया गया इसका मुख्य उद्देश्य कम्प्यूटर में अवैध पहुंच को रोकना है।

साइबर अपराध से संबंधित एक महत्वपूर्ण मामला अमेरिका में आया जहां कॉनल यूनिवर्सिटी के एक छात्र ने एक वायरस कार्यक्रम जारी किया जिससे शैक्षणिक संस्थानों के लगभग 6000 कम्प्यूटरों पर काफी विपरीत प्रभाव पड़ा। इस छात्र को यू.एस.कम्प्यूटर धोखाधड़ी एवं दुरूपयोग अधिनियम के अंतर्गत दंडित किया गया। इग्लैंड में कॉक्स बनाम रिले तथा आर बनाम बिटले के मामले में कम्प्यूटर से संबंधित कार्य को क्रीमिनल डैमेज एक्ट 1971 के अंतर्गत दंडित किया। पिछले वर्ष 'आई लव यू' वायरस के माध्यम से भी काफी तादाद में कम्प्यूटरों को क्षति पहुंचाई गई इसमें ई-मेल के माध्यम से वायरस को लिंक किया गया था और सरकार ने शीघ्र ही जांच करके इसको नष्ट किया।

भारत सरकार ने साइबर तथा ई-मेल के बढ़ते अपराधों की तरफ चिंता व्यक्त करते हुए सूचना प्रौद्योगिकी मंत्रालय में केंद्रीय मंत्री श्री प्रमोद महाजन ने एक विधेयक संसद में रखा। 16 दिसंबर 1999 को संसद ने **साइबर कानून और सूचना प्रौद्योगिकी (आईटी) विधेयक 2000** पारित किया। भारत दुनिया का 12वां देश है जिसने साइबर अपराध कानून पारित किया है। इस कानून का मुख्य उद्देश्य देश में इलैक्ट्रानिक कामर्स को मान्यता प्रदान करना और उसके विकास के लिए कानूनी व्यवस्था प्रदान करना है। भारत सरकार ने साइबर तथा ई-कॉमर्स से संबंधित सभी प्रकार के अपराधों पर नियंत्रण करने के लिए भारतीय दंड संहिता 1860 भारतीय टेलीग्राफ एक्ट 1885, जनरल क्लॉज एक्ट 1897 भारतीय संविदा अधिनियम 1872 भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872, बैंकर्स बुक साक्ष्य अधिनियम 1891 तथा भारतीय रिजर्व बैंक 1934 में संशोधन किया गया। नए साइबर कानून को प्रभावी बनाने के लिए इसके अंतर्गत लाइसेंसिंग, मानिटरिंग, सट्रीफिकेशन प्राधिकारी आदि को शामिल किया गया है। सूचना प्रौद्योगिकी (आई.टी.) विधेयक 2000 के अंतर्गत डिजीटल हस्ताक्षर, इलैक्ट्रॉनिक गर्वनर्स, इलेक्ट्रानिक रिकार्डो का आरोपण, पावती तथा प्रेषण ओर डिजीटल रिकार्डो एवं हस्ताक्षरों को सुरक्षित करना, सत्यापन अधिकारी का विनियमन, डिजीटल हस्ताक्षर प्रमाणपत्र, अंशदाता की ड्यूटी और अंत में धारा 43 के अंतर्गत कम्प्यूटर सिस्टम में क्षति करने वाले व्यक्ति पर अधिकतम दस लाख रुपए की क्षतिपूर्ति देने का प्रावधान किया गया है। आईटी कानून की सबसे

महत्वपूर्ण बात यह है कि इसकी धारा 46 के तहत विवादों के निपटारे के लिए नियुक्त अधिकारियों (एडजुडिकेटिंग ऑफिसर) को सिविल कोर्ट की तरह आचरण करने का अधिकार होगा। धारा 61 में स्पष्ट किया गया है कि सिविल कोर्ट को इस मामले में दखल देने का अधिकार नहीं होगा। आई.टी. कानून के उल्लंघन से जुड़े मामलों और विवादों पर विवाद निपटान अधिकारी ही पहली अदालत होगा।

उपर्युक्त धाराओं एवं नियमों को प्रभावी बनाने के उद्देश्य से एक साइबर ट्रिब्यूनल की स्थापना भी की गई है। धारा 65 के अंतर्गत कम्प्यूटर स्रोत दस्तावेजों के साथ हेर-फेर करने या हस्तक्षेप करने पर 3 वर्ष का कारावास या अधिकतम दो लाख रुपए का जुर्माना या दोनों की सजा का प्रावधान है। धारा 67 के अंतर्गत इलैक्ट्रॉनिक फॉर्म में अश्लीलता का प्रकाशन करने के लिए पांच वर्ष की कैद एवं दो लाख रुपए का जुर्माना है। इसके अलावा धारा 70 के अनुसार सरकार राजपत्र में एक अधिसूचना के माध्यम से किसी कम्प्यूटर सिस्टम या कम्प्यूटर नेटवर्क को प्रोक्टिव सिस्टम घोषित कर सकती है और धारा 71 में इस सिस्टम में दुरूपयोग करने पर दो वर्ष का कारावास तथा एक लाख जुर्माना और कम्प्यूटर गोपनीयता तथा विश्वसनयीता के उल्लंघन पर दोषी व्यक्ति को दो वर्ष का कारावास एवं एक लाख रुपए का जुर्माना हो सकता है। धारा 73 में अवैध या झूठे डिजीटल हस्ताक्षर प्रमाणपत्र के प्रकाशन में दंड का प्रावधान है। धारा 76 के अंतर्गत किसी भी कम्प्यूटर, कम्प्यूटर सिस्टम, फ्लापी, कॉम्पेक्ट डिस्क, टेप ड्राइव या अन्य संबंधी उपकरण को जब्त करने का प्रावधान रखा है। इस साइबर कानून में यह स्पष्ट किया गया है कि यह कानून फिलहाल नेगोशिएबल इंस्ट्रमेंट एक्ट, पावर ऑफ एटार्नी एक्ट, ट्रस्ट एक्ट, वसीयत, जमीन-जायदाद की खरीद बिक्री आदि में लागू नहीं होगा।

भारतीय दंड संहिता की धारा 29 में 29 ए, खंड जोड़ा गया है जिसमें इलैक्ट्रानिक रिकॉर्ड शामिल किया गया है। इसके अतिरिक्त धारा 167, 172, 173, 175, 192, 204, एवं 463-77 में भी संशोधन किया गया है। भारतीय साक्ष्य अधिनियम 1872 की धारा 3 में साक्ष्य की परिभाषा में सर्टिफाइंग अथॉरिटी, डिजीटल हस्ताक्षर, डिजीटल हस्ताक्षर प्रमाण पत्र, इलैक्ट्रानिक कार्य, इलैक्ट्रानिक रिकार्ड, सूचना अंशदाता, सिक्योर डिजीटल हस्ताक्षर आदि शामिल किए गए हैं। इस अधिनियम की धारा 17 के अंतर्गत मौखिक या दस्तावेजी साक्ष्य में इलैक्ट्रानिक फॉर्म भी शामिल किया गया है। बैंकर्स बुक साक्ष्य अधिनियम 1891 की धारा 2 एवं 31 में बैंकर्स बुक की परिभाषा में संशोधन किया गया है। भारतीय रिजर्व बैंक अधिनियम 1934 की धारा 58 की उपधारा 2 एवं 2 (पी) में खंड (पी पी) शामिल किया है। इस नए खंड (पी पी) के अनुसार वित्तीय संस्थानों एवं बैकों के बीच इलैक्ट्रानिक के माध्यम से निधि हस्तांतरण का विनिमयन है।

एक तरफ जहां सूचना प्रौद्योगिकी से जुड़ी सेवाओं की दुनिया भर में मांग बढ़ रही है। दूसरी तरफ इसके विपरीत परिणाम भी आने प्रारंभ हो गए हैं। देखा गया है कि

प्रत्येक सरकार कम्प्यूटर के दुरुपयोग एवं सूचना प्रौद्योगिकी में अवैध हस्तक्षेप पर नियंत्रण रखने के लिए सख्त नियम एवं कानून बनाने के लिए प्रयासरत है। पिछले वर्ष अगस्त 2000 में दिल्ली पुलिस ने ऐसे वेब डिजाइनर को गिरफ्तार किया जो एक फर्म से एक लाख रुपए वसूलने का प्रयास कर रहा था। इस डिजाइनर ने धमकी दी थी कि यदि उसे एक लाख रुपए नहीं दिए गए तो वह उनकी वेबसाइट पर स्थानांतरण प्रक्रिया तथा पासवर्ड नहीं बताएगा। जिसके परिणामस्वरूप फर्म को कई अंतर्राष्ट्रीय आर्डर न मिल सकें और फर्म ने अपराध शाखा में शिकायत की और पुलिस ने वेब डिजाइनर को गिरफ्तार करके उसके विरुद्ध भारतीय दंड संहिता की धारा 406/384 तथा कापीराइट अधिनियम की धारा 63 तथा टीएमएम अधिनियम की धारा 78/79 के अंतर्गत मुकदमा चलाया।

आज भारत में कम्प्यूटर संबंधी समस्याओं एवं अपराधों को कारगर ढंग से नियंत्रित किया जा रहा है। विश्व में भारत के आई. टी. प्रोफेसरों की मांग दिन-प्रतिदिन बढ़ रही है और भारतीय कम्प्यूटर संबंधी सभी समस्याओं को बेहतर एवं निष्पक्षता से सुलझाया जा रहा है।

सुरक्षित रहेगा नश्वर शरीर का प्रत्येक पुर्जा*

सूर्यभान सिंह 'सूर्य'

शवों को सुरक्षित रखने का काम हजारों वर्ष पहले शुरू हो गया था। वैसे तो मृत शरीर को सामान्य अवस्था में दो दिन से अधिक रख पाना मुमकिन नहीं है, परंतु इसके लिए तरह-तरह की तकनीकें इस्तेमाल की जाती हैं। संरक्षित किए गए इन मृत शरीरों को ममी कहा जाता है। प्राचीन मिस्र के पश्चिमी रेगिस्तान में एक ही स्थान पर लगभग दस हजार ममी होने का पता चला है, जो अनुमानतः 330 ईसा पूर्व से 400 ईसवी सन् के दौरान यहां रखी गईं। इसके अलावा कई देशों में मानव के कई अन्य महत्वपूर्ण अंगों के संग्रहालय स्थापित किए गए हैं। इग्लैंड के विकफोर्ड नामक शहर में स्थापित निक कोर्सेलिस **संग्रहालय** दुनिया में अब तक ज्ञात सबसे बड़ा मानव मस्तिष्क संग्रहालय है। यहां विश्व के लगभग 8000 व्यक्तियों के मस्तिष्क सुरक्षित रखे गए हैं।

मानव शरीर के इस रहस्यमय पुर्जे का दूसरा सबसे बड़ा जखीरा अमेरिका के पास मौजूद है। यहां के दो ब्रेन बैंक विश्व में अपना खास स्थान रखते हैं। इसी तरह कुछ अन्य जीवधारियों को भी मनोरंजन अथवा अध्ययन के दृष्टिकोण से सुरक्षित रखा जाता है।

मनुष्य के शवों को सुरक्षित रखने के लिए अब तो कई देशों के बीच एक होड़ सी शुरू हो गई है। अमेरिका पिछले दो-तीन वर्षों से मृत मानव शरीरों का आयात भी कर रहा है। इससे उसे तरह-तरह के शव मिल जाते हैं—स्वस्थ भी, रोगग्रस्त भी। यहां इन शवों से प्राप्त मानव शरीर के विभिन्न कलपुर्जों की पहचान करके संग्रहालयों में सजाया जाता है। स्वस्थ पुजों को अलग और अस्वस्थ अंगों को अलग इसके अतिरिक्त समूचे इंसानी शव भी संग्रहीत किए जाते हैं—छोटे-मोटे, दुबले-पतले, लंबे, हर तरह के। वैसे तो इंसानी लाशों का यह आयात काफी छोटे पैमाने पर होता है, लेकिन इस पर विवाद भी खड़े हो रहे हैं। कुछ भी हो, कारोबार है तो आखिर इंसानी लाशों का।

अब आपको तो यह पता चल ही गया होगा कि इसी तरह मानव शरीर के प्रत्येक

---

* विज्ञान, अक्टूबर 2000

पुर्जे को सुरक्षित रखकर एक संग्रहालय तैयार किया जा सकता है, और ऐसा हो भी रहा है। लेकिन यह सब संभव कैसे हुआ? पूर्व की कई सदियों की तुलना में हाल के दो वर्षों में इस दिशा में आई क्रांति और सफलता का कारण क्या है? कारण यह है कि पूर्व की अपेक्षा अब इन शवों और मृत अंगों को संरक्षित रखने की प्रौद्योगिकी काफी परिष्कृत हो गई है। यह क्रांतिकारी परिवर्तन कर दिखाया है **प्लास्टिनेशन प्रौद्योगिकी** ने। संरक्षण की पारंपरिक विधियों से यह तकनीक़ कहीं ज्यादा बेहतर साबित हुई है। इसके जरिए संरक्षित किए गए मानव शरीर के अंग व समूचे जिस्म गंधहीन, सूखे व लंबी अवधि के लिए सुरक्षित हो जाते हैं। प्लास्टिनेशन तकनीक द्वारा संरक्षित लाशों को प्लास्टिक शरीर के नाम से जाना जाता है। यह तकनीकी अभी सिर्फ दो वर्ष पूर्व विकसित की गई थी, अतःविश्व के कुछ गिने-चुने देशों में ही प्रचलित है।

शवों को सुरक्षित रखने के लिए प्लास्टिनेशन का इस्तेमाल इस तरह अमेरिका व जर्मनी में बड़े पैमाने पर होने लगा है। यहां मृत शरीरों को संग्रहालयों में सजाया जाता है और समय-समय पर इनकी प्रदर्शनी लगाई जाती है। जर्मनी में एक ओर जहां समूचे शवों का संग्रह एवं प्रदर्शन प्रमुखता से किया जाता है वहीं अमेरिका में शवों के साथ-साथ विभिन्न मानव अंगों यथा गुर्दा, दिल, फेफड़ा इत्यादि का संग्रह भी होता है। यहां लगने वाली प्रदर्शनियों का गणित दूसरा है। कुछ इस तरह समझ लीजिए कि एक प्रदर्शनी में एक स्वस्थ मनुष्य की लाश रखी गई है। बगल में एक कैंसरग्रस्त फेफड़ा रखा गया। इस तरह देखने वाले लोग दोनों में अंतर समझ सकते हैं। इस दृष्टि से शैक्षिक उपयोगिता समझी जा सकती है। इसीलिए यहां किसी प्रकार की बाधाएं नहीं है, जबकि हाल ही में जर्मनी के मैनहाइम शहर में 'ह्यूमन बॉडी वर्ल्ड्स' नाम से लगने वाली एक प्रदर्शनी को भारी विरोध का सामना करना पड़ा। लोगों की दलील थी कि मरणोपरांत व्यक्ति की लाशों का प्रदर्शन उनकी तौहीन है जिसे कदापि उचित ठहराया ही नहीं जा सकता।

खैर, आपको यह भी बता दूं कि मुर्दों का प्लास्टिनेशन किया कैसे जाता है। इसके चार चरण हैं पहला-शव को कड़ा करने का, जिसके कारण ये सड़ने से बच जाते हैं। जैव-संग्रहालयों में हम तरह-तरह के जीव-जंतु-चूहा, मेढ़क, गिलहरी इत्यादि के शव सही सलामत पानी जैसे किसी द्रव में तैरते हुए देखते हैं। यह फार्मेल्डीहाइड होता है। **फार्मेल्डीहाइड में डालने पर शव के अंग सिकुड़ जाते हैं और कड़ापन आ जाता है।** पारंपरिक तौर पर इसी के जरिए मृत शरीरों को संग्रहित किया जाता रहा है। प्लास्टिनेशन तकनीक में दूसरा चरण है डिहाइड्रेशन या निर्जलीकरण। शव को किसी ऐसे विलायक में डाला जाता है जो इसका सारा पानी सोख ले। यह विभिन्न अंगों में मौजूद चर्बी को पूरी तरह घुलाकर बाहर निकाल देता है। विशेष तौर पर यह विलायक ऐसा होना चाहिए जो आसानी से वाष्पित हो जाए। अब तक एसीटोन ही सबसे आदर्श विलायक है। उक्त प्रौद्योगिकी का तीसरा चरण है तरल पॉलीमर डालने का। इस पॉलीमर में धीमी

अभिक्रिया करने वाला एक 'क्रास लिंकर' भी मिलाया जाता है। यह क्रास लिंकर पॉलीमराइजेशन प्रक्रिया को उत्प्रेरित करता है। फिर पॉलीमर समेत शरीर को निर्वात में रखा जाता है, जिससे एसीटोन उड़ जाता है और धीरे-धीरे पॉलीमर उसकी जगह ले लेता है। अब पतले टुकड़ों में कटी लाश को शीशे की दो पतली प्लेटों के बीच दबाकर पॉलीमर के जरिए मूल सूरत में ढालना पड़ता है। संरक्षित किए जा रहे शव को मूल आकार-प्रकार मिलने पर पॉलीमर को पुनः कड़ा किया जाता है। पॉलीमर की प्रकृति के अनुसार गैसीय उत्प्रेरक या पराबैंगनी किरणों और ताप का इस्तेमाल किया जाता है। यहां इस्तेमाल होने वाला पॉलीमर अमूमन सिलिकॉन का होता है, क्योंकि यह शरीर को लचीला और प्राकृतिक सी अवस्था में रखता है। शरीर के विभिन्न अंगों यथा दिमाग के टुकड़ों और दिल को सुरक्षित रखने के लिए इपॉक्सी रेजिनों का उपयोग किया जाता है। उदाहरण के लिए पॉलीएस्टर का प्रयोग दिमाग के मामले में होता है।

इतना सब जानने के उपरांत आपके मन में यह जिज्ञासा जरूर पैदा हो रही होगी कि आखिर वह महानुभाव थे कौन और कहां के रहने वाले थे, जिनके दिमाग में मुर्दों की सुरक्षा का विचार आया। तो ये महाशय थे जर्मनी के प्रसिद्ध वैज्ञानिक **गुंथर वॉन हैगेंस**। इतना ही नहीं, जर्मनी में लगी जिस 'ह्यूमन बॉडी वर्ल्डस' नामक प्रदर्शनी का व्यापक विरोध पिछले दिनों हुआ, उसके जनक भी यही महानुभाव हैं। जर्मनी के मैनहाइम शहर में यह प्रदर्शनी 1998 में लगी थी, जबकि प्लास्टिनेशन प्रौद्योगिकी की खोज उन्होंने सन् 1978 में की थी। यह खोज वास्तव में बड़ी दिलचस्प और महत्वपूर्ण है। जिस हाड़-मांस के शरीर को हम हमेशा नश्वर और चलायमान कहते रहे हैं, अब उसका प्रत्येक पुर्जा, सदियों तक सुरक्षित रह सकता है। इन्हें हम विभिन्न संग्रहालयों में एक जगह रखा हुआ पाएंगें।

किसी अजूबे से कम नहीं मस्तिष्क संग्रहालय

समूचे मानव शरीरों की ही भांति इंग्लैण्ड में मानव मस्तिष्कों का संग्रहालय स्थापित किया गया है। इंग्लैण्ड का एक शहर है विकफोर्ड। विकफोर्ड द्वितीय विश्वयुद्ध के दौरान हवाई हमलों से बचाव हेतु दक्षिणी इंग्लैंड का सुरक्षित केंद्र रहा है। लेकिन आज यहां एक ऐसा अजूबा संग्रहालय मौजूद है जहां सुरक्षित हैं लगभग 8000 मानव मस्तिष्क। निश्चित तौर पर यह दुनिया में अपने किस्म का अनोखा संग्रहालय है और यहां जमा दिमागों में दुनिया के तमाम अनसुलझे रहस्य भी सुरक्षित हैं।

इस संग्रहालय को **कोर्सेलिस संग्रहालय** कहा जाता है। इसका नामकरण इसके संस्थापक प्रो. निक कोर्सेलिस के नाम पर हुआ है। इस समय डॉ. क्लाइव बर्टन इसके व्यवस्थापक हैं। डॉ. क्लाइव बताते हैं कि पिछले चार दशक से यहां मस्तिष्कों का संग्रह किया जा रहा है। इन्हें कांच के बर्तनों में संरक्षण द्रव फार्मेल्डीहाइड या रेफ्रीजरेटरों अथवा दक्षिणी इंग्लैंड की ऐसेक्स कार्डरी स्थित रनवेल साइकाट्रिक अस्पताल में प्रयोगशाला की

स्लाइडों पर सुरक्षित रखा जाता है। संग्रहालय में रखे अधिकांश मस्तिष्क तो खुद रोगियों या उनके रिश्तेदारों ने दान में दिए हैं।

डॉ. क्लाइव का कहना है कि अलजाइमर जैसे रोगों के कारण मरने वाले रोगियों के रिश्तेदार मृतक का मस्तिष्क दान करने के लिए उत्सुक रहते हैं। वे चाहते हैं कि इस रोग के बारे में यथाशीघ्र जानकारी हो जाए ताकि आगे से कोई मरीज इसका शिकार न हो। खैर, यहां आज कई दिमागी बीमारियों पर गहन शोध-अध्ययन जारी है। कई रोगों के संबंध में प्राथमिक जांच रपट तैयार की गई है। क्लाइव के हवाले से पिछले दिनों एक विदेशी पत्रिका में कहा गया था कि संग्रहालय से संबद्ध वैज्ञानिकों ने ही एक दशक पहले यह साबित कर दिखाया था कि **सीजोफ्रीनिया के रोगी का दिमाग असामान्य होता है।** इसके पूर्व तो इसे सिर्फ कार्य की गलती के रूप में लिया जाता था। यहां मस्तिष्क रोगों के संबंध में तमाम शोधार्थियों के लिए कई-कई सालों तक काम करने का पूरा साभान उपलब्ध है। इस अस्पताल के व्यवस्थापकों और ब्रितानी चिकित्सा शोध परिषद् को दो साल का समय तमाम तरह के दिमागों की सूची तैयार करने में ही लगा था।

इन दिनों यहां आनुवंशिक, आपराधिक व तंत्रिका-तंत्र की गड़बड़ियों के संदर्भ में मानव मस्तिष्क पर व्यापक शोधकार्य चल रहा है। डॉ. क्लाइव इन दिनों एक ब्रितानी जेल अस्पताल की ओर से मनुष्य की आपराधिक प्रवृत्तियों पर शोधरत हैं। उनका कहना है कि आनुवंशिक मस्तिष्क क्षति या फिर ढांचागत मस्तिष्क क्षति के कारण लोगों में आपराधिक प्रवृत्तियां घर कर लेती हैं।

विशेषज्ञों का मानना है कि यह संग्रहालय मानव मस्तिष्क और मस्तिष्क के विभिन्न पुर्जों के मामले में दुनिया का सबसे वृहद् भंडार है। पूरे विश्व के वैज्ञानिकों के लिए दिमागी बीमारियों पर शोध-अध्ययन करने का यह एक सुनहरा मौका है। बीमारी चाहे चोटजनित हो या फिर आनुवंशिक। यह भूमिगत अजूबा संग्रहालय अब तक कई अजूबे हल कर चुका है। सन् 1973 में यहां पहली बार अंतर्राष्ट्रीय व राष्ट्रीय स्तर के 15 मुक्केबाजों के मस्तिष्क प्रदर्शित किए गए और इस खेल के साथ मिलने वाली दिमागी हानि को स्पष्ट किया गया। संग्रहालय की रपट के कारण ही मुक्केबाजी संगठनों को अपने नियमों में बदलाव लाना पड़ा। कई विश्व चैंपियनशिप प्रतियोगिताओं में राउंड्स की संख्या 15 से घटकर 12 कर दी गई।

कुछ भी हो, दिमागी रहस्यों को सुलझाने की दिशा में यह अभूतपूर्व प्रयास है। मानव शरीर की इस अजूबी संरचना को संग्रहालय में सजाकर रखना (इतनी बड़ी तादात में) भी अब तक का सबसे बड़ा अजूबा है। परंतु, यह सब नई प्लास्टिनेशन प्रौद्योगिकी की सहायता से अब आसान हो चला है।

शव संग्रह की मिसाल है 'वैली ऑफ ममीज'

पिरामिडों के लिए मिस्र का नाम दुनिया भर में विख्यात है। मिस्र का प्राचीन इतिहास भी

कम दिलचस्प नहीं है। परंतु, कुछ साल पहले यहां एक ऐसे अजीबोगरीब संग्रहालय का पता चला है, जिसकी कोई मिसाल नहीं। यह संग्रहालय है, इंसानी शवों का, लेकिन अभी तक यह पता नहीं कि इसका निर्माण आखिर किसने और क्यों कराया होगा?

मानव शरीरों का यह विशाल संग्रह मिला है मिस्र के पश्चिमी रेगिस्तान के समीप। विशेषज्ञों का कहना है कि इस जगह पर लगभग दस हजार ममी (मानव लाशें) होने का अनुमान है। बस इसी खूबी के चलते इस स्थान का नाम 'वैली ऑफ ममीज' यानी 'ममी की घाटी' रख दिया गया है। ममी घाटी की सुरक्षा व्यवस्था काफी चुस्त-दुरुस्त कर दी गई है और सरकार इसकी पूरी देख-रेख भी कर रही है।

इस ममी घाटी की खोज कैसे हुई? यह अत्यंत रोचक बात है। पहले कई बार सुना गया कि आविष्कार अचानक होते हैं या दुर्घटनावश, परंतु यकीन आसानी से नहीं होता। लेकिन वैली ऑफ ममीज की खोज भी एक दुर्घटना ही है। पुरातत्ववेत्ताओं की एक टीम यहां से गुजर रही थी कि इनका सामान लादने वाला गधा अचानक फिसल गया। यह दल पहले से ही काफी परेशान था। अब एक और मुसीबत गले में पड़ गई। पुरातत्ववेत्ताओं का दल अभी अपने काम में फिसड्डी ही रहा था। खैर, गधे को उठाया गया। इतने में यहां कुछ कच्चे-पक्के प्राचीन ढांचे नजर आए। पास ही में एक नखलिस्तान की सफाई की गई तो खोजी दल की खुशी चार गुनी हो गई। प्राचीन काल से सुरक्षित रखी ममीज का यहां विशाल समुद्र सा दिखाई पड़ा।

मिस्र के अधिकारियों का मानना है कि ये ममीज 330 ईसा पूर्व से 400 ईसवी के मध्य की हैं। अधिकांश में तो शराब के देवता 'बेस' के चिन्ह हैं और यहां बेस देवता का एक मंदिर भी मिला है। कई ममीज के मुखौटे सोने के हैं। ममीज के साथ मिट्टी के बरतन, तांबा, वाहन और अंतिम संस्कार में प्रयुक्त होने वाले अन्य सामान्य भी पाए गए हैं। सरकार ने समस्त ममीज को बहरिया व काहिरा के अजायबघरों में सुरक्षित रखने का निर्णय किया है।

कुछ भी कहें, लेकिन हजारों साल तक इन हजारों मानव शवों (ममी) का इस भांति रेत के बियावान में सुरक्षित रहना एक सिाल है। इससे प्राचीन मिस्रवासियों की उन्नत प्रौद्योगिकी का अंदाजा लगाया जा सकता है।

78

मोती-संवर्धन*

प्रेमचंद्र श्रीवास्तव

मोती के आभूषण सदैव से आकर्षण के केंद्र रहे हैं। नैसर्गिक रूप से पाए जाने वाले मोती आमतौर से छोटे, असममित और दुर्लभ होते हैं, क्योंकि ये कभी-कभार ही पाए जाते हैं। इसके विपरीत संवर्धित मोती बड़े, सुडौल और मनचाहे रूप-रंग वाले होते हैं। अब ऐसी वैज्ञानिक विधियां विकसित कर ली गई हैं, जिनकी सहायता से भारत सहित अनेक देशों में मोती की खेती सफलतापूर्वक की जा रही है।

तोकिशी निशिकावा ने बीसवीं शदी के प्रथम दशक (1907) में मोती-संवर्धन के लिए जिस वैज्ञानिक तरीके की खोज की वह **'पर्ल सैक थियरी'** (pearl sack theory) के नाम से संपूर्ण विश्व में जानी जाती है। सार रूप में इस सिद्धांत के अनुसार जब कोई विजातीय सूक्ष्मकण किसी विशेष परिस्थिति में सीप (Oyster) के शरीर में प्रविष्ट हो जाता है तो सीप के शरीर के आवरण या बाह्यभित्ति की मोती बनाने वाली कोशिकाएं सक्रिय हो उठती हैं और कोशिका-विभाजन के द्वारा विजातीय वस्तु के चारों ओर एक झिल्लीनुमा थैली बना लेती हैं। यह थैली मुक्तास्तर (nacre) स्रावित करती है, जिसका जमाव विजातीय वस्तु पर होने लगता है और अंततः नैसर्गिक मोती तैयार हो जाता है। किंतु प्राकृतिक रूप से बनने वाला इस प्रकार का मोती निस्संदेह दुर्लभ होता है।

संवर्धित मोती मानव हस्तक्षेप का परिणाम है। सूक्ष्म कणिकीय वस्तु (Shell bead) को 'केंद्रक' (Nucleus) के रूप में सीप की बाह्यभित्ति (mantle) ऊतकों के छोटे टुकड़े के साथ सीप की जननग्रंथि में प्रविष्ट कराकर सीप को सागर में छोड़ देते हैं। इस प्रकार हम जिस आकार-प्रकार, रूप-रंग का मोती चाहें, तैयार कर सकते हैं। बस आवश्यक है सही आकार-प्रकार के 'केंद्रक' के चुनाव की।

भारतीय मोती-सीप (पिंक्टाडा फुकाटा-*Pinctada fucata)* मन्नार की खाड़ी में कड़े आधार, जिसे पार्स (paars) कहते हैं और कच्छ की खाड़ी में पाए जाने वाले प्रवालभित्ति या समुद्री चट्टान, जिसे खाद्दार (khaddar) कहते हैं, पर भली भांति पलते बढ़ते हैं। इसी प्रकार मोती पैदा करने वाले काले मुंह वाले सीप (पिंक्टाडा मार्गेरिटिफेरा-

* विज्ञान, फरवरी 2000

Pinctada mrgaritifera) अण्डमान जल में 1-5 मीटर की गहराई में कम संख्या में पाए जाते हैं, जैसे कुछ सीप रास्ता भटक जाने से आ गए हों। किंतु इन दोनों प्रकार की जगहों में मोती-संवर्धन उद्योग लगाना संभव नहीं क्योंकि दो सफल खेतियों के बीच असफल मौसम आते हैं। इस प्रकार की अनियमित खेती के कारण यह निर्णय लिया गया कि क्यों न वैज्ञानिक तरीके से मोती की विधिवत् खेती की जाए।

भारत में मोती-संवर्धन के लिए 1972 में टुटिकोरिन में एक शोध परियोजना का शुभारंभ हुआ। टुटिकोरिन से, 22 किलोमीटर की दूरी पर, उत्तर दिया में एक प्रयोगशाला स्थापित की गई। इस कार्य में लगे वैज्ञानिकों का कठिन परिश्रम और लगन तब रंग लाई जब जुलाई 1973 में एक बिल्कुल गोल मोती तैयार कर लिया गया। सच पूछिए तो इस सफलता से भारत में मोती-संवर्धन का मार्ग प्रशस्त हो गया। भारतीय वैज्ञानिकों ने स्वदेशी तकनीक विकसित कर ली। धीरे-धीरे सागर में मोती की खेती के लिए 'बेड़ा संवर्धन विधि' (Raft culture system) पूरी तरह से कारगर बना ली गई। इसी बीच 'केंद्रक' को सीप के शरीर में प्रविष्ट कराने के लिए शल्य-क्रिया उपकरणों (औज़ारों) में सुधार कर लिया गया, मोती जिस प्रकार बनता है, इसका विधिवत् अध्ययन किया गया, वप्पालोदई फार्म के पर्यावरण का अध्ययन किया गया और कुछेक वैज्ञानिक (क्रियात्मक) प्रयोग किए गए। मोती-संर्वधन के क्षेत्र में अनुसंधानरत वैज्ञानिकों को 1981 में एक और बड़ी उपलब्धि हुई जब वैज्ञानिकों ने 'अण्डज उत्पत्ति तकनीक' (hatechery technology) का विकास कर लिया।

मोती-संवर्धन में किसी सीप (दाता) की बाह्यभित्ति के ऊतक (इपीथिलियम epithelium) के एक छोटे से टुकड़े को एक दूसरी सीप (प्रापक) की जननग्रंथि (gonad) में शल्प-क्रिया द्वारा प्रविष्ट कराते हैं। इसके बाद सूक्ष्म 'केंद्रक' (Nucleus) को बाह्यभित्ति ऊतक के संपर्क में ले जाकर छोड़ देते हैं। बाह्य इपीथिलियम का प्रत्यारोपित ऊतक, 'केंद्रक' को चारों ओर से घेर लेता है (कोशिकाविभाजन द्वारा) और एक झिल्लीनुमा थैली का निर्माण कर देता है। अब इपीथिलियम कोशिकाएं मुक्तास्तर स्रावित करने लगती हैं। यह स्राव 'केंद्रक' के ऊपर जमने लगता है और इस प्रकार मुक्तास्तर का निर्माण होता जाता है और अंततः मोती तैयार हो जाता है। 'केंद्रक' का रंग-रूप मोती के रंग-रूप को निर्धारित करता है।

इस प्रकार संवर्धन पद्धति से तैयार किए गए मोतियों में मूल्य निर्धारण की दृष्टि से 20 प्रतिशत उच्च गुणवत्ता वाले और 40 प्रतिशत कुछ कम गुणवत्ता वाले होते हैं, जिनको बाज़ारों में ले जाने के पूर्व विरंजन (bleaching) किया जाता है। शेष 40 प्रतिशत बाजारों में बिकने लायक नहीं होते हैं।

इस क्षेत्र में अनुसंधान करने वाले वैज्ञानिकों में के. अलगरास्वामी, एस. धर्मराज, टी.एस. वेलायुद्धन, ए.सी.सी. विक्टर, पी.एस.बी. आर जेम्स, नायर, के नागप्पन, के.एस. राव, एम.आई. राजापाण्डियन, सी.पी.गोपी-नाथन, ए.डी.गांधी, एम.वेलु, एस.जेड. कासिम जैसे वैज्ञानिकों के नाम विशेषरूप से उल्लेखनीय हैं।

भारत में मोती-संवर्धन का भविष्य निस्संदेह उज्जवल है।

कार्बनिक खेती*

डॉ. शिवगोपाल मिश्र

कार्बनिक खेती या कार्बनिक कृषि अंग्रेज़ी शब्दद्वय Organic farming का शब्दानुवाद है। हाल ही में इस पारिभाषिक शब्द का प्रचलन बढ़ा है अतः इसका वास्तविक अर्थ क्या है, इसके पीछे कौन सा वैज्ञानिक तथ्य निहित है, इसका विस्तार क्या है आदि की सही-सही जानकारी पाठकों तक पहुंचनी आवश्यक है।

'कार्बनिक खेती' खेती करने की कोई नई विधा नहीं है। हमारे देश के किसान अति प्राचीन काल से कार्बनिक खेती का अभ्यास करते रहे हैं क्योंकि खेतों को उपजाऊ बनाने के लिए कार्बनिक खादों के अलावा कोई अन्य साधन उपलब्ध नहीं था। गोबर की खाद तथा सड़ी-गली पत्तियों की कार्बनिक खाद खेतों में डाली जाती थी और जो उपज मिलती थी वह सभी प्रकार के संदूषणों या प्रदूषणों से मुक्त होती थी। फलतः फसलों से प्राप्त अन्नों का उपयोग करने वाले भारतवासी हृष्ट-पुष्ट रहते थे, उन्हें इन अन्नों के माध्यम से कोई रोग नहीं होते थे। परन्तु कृत्रिम उर्वरकों के प्रचलन के बाद, विशेषतया 1960 के बाद, जिस तरह उर्वरकों के प्रयोग में वृद्धि हुई है और अधिक उपज लेने के फेर में कीट-नियंत्रण के लिए जिस तरह से कीटनाशियों का अनाप-शनाप उपयोग किया जाने लगा है, उसके कारण अब यह अनुभव किया जाने लगा है कि खेती का वर्तमान स्वरूप, उसकी उर्वरण तथा कीट-नियंत्रण की विधियां मानव-स्वास्थ्य के लिए घातक हैं।

कृत्रिम उर्वरक कुछ हद तक आवश्यक एवं लाभप्रद हैं क्योंकि हमारे किसान इतनी कार्बनिक खाद नहीं जुटा पाते जितनी की आवश्यकता है। किंतु खेतों में उर्वरकों की अधिक मात्रा डालने से भूमि-उर्वरता में वृद्धि होने के बजाय क्रमशः उसमें ह्रास आता जाता है। इसका कारण यह है कि मिट्टियों की भौतिक दशा खराब होती जाती है और अंत में उनमें क्षारीयता अथवा अम्लता जैसी व्याधियां घर करती जाती हैं जिससे कालांतर में ऐसे भूखंडों को छोड़ देना पड़ता है। आज जबकि जनसंख्या में लगातार वृद्धि हो रही है, इस तरह अनेक भूखंडों को अनुर्वर बनना उचित नहीं है। इसे रोकने के लिए कार्बनिक खादों का प्रयोग अनिवार्य है।

* विज्ञान, फरवरी 2000

सौभाग्यवश आधुनिक अनुसंधानों से गोबर की खाद या परंपरागत कार्बनिक खादों के अतिरिक्त हरी खादें, वर्मीकम्पोस्ट, अवपंक, जैव-उर्वरक जैसे अन्य स्रोत जुटाए जा चुके हैं जिनके सामयिक तथा समुचित मात्रा में प्रयोग से मिट्टी में जैव अंश की पूर्ति की जा सकती है। हमारे किसान इन खादों को आसानी से अपना सकते हैं। इस तरह खेतों में कार्बनिक खादों को डालकर उत्तम फसलें उगाई जा सकती हैं।

विश्व के अनेक विकसित राष्ट्रों में कार्बनिक खेती को एक नया आयाम मिला है। पर्यावरण प्रदूषण से त्रस्त एवं भयभीत विकसित राष्ट्रों के नागरिक **ऐसे उत्पादों के ही उपयोग पर बल दे रहे हैं जो कार्बनिक खेती द्वारा उत्पन्न किए गए हैं।** ऐसे उत्पादों को वे 'कार्बनिक खाद्य' (Organic food) कहते हैं। यह किसी अंधविश्वास का सूचक नहीं है अपितु उर्वरकों तथा कीटनाशियों के अत्यधिक प्रयोग से जिस तरह खाद्य पदार्थों की गुणवत्ता में गिरावट आई है, जिसके कारण समाज में नाना प्रकार के रोगों का प्रसार हुआ है, उससे प्रबुद्ध नागरिक आतंकित हों तो इसमें आश्चर्य की कोई बात नहीं है वस्तुतः रासायनिक उर्वरकों तथा कीटनाशियों के अंधाधुंध प्रयोग से फसलों में तमाम विषैले पदार्थ संचित हो रहे हैं। अतः जब इनसे प्राप्त उत्पादों का उपयोग मनुष्यों द्वारा या पशुओं द्वारा होगा तो नए विषैले पदार्थ उनके शरीर में संचित होंगे और उनमें तरह तरह के रोग उत्पन्न होंगे। ये प्रबुद्ध नागरिक जानबूझ कर मक्खी निगलने वाले नहीं। 'कार्बनिक खाद्य' के लिए उनका विशेष आग्रह है कि विकासशील राष्ट्र, जहां से बहुत सी खाद्य सामग्री उन तक पहुंचती है, स्वीकृत मानदंड की हो, उत्पन्न करें।

कार्बनिक खेती वस्तुतः **नए सिरे से नए मानदंडों के अंतर्गत कृषि की नवीन विधा को अपनाने का आह्वान है।** विशेषतया सब्ज़ी उत्पादों के बढ़ते निर्यात की दृष्टि से कार्बनिक खेती महत्वपूर्ण है। सब्जियों के उत्पादन में न केवल अधिक मात्रा में उर्वरकों का प्रयोग होता है अपितु अनेक प्रकार के कीटनाशियों का प्रयोग आवश्यक है। किंतु अधिक कीटनाशियों के लगातार प्रयोग से कीटों में इन रसायनों के प्रति सहनशीलता या प्रतिरोधकता बढ़ती जा रही है। अधिक कीटनाशी कीटों को मारने में नहीं अपितु सब्जियों पर अपना पर्याप्त अवशेष छोड़ने में योगदान करते हैं। ये अवशेष सब्जियों के द्वारा मनुष्यों के शरीर में पहुंचकर नाना प्रकार के रोग उत्पन्न करने वाले हैं।

फलतः कार्बनिक खेती के द्वारा इन उर्वरकों के प्रयोग को घटाना होगा और जैविक नियंत्रण द्वारा कीटों को नियंत्रित करना होगा। उदाहरणार्थ, टमाटर और भिण्डी में छेद करने वाले कीटों का नियंत्रण **ट्राइकोग्रेमा** द्वारा, भिंडी, मिर्च तथा लोबिया के माह कीट का नियंत्रण **क्राइसोपेरला कोर्निया** द्वारा संभव है। टमाटर में छेद करने वाले कीट के नियंत्रण हेतु एक विषाणु (एच.ए.एन.पी.वी.) बहुत लाभप्रद सिद्ध हुआ है। इस तरह कीटनाशियों का प्रयोग क्रमशः घटाया जा सकता है।

वैसे कार्बनिक खेती से अधिकांश खाद्यान्नों की गुणवत्ता में सुधार संभव है किंतु

सब्जियों की गुणवत्ता सुधारने के लिए नए-नए आयाम ढूंढ़े जा रहे हैं। उदाहरणार्थ टमाटर, गाजर और काशीफल में बीटा और **कैरोटीन** (विटामिन ए का स्रोत) की मात्रा बढ़ाने वाले **जनन द्रव्य** की खोज की जा चुकी है। इसी तरह मिर्च, टमाटर में **ऐस्कार्बिक अम्ल** (विटामिन सी) की मात्रा बढ़ाने वाला जनन द्रव्य भी खोजा जा चुका है। सब्जियों में प्रोटीन की मात्रा तथा गुणवत्ता के सुधार की भी आवश्यकता है। जनन द्रव्यों से पत्तीदार सब्जियों में लोह की मात्रा बढ़ाई जा सकती है। सब्जियों में पाए जाने वाले कुछ विपरीत कारकों-यथा आलू में **सोलेनीन**, टमाटर में **टोमैटीन**, पत्तीदार सब्जियों **ऑक्सैलेट** की मात्रा कम करने की आवश्यकता है।

पर्यावरण की सुरक्षा के साथ उच्च गुणवत्ता वाली उपज प्राप्त करना कार्बनिक खेती का चरम लक्ष्य है।

कार्बनिक खेती आंदोलन

सर्वप्रथम 5 नवम्बर 1972 को फ्रांस में 'इंटरनेशनल फेडरेशन ऑव आर्गेनिक ऐग्रिकल्चर मूवमेंट (FOAM) शुरू हुआ। सम्प्रति विश्व के 100 देशों में 650 ऐसे संगठन हैं। जर्मनी में कुल बाजारू खाद्य का 3-5% कार्बनिक खेती से उत्पन्न किया जाता है, आस्ट्रेलिया में 10% तथा संयुक्त राज्य अमरीका में केवल 1-2%। एशिया में भी यह आंदोलन जोर पकड़ रहा है। जापान में 1970 से ही 'आर्गैनिक फार्मर्स' ने सहकारी समितियां थीं। कोरिया में 1978 से कार्बनिक खेती को प्रोत्साहित किया जा रहा है। चीन में 1990 में कृषि मंत्रालय ने **हरित खाद्य** (GREEN FOOD) की योजना चालू की। इस प्रकार सरकार ने इस खाद्य के लिए मानदंड निर्धारित कर दिए हैं जिसमें सीमित मात्रा में ही पेस्टीसाइडों का प्रयोग करना होता है।

हमारे देश में भी 1996 में कार्बनिक कृषि में मानदंड निर्धारित करके कार्य शुरू हुआ है जिसके अंतर्गत प्रमाणीकरण तथा विपणन का कार्य चालू है।

कार्बनिक खेती का एक उद्देश्य जीवंत तथा टिकाऊ खेती का विकास है। इसके अंतर्गत फार्म प्रबंधन की ऐसी प्रणाली अपनाई जाती है जिससे पारितंत्र (ECOSYSTEM) सुरक्षित रहे, खरपतवार तथा नाशीजीवों पर नियंत्रण हो। वानस्पतिक तथा जान्तव अवशेषों का पुनर्चक्रण हो, फसलचक्र अपनाया जाए, सिंचाई, जुताई आदि की सही व्यवस्था हो। कार्बनिक खेती में मृदा-उर्वरता को स्थिर रखने के लिए ऐसी प्रणाली अपनाई जाती है जिससे जैव-सक्रियता अधिकतम बनी रहे, मिट्टी की भौतिक दशा ठीक रहे और पौधों के लिए संतुलित पोषक की पूर्ति होती रहे।

कार्बनिक खेती में **जिन विधियों** को अपनाया जा सकता है वे हैं—

(1) दलहनी फसलें, हरी खाद, फसल-चक्र आदि अपना कर मृदा-उर्वरता को स्थिर रखना।

(2) कार्बनिक पदार्थ, फसलों के अवशेष, गोबर की खाद तथा कम्पोस्ट डालना।

(3) जैव-उर्वरकों, एज़ोला, नील-हरित शैलाव का प्रयोग।

(4) कीटों तथा रोगों पर नियंत्रण के लिए उपयुक्त किस्मों की फसलें, फसल-चक्र, जैविक विधियां अपनाना।

(5) भूमि, जल, वनस्पति तथा जीवों का संरक्षण।

(6) बाल-मजदूरी को निरुत्साहित करना।

कार्बनिक खेती में प्रयोग के लिए अनुमत पदार्थ

गोबर का खाद, कुक्कुट खाद, वर्मीकम्पोस्ट, हरी खाद, पत्तियों की खाद, एज़ोला, फसलों के अवशेष, पुआल, रसोई से निकले पदार्थ, खलियां।

कार्बनिक खेती के लिए वर्जित पदार्थ

रासायनिक उर्वरक, अवमल, संश्लिष्ट कीटनाशी।

यह जानकर हैरानी हो सकती है कि आज की खेती में बहुप्रयुक्त तीन प्रकार के पदार्थों पर कार्बनिक खेती में रोक लगाने की संस्तुति की गई है। चूंकि इन पदार्थों में भारीतत्व रह सकते हैं, कुछ में रोगजनक जीव तथा कुछ के अधिक उपयोग से पर्यावरण प्रदूषण बढ़ता है अतः ऐसे पदार्थ वर्जित हैं।

कार्बनिक खेती में जिन पदार्थों का प्रयोग विवेक के कम से कम मात्रा में किया जा सकता है वे हैं :

लकड़ी का बुरादा, उद्योगों से निकला कचरा, रक्त, मांस, अस्थि के अवशेष, मछली, गुआना, जिप्सम, चूना, बेसिक स्लैग, सूक्ष्ममात्रिक तत्व एवं कीटों के नियंत्रण के लिए प्रयुक्त गंधक, कॉपर लवण, पोटैशियम पारमैंगनेट आदि।

कार्बनिक प्रमाण-पत्र

कोई भी उत्पाद तभी कार्बनिक कहला सकता है जब वह प्रमाण-पत्र प्रदाता द्वारा स्वीकृत हो। इसलिए उत्पादक तथा उपभोक्ता के मध्य बिचौलिए का काम करने के लिए कुछ एजेन्सियां बनाई गई हैं। उदाहरणार्थ जर्मनी में 30-40 तथा अमेरिका में 10-20 ऐसी एजेन्सियां हैं। किसानों को ऐसी एजेन्सियों से संपर्क करके अपने द्वारा उत्पन्न की जाने वाली फसलों का निरीक्षण कराने और तत्पश्चात् निर्धारित मानदण्डों का पालन करने का उनसे सर्टीफिकेट प्राप्त करना होता है। निर्धारित मानदंडों के अनुसार कार्बनिक खेती शुरू करने और सर्टीफिकेट प्राप्त करने में कुछ समय लग सकता है। किंतु यदि पहले से इन मानदंडों के आधार पर खेती की जा रही हो तो फिर सर्टीफिकेट प्राप्त करने में समय

नहीं लगता।

भारतवर्ष में वर्षासिंचित प्रदेश (बारानी क्षेत्र) ऐसी कार्बनिक खेती के लिए सर्वथा उपयुक्त हैं। फिर भी कार्बनिक खेती के विविध पक्षों पर शोधकार्य किए जाने की आवश्यकता है। कार्बनिक खेती न केवल निर्यात के लिए फसलें उगाने का आह्वान है अपितु देश के नागरिकों के स्वास्थ्य को ठीक रखने और प्राकृतिक जीवन बिताने के लिए अभूतपूर्व अवसर है।

81

रंगों से व्यक्तित्व की पहचान*

डॉ. अमल कुमार दत्ता

विचारकों के मतानुसार यह समग्र सृष्टि विभिन्न रंगों का समुच्चय है और ये रंग जीवन को गतिशील रखने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं। सभी जड़ और चेतन पदार्थों में प्रकट चेतना की अभिव्यक्ति रंगों के समीकरण में बंधी होती है। सूर्य की किरणें जीवन का आधार हैं ही, वैज्ञानिकों ने यह भी माना है कि सारी मानवी काया रंगों का एक पिंड है। मनुष्य की हर कोशिश से रंगीन ऊर्जा तरंगें फूटती रहती हैं। काया में रक्त लाल है तो हड्डियां मटमैली सफेद। त्वचा काले, गोरे या गेहुंआ रंग की हो सकती है। इसी तरह मस्तिष्क, हृदय, फेफड़े, यकृत, आंतें, गुर्दे, मांस-मज्जा आदि सबके अपने-अपने रंग हैं। इसी आधार पर चिकित्सकों ने **कलर इमेजिंग** नामक एक नई तकनीक की खोज की है, जिसमें विभिन्न रंगों की तरंगदैर्घ्य से शारीरिक-मानसिक रोगों का इलाज किया जाता है।

भौतिक विज्ञान के अनुसार रंगों की यह विविधता इलेक्ट्रॉनों और विकिरणों की तरंगों की तरंगदैर्घ्य में अंतर के कारण पैदा होती है। सूर्य किरणों और प्रकृति में पाए जाने वाले रंगों पर शोध करने वाले वैज्ञानिकों के अनुसार भिन्न-भिन्न रंग व्यक्ति विशेष की मनःस्थिति के आधार पर अनुकूल और प्रतिकूल प्रभाव डालते हैं। रंगों को अवसर या मौसम विशेष के अनुरूप कैसे चुना जाए यह उनसे उत्पन्न संवेदन प्रतिक्रिया पर ही निर्भर करता है।

हमारी अपनी प्रकृति के अनुरूप ही रंग हमें आकर्षित या विकर्षित करते हैं। किसी को लाल रंग के कपड़े पहनने पर चक्कर आने लगते हैं तो किसी को काले कपड़े पहनते ही डिप्रेशन की शिकायत हो जाती है। इन प्रतिक्रियाओं के मनोवैज्ञानिक आधार को जानना हमारे व्यक्तित्व को संतुलित बनाए रखने के लिए बेहद जरूरी है। प्रख्यात मनोरोग चिकित्सक **डॉ. गोल्ड स्फेन** ने विभिन्न रोगों से या कठिनाइयों से ग्रसित लोगों पर रंगों का प्रयोग किया और समाधान करने में सफलता प्राप्त की। प्रयोगों के दौरान घटी एक घटना पैन अमेरिकन एयरवेज द्वारा प्रकाश में आई जिसमें यात्रियों को आकाशीय बीमारी मितली की शिकायत बढ़ गई। डॉ. स्फेन ने वायुमान के अंदर पुते

* विज्ञान, जनवरी 2000

चाकलेटी रंग को इसका प्रमुख कारण पाया और जब उसके स्थान पर हरा रंग पुतवाया गया तो उभरी हुई शिकायतें भी दूर हो गईं।

इसी प्रकार एक कारखाने के श्रमिकों को अधिक प्यास लगने और बार-बार पेशाब जाने की शिकायत बढ़ गई। इसकी वजह से बीच-बीच में काम छूटने लगा और उत्पादन प्रभावित होने लगा। अंत में सब ओर से हताश होकर मनोचिकित्सकीय सहायता के लिए श्री स्फेन को बुलाया गया। अपनी गणना के आधार पर जब उन्होंने कमरों के काले रंग को हटाकर हरा रंग पुतवाया तो उस व्यथा से सहज ही छुटकारा मिल गया।

लंदन की टेम्स नदी के पुल पर से कूद कर आत्महत्या करने वालों की संख्या जिन दिनों असाधारण तेज़ी से बढ़ी थी उन दिनों विशेषज्ञों ने पुल पर लगाए गए काले रंग को बदलने की सलाह दी। वैसा करने पर आत्महत्याओं की संख्या में आश्चर्यजनक रूप से कमी पाई गई।

फोर्ड रिसर्च सेन्टर के सुप्रसिद्ध वैज्ञानिक **डॉ. अलबर्ट काहन** के अनुसार कई मनोविकारग्रस्त, तनावपीडित, बेचैन व्यक्तियों का इलाज केवल उनके आसपास के रंगों को बदलकर किया जा सकता है। इनके कथनानुसार यदि मनोविश्लेषण करके सही रंग पहले से ही सुझा दिए जाएं तो अनेक मनोरोगों को टाला जा सकता है।

पश्चिम जर्मनी के ख्याति प्राप्त मनःचिकित्सक **डॉ. मैक्सल्यूसर** ने रंगों के आधार पर व्यक्तित्व विश्लेषण की एक पद्धति विकसित की है जिसमें कुल आठ रंगों में से व्यक्ति को अपनी पसंदगी-नापसंदगी के अनुसार रंग चुनने होते हैं। ये आठ रंग हैं—जामुनी, नीला, हरा, लाल, पीला, कत्थई, भूरा और काला। डॉ. ल्यूसर के मतानुसार नीला रंग शांत, सौम्य, सतोगुणी व्यक्तित्व का प्रतिनिधित्व करता है। हरा रंग सक्रियता काम के प्रति गहरी आसक्ति और गतिशीलता को प्रकट करता है। लाल रंग स्फूर्ति और आवेश को दर्शाता है, ऐसे व्यक्ति उत्साही तो होते ही हैं किंतु बहुत जल्दी आवेशग्रस्त हो जाते हैं। पीला रंग आंतरिक उल्लास, हलकी-फुलकी मस्ती भरी जिंदगी का प्रतिनिधि है। ऐसे व्यक्ति कार्य को मनोयोग से करने वाले, व्यर्थ की चिंता न करने वाले और अलमस्त प्रकृति के होते हैं।

कत्थई रंग-इंद्रियलिप्सा, भोगों में रुचि तथा असंयम का प्रतीक है, जबकि जामुनी रंग व्यक्ति की मानसिक अपरिपक्वता, कच्चेपन और बचकानेपन की ओर संकेत करता है। भूरा रंग तटस्थता और निरपेक्ष भाव का परिचय देता है तथा काले रंग को पसंद करने वाले अधिकांश लोग नकारात्मक चिंतन के होते हैं। जैसे ही उन्हें काले रंग की वस्तुओं से दूर किया जाता है वे अपनी हीनता, छोटेपन, विरोध की वृत्ति को छोड़कर आशावादी और सकारात्मक सृजन की चिंतन करने लगते हैं।

डॉ. ल्यूसर सबसे पहले सामान्य व्यक्तियों या मनोरोगियों से अपनी पसंद के रंग चुनने को कहते हैं। **पहले चुने गए रंग से उसकी संवेदनशीलता का परिचय** मिलता है। उसके द्वारा **चुना गया दूसरा सबसे प्रिय रंग उसकी पसंद को दिखाता** है। इसी क्रम में रखे

गए रंगों का चयन क्रमशः उसकी मनोवृत्तियों को दर्शाता है।

पश्चिम में रंग विज्ञान के मनोवैज्ञानिक पक्ष के प्रति रुचि तो पैदा हुई है, पर वह वास्तव में मनुष्य शरीर के आंतरिक स्रावों पर आधारित है। **कार्ल गुस्ताव जुंग, एडलर** और **मैस्लो** जैसे प्रख्यात मनोवैज्ञानिकों ने जांच की इस पद्धति की पहुंच मस्तिष्क की उथली परतों द्वारा लिए गए निर्णयों पर आधारित बताई है। खासकर कार्ल युंग ने पंच तत्त्वों के प्रतीकों-सूर्य और अग्नि की उपासना को वर्ण उपासना पर आधारित बताया है। मनुष्य मूलतः श्रेष्ठ वृत्तियों वाला है और वह उन्हीं को पोषण देने वाले तरीकों को बाहरी जगत् में ढूंढ़ता है। आज की आधुनिक तड़क-भड़क में श्रेष्ठता को बढ़ावा देने वाले पक्ष तो खो चुके हैं और दृष्टि के प्रदूषण को पैदा करने वाले चटकीले उत्तेजक रंग बड़ी मात्रा में पाए जाते हैं। इन्हीं के कारण हमारे चिंतन को पतन के अंधियारे निगले जा रहे हैं। लगातार इस नकारात्मक पोषण ने मानवता को दूषित ही किया है।

रंगों के इस प्रदूषित पर्यावरण ने आज पश्चिम में लोगों को कृत्रिम और आधारहीन जीवन पद्धति अपनाने पर मजबूर कर रखा है। लोग चंचल वृत्तियों, मानसिक अस्थिरता, डिप्रेशन, स्नायुओं की कमजोरी, उत्तेजित विचारधारा और तनावों से पीड़ित हो रहे हैं। इस मनोभूमि को पाकर वे पुनः दूषित प्रवृत्ति के रंगों का चयन करते हैं जिसका प्रभाव अमर्यादित और वहशी वृत्तियों के रूप में उभरता है।

हमारे अपने जीवन में भी इस अंतहीन उत्तेजना का दौर प्रवेश पा चुका है। इसे यहीं रोक देना ही बुद्धिमानी है। तड़क-भड़क चकाचौंध करते रंगों का यह सैलाब प्रौढ़ता पाते मानसिक प्रदूषण का ही प्रतीक है। हीन मानसिक वृत्तियां अधिकतर इनके प्रकाश में अपनी पहचान को ढूंढ़ती हैं। रंगों की शालीनता, सौम्यता और गंभीरता से फिर दुनिया सजाएं, यह जरूरी भी है और अनिवार्य भी। विशेषकर नई पीढ़ी को एक शांत, प्रेमपूर्ण समाज की धरोहर देना तो आज की सबसे बड़ी आवश्यकता ही कही जाएगी।

82

जैव-प्रौद्योगिकी : परिभाषा तथा वर्गीकरण'*

सिद्धनाथ उपाध्याय

शब्द-कोश के अनुसार 'प्रौद्योगिकी'' शब्द के कई अर्थ हैं। इनमें से दो औद्योगिक प्रौद्योगिकी के गुण-धर्म को व्यापक रूप से प्रकट करते हैं। प्रथम के अनुसार व्यावहारिक लक्ष्यों की प्राप्ति हेतु ज्ञान के क्रमबद्ध अनुप्रयोग को ही प्रौद्योगिकी कहते हैं। उन सभी मान्य तरीकों (विधियों) का समूह जिससे मानव समाज का कोई घटक अपनी भौतिक आवश्यकताओं की पूर्ति करता है प्रौद्योगिकी है। इन दोनों ही परिभाषाओं में व्यावहारिक पक्ष पर जोर है और औद्योगिक स्तर की प्रक्रिया अंतर्निहित है। जैव-प्रौद्योगिकी को परिभाषित करते समय प्रौद्योगिकी शब्द के इन्हीं पक्षों को आत्मसात् करने का प्रयास किया गया है।

जैव-प्रौद्योगिकी को विभिन्न संगठनों एवं व्यक्तियों ने अपनी-अपनी अभिरुचि एवं पूर्वाग्रहों के आधार पर परिभाषित करने का प्रयास किया है। इनमें से कुछ परिभाषाएं तालिका-1 में दी गई हैं।

तालिका-1 जैव-प्रौद्योगिकी की परिभाषाएँ

1. जैव-प्रौद्योगिकी का संबंध जैविक गतिविधियों का तकनीकी एवं औद्योगिक उत्पादन में उपयोग से हैं। इसमें सूक्ष्म-जैविकी, जैव-रसयान विज्ञान, प्रौद्योगिक रसायन विज्ञान (अथवा रसायन अभियांत्रिकी) और प्रक्रम-अभियांत्रिकी का समावेश होता है।

–डेकेमा, जर्मनी (1976)

2. जीवाणुओं, जैविक तंत्रों अथवा जैविक प्रक्रमों का औद्योगिक उत्पादन एवं लोकसेवी उद्योगों में अनुप्रयोग ही जैव-प्रौद्योगिकी है।

–संयुक्त कार्यकारिणी समिति का प्रतिवेदन ब्रिटेन (1980)

3. जीवाणुओं, पादपों अथवा प्राणि-कोशिकाओं अथवा उनके घटकों का उत्पादन एवं लोक-सेवा हेतु उपयोग ही जैव-प्रौद्योगिकी है।

–कनाडा के लिए विकास कार्यक्रम (1981)

* विज्ञान, नवम्बर 2000

4. जीवाणुओं एवं अन्य जैव-रासायनिक कारकों द्वारा वांछित उत्पादों की प्राप्ति एवं लोक-सेवा से संबंधित विज्ञान।

–विज्ञान एवं प्रौद्योगिकी के लिए मूल्यांकन एवं भविष्यवाणी उप-कार्यक्रम-शोध क्रियाकलाप (1981)

5. जैव-रसायन विज्ञान, सूक्ष्म-जैविकी तथा अभियांत्रिकी के समन्वित उपयोग से सूक्ष्म जीवाणुओं अथवा संबधी ऊतक, कोशिकाओं और उनके घटकों की क्षमता की औद्योगिकी स्तर पर उपयोग।

–यूरोपीय जैव-प्रौद्योगिकी संगठन (1981)

6. जैव-रसायन विज्ञान, जीव विज्ञान, सूक्ष्म-जैविकी एवं रसायन अभियांत्रिकी का औद्योगिक प्रक्रमों एवं उत्पादों हेतु अनुप्रयोग।

–अन्तर्राष्ट्रीय शुद्ध एवं प्रयुक्त रसायन संघ (1981)

7. अभियांत्रिकी एवं विज्ञान के सिद्धांतों के प्रयोग द्वारा जैविक कारकों की सहायता से पदार्थों की प्राप्ति एवं लोक-सेवा।

–जैव प्रौद्योगिकी : अन्तर्राष्ट्रीय प्रवृत्ति एवं परिप्रेक्ष्य
– आर्थिक सहयोग एवं विकास संगठन (1982)

8. औद्योगिकी प्रक्रमों में जीवाणुओं अथवा उनकी जैविक क्रियाओं का अनुप्रयोग ही जैव-प्रौद्योगिकी है।

–कृषि विभाग, सं.रा.अमेरिका (1988)

9. भौतिक विज्ञान, प्राणि विज्ञान एवं अभियांत्रिकी के समन्वित प्रयोग द्वारा ऐसी शक्तिशाली प्रक्रियाओं एवं ऐसे साधनों का विकास जिनसे उद्योगों में औद्योगिक प्रक्रमों की सहायता से व्यापारिक उत्पादों की प्राप्ति हो सके।

–अमेरिकी रसायन संस्था (1988)

10. ऐसी कोई भी तकनीक जिसमें जीवाणुओं अथवा उनके घटकों द्वारा उत्पादों का निर्माण अथवा रूपान्तरण एवं पादपों और जीवधारियों में सुधार होता है अथवा विशेष उपयोग हेतु नए जीवाणुओं का विकास किया जाता है, जैव-प्रौद्योगिकी हे।

–अमेरिकी रसायन संस्था (1988)

11. औद्योगिकी प्रक्रमों में जीवाणुआं अथवा उनके घटकों का प्रयोग–प्रयुक्त आनुवंशिकी का सूक्ष्म जीवाणुओं, पादपों और जीवों पर प्रभाव।

–प्रौद्योगिकी मूल्यांकन विभाग, सं.रा.अ. कांग्रेस की रिपोर्ट (1981)

12. प्रयुक्त जैविक प्रक्रियाओं का विज्ञान अथवा जीवाणओं और उनके सक्रिय घटकों अथवा उच्च वर्ग के जीवधारियों की कोशिकाओं एवं उत्तकों पर आधारित प्रक्रमों का विज्ञान।

–जवै-प्रौद्योगिकी–उच परिप्रेक्ष्य (1981)

13. जैविक कारकों जैसे जीवित अथवा मृत कोशिकाओं, और उनके घटकों के नियन्त्रित एवं विवेचित प्रयोग द्वारा लाभप्रद औद्योगिकी उत्पादन एवं लोक-सेवा कार्य।

–जे.डी. बुलॉक (1987)

इन परिभाषाओं से यही परिलक्षित होता है कि जैव-प्रौद्योगिकी प्राकृतिक अथवा कृत्रिम जीवाणुओं अथवा उनके घटकों का कार्य क्षेत्र है। आर्थिक लाभ एवं मानवीय कल्याण के लिए जीव विज्ञान का व्यापक प्रयोग इसका मुख्य लक्ष्य है। वस्तुतः यह एक बहुविधायी विषय है जिसमें अनेक विषयों का समावेश हैं (चित्र-1)। जीव विज्ञान, आनुवांशिकी, कोशिका विज्ञान, वनस्पति विज्ञान, कृषि विज्ञान, विषाणु विज्ञान, जैव-रसायन अभियांत्रिकी, संगठन विज्ञान आदि इसके आधारस्तंभ है। इसके साथ प्रबंध शास्त्र, अर्थशास्त्र व समाज एवं राजनीति विज्ञान को भी सम्मिलित करना होगा जो इसके अनुप्रयोगों को विपणन प्रौद्योगिकी में परिवर्तित करने की प्रक्रिया को प्रभावित करते हैं तथा जिनके सहयोग के बिना जैव-प्रौद्योगिकी की उचित उपयोगिता नहीं होगी।

चित्र 1 : जैव प्रौद्योगिकी एवं अन्य विषयों का अंतःसंबंध
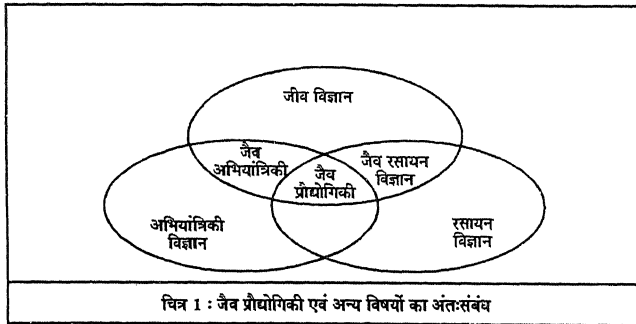
जैव-प्रौद्योगिकी का वर्गीकरण एवं उसके कार्यक्षेत्र

जैव-औद्योगिक क्रांति जैव-प्रौद्योगिकी का सर्वोच्च लक्ष्य व उद्देश्य है। प्लास्टिक, रंग रोगन, कृत्रिम रेशम बनाने के लिए कच्चा माल प्राप्ति के नए साधन, जीवाणुओं की सहायता से तेल निकालना, ऐसी फसल पैदा करना जो अपना उर्वरक स्वयं तैयार कर सके आदि जैव-प्रौद्योगिकी के मुख्य कार्यक्षेत्र हैं।

जैव प्रौद्योगिकी को हम औद्योगिकी क्षेत्र, परिमाण एवं मूल्य तथा प्रौद्योगिकी के स्तर के आधार पर वर्गीकृत कर सकते हैं (तालिका-2)। प्रथम वर्ग का आधार उत्पादनों का रासायनिक स्वरूप है जबकि दूसरे वर्ग का आधार उत्पादन का परिमाण एवं उसका लागत मूल्य है। तीसरा वर्ग प्रौद्योगिकी की सुगमता व क्लिष्टता पर आधारित है।

तालिका-2 जैव प्रौद्योगिकी का वर्गीकरण

आधार	प्रकार	उत्पाद
1. औद्योगिकी	रसायन	एसीटोन, ब्यूटेनाल, इथेनॉल, कार्बनिक अम्ल, एन्जाइम, सुगंध, बहुलक, धातुएँ
	औषधि	एन्टीबायोटिक, निदान कारक, एन्जाइम अवरोधक, स्टेरॉयड, टीके
	ऊर्जा	जैव पदार्थ, एल्कोहल, मीथेन (बायो गैस)
	खाद्य पदार्थ	अमीनो अम्ल, पेय पदार्थ, नानबाई का यीस्ट (प्रकिण्व) नए खाद्य पदार्थ, मशरूम, स्टार्च, ग्लूकोज, उच्च फ्रक्टोज सिरप, जीव-विष अपनयन/निवारण
	कृषि	पशु आहार, साइलो-संरक्षण, कम्पोस्टिंग, नाइट्रोजन, स्थिरीकरण, पशु टीके, जैविक कीट नाशक, पादन कोशिका एवं ऊतक संवर्धन, आनुवंशिक रूपान्तरण
	लोक-सेवा	विश्लेषण के उपकरण, अपशिष्ट निस्तारण, जल संशोधन, अपशिष्ट प्रबंधन
2. परिमाण एवं मूल्य	अधिक परिमाण, कम मूल्य	पशु आहार, जैव पदार्थ, एल्कोहल, मीथेन, जल संशोधन, अवजल संशोधन
	अधिक परिमाण, मध्यवर्ती मूल्य	अमीनों एवं कार्बनिक अम्ल, ऐसिटोन, ब्यूटेनॉल, खाद्य पदार्थ, नानबाई का यीस्ट, धातुओं, बहुलक
	कम परिमाण, अधिक मूल्य	एन्टीबायोटिक एवं अन्य स्वास्थ्यवर्धक एन्जाइम, विटामिन
3. प्रौद्योगिकी का स्तर	उच्च स्तर	खाद्य संयोजी, मानव खाद्य, स्वास्थ्य रक्षक
	माध्यमिक स्तर	किण्वित खाद्य, पेय, जैव-उर्वरक, कीटाणुनाशक, एन्जाइम
	निम्न स्तर	प्रदूषण नियंत्रण, स्वच्छता, ईधन, पशु आहार

अब हमें विभिन्न कार्यक्षेत्रों में प्रौद्योगिकी का संभावित योगदान किस प्रकार का होगा अथवा किस प्रकार का योगदान अब तक हो रहा है आदि पर विचार करना उचित होगा।

कृषि एवं खाद्य

कृषि एवं खाद्य में जैव-प्रौद्योगिकी विशेष योगदान कर सकती है। इसकी सहायता से निम्नलिखित लाभ संभव हैं—

—कृषि कार्यों से होने वाले प्रदूषण को रोककर प्राकृतिक संसाधनों की गुणवत्ता का संरक्षण

—कृषि उत्पादन की लागत में कमी

—कृषि उत्पादन में वृद्धि

—कृषि उत्पादों के विक्रय से अधिक लाभ

—स्वास्थ्यकर एवं संतुलित आहार एवं खाद्य पदार्थों का संरक्षण पैरों एवं मुँह की बीमारियों से पशुओं को बचाने के लिए टीके।

—पशुओं की वृद्धि को बढ़ाने वाले पदार्थ।

—ऊसर, खारी एवं शुष्क भूमि में हो सकने लायक फसलों का विकास

भविष्य में इसकी सहायता से तम्बाकू के बेहतर व अहानिकर विकल्प की खोज, टिक्का के लिए एककोशीय कोलाजन का विकास, अद्भुत व नूतन फूलों के पौधों का विकास, मनुष्य पर नये भोजन अथवा नई दवाओं के प्रभाव का आकलन व विश्लेषण आदि संभव है। भारत जैसी अधिक जनसंख्या वाले देश के लिए इन सबका विशेष महत्त्व है।

नाइट्रोजन-स्थिरीकरण में भी जैव-प्रौद्योगिकी योगदान कर सकती है। फसल में वायुमंडल से प्राप्त नाइट्रोजन-स्थिरीकरण की क्षमता को बढ़ाने से न सिर्फ नाइट्रोजनयुक्त रासायनिक खाद की बचत होगी बल्कि नाइट्रेट द्वारा होने वाले प्रदूषण को भी कम किया जा सकता है। इसी प्रकार बीजों में प्रोटीन की मात्रा को बढ़ाया जा सकता है। जैसे-अधिक प्रोटीनयुक्त गेहूँ की पैदावार प्राप्त की जा सकती है; फसलों की संक्रामक रोगों से बचने की क्षमता को बढ़ाया जा सकता है तथा जैव-कीटनाशकों के प्रयोग द्वारा रासायनिक कीटनाशकों के उपयोग को कम किया जा सकता है एवं उनके दुष्प्रभाव से बचा जा सकता है।

ईंधन एवं ऊर्जा

ईंधन एवं ऊर्जा की बढ़ती कमी को विश्व स्तर पर अनुभव किया जा रहा है तथा इसके बचने के लिए ऊर्जा संरक्षण, वैकल्पिक ऊर्जा संसाधनों के विकास आदि पर बल दिया जा रहा है। जैव-प्रौद्योगिकी इस क्षेत्र में काफी योगदान कर सकती है। ब्राजील में वैज्ञानिकों ने एल्कोहल का मोटरगाड़ियों में ईंधन की तरह सफलतापूर्वक प्रयोग किया है। बायोगैस (मीथेन) को भी ईंधन की तरह प्रयोग में लाया जाता है। उपयुक्त जैव-प्रौद्योगिकी

की सहायता से शहरी मल-मूत्र व कूड़ा- कचरा, कृषि कार्यों से प्राप्त ठोस अवशिष्ट, कागज, चीनी मिलों से उत्पन्न अवशिष्ट पदार्थों से बायोगैस प्राप्त की जा सकती है।

अब तक उपलब्ध प्रौद्योगिकी द्वारा भूमिगत कच्चे खनिज तेल का 40-50 प्रतिशत भाग ही निकाला जा सकता है। जैव-प्रौद्योगिकी की मदद से अब शेष बचे तेल को निकाला जा सकता है। प्रचलित सामान्य तरीकों द्वारा भूमिगत कच्चे तेल की लगभग 40-50 प्रतिशत मात्रा ही प्राप्त की जा सकती है। शेष तेल को माध्यमिक तेल निष्कर्षण विधियों द्वारा प्राप्त करने का प्रयास किया जाता है। इन विधियों में विशिष्ट रसायनों के जलीय घोल को भूमि के नीचे भेजा जाता है। इस घोल के दबाव एवं रसायनों के प्रभाव से चट्टानों के रंध्रों में फँसा तेल बाहर निकल आता है। इनमें से कुछ रसायन (जैन्थान गोंद) जीवाणुओं की मदद से प्राप्त किए जा सकते हैं। वैज्ञानिक ऐसी प्रक्रियाओं के विकास में लगे हैं जिनकी मदद से जीवाणुओं को तेल के कुओं में प्रविष्ट कराकर उनके द्वारा उसी स्थान पर (*in situ*) कच्चे तेल की निकासी में उपयोग रसायनों को प्राप्त किया जा सकेगा। इन विधियों द्वारा 70-80 प्रतिशत के ऊपर तेल की प्राप्ति हो सकती है।

जैव-प्रौद्योगिकी द्वारा प्राप्त हो सकने वाली ऊर्जा का सबसे अच्छा उदाहरण हाइड्रोजन है जो कि जल के जैव-प्रकाशीय विखण्डन से प्राप्त हाइड्रोजनयुक्त हाइड्रोजीनेज एन्जाइमों के संयोग से संभव होता है (चित्र-2) । इस प्रकिया में किसी प्रकार का प्रदूषण या प्रदूषित पदार्थ उत्पन्न नहीं होते हैं।

चित्र 2 : प्रकाशीय संश्लेषण उपकरण द्वारा हाइड्रोजन का उत्पादन
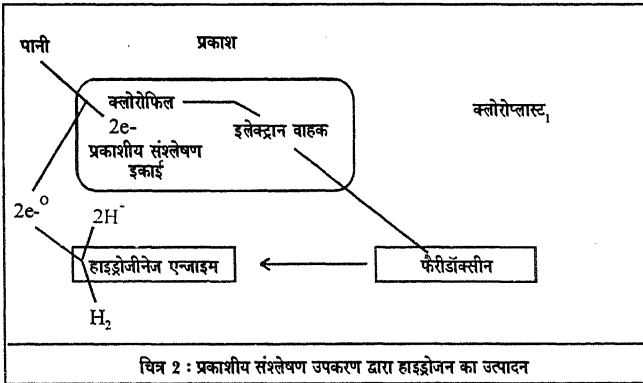
पौधे प्रकाशीय-संश्लेषण के द्वारा अपनी वृद्धि करते हैं। इस क्रिया में पत्तियों में विद्यमान क्लोरोफिल उनकी सहायता करती है। क्लोरोप्लास्ट में विद्यमान क्लोरोफिल प्रकाश की उपस्थिति में उत्पन्न इलेक्ट्रॉन एवं हाइड्रोजीनेज इन्जाइम की सहायता से हाइड्रोजन आयन (H^+) को हाइड्रोजन गैस में परिवर्तित कर देता है। इस प्रक्रिया में हाइड्रोजीनेज एन्जाइम जीवाणुओं (जैसे क्लोस्ट्रीडियम ब्यूटिरिक अथवा सियानोबैक्टीरिया) से प्राप्त होते हैं एवं एसकार्बोट या फैरीडाक्सिन हार्मोन इलेक्ट्रॉन वाहक कार्य करते हैं।

अवशिष्ट संशोधन

अवजल संशोधन में जैव-प्रौद्योगिकी का प्रयोग उन्नसीवीं सदी से ही होता है। जैसे-जैसे पर्यावरण समस्याओं के बारे में संवेदनशीलता बढ़ती गयी, जैवीय प्रक्रियाओं के अनुप्रयोग भी बढ़े तथा साथ ही उपकरणों में उचित सुधार भी होते गए।

आजकल के अवजल संशोधन संयंत्र जैव-प्रौद्योगिकी के बृहद् पैमाने पर अनुप्रयोग के अच्छे उदाहरण हैं। इनमें कई प्रकार के सूक्ष्मजीवाणुओं के सम्मिश्रण का प्रयोग होता है जो अवजल में विद्यमान अवशिष्ट उत्पादों को हानिरहित उत्पादों में विखण्डित करते हैं। इसी प्रकार दूसरे अवशिष्ट पदार्थ (कागज उद्योग, चीनी उद्योग) भी उपयोगी पदार्थों में परिवर्तित होते हैं। अवशिष्ट पदार्थों पर जीवाणु पैदा करके पशुओं के लिए एककोशीय प्रोटीन (सस्ता भोजन) भी प्राप्त हो सकता हैं। आने वाले वर्षों में जैव-प्रौद्योगिकी द्वारा वायु प्रदूषण को भी कम किया जा सकता है।

चिकित्सा एवं स्वास्थ्य

जैव-प्रौद्योगिकी के विकास के फलस्वरूप सुविधाओं में आशातीत सुधार हुआ है। मधुमेह की चिकित्सा के लिए इन्सुलिन (1985), कैंसर के लिए इन्टरफेरॉन (1987), विषाणुरोधी इन्टरफेरॉन (1988), हेपाटाइटिस बी वैक्सीन (1990) वृद्धि हारमोन (1990) आदि इसके उपयोग द्वारा प्राप्त नए उत्पाद हैं। कैंसररोधी इन्टरफेरॉन में ट्यूमर नेक्रासिस फैक्टर (टी.एन.एफ.) के विद्यमान होने से कुछ वैज्ञानिक इसके उपयोग के प्रति शंकालु हैं। रासायनिक रूप से परिवर्तित सूअर के इन्सुलिन पर भी कार्य चल रहा है।

बीते हुए दशक में सर्दी जुकाम के लिए वैक्सीन, उत्तम एवं विश्वसनीय स्वनिदान उपकरण, अधिक सक्षम दवाएँ आदि के विकास के लिए किए गए शोध कार्यों से इनके औद्योगिक स्तर पर उत्पादन की संभावना बढ़ी है। **हाईब्रिडोमा** प्रक्रिया द्वारा तैयार एक-कृत्तिकीय एंटीबाडी को कई रोगों के निदान के लिए भी प्रयोग किया जा रहा है।

हृदय रोग एवं रक्तवाहिनियों के रोगों के लिए नए एवं उन्नत इलाज, नए एवं उन्नत प्रतिजैवियों का विकास ताकि ऐसे रोगाणुओं को जिनमें प्रचलित प्रतिजैवियों के प्रति प्रारोध उत्पन्न हो, खत्म किया जा सके, मलेरिया, निद्रा रोग, इन्फ्लूएन्जा आदि रोगों के शीघ्र निदान हेतु उपकरण, अंग मिलान के उन्नत उपाय ताकि अंग-प्रत्यारोपण हो सके तथा शारीरिक रयासन में सुधार के तरीके जिनमें वंशानुगत रोगों जैसे **हीमोफीलिया** का सही इलाज हो सके आदि पर भी कार्य हो रहा है।

आनुवांशिक अभियांत्रिकी द्वारा भी कुछ रोगों के निदान के लिए उत्पाद प्राप्त हो सकते हैं। इसके द्वारा या तो उपयोगी प्रोटीन के उत्पादन प्राप्त हो सकते हैं अथवा पोषित जीवाणु में महत्त्वपूर्ण रूपान्तरण हो सकते हैं। इसी प्रकार हारमोन, टीके, एन्जाइम आदि का भी कुछ सूक्ष्म-जीवाणुओं के सहायता से बड़े पैमाने पर उत्पादन संभव है।

ओजोन परत की भूमिका*

शिवेन्द्र कुमार पाण्डेय

पृथ्वी में सभी जीवों के जीवित रहने के लिए ऑक्सीजन (O_2)अनिवार्य है। आक्सीजन तीन रूपों में पाई जाती है—ऑक्सीजन परमाणु (O) ऑक्सीजन अणु (O_2) और ओजोन (O_3)। ऑक्सीजन अणु में ऑक्सीजन के दो परमाणु बद्ध रहते हैं और यही ऑक्सीजन पृथ्वी के निचले वायुमंडल में विद्यमान रहती है। ओजोन में ऑक्सीजन के तीन परमाणु बद्ध होते हैं। ऑक्सीजन के समान ओजोन भी एक रंग-विहीन गैस होती है, पर उसमें तीखी गंध होती है।

आरंभ में, जब पृथ्वी का उद्‌भव हुआ था, उस समय ऑक्सीजन गैस थी ही नहीं। ज्वालामुखियों के लगातार फूटते रहने से सम्पूर्ण वायुमंडल कार्बन डाइऑक्साइड व मीथेन से भरपूर था। कुछ काल पश्चात् समुद्रों के भीतर जीवों का उद्‌भव होने लगा, जो कार्बन डाइऑक्साइड लेकर आक्सीजन निकालने लगे। इस ऑक्सीजन ने पृथ्वी के वायुमंडल के ऊपरी भाग की ओर बढ़ना आरंभ कर दिया, जहाँ पराबैंगनी किरणों के प्रभाव में
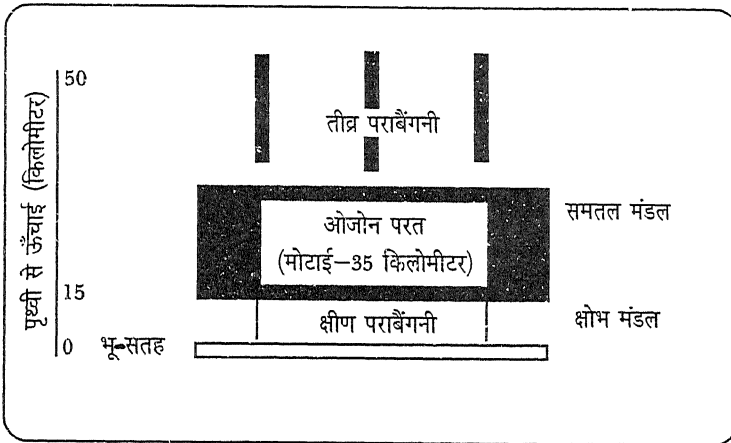
चित्र-1

* विज्ञान, नवम्बर 2000

ऑक्सीजन का विभाजन, उसके परमाणुओं में होने लगा। फिर इन परमाणुओं ने संयुक्त हो ओजोन का रूप धारण कर 'समतापमंडल' (स्ट्रैटोस्फियर) में सांद्रित हो 'ओजन परत' का निर्माण किया (चित्र-1)। कुछ काल पश्चात् पृथ्वी के वायुमंडल में ऑक्सीजन मात्रा बढ़ने पर ऑक्सीश्वसन जीव जन्म लेने लगे (जो वर्तमान में सर्वत्र छाए हुए हैं), जिन्हें खतरनाक पराबैंगनी किरणों से बचाने में ओजोन परत एक छलनी समान, सुरक्षा कवच की भूमिका निभाती है।

ओजोन परत पृथ्वी के ऊपर 15 से 50 किलोमीटर ऊंचाई पर स्थित है और इसकी मोटाई लगभग 35 किलोमीटर है। ओजोन का निर्माण सौर विकिरण द्वारा निरंतर होता रहता है, जिसका परिमाण 300 मिलियन टन प्रति दिन है और
इतनी ही मात्रा में यह प्रकृतिक रूप में नष्ट भी होती रहती है। इस परत के अंदर ओजोन की मात्रा किसी एक समय में इन दोनों प्रक्रियाओं का शेष भाग होती है और यह 2000 मिलियन टन के लगभग होती है। ओजोन परत के ऊपर ऑक्सीजन परमाणु रूप में रहती है क्योंकि पराबैंगनी किरणों के प्रभाव में उसका विभाजन लगातर होता रहता है। लेकिन ओजोन परत के नीचे ऑक्सीजन आणविक रूप में रहती है।

पृथ्वी के क्षोभमंडल में प्रवेश के पूर्व, सौर विकिरण में उपस्थित 0.30 माइक्रोन से कम और 0.75 माइक्रोन से उच्च तरंग-दैर्ध्यों के एक बड़े भाग का विघटन व अवशोषण समतापमंडल में व्याप्त ओजोन परत द्वारा हो जाता है। इस क्रियाशीलता के फलस्वरूप पृथ्वी पर दिखाई पड़ने वाला सूर्य का प्रकाश एक तरंग-समूह है जिसमें सम्पूर्ण दृश्य स्पेक्ट्रम के अलावा अदृश्य भाग की कुछ किरणों का समावेश होता है। उदाहरण के लिए नजदीकी पराबैंगनी (0.30 से 0.40 माइक्रोन) और नजदीकी इन्फ्रारेड (0.75 से 2.50 माइक्रोन)। यह उन खिड़कियों में से एक है जो अंतरिक्ष की ओर खुलती है। दूसरी खिड़की को सूक्ष्मतरंग खिड़की कहा जाता है। जिनमें वे सभी सौर किरणें सम्मिलित होती हैं जिनका तरंग दैर्ध्य परिसर 1 मिलिमीटर से 30 सेन्टीमीटर तक होता है अर्थात् सौर ऊर्जा प्राप्ति का हमारा मुख्य स्रोत, विद्युत चुम्बकीय वर्णक्रम का यही भाग है जो इन दोनों खिड़कियों के माध्यम से छन कर क्षोभमंडल (ट्रोपोास्फियर) में प्रवेश करता है।

ओजोन परत एक सूर्यपट (सनस्क्रीन) के समान कार्य करती है और जैविक दृष्टि से खतरनाक पराबैंगनी-बी (0.28 से 0.32 माइक्रोन) सौर-तरंगों के बड़े भाग का क्षोभमंडल में प्रवेश रोकने में समर्थ है। पराबैंगनी-बी का वह क्षीण-प्रवाह जो भूसतह के वायु मंडल तक पहुँचता है, उसके कारण धूप-ताम्रता (सन बर्न), त्वचा कैन्सर, मोतियाबिन्द आदि जैसी बीमारियाँ फैलती हैं। फिर ऐसे भी प्रमाण मिल रहे कि पराबैंगनी-बी की मात्रा हमारे वायुमंडल में बढ़ने से फसलों का उत्पादन घटने लगता है और बीमारियों से बचने की हमारी प्रतिरोधक क्षमता भी कम होने लगती है। संक्षेप में कहा जा सकता है कि यदि समतापमंडल में ओजोन-परत का निर्माण न हुआ होता हो वर्तमान में हमारे पास आसपास दिखाई देने वाले मनुष्य समेत सारे जीवों का उद्भव शायद ही संभव होता।

लेकिन हाल के वर्षों में अंटार्कटिका के ऊपर, यह ओजोन परत अक्टूबर के महीनों में बड़े नाटकीय ढंग से कुछ पतली होने लगती है और कुछ सप्ताहों के पश्चात् फिर स्वाभाविक स्तर पर पहुँच जाती है। इस क्रिया के दौरान 1999-2000 में इस परत में 60 प्रतिशित तक कमी देखने में आयी है। अब चूँकि यह कमी पृथ्वी के एक विशिष्ट छोटे स्थानीय भाग में देखने में आई है, इसलिए बोलचाल की भाषा अपनाते हुए इसे 'ओजोन परत में छेद' के नाम से पुकारा जाता है।

ओजोन परत पतली होने की प्रथम जानकारी 1974 में अमेरिकी वैज्ञानिक **मेरियो मोलिना** और **एफ. शेरवुड रोलैण्ड** ने अपने शोध पत्रों में प्रस्तुत की थी पर इसका वास्तविक ज्ञान 1985 में ही हुआ। उपलब्ध आँकड़ों से ज्ञात होता है कि 1970 के दशक में अंटार्कटिका के ऊपर ओजोन परत में छेद प्रकट होने लगे थे। अब तो ये छेद यूरोप, अमेरिका, कनाडा, जापान व आस्ट्रेलिया के ऊपर भी प्रकट होने लगे हैं।

वर्तमान ग्लोबल परिदृश्य में ओजोन-परत लगभग सभी क्षेत्रों में पतली होती जा रही है। आस्ट्रेलिया के ऊपर तो 1960 के दशक से ही इसका स्तर 5-9 प्रतिशत दर से कम होता रहा है। वैज्ञानिक अनुसंधानों से ज्ञात हो चुका है कि समतापमंडल में 1 प्रतिशत ओजोन कम होने पर क्षोभमंडल में पराबैंगनी विकिरण का प्रवेश 1-2 प्रतिशत बढ़ जाता है और ऐसे क्षेत्रों में चर्म रोगों में 5-6 प्रतिशत वृद्धि होने लगती है। इसीलिए विश्व भर में सबसे अधिक चर्म-रोगी आस्ट्रेलिया में पाए जाते हैं, जहाँ के दो-तिहाई निवासी किसी-न-किसी प्रकार के चर्म-कैन्सर से ग्रसित हो जाते हैं। इसी वजह से सभी आस्ट्रेलियाई नागरिक कई प्रकार के चर्म-रोग प्रतिरोधक लोशन, क्रीम व तेलों का उपयोग अपनी त्वचा सुरक्षा के लिए, धूप में निकलने के पूर्व, नियमित रूप से करने लगे हैं। इसका ज्वलंत उदाहरण हैं—वहाँ के क्रिकेट खिलाड़ी जो अपने-अपने चेहरों पर सफेद पट्टीनुमा रंग पोते खेल के मैदान में उतरते हैं।

ओजोन में कमी का मुख्य कारण है 'क्लोरीन गैस'। लेकिन सौभाग्यवश क्लोरीन भारी गैस होने के कारण समतापमंडश्रल की ऊँचाइयों तक नहीं पहुँच पाती है, जहाँ ओजोन परत विद्यमान है। घरेलू व सामूहिक रसायनों से उत्पन्न क्लोरीन गैस निचले वायुमंडल में विघटित हो वर्षा में बह जाती है। लेकिन कई ऐसे स्थाई और हल्के रसायन भी हैं, जो वाष्पशील स्वभाव के होते हैं व विघटित होने पर क्लोरीन निर्माण करते हैं, जिन्हें 'ओजोन डिप्लीटिंग सबस्टेनूसेस' (ओ.डी.एस.) कहा जाजा है। क्लोरो फ्लोरो कार्बन (सी.एफ.सी.), कार्बन टेट्रा क्लोराइड (सी.टी.सी) मिथाइल क्लोरोफार्म और हाइड्रो क्लोरो फ्लोरो कार्बन' (एच.सी.एफ.सी.), आदि कुछ ऐसे ओ.डी.एस. हैं जिनमें क्लोरीन होती है। फिर ब्रोमीन युक्त ओ.डी.एस. भी होते हैं, जैसे मिथाइल ब्रोमाइड, हाइड्रो ब्रोमोफ्लोरो कार्बन (एच.बी.एफ.सी.)। रेफ्रिजरेटर, ऐयर कन्डिशनर, अग्निशामक, ड्राइक्लीनिंग, इलैक्ट्रानिक उपकरणों की सफाई, कृषीय धूमकों (फ्यूमिगेन्ट), प्लास्टिक फोम/डिब्बों, आदि का निर्माण व उन्हें क्रियाशील बनाए रखने के लिए उपयोग किए गए एरोसोल

नोदक (प्रपेलन्ट), विलयक (सालवेन्ट) और रैफिजरेन्ट्स इन गैसों के कारण हैं।

वैज्ञानिक परीक्षणों से ज्ञात होता है कि ओ.डी.एस. निचले वायुमंडल में दशकों तक दृष्टिगोचर सूर्य रोशनी से अप्रभावित, पानी में लगभग अघुलनशील व आक्सिडेशन प्रतिरोधक क्षमता सहित, शांत रह कर कायम रहते हैं। लेकिन 18 किलोमीटर से अधिक ऊँचाई पर जब 99 प्रतिशत हवा उनके नीचे रह जाती है, तब इन ओ.डी.एस. के स्थायित्व में परिवर्तन नजर आने लगता है। इस ऊँचाई पर सौर-स्पेक्ट्रम के तीव्र पराबैंगनी विकिरण प्रभाव में इनका विघटन क्लोरीन परमाणुओं व अन्य अवशिष्टों में होने लगता है। इस प्रकार ओजोन-परत के भीतर क्लोरीन बनने पर एक एकल क्लोरीन परमाणु ओजोन के एक अणु से संयुक्त होने के प्रयास फलस्वरूप एक शृंखला—अभिक्रिया (चेन रिएक्शन) गतिमान हो जाती है। परिणामस्वरूप एक क्लोरीन परमाणु लगभग 100,000 ओजोन अणुओं को तोड़कर वहां से हटा देता है। ऐसा होने का मूल कारण है कि इस शृंखला- अभिक्रिया के अंत में क्लोरीन गैस लगातार बनती रहती है और ओजोन परत भी घटती रहती है। इसीलिए छोटी मात्रा में भी सी.एफ.सी. सांद्रण रोकना एक महत्त्वपूर्ण विषय बन चुका है।

इन ओ.डी.एस. के अलावा 'ग्रीन हाउस गैस' स्तर में लगातार होती वृद्धि का प्रभाव ओजोन मात्रा को घटाता है। ग्रीन हाउस गैस के लिए उत्तरदायी स्रोत हैं—जल वाष्प, ऊर्जा प्राप्ति के लिए जीवाश्म ईंधन व लकड़ी के दहन से कार्बनडाइऑक्साइड (CO_2) का उत्सर्जन, पशु/मानव विष्ठा व जैव सड़ाव से मीथेन उत्सर्जन रासायनिक उर्वरकों के उपयोग व प्रत्येक दहन क्रिया से नाइट्रस ऑक्साइड (NO_2) निर्माण और हाइड्रोकार्बन व नाइट्रोजन के आक्साइड के प्रभाव में क्षोभ मंडल के भीतर गैस निर्माण

लेकिन यह भी एक वास्तविकता है कि यदि वायुमंडल में प्राकृतिक रूप से ग्रीन हाउस गेस विद्यमान न होतीं, तो पृथ्वी का वर्तमान तापमान 33° सेन्टीग्रेड कम होता। इसलिए पृथ्वी में जीवों के रहने लायक तापमान को बनाए रखने में, इन गैसों की उपस्थिति (एक स्तर तक) आवश्यक है।

दरअसल, वायुमंडल एक ग्रीन हाउस के समान कार्य करता है और पृथ्वी को ऊष्मा-रोधी कवच प्रदान करता है। यह ग्रीन हाउस प्रक्रिया इस प्रकार कार्य करती है—सूर्य द्वारा आपतित विकिरण से प्राप्त सूक्ष्म तरंग दैर्ध्य का एक तिहाई भाग परावर्तित हो जाता है और बचे भाग का अवशोषण वायुमंडल, समुद्र, बर्फ, भूमि व जन्तु-वनस्पति समूह कर लेते हैं। फिर भूसतह द्वारा कुछ ताप वायुमंडल में संवेद्य उष्मा (सेन्सिबल हीट) और वाष्पीय-वाष्पोत्सर्जन रूप से निष्कासित होता है। इसके अलावा भूसतह द्वारा तरंगदैर्ध्य विकिरण का ऊर्जा परावर्तन भी होता है, जिसका कुछ भाग वायुमंडलीय खिड़की को पार कर बाहर निकल जाता है एवं थोड़ा भाग वायुमंडल में समा जाता है। (चित्र-2)
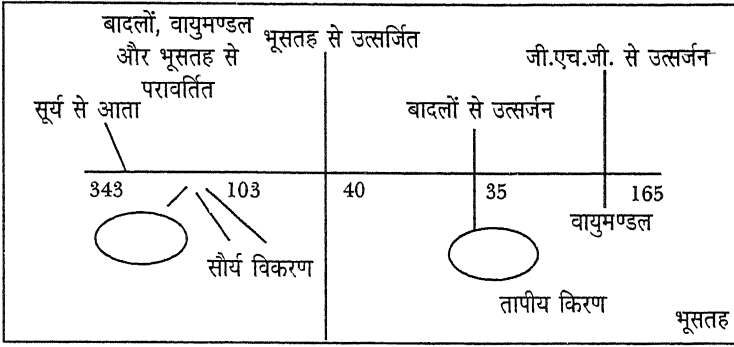
चित्र-2 ऊर्जा संतुलन (टाटा इनर्जी रिसर्च इंस्टीट्यूट)

इस प्रकार ऊर्जा सांद्रण व लम्बी तरंग दैर्ध्य वाली इनफ्रारेड विकिरण उत्सर्जन के मध्य का संतुलन भी कई कारणों से बदल सकता है जैसे—सूर्य ऊर्जा विकिरण आउटपुट में परिवर्तन, पृथ्वी परिक्रमा-पथ में सूक्ष्म परिवर्तन व ग्रीनहाउस प्रभाव। इनमें उत्तरजीविता के लिए ग्रीन हाउस प्रभाव सबसे महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि इसको नियंत्रित स्तर पर बनाए रखने की क्षमता मानव के हाथ में है। सूक्ष्म तरंग दैर्ध्य विकिरण तो वायुमंडल को पार कर सकता है, पर लम्बी तरंग दैर्ध्य विकिरण का कुछ भाग वायुमंडल के ऊपरी ठंडे भाग में उपस्थित 'ट्रेस गैसों' द्वारा अवशोषित हो जाता है। इन्हीं ट्रेस गैसों को 'ग्रीन हाउस गैस' नाम दिया गया है।

विश्व में औद्योगिक क्रांति आरंभ होने के पश्चात् से मानव गतिविधियों के फलस्वरूप प्राकृतिक रूप में विद्यमान ग्रीन हाउस गैस सांद्रण वायुमंडल में बढ़ने के साथ-साथ कई नए क्लोरोफ्लोरोकार्बनों का समावेश होने लगा है—विकसित देशों में अधिक व विकासशील देशों में कम मात्रा में। इन गैसों के बनने में वृद्धि के फलस्वरूप ग्रीन हाउस प्रभाव मुखर हो पृथ्वी के तापमान में वृद्धि करने लगा है। वैज्ञानिक अनुमानों के अनुसार इन गैसों के प्रभाव से वर्ष 2100 तक पृथ्वी के तापमान में 1–3.5° सेंटीग्रेड वृद्धि होने की संभवना है। इस तापमान वृद्धि के फलस्वरूप कई अन्य परिवर्तन होने लगेंगे—वृष्टि की मात्रा व पैटर्न में परिवर्तन, वनस्पति फैलाव व मृदा नमी में अंतर, ट्रापिकल चक्रवात तूफानों की तीव्रता में वृद्धि, ध्रुवीय क्षेत्रों में बर्फ गलने व तापीय विस्तारण द्वारा समुद्री सतह की ऊँचाई में वृद्धि आदि से वर्तमान परिस्थितिकीय संतुलन अस्तव्यस्त हो जाएगा।

समुद्री सतह की ऊँचाई बढ़ने पर समुद्रतटीय निचले इलाके पानी में डूब जाएँगे। पिछले वर्षों में समुद्री पानी की ऊँचाई में 10-25 सेंटीमीटर वृद्धि मापी गई है और इस विषय में निर्मित प्रक्षेपणों से ज्ञात होता है कि आगामी 100 वर्षों में, अर्थात वर्ष 2100 पहुंचने तक, इसमें 46 सेन्टीमीटर तक वृद्धि की संभावना है।

समुद्री पानी की सतह में 1 मीटर वृद्धि होने पर बांगलादेश का 30,000 वर्ग

किलोमीटर क्षेत्र पानी में डूब जाएगा, तो दूसरी ओर भारत के समुद्रतटीय इलाकों में रहने वाले 71 लाख नागरिक विस्थापितों की श्रेणी में आ जाएँगे।

तापमान वृद्धि के कारण पानी भंडार में कमी व नई बीमारियों का उद्‌भव होने लगेगा और कृषि उत्पादन भी प्रभावित होगा। फिर जो जीव बदलते हुए पर्यावरण के साथ ताल-मेल बैठाते हुए शीघ्रता से समयानुकूल करने में असमर्थ होंगे, वे विलुप्त हो जाएँगे। इस क्रिया में वनस्पतियाँ सबसे अधिक प्रभावित होंगी, क्योंकि उनकी स्थानान्तरण क्षमता (अन्यों की अपेक्षा) सबसे कम समझी जाती है–4 से 200 किलो मीटर प्रति शताब्दी। यही कारण है कि ग्रीनहाउस गैस नियंत्रण को वर्तमान में इतना महत्त्व दिया जा रहा है।

उल्लिखित चर्चा से यह स्पष्ट हो जाता है कि इस संसार में जीवनदायिनी की भूमिका निभाने वाली ओजोन परत का विनाश मुख्यतः मानव जनित कारणों से हो रहा है। बीसवीं सदी में मानव के औद्योगिक क्षेत्र में असाधारण सफलता अर्जित की है, जिसका मुख्य आधार रहा है—अधिक-से-अधिक ऊर्जा उत्पादन कर मानव के निजी लाभ के लिए उपयोग करना। औद्योगिकीकरण की इस दौड़ में, मानव इसके हानिकारक प्रभावों की अनदेखी करता रहा लेकिन 1990 के दशक से पर्यावरण सुरक्षा/संतुलन बनाए रखने की चिंता विश्व के सभी देशों में जागृति होने लगी, और पर्यावरण प्रदूषण रोक-थाम के विषय में अन्तरराष्ट्रीय स्तर पर गम्भीरता से विचार विमर्श किया जाने लगा है। पर्यावरण प्रदूषण नियंत्रण के लिए कुछ महत्त्वपूर्ण कदम भी उठाए गए हैं, उदाहरण के लिए–

1. विकसित देशों में 1.1.1996 से सी.एफ.सी. उत्पादन निषेध कानून व उनके स्थान पर वैकल्पिक रसायनों का अनिवार्य उपयोग, जो महँगे होने के बावजूद पर्यावरण अनुकूल होते हैं। भारत, चीन आदि को इसमें वर्ष 2006 तक छूट दी गई है। अन्तराराष्ट्रीय विशेषकों का मानना है कि भारत में सी.एफ.सी. का वर्तमान उत्पादन ओजोन परत को प्रभावित नहीं करेगा।

1990 के दशक में लगभग 20 मिलियन टन सी.एफ.सी. प्रतिवर्ष वायुमंडल में उत्सर्जित की जाती थी। लेकिन इस रोक के कारण वर्तमान में इसका स्तर 1 प्रतिशत दर से कम हो रहा है। यह एक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है क्योंकि 1980 के दशक में सी.एफ. सी. का वायुमंडल में उत्सर्जित होने का स्तर 5 प्रतिशत वार्षिक दर से बढ़ रहा था।

2. जी.एच.जी. व अन्य विषैली गैसों के उत्सर्जन को नियंत्रित करने के लिए संयुक्त राष्ट्र संघ के तत्त्वावधान में आयोजित क्योटो-सम्मेलन (दिसम्बर 1998) की विज्ञप्ति के अनुसार भारत सहित 150 अन्य देश वचनबद्ध हैं कि सभी राष्ट्र वर्ष 2012 तक इन गैसों का उत्सर्जन 1990 के स्तर से 5.2 प्रतिशत कम करने का प्रयास करेंगे।

अब चूँकि भारत में सभी प्रकार के ऊर्जा आवश्यकताओं की आपूर्ति का प्रमुख आधार कोयला है, इसलिए उल्लिखित लक्ष्य की ओर अग्रसर होने के लिए भारत सरकार

ने नए निर्देश जारी कर दिए हैं, जिसके अनुसार देश के सभी बिजली संयंत्रों को वर्ष 2001 से धुलाई किया 34 प्रतिशत राख युक्त कोयला उपयोग करना अनिवार्य होगा। वाहन प्रदूषण में कमी लाने के लिए भारत में 'कम सल्फर युक्त (25 प्रतिशत) डीजल' उत्पादन 1.10.1999 से आरंभ कर दिया गया है ओर अब देश भर में जनवरी 2000 को कम सल्फर युक्त डीजल और फरवरी 2000 से लेड विहीन (अनलेडेड) तेल उपयोग के लिए वितरित किया जाने लगा है।

इसके अलावा, सी.एफ.सी. व ओ.डी.एस. प्रजनन को नियंत्रित रखने के लिए भारत सरकार ने अगस्त 2000 में गजट विज्ञप्ति द्वारा 'ओजोन डिप्लीटिंग नियम–2000' को लागू कर दिया है। इसके अंतर्गत सभी उत्पादनों में सी.एफ.सी. उपयोग को वर्ष 2003 से निषेध करार कर दिया गया है और ओ.डी.एस. उत्पादनों को नियंत्रित कर धीरे-'धीरे समाप्त करने का प्रावधान बनाया गया है।

ओजोन परत को सुरक्षित बनाए रखने में इस प्रकार के नियम मील का पत्थर साबित हो सकते हैं, बशर्ते विश्व के सभी देश इनका दृढ़ता से पालन करें।

84

टेफलॉन-संगमरमर जैसा प्लास्टिक*

डॉ. डी.डी. ओझा

संयोगवश कई आविष्कार ऐसे हो जाते हैं जिसका वैज्ञानिकों को भी पुर्वानुमान नहीं होता। **ऑस्ट्रोमिसलेंस्की** नाम के वैज्ञानिक कृत्रिम रबड़ की खोज में प्रयत्नशील थे किन्तु उनके हाथ पॉलिवायनिल क्लोराइड का आविष्कार अचानक लग गया। यह देखा गया है कि अनुसंधान क्षेत्र में कई बार वैज्ञानिक की हालत इस प्रकार हो जाती है जैसी कि कहावत है कि "चौबे जी होने गए थे छब्बे जी किन्तु रह गए दूबे जी।" कभी-कभी तो इससे भी गंभीर स्थिति हो जाती है। **प्लंकेट** नामक वैज्ञानिक की हालत ठीक ऐसी हो रही होगी। वे टेट्राफ्लोरो एथिलीन से एक अलग ही प्रकार की गैस के अनुसंधान में प्रयत्नशील थे, जो पदार्थों को ठंडा करने के काम में आ सके। इस अनुसंधान-कार्य में वे लगातार असफल होते रहे।

उन्होंने एक नली में टेट्राफ्लोरोएथिलीन नामक द्रव संचित करके रखा था। कुछ ही समय पश्चात् प्लंकेट के मन में संशय उत्पन्न हुआ कि हो न हो, उक्त नली खाली हो गई है और वे सोचने लगे कि आखिर उस द्रव का क्या हुआ होगा और वह कहाँ लुप्त हुआ होगा। इस शंकाओं के समाधान के लिए जब उन्होंने नली फोड़ी तो उसके भीतर एक सफेद पाउडर दिखाई दिया। यह सफेद पाउडर अन्य कुछ भी न होकर पॉलिटेट्राफ्लोरोएथिलीन यानी वर्तमान का 'टेफलॉन'' ही था। इस प्रकार की नई उपलब्धि से वर्ष 1933 प्लंकेट के लिए बहुत लाभदायक रहा तथा विश्व को एक नए प्रकार का प्लास्टिक पदार्थ प्राप्त हुआ। टेट्राफ्लोरोएथिलीन गैस रंगहीन, स्वादहीन, गंधहीन तथा विषरहित होती है। इसे द्रव रूप में संचित किया जाता है।

टेफलॉन का औद्योगिक उत्पादन दो भिन्न-भिन्न प्रकार की रासायनिक पद्धतियों से किया जाता है। पहली पद्धति में टेट्राफ्लोरोएथिलीन में उत्प्रेरक तथा अन्य रसायन मिलाकर बहुलकीकरण के बाद टेफलॉन के छोटे-छोटे कण तैयार होते हैं। दूसरी पद्धति में टेट्राफ्लोरोएथिलीन, उत्प्रेरक, जल तथा साबुन जैसे पदार्थों को एकसाथ मथकर प्रक्रिया घटित की जाती है। इस पद्धति में टेफलॉन चूर्ण के रूप में अथवा द्रव रूप में मिलता है।

* विज्ञान, अप्रैल 2000

टेफलॉन का औद्योगिक उत्पादन करने का श्रेय डूपोंट कंपनी को ही जाता है जिसने वर्ष 1950 में इसका नामकरण के साथ इसका उत्पादन भी शुरू किया। वस्तुतः यह प्लास्टिक बहुत ही विलक्षण है। यह किसी भी द्रव में नहीं घुलता है। न्यूनतम तापमान से अधिकतम तापमान तक किसी भी प्रकार के तापमान (-250 से +25° सेल्लियस) के कारण इसमें किसी भी प्रकार का परिवर्तन नहीं होता। संगमरमर की शुभ्रता एवं चिकनापन तो इसकी प्रमुख विशेषताएँ हैं। टेफलॉन से अन्य कोई भी वस्तु नहीं चिपकती और वह भी किसी वस्तु को अपने में चिपकने नहीं देता। यह विद्युत तथा घर्षण निरोधक होता है। यांत्रिक क्षेत्र में अपना अस्तित्व कायम रखने में यह सफल साबित हुआ है।

टेफलॉन के बहुप्रयोग–टेफलॉन ने रसोईघर से लेकर बड़े-बड़े कारखानों तक अपना सिक्का जमा रखा हे। घर में जब अधिक मेहमान आए हुए होते हैं, तब जल्दी से पूड़ियाँ बनानेवाले यंत्र में लगाई गई गोल सफेद तख्ती इसी टेफलॉन की होती है। स्वयं किसी वस्तु से न चिपकने या अन्य वस्तु को न चिपका देने की इस विशेषता के कारण आटे की लोई को दबाया नहीं कि वह फैलती जाती है और उसकी पूड़ी तैयार हो जाती है। इसी प्रकार, डोसा, पूरणपोली, आमलेट आदि बनाने में प्रयुक्त नॉनस्टिक तवों या ऑमलेट पैन टेफलॉन का लेप चढ़ाकर बनाया जाता है। इस तवे के रख-रखाव हेतु इसे हल्का-हल्का ही माँजना पड़ता है। टेफलॉन पर किसी भी रसायन का असर नहीं पड़ता (ओलियम रसायन से उसका पृष्ठ भाग काला पड़ जाता है), इसलिए बड़े-बड़े रासायनिक प्रक्रिया पात्रों के भीतरी भाग पर इस प्लास्टिक की कोटिंग चढ़ाई जाती है। यांत्रिक मथनी, बुशिंग आदि के लिए टेफलॉन काम में लाया जाता है। टेफलॉन विद्युतनिरोधक होता है, इसलिए विद्युतमोटरों, पानी में बिठाई गई विद्युतमोटरों के आर्मेचर के निरोधक आवरण आदि में टेफलॉन की फिल्में या टेप लगाई जाती है। यंत्रों को जिस भाग में अधिक दाब रहता है वहाँ टेफलॉन का प्रयोग नहीं किया जा सकता क्योंकि अत्यधिक दाव के कारण टेफलॉन का आकार भी बदल जाता है। इस कमी को दूर करने के लिए टेफलॉन में काँच के धागे, ग्रेफाइट, काँसी या इसी प्रकार की मिश्रधातुएँ मिलाई जाती हैं। ग्रेफाइट- टेफलॉन के मेल में बनाए गए यंत्रों के भागों में घर्षण की मात्रा बहुत ही कम रहती है तथा ऐसे कल-पुर्जे बहुत वर्षों तक काम देते हैं।

टेफलॉन के धागे से कपड़ा भी बनता है। यह प्रायः देखने को मिलता है कि कारखानों से विविध प्रक्रियाओं के कारण रसायनों के कण वातावरण में फैल जाते हैं और प्रदूषण उत्पन्न करते हैं। इस प्रकार के प्रदूषण को रोकने के लिए टेफलॉन की थैलियों को काम में लाया जाता है। इन थैलियों में ऐसे विषैले कणों को एकत्रित करके प्रदूषण को रोका जा सकता है। पानी के नलों को एक-दूसरे से जोड़ते समय सन के रेशों (सुतली) का प्रयोग किया जाता है। इस जोड़ को खोलते समय उस पर जंग चढ़ा रहने से उसके पेंच घुमाने में कठिनाई का सामना करना पड़ता है। पूरी ताकत लगाने पर भी कभी-कभी ऐसे जोड़ नहीं खोले जा सकते तथा कभी-कभी तो वे टूट भी जाते हैं। अतः

यदि टेफलॉन का टेप पेंचों पर रखकर नल एक दूसरे से जोड़े जाएँ तो उन पर जंग चढ़ने की आशंका नहीं रहती है तथा उन्हें खोलते समय भी किसी भी प्रकार की अड़चन पैदा नहीं होती है।

इतना ही नही, टेफलॉन का उपयोग चिकित्सा क्षेत्र में भी विशेषतः शरीर के कृत्रिम अंग बनाने के लिए भी किया जाता है। हमारे शरीर में भी टेफलॉन आसानी से प्रविष्ट किया जा सकता है। इसी कारण इस पलास्टिक का उपयोग हृदय में लगाए जानेवाले कृत्रिम वाल्व बनाने के लिए किया जाता है। अन्य कतिपय कृत्रिम अंग भी इससे बनाए जाते हैं, जो हमारे शरीर में आसानी से लगाए जा सकते हैं।

जैसा कि विदित है 500° सेल्सियस तापमान के बाद टेफलॉन का विघटन प्रारंभ हो जाता है तथा उसकी राख तक नहीं तैयार होती। उसकी इस विशेषता को उपयोग में लाते हुए वैज्ञानिकों ने उपग्रह बनाने में इसका सहारा लिया है। उपग्रह बनाते समय उस पर टेफलॉन का पुट चढ़ाया जाता है। इस योजना का उद्देश्य यह होता है कि वातावरण में अत्यधिक ऊँचाई पर घर्षण से यान का बाहरी आवरण जल न सके और यदि थोड़ा बहुत जल भी जाए तो उसके कारण यान को किसी भी प्रकार के खतरे का सामना न करने पड़े।

व्यापारिक क्षेत्र में यह हैलोन, पालिफॉन, होस्टप्लॉन, फ्लूकॉन आदि कई नामों से बिकता है। हमारे देश में टेफलॉन-हिफलॉन का उत्पादन आंध्र प्रदेश में होता है। कारखानों के लिए आवश्यक 'स्पेयर पार्ट्स' तो मुँहमाँगे दाम में खरीदने पड़ते हैं तथा उन्हें लाने में भी अधिक समय लगता है। यदि मात्र थोड़े से अधिक दाम में टेफलॉन बनाया जाए तो उससे विदेशी मुद्रा एवं समय की भी बचत हो सकती है एवं काफी लाभ कमाया जा सकता है।

क्लोनिंग*

डॉ. लालजी सिंह

विश्व में पहली, बार रोज़लिन इन्स्टीट्यूट के **सर इआन विल्मुट** के प्रयत्नों द्वारा स्तनधारी प्राणी की अभिन्न संतान (क्लोन) ने जन्म लिया। कुछ लोग इसे तकनीकी करिश्मा मानते हैं और कुछ लोग भविष्य में इसके दुरुपयोग से भयभीत हैं।

आखिर क्लोन है क्या?

क्लोन एक ऐसा जीव है जो दूसरे के सर्वसम (हमशक्ल) है। ऑक्सफोर्ड शब्दकोष के अनुसार 'क्लोन' का अर्थ है "लैंगिक तौर पर उत्पन्न पूर्वज द्वारा अलैंगिक विधि से प्रजनित सन्तानें।" ये एक दूसरे से आनुवंशिक एवं भौतिक रूप से अभिन्न होते हैं।

आइए पहले आनुवंशिकी के आधार पर समझा जाए। सभी प्राणी कोशिकाओं द्वारा संचरित होते हैं। मानव शरीर में लगभग 10^{13} कोशिकाएं हैं। प्रत्येक कोशिका में एक केन्द्रीय संरचना जिसे केन्द्रक के नाम से जाना जाता है, धागे के समान दिखने वाले गुणसूत्रों को संजाए रखता है। मानव में इन गुणसूत्रों की संख्या 46 है जिसमें से 23 उसे पिता की तरफ से और शेष 23 माता से प्राप्त होते हैं। गुणसूत्र, आनुवंशिक पदार्थ डीएनए से बने होते हैं जो शरीर में सभी गुणों एवं क्रियाओं का निर्धारण करते हैं। प्रत्येक प्राणी की विशिष्टता, गुणसूत्रों के अनियमित समन्वय द्वारा संभव होती है। एक ही माता-पिता द्वारा उत्पन्न संतानों के अलग- अलग दिखने का कारण गुणसूत्रों का यह अनियमित समायोजन ही है। कभी- कभी किसी दम्पत्ति का जुड़वाँ संतानें भी पैदा होती हैं। ये जुड़वाँ बच्चे जो दिखने में समान हों एकांडिक जुड़वाँ या समरूप यमज कहलाते हैं। जैसा कि नाम से ही जाहिर है ये एक ही अंडे से उत्पन्न होते हैं, जो किसी कारणवश दो कोशिकीय अवस्था में अलग होकर, प्रत्येक एक संपूर्ण सन्तान में विकसित होती हैं। एकांडिक जुड़वाँ बच्चों को अलग तौर पर पहचानना कठिन होता है क्योंकि उन्हें एक जैसा आनुवंशिक पदार्थ प्राप्त हुआ होता है।

अगर हम एक वयस्क व्यक्ति की किसी कोशिका से एक केन्द्रक लेकर, उसका

* विज्ञान, जुलाई 2000

एक अंडे में, जिसका केन्द्रक विलग किया गया हो, प्रतिरोपण करें तो उससे जो संतान उत्पन्न होगी वह उस व्यक्ति के समान ही होगी, इसी क्रिया को **क्लोनिंग** कहते हैं। हालांकि, सभी कोशिकाओं में लगभग 50 से 100 हजार जीन होते हैं, पर विभिन्न कोशिकाएं अलग-अलग जीनों को अभिव्यक्त करती हैं जैसे कि इन्सुलिन का उत्पादन केवल पैनक्रियास (अग्नाशय) में होता है न कि मस्तिष्क में। इससे केन्द्रक की समानार्थकता पर प्रश्न लगता है। पेड़-पौधे तो उनमें पाए जाने वाली एक कोशिका से बनाए जा सकते हैं, पर जन्तुओं में इस क्रिया की संभावना पर अभी प्रश्न चिन्ह लगा है।

क्लोनिंग

गर्डन ने 1975 में प्रदर्शित किया कि उभयचरी (एम्फीबिया) ग्रुप के प्राणियों के भ्रूण से केन्द्रक लेकर क्लोन बनाए जा सकते हैं। पर टेडपोल और वयस्क प्राणियों से लिए गए केन्द्रक इस तकनीक में असफल रहे। अष्टकोशिकीय अवस्था से बड़ी चुहिया के भ्रूण से लिए गए केन्द्रक भी क्लोनोत्पत्ति के लिए अनुपयोगी रहे। इसी बीच **कैम्पबेल** ने संवर्धित (कल्चर) कोशिकाओं के केन्द्रक से क्लोन भेड़ का विकास किया। उन्होंने अनिषेचित अंडे से एक अन्य कोशिका का संयोजन कर एक कोशिका वंशावली बनाई। इन कोशिकाओं के केन्द्रक भ्रूण बनाने में सक्षम थे जिसे फिर मादा भेड़ में प्रत्यारोपित किया गया। यह ध्यान देने योग्य है कि ऐसे परीक्षण भेड़ों में ही सफल रहे।

विल्मुट और साथियों ने (1997) में दर्शाया कि लगभग मिलते जुलते तरीके से छः साल की भेड़ के स्तन से प्राप्त कोशिका के केन्द्रक द्वारा भी क्लोनोत्पत्ति संभव है। इस सफलता के पीछे केन्द्रक और कोशिकाद्रव्य के बीच विकसित अनुकूलता है। प्रत्यारोपित केन्द्रक और कोशिकाद्रव्य के बीच का सामंजस्य, प्रतिरोपित अंडे के विकास के लिए बहुत महत्त्वपूर्ण है। जब भी भ्रूण के केन्द्रक को अंडे में प्रत्यारोपित किया जाता था, डी. एन. ए. के दुगुना होने से गुणसूत्रों की संख्या बदल जाती थी। कोशिका की सुप्तावस्था में उनके केन्द्रकों का प्रयोग कर सर विल्मुट ने समस्या को सुलझा लिया। ऐसे में डी. एन. ए. के दुगुना होने का समय, अंडे की कोशिका द्रव्य अवस्था के अनुकूल होता है जिससे विकृतियाँ पनप नहीं पातीं।

क्लोन बनाने की सफलता अभी कम ही है। केन्द्रक प्रतिरोपण द्वारा विकसित करीब 25 प्रतिशत गायों के भ्रूण, ब्लास्टोसिस्ट तक विकसित होते हैं और इनका लगभग 30 प्रतिशत पूर्ण विकास दिखता है। डॉ. विल्मुट ने 277 स्तन कोशिकाएं और अंडों का प्रयोग किया पर केवल 29 भ्रूण में विकसित हुए और इन में से 13 भेंडों ने गर्भाधारण किया, पर इसमें से भी केवल एक ने जन्म दिया। बाकी सभी की गर्भ में ही मृत्यु हो गयी। 'डॉली'' के गुणों और भविष्य का भी कुछ ठीक से पता नहीं। हाँ यह जरूर पता चला है कि डॉली की उम्र अभी से छः वर्ष के करीब है।

क्लोनिक के लाभ

* भेड़ों और गाय-भैंसों की अच्छी नस्लों को क्लोन करना।
* घरेलू पशु (पशुधन) में परिवर्तित जीन के प्रत्यारोपण द्वारा जैव-तकनीक में नए प्रयोग।
* कैंसर तथा अन्य आनुवंशिक रोगों से निदान का अध्ययन एवं बुढ़ापे को टालने के प्रयत्न।
* दवाओं का उत्पादन करने वाली जीनों को प्रत्यारोपित करके पालतू पशुओं से दवाओं का सस्ते में उत्पादन करना।
* बुढ़ापे का गुणसूत्रों पर प्रभाव का अध्ययन।
* इस विधि का अन्य स्तनधारी जीवों पर प्रयोग।
* अंगों के प्रतिरोपण में समरूपी अंगों का विकास।

क्लोनिंग से जुड़े कुछ भय

1. **मुर्दे से जीवित पैदा करना :** मरे हुए आदमी की किसी कोशिका का केन्द्रक उसका क्लोन बनाने में प्रयोग किए जाने की संभावना, वैज्ञानिक इस बारे में चुप्पी साधे हुए हैं।

2. **क्या भय काल्पनिक या आधाररहित है? :** उसमें कुछ तकनीकी कठिनाइयाँ जरूर हैं। एक तो यह कि, डी. एन. ए. अपरिवर्तित रहना चाहिए। मृत्यु के बाद डी. एन. ए. बहुत जल्दी खराब होता है। कोशिकाएं सही अवस्था में होना आवश्यक है। अतः मृत व्यक्ति से क्लोन करना अभी केवल कल्पना मात्र है।

3. **मानव क्लोन :** डॉली की क्लोनिंग के कारण मानव की क्लोनिंग की संभावना की उम्मीदें जग उठी हैं, जिसके विरोध में कई आवाजें भी बराबर उठीं हैं। ब्रिटेन, फ्रांस ओर अमेरिकी सरकारों ने तो मानव क्लोनिंग पर प्रतिबंध भी घोषित किया है।

क्या मानव क्लोनिंग एक आकर्षक योजना है?

1. **व्यक्तित्व बनने के आधार :** क्लोनिंग से आप एकांडिक जुड़वा के समान अभिन्न संतान पैदा कर सकते हैं। आनुवंशिक आधार के अतिरिक्त, माहौल भी व्यक्ति के लिए महत्त्वपूर्ण होता है। आदमी का व्यक्तित्व, सामाजिक, आर्थिक और आस-पास के माहौल से सम्बन्ध रखता है। व्यक्तित्व कभी आनुवंशिक नहीं होता। अतः जरूरी नहीं है कि एक विजेता का क्लोन विजेता ही हो।

II. **क्या क्लोन अमर कर देगा :** क्लोन भौतिक रूप से सर्वसम जरूर होगा पर मानसिक स्थिति, अनुभव, सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक मूल्य तो व्यक्तिगत होते हैं। अतः क्लोन अनुभव, सामाजिक, राजनैतिक और नैतिक मूल्य तो व्यक्तिगत होते हैं।

अतः क्लोन आपको अमर नहीं बना सकता। अमर होने का तात्पर्य आपकी यादों और अनुभवों की अखंडता है, जो क्लोनिंग से संभव न हो पाएगा।

III. **अन्य निहित भय :** जीवनकाल में पर्यावरण में म्यूटाजनों और विकिरणों द्वारा डी. एन. ए. में विकृतियाँ उत्पन्न होती रहती हैं जो विभिन्न कोशिकाओं में एकत्रित होती रहती हैं। अनिषेचित प्रजनन द्वारा कोशिकाओं में काफी हद तक डी एन ए का सुधार होता रहता है। लैंगिक प्रजनन के दौरान, दो अभिभावकों की जीनों का संयोजन होता है जो एक दूसरे के पूरक होते हैं। अतः ऐसी विकृतियाँ अभिव्यक्त नहीं हो पातीं। अलैंगिक प्रजनन में ऐसी विकृतियों से कोई निदान नहीं दिखता। एकत्रित आनुवंशिक विकृतियों के अभिव्यक्त होने की संभावना मानव क्लोन के विकास में एक बाधा है। (पर हाँ—अंग प्रतिरोपण के लिए मानव क्लोन का विकास कुछ संभावना रखता है।)

IV. **नर की आवश्यकता पर प्रश्न चिह्न? :** क्लोनोत्पत्ति के लिए मादा का अंडा अति आवश्यक है। केन्द्रक तो नर या मादा कहीं से भी लिया जा सकता है। इससे नर की आवश्यकता पर प्रश्न चिह्न लगता है। लैंगिक प्रजनन आनुवंशिकी के विभिन्न संयोजनों से विविधता उत्पन्न करता है जिससे अच्छी नस्लें बनती हैं। अलैंगिक प्रजनन को अपनाना आत्महत्या की तरह होगा। फिर भी बांझ लोग या समलैंगिक लोग भविष्य में क्लोनिंग की तकनीक अपना सकते हैं। हो सकता है औरतें यह जिम्मेदारी सिर्फ अपने ऊपर ले लें लेकिन पुरुष रहित औरतों का यह समाज बहुत ही नीरस होगा।

किसी भी महत्त्वपूर्ण खोज के दो पहलू होते हैं। नाभिकीय ऊर्जा इसका एक अच्छा उदाहरण है, एक तरफ इसका उपयोग विद्युतोत्पादन या भेषजज्ञान में हो रहा है, दूसरी ओर विश्व को नष्ट करने के लिए एटमबम बन रहे हैं। इसी तरह क्लोनिंग की उपयोगिता भी हो सकती है। इस पर प्रतिबन्ध लगाने से पहले इसके सभी पहलुओं पर गौर करना आवश्यक है।

86

आर्सेनिक प्रदूषण–एक ज्वलंत पर्यावरणीय समस्या*

डॉ. हेम चन्द्र जोशी

मनुष्य ने प्राकृतिक संतुलन को इतना बिगाड़ दिया है कि वह अब पर्यावरण प्रदूषण के रूप में इसके दुष्परिणों की विभीषका से जूझ रहा है। धातुओं का ही उदाहरण में, जिन्होंने सभ्यता को यंत्रों, रसायनों, औषधियों, वस्त्रों इत्यादि की उपयोगिता, सहजता तथा संदुरता प्रदान करने में उल्लेखनीय योगदान दिया है अब विकास की दौड़ में इन धातुओं का प्रकृति से इतना उत्खनन हुआ है कि भूमंडलीय पर्यावरण में ये खतरनाक मात्रा में फैल गए हैं। (देखिए सारणी-1) इस शताब्दी के पांचवें वे छठे दशक में सरकारी कैडमियम जैसी धातुओं के कारण हुई 'मिनामाता' व 'इटाई-इटाई' जैसी दुर्घटनाओं से हमारा परिचय हो चुका है। आज दुनिया का एक बड़ा भाग आर्सेनिक के प्रकोप को झेल रहा है।

आर्सेनिक, वायु, जल और मिट्टी का सामान्य पर्यावरणीय प्रदूषक बन चुका है। यह सामान्यतया ज्वालामुखी से प्राप्त लावे में विद्यमान कॉपर तथा लेड के खनिजों में पाया जाता है। भूमिगत चट्टानों तथा मृदा से प्राकृतिक स्रोतों के जल में इसका रिसाव प्रायः होता रहता है। अमेरिका जैसे विकसित देश में भी कई स्थानों पर पेय जल में आर्सेनिक की अधिकता एक ज्वलंत समस्या है। अर्जेन्टाइना, चिली व ओरगान (स.रा.अ.0) में पेयजल में आर्सेनिक की अधिकता पाई जाती है।

भूमिगत जल में आर्सेनिक प्रदूषण दक्षिणी एशिया में भारत व बांग्लादेश के एक बड़े भू-भाग के लिए एक विकट समस्या बना हुआ है। जहाँ भारत में पश्चिम बंगाल के छः जिले आर्सेनिक के प्रकोप से प्रभावित हैं। बांग्लादेश में यह एक गंभीर राष्ट्रीय विभीषिका के रूप में उभर रहा है। बांग्लादेश के कुल 64 जिलों में से 59 जिले आर्सेनिक प्रदूषण से प्रभावित है। पूरे देश का 85 प्रतिशत भू-भाग तथा 7.5 करोड़ जनसंख्या इस त्रासदी से ग्रस्त हैं। 12 लाख लोग प्रतिदिन आर्सेनिक बहुल जल पी रहे हैं तथा 2.5 करोड़ लोगों के भविष्य को खतरा है। ऐसे 7000 रोगियों की पुष्टि हो चुकी है जो कि आर्सेनिक की विषाक्तता के शिकार हो चुके हैं। समस्या पेय जल की ही है, जो कि मानव

---

* आविष्कार, जून 2000

शरीर की दैनिक आवश्यकता है। यदि इसी में घुला विष धीरे-धीरे किसी को मार रहा हो तो क्या किया जाए। यही पहला विकल्प है कि पानी का दूसरा स्रोत ढूंढा जाए या फिर उसे साफ किया जाए। इतने विशाल स्तर पर यह उपाय कोई आसान नहीं। इसीलिए इस वर्ष फरवरी में ढाका में इसी विषय पर एक अंतरराष्ट्रीय गोष्ठी का आयोजन किया गया जिसमें विश्व के विभिन्न देशों के वैज्ञानिकों तथा पर्यावरणविदों ने भाग लिया। पिछले 3 वर्षों में यह इस प्रकार का तीसरा बड़ा आयोजन था। यह उचित भी था। जानकारी एकत्रित की जाए तथा जितना भी उसका प्रचार-प्रसार किया जाए वह समस्या के समाधान में सहायक होगा।

सारणी - 1 : वायुमंडल, जल तथा मृदा में धातुओं का भूमंडलीय उत्सर्जन

	1000 मीट्रिक टन प्रति वर्ष		
तत्त्व	**वायु**	**जल**	**मृदा**
आर्सेनिक	18.8	4.1	82
कैडमियम	7.6	9.4	22
क्रोमियम	30.0	142	896
कॉपर	35.0	112	954
मरकरी	3.6	4.6	8.3
मैगनीज़	38.0	262	1670
मालिब्डेनम	3.3	11	88
निकेल	56.0	113	325
लैड	330.0	138	796
एंटीमनी	3.5	18	26
बैनेडियम	86.0	12	132
जिंक	132.0	226	1372

स्रोत : त्रिआगू (1988)

कीटनाशी रसायनों के कृषि में प्रयोग से भी आर्सेनिक मिट्टी की ऊपरी सतह से वर्षा पर सिंचाई के बाद जलमार्गों तथा भूमिगत जल में पहुंच जाता है। सारणी-4 में इन रसायनों को सूचीबद्ध किया गया है। आर्सेनिक का इस्तेमाल करने वाले विभिन्न उद्योगों के विशिष्ट इस्तेमाल करने वाले विभिन्न उद्योगों के अपशिष्ट के जरिए भी यह धातु पर्यावरण में पहुंचती है।

औद्योगिक स्रोत

आर्सेनिक का पर्यावरण में रिसाव करने वाले उद्योगों में प्रमुख हैं : शीशा उद्योग, रंजक

(पिगमेंट, डाइंग), एनामल तथा दुर्गंधनाशक रसायन उद्योग, वस्त्र उद्योग, आतिशबाजी बनाने वाली इकाइयां तथा औषधि उद्योग। यही नहीं तेजी से फैल रही सूचना प्रौद्योगिकी के विभिन्न उपकरणों के निर्माण में आर्सेनिक का इस्तेमाल बढ़ रहा है। जब से यह खोज हुई है कि सिल्किन की अपेक्षा गैलियम आर्सेनाइड अधिक अच्छा अतिविद्युत चालक है इस धातु का इस्तेमाल अर्धचालक (सेमी कंडक्टर), एकीकृत परिपथ (इंटीग्रेटेड सर्किट), डायोड इन्फ्रारेड परिमापक तथा लेजर प्रौद्योगिकी में काफी बढ़ चुका है। सूचना उद्योग आज जिस गति से बढ़ रहा है उसके आधार पर यह कहा जा सकता है शीघ्र ही इन उपकरणों के लिए गैलियम आर्सेनाइड का विकल्प ढूंढना नितांत आवश्यक हो जाएगा।

सारणी-2 : प्रकृति में आर्सेनिक की उपलब्धता

क. प्राकृतिक स्वरूप	
1. आर्सेनिक पाइराइट (खनिज)	
2. मिसपिकेल	
3. आरपीमेंट	
4. रीयलगर	
ख. विभिन्न शैलों में आर्सेनिक की मात्रा	
1. भूपर्पटी	1.8 माइक्रोग्राम प्रतिग्राम
2. चूना पत्थर (लाइमस्टोन)	1 माइक्रोग्राम प्रतिग्राम
3. आग्नेय शैल	2 माइक्रोगम्र प्रतिग्राम
4. ज्वालामुखीय शैल	20 माइक्रोग्राम प्रतिग्राम
5. सल्फाइड शैलों के ऊपर बिछे शैल	10,000 माइक्रोग्राम प्रतिग्राम

मनुष्य पर प्रभाव

यूँ तो आर्सेनिक सदियों से एक औषधि के रूप में उपयोगी रहा है परंतु औषधि के रूप में आर्सेनिक के उपयोग में मात्रा तथा समय का विशेष ध्यान रखा जाता है। परंतु पर्यावरण के जरिए मानव शरीर में पहुंचने वाले आर्सेनिक की मात्रा निश्चित नहीं होती तथा यह लगातार दीर्घकाल तक शरीर में संचयित होता रहता है जिसके दुष्परिणाम काफी समय बाद प्रकट होते हैं और जब तक यह पता लगता है कि शरीर में आर्सेनिक की विषाक्तता है तब तक काफी समय बीत चुका होता है। कई परिस्थितियों में उपचार संभव हो जाता है। अतः पर्यावरणीय मार्ग से धीरे-धीरे शरीर में पहुँचा आर्सेनिक ज्यादातर मामलों में प्राणघाती सिद्ध होता है।

मनुष्य में पर्यावरणीय आर्सेनिक मुख्यतया जल तथा भोजन के माध्यम से पाचन नली में तथा दूषित वायु से श्वसन द्वारा फेफड़ों तक पहुंचता है। त्रिसंयोजी आर्सेनिक के

घुलनशील यौगिकों का लगभग 95 प्रतिशत अंश मानव शरीर में पाचननली में भोजन द्वारा अवशोषित होकर पहुंचता है। पाचननली तथा फेफड़ों द्वारा अवशोषित होकर आर्सेनिक मनुष्य के रक्त में मिलता है जहां यह लाल रक्त कणों में उपस्थित हीमोग्लोबिन से जुड़ कर शरीर के विभिन्न अंगों तक पहुँचता है। मनुष्य में नाखून तथा बाल में तथा उसके बाद त्वचा व फेफड़ों में संचयित होता है। शरीर में पहुँचने के बाद विभिन्न उपापचय प्रक्रियाओं के फलस्वरूप लगभग 70 प्रतिशत आर्सेनिक मूत्र के माध्यम से शरीर से बाहर निकल जाता है। मनुष्य में आर्सेनिक की जाँच के लिए मूत्र के नमूनों की जाँच प्राय इसीलिए की जाती है। मनुष्य के शरीर में आर्सेनिक का अर्धजीवन काल लगभग 10 घंटे है अर्थात् मनुष्य के शरीर में पहुँचने के बाद लगभग 10 घंटे से 50 प्रतिशत आर्सेनिक बाहर निकल आता है।

सारणी-3 : पर्यावरण में आर्सेनिक उत्सर्जन के मानव निर्मित स्रोत

1. फास्फेट उर्वरक उद्योग
2. खनन व गलन उद्योग
3. तैल शोधन उद्योग
4. कोयला दहन
5. शीशा उद्योग
6. रंजक, एनामल तथा दुर्गंधनाशी रसायन उद्योग
7. वस्त्र उद्योग
8. आतिशबाजी उद्योग
9. औषधि उद्योग
10. कृषि रसायन उद्योग
11. सूचना प्रौद्योगिकी उद्योग

एक सामान्य रूप से स्वस्थ (70-75 किलोग्राम) के लिए आर्सेनिक की 100 मिलीग्राम मात्रा का सेवन प्राणघाती सिद्ध हो सकता है। आर्सेनिक के अचानक शरीर में इतनी अधिक मात्रा में पहुँचने से पाचननली में सूजन आ जाना, गला बंद हो जाना, पाचन क्रिया में गड़बड़ी, वमन, दस्त, जल अल्पता, पांवों में मरोड़, अनियमित नाड़ी, चक्कर आना, पक्षाघात, व बेहोशी के बाद मृत्यु भी हो सकती है। यदि प्राण न भी जाए तो स्थाई चर्म रोग, नाड़ी रोग, हृदय विकलता तथा रक्त कैंसर भी हो सकता है। इससे भी सूक्ष्म या अतिसूक्ष्म मात्रा में आर्सेनिक की शरीर में पहुँचने के भी दूरगामी गंभीर परिणाम हो सकते हैं। देर से पता चलने के कारण ये और भी खतरनाक हो सकते हैं। आर्सेनिक का मानव शरीर में लगातार प्रवेश इन्हीं कारणों से अत्यंत खतरनाक समझा जाता है। विश्व में जहाँ-जहाँ भी लोग आर्सेनिक की विभीषिका से ग्रसित हुए हैं उनका प्रारंभ में उपचार किसी अन्य रोग के लिए होता रहा है तथा जब रोगियों की संख्या बढ़ने

लगती है तब ही आर्सेनिक पर संदेह प्राप्त होता है और इसी विलंब से एक साधारण समस्या विभीषिका के रूप में परिवर्तित हो जाती है।

पर्यावरणीय आर्सेनिक का मानव शरीर में प्रवेश का खतरा प्रमुखतया प्रदूषित जल के माध्यम से होता है। यही समस्या, आज विश्व के विभिन्न क्षेत्रों में चिंता का कारण बनी हुई है इससे केवल स्थानीय सरकारें ही नहीं पूरा अंतरराष्ट्रीय समाज आंदोलित है। लैगुनेटा क्षेत्र (उत्तरी मैक्सिको) कोर्डाबा (अर्जेन्टाइना), औटोफैगास्टा (चिली), मिलार्ड काउंटी, ऊहा (अमेरिका) मे पानी में आर्सेनिक की अधिकता विभीषिका का रूप ले चुकी है। इंग्लैंड, आस्ट्रलिया, चीन, हंगरी, मंगोलिया, ताइवान, फिलीपीन्स आदि देशों में भी आर्सेनिक प्रदूषण दृष्टिगोचर हुआ है। लेकिन आज इस विभीषिका से पीड़ित है भारतीय उपमहाद्वीप का पूर्वी भाग भारत में पश्चिम बंगाल तथा लगभग समूचा बांग्लादेश। बीसवीं सदी के अंतिम दशक में भूमिगत पेय जल मेथोनिक की अधिकता से प्रभावित रहे हैं। भूमिगत जल में आर्सेनिक प्रदूषण आज भी इस क्षेत्र की एक ज्वलंत समस्या बना हुआ है।

भारतीय उपमहाद्वीप आर्सेनिक प्रदूषण वर्ष 1987-88 में कलकत्ता के इंस्टीस्यूट ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन में जल हाथ व पांवो में काले-काले चकते वाले रोगियों की संख्या दिन प्रतिदिन बढ़ने लगी है। तब किसी को यह ख्याल नहीं था कि यह रोग कोई छूत का रोग या सामान्य महामारी न होकर एक भयावह पर्यावरणीय दुर्घटना है। स्थिति की गंभीरता को बढ़ता देखकर तथा कुछ स्थान विशेष में रोग के फैलाव को ध्यान में रखते हुए वहाँ के पेय जल की जांच करने से मालूम हो सका कि ये लोग पेय जल में आर्सेनिक की अधिकता के शिकार हो रहे हैं। प्रारंभ में यही समझा गया कि खेती में आर्सेनिक युक्त रसायनों के इस्तेमाल से भूमिगत जल प्रदूषित हो गया है। परंतु समस्या जब एक जिले से दूसरे, तीसरे जिले तक फैलने लगी तथा पाया गया कि हुगली महानद के पूर्व में बांग्लादेश की सीमा से जुड़े छः जिले इस समस्या से प्रभावित हैं तो सर्वेक्षणों का दोर प्रारंभ हुआ। फिर पता चला कि बांग्लादेश में तो यह और भी गंभीर रूप में मौजूद है।

सारणी-4 कृषि में प्रयुक्त आर्सेनिक युक्त रसायन

कार्बनिक रसायन	अकार्बनिक रसायन
• मीथेनो आर्सेनिक एसिड	• लेड आर्सीनेट
• मानो सोडियम मीथेनो आर्सीनेट	• कैल्सियम आर्सीनेट
• डार सोडियम मीथेनो आर्सीनेट	• सोडियम आर्सीनेट
• मोनो सोडियम मीथेनो आर्सीनेट	• आर्सेनिक ऐसिड
• डाई टाइड्रॉक्सी डाइमिथाइल आरसीन	• आर्सेनिक ट्राइआक्साइड
• मोनो सोडियम ट्राइड्रोक्सी	
• डाई मिथाइल आरसीन	

वर्ष 1993 तक यह निश्चित हो चुका था कि बांग्लादेश के कुल 64 जिलों में से 4 जिलों में भूमिगत जल आर्सेनिक से प्रदूपित है और वहां की लगभग 50 प्रतिशत जनसंख्या अर्थात् 6 करोड़ लोग इसकी विभीपिका की चपेट में हैं। बांग्ला देश के ढाका समुदायिक चिकित्सालय तथा कलकत्ता के जादवपुर विश्वविद्यालय के पर्यावरण विज्ञान संकाय के संयुक्त सर्वेक्षण के अनुसार इस समूचे क्षेत्र में भूमिगत जल में आर्सेनिक की मात्रा भारत व बांग्लादेश में स्थापित मानक मात्रा 0.05 मिलीग्राम प्रति लीटर से अधिक थी। विश्व स्वास्थ्य संगठन द्वारा जल में आर्सेनिक की मात्रा केवल 0.01 मिलीग्राम प्रति लीटर प्रस्तावित की गई है। सर्वेक्षण दल ने ऐसे 2000 रोगग्रस्त लोगों की पहचान की है जो कि आर्सेनिक प्रदूषण से ग्रस्त थे। कुछ अनाधिकृत रिपोर्टों के अनुसार सैकड़ों लोग पानी में घुले आर्सेनिक के प्रभाव से पहले ही मृत्यु का ग्रास बन चुके हैं तथा प्रभावित लोगों की संख्या कई हजारों में है। देंची सलाहकार समूह जापान की वर्ष 1999 की रिपोर्ट के अनुसार आर्सेनिक विपाक्तता से गंभीर रूप से ग्रस्त रोगियों की संख्या लगभग 7000 तक पहुँच चुकी है तथा आर्सेनिक प्रदूषण 59 जिलों तक फैल चुका है जिससे करीब 705 करोड़ लोगों को खतरा है।

भूमिगत जल पर निरंतर बढ़ते दबाव के कारण समस्या और भी गंभीर हो गई है क्योंकि नलकूपों की गहराई दिन प्रतिदिन बढ़ती जा रही है। 41 जिलों में लगभग सभी नलकूपों का जल आर्सेनिक से प्रदूपित पाया गया है। संयोगवश इस क्षेत्र में अशिक्षा के कारण भी इस प्रकार की बीमारी एक सामाजिक विकृति के रूप में उभर रही है। लोगों को यह भी समझाना पड़ रहा है कि यह कोई ऐसी बीमारी नहीं है जो संपर्क या स्पर्श से फैलती है। समस्या की गंभीरता को देखते हुए बांग्लादेश सरकार ने एक उच्च शक्ति कार्यदल का गठन किया है जिसमें जनस्वास्थ्य से संबद्ध विशेपज्ञों से इस समस्या का निदान ढूंढ़ने का आग्रह किया गया है।

पश्चिम बंगाल के छः जिलों—मुर्शिदाबाद, मालदा, उत्तरी तथा दक्षिणी 24 परगना, नादिया और बर्दवान में भूमिगत जल के आर्सेनिक द्वारा प्रदूपित होने की पुष्टि हुई है। राष्ट्रीय पेय जल अभियान के तत्त्वाधान में भारतीय भूगर्भ सर्वेक्षण संस्था, भारतीय जल स्वास्थ्य तथा स्वच्छता संस्थान, स्कूल ऑफ ट्रॉपिकल मेडिसिन, केंद्रीय भूमिगत जल बोर्ड, पश्चिम बंगाल के जल अन्वेषण निर्देशालय तथा प्रेसीडेंसी महाविद्यालय के अध्ययनों में पाया गया है कि 18-42 मीटर की गहराई पर स्थापित नलकूपों के जल में आर्सेनिक की अधिकता है। इस गहराई के बीच लिए गए नमूनों में सामान्यतया आर्सेनिक की उपस्थिति 0.05 मिलीग्राम प्रति लीटर से अधिक है।

समस्या का पर्यावरणीय स्वरूप

इससे तो यह समस्या सीधे आर्सेनिक प्रदूषण से जुड़ी है परंतु यह एक ऐसे क्षेत्र में हुई है जहां औद्योगिक विकास विकसित देशों की तुलना में 'न' के बराबर है। कुछ

लोग कृषि में प्रयुक्त आर्सेनिक कीटनाशियों को दोषी ठहराते हैं तो कुछ सघन विद्युतीकरण के फलस्वरूप सी.सी.ए. (कापर कीमेंट-आर्सेनेट) से उपचारित बिजली के खंभों से आर्सेनिक रिसाव को। लेकिन इतने बड़े क्षेत्र में आर्सेनिक का फैलाव वहाँ की बढ़ती जनसंख्या व गरीबी से जुड़ा हुआ है। 5200 वर्गमील क्षेत्र में फैले बांग्लादेश की जनसंख्या लगभग 12 करोड़ है तथा सघनता 2308 व्यक्ति वर्गमील जो कि विश्व में सर्वाधिक है। यहां का सकल राष्ट्रीय उत्पाद 230 डालर प्रति व्यक्ति है। नदियों की संख्या 230 है तथा कुल लंबाई 15000 मील है। अर्थात आर्थिक रूप से पिछड़ा होने के आवजूद देश में पानी का अभाव नहीं है। फिर वहां भूमिगत जल का प्रयोग क्यों हो रहा? आर्थिक जनसंख्या व कम विकास के कारण भूमि के ऊपर का लगभग समूचा मीठा जल मानव मलजल से प्रदूषित होकर पीने लायक नहीं रह गया है। 1960 व 1970 के दशकों में हैजा, डायरिया इत्यादि बीमारियों की आवृत्ति बढ़ने से लोगों की भूमिगत जल खींचने वाले, नलकूपों पर निर्भरता बढ़ने लगी। इस बात को ध्यान में रखते हुए 'यूनीसेफ' के तत्त्वावधान में बांग्लादेश में स्वच्छ जल की आपूर्ति के लिए लगभग 10 लाख नलकूपों की स्थापना की गई। प्रारंभ में इन नलकूपों का जल स्वच्छ रहा होगा पर कालांतर में भूमिगत जलाशयों में दबाव बढ़ने से भूमिगत शैलों में उपस्थित तत्त्व जैसे लोहा व उसके साथ आर्सेनिक जैसे विषैले तत्त्व का धीरे-धीरे जल में रिसाव प्रारंभ हुआ होगा। प्रारंभ के 10-15 वर्षों में आधुनिक से प्रभावित लोगों के रोग के कारणें की पुष्टि होने तक समस्या ने विभीषिका का रूप ले लिया और इस बीच नए नलकूपों की खुदाई का काम भी बंद नहीं हुआ, बल्कि बढ़ता ही रहा। अब जबकि इस बात की पुष्टि हुई है कि नलकूपों द्वारा निकाले जाने वाले भूमिगत जल का वातावरणीय आक्सीजन से संपर्क न होने में कारण भूमिगत लौह पाइराइट शैलों से अनाक्सीकारी विघटन के कारण लौह पानी में घुल जाता है। इन भूमिगत शैलों में लौह की मात्रा 3.7 प्रतिशत तथा आर्सेनिक की मात्रा लगभग 26 मिलीग्राम प्रति किलोग्राम मापी गई है। यह भी देखा गया है कि पुराने खुले कुओं जिनमें पानी का आक्सीजन से संपर्क है आर्सेनिक की मात्रा (0.05 मिलीग्राम प्रति लीटर से कम) बंद नलकूप में पाई गई मात्रा (0.26 मिलीग्राम प्रति लीटर) से कहीं कम है। इन अध्ययनों से यह स्पष्ट है कि भूमिगत शैलों की आक्सीजन के अभाव में विभवपूर्ण जल से अनाक्सीकरण प्रक्रिया के फलस्वरूप आर्सेनिक के जल में प्रवेश में ही इस विभीषिका का मूल छिपा है। संभवतः समाधान भी यहीं से आरंभ होंगे।

समस्या का समाधान

जैसा कि स्पष्ट है आर्सेनिक का रिसाव नलकूप द्वारा निकाले गए जल में आक्सीजन के अभाव के कारण होता है। जल का आक्सीकरण या वातायन (एरेशण) इसका एक संभावित समाधान है। पर यह वातावरण भूमि के भीतर संभव नहीं है। यह पीने के लिए

ऊपर लाए गए पानी में भी किया जा सकता है। आने वाले समय में इसी सिद्धांत पर नए-नए संयंत्र व विधियां संकसित होंगी। ऐसी संभावना है। इस समय बांग्लादेश में कई अंतरराष्ट्रीय अभिकरण इस उद्देश्य से अपनी-अपनी परियोजनाएं चला रहे हैं। एक आस्ट्रेलियाई मिशन ने पेय जल की बाल्टी में एक विशिष्ट मृत्तिका मिलाकर, हिलाकर तथा छानकर जल साफ करने की विधि तैयार की है। इसी प्रकार जर्मनी की एक निजी कंपनी एक्वागार्ड जैसा घरेलू स्तर का एक लघु संयंत्र तैयार कर रही है जिस का आर्सेनिक मुक्त जल प्राप्त हो सकेगा इन विधियों से तात्कालिक रूप में पेय जल की प्राप्ति तो हो जाएगी पर प्रत्येक व्यक्ति में इसका खर्चा उठाने की क्षमता होगी या नहीं यह निश्चित नहीं है। इसके अलावा छनन प्रक्रिया में निकले अवसाद का सुरक्षात्मक निपटान कैसे होगा यह भी निश्चित नहीं है।

87

बोतलबंद शीतल पेयों की बढ़ती खतरनाक परंपरा*

विजय चितौरी

आजकल गर्मी के मौसम में बोतलबन्द शीतलपेयों की बहार है। शहर ही नहीं इनकी पहुँच अब कस्बे और गांवों तक हो गयी है। सबसे खतरनाक बात तो यह हो गयी है कि ये शीतल पेय अब आदमी के स्तर का पैमाना बनते जा रहे हैं। स्वागत-सत्कार की भारतीय परंपरा का तेजी से लोप हो रहा है और उसका स्थान ऐसी परंपराएँ ले रही हैं जो न केवल हमारे स्वास्थ्य और अस्तित्व के लिए खतरनाक हैं वरन् राष्ट्रीय हित में भी नहीं हैं।

हमारे यहाँ फलों, सब्जियों और अन्य खाद्य पदार्थों की बहुतायत रही है। हर मौसम में अलग-अलग खाद्य। प्रकृति ने हर मौसम में जिन फलों या सब्जियों को पैदा किया है वे फल और सब्जियाँ मौसम के कुप्रभावों से बचाने के गुणों से युक्त होती हैं। गर्मियों का मौसम तकलीफदेह होता है लेकिन प्रकृति ने इससे बचने के लिए इस मौसम में एक से बढ़कर एक फल-फूल तैयार किया है जिसके सेवन से मौसम के कुप्रभाव तो दूर होंगे ही, आदमी का स्वास्थ्य और सौंदर्य भी बढ़ेगा। आम, बेल, फालसा, खरबूज, तरबूज आदि ऐसे ही नायाब फल हैं। इसके अलावा हमारे पूर्वजों ने अपने अनुभवों के आधार पर अनेक तरह के पेय तैयार करने की विधियां खोजी थीं जिनकी तुलना आज भी दुनिया का कोई पेय नहीं कर सकता। फालसा और बेल का शर्बत, आम का पना तथा ठंडाई आदि शीतल पेय के रूप में प्रयोग किए जाते रहे हैं। इनसे एक ओर जहाँ तुरन्त गर्मी से राहत मिलती है वहीं दूसरी ओर आवश्यक पोषण और कैलोरी की प्राप्ति होती है।

जैसे बेल के फल को ही लें। बेल के सौ ग्राम गूदे में 61 ग्राम पानी तथा 32 ग्राम कार्बोहाइड्रेट या शर्करा पायी जाती है। इसके सौ ग्राम गूदे में 131 कैलोरी ऊर्जा मिलती है। साथ में कैरोटिन, थायमिन, नियासिन ओर रिबोफ्लेविन विटामिन आदि भी पाए जाते हैं। फालसे का शर्बत भी गुणों की खान है। इससे शरीर को तरावट मिलती है, हड्डियाँ और दांत मजबूत होते हैं। फालसा में मैग्नीशियम होता है जो दिल के रोगों में फायदेमंद है। सौ ग्राम फालसा से प्रायः 92 कैलोरी ऊर्जा भी मिलती है।

---

* विज्ञान, अगस्त 2000

नींबू का शर्बत चीनी, खांड, राब या किसी भी मीठे पदार्थ से बनाया जा सकता है, हमारे घरों में अतिथियों के स्वागत के लिए इस तरह के शर्बत पेश करने की आज भी परंपरा है। शहद का शर्बत आम बात तो नहीं है लेकिन इसे आम प्रचलन में लाया जा सकता है। एक गिलास ठंडा पानी लेकर उसमें दो चम्मच शहद मिलाने से पौष्टिक, विटामिन युक्त शर्बत तैयार हो जाता है। जिसके पीने से तुरन्त ऊर्जा मिलती है। क्योंकि शहद में प्री-डाइजेस्टेड (पूर्व पचित) शर्करा रहती है जिसे पचाने के लिए पाचन संस्थान को मेहनत नहीं करनी पड़ती।

गर्मी में होने वाले फलों के राजा आम के गुणों से कौन परिचित नहीं है। आम केवल स्वादिष्ट फल ही नहीं अपितु ओषधि भी है। कच्चे आम को भूनकर फिर इसके गूद का पना बनाकर पीना गाँव में एक परंपरा रही है। यह पेय लू की रामबाण दवा मानी गई है। पका फल कार्बोहाइड्रेट और विटामिनों का खजाना है। बाजारों में लस्सी और गन्ने का रस आज भी लोकप्रिय है। अनेक दुकानों पर ये चीजें बिकती हैं। लेकिन शीतल पेयों के जबरदस्त हमले में ये चीजें भी ज्यादा दिन टिक पाएँगी, इसमें शंका है। बाजारों में बिकने वाली ठंडाई का रिवाज भी कम हो रहा है। ठंडाई वास्तव में कई चीजों, जैसे गुलाब का फूल, तरबूजे का बीज, सौंफ आदि का मिश्रण होता है। जिन्हें घोंट-पीसकर फिर शर्बत बनाकर पिया जाता है। लेकिन 'रेडिमेट फूड' के जमाने में अब लोग यह सब झंझट वाला काम समझने लगे हैं।

पूर्वी उत्तर प्रदेश एवं बिहार में ग्रामीण लोग सत्तू का उपयोग प्राचीन काल से कर रहे हैं। चने और जौ को भूनकर बनाया गया यह सत्तू बहुत ही स्वादिष्ट और शीघ्र ही पचने वाला 'रेडीमेड फूड' है। बिहार में गर्मियों में लोग सत्तू को घोलकर उसमें थोड़ा नमक डालकर वैसे ही पीते हैं जैसे दूध पिया जाता है। सत्तू का यह गर्मी के लिए अत्यंत हितकर है और पूरे दिन भर शरीर में तरावट रखता है।

यह दुर्भाग्यपूर्ण ही है कि गर्मीनाशक विविध फलों एवं पेय पदार्थों वाले इस देश में आज ऐसे बोतल-बन्द पेय तेजी से लोकप्रिय हो रहे हैं जिससे शरीर को फायदा तो कुछ नहीं होता, उल्टे हानि ही हाती है। यही नहीं, हमारी मेहनत की कमाई भी विदेशी बहुराष्ट्रीय कम्पनियों की तिजोरी में सिमटती जा रही है। आइए देखें ये बोतलबन्द पेय हैं क्या?

बोतलबन्द पेयों का चलन पश्चिम के देशों से शुरू हुआ। वहाँ इस तरह के खाद्य पदार्थों की आवश्यकता भी थी। बोतलबंद फलों के जूस के अलावा वहाँ कार्बोहाइड्रेट वाटर या 'कोल्ड ड्रिंक्स' ज्यादा लोकप्रिय हुए। इन्हें 'सोडावाटर' भी कहते हैं। सोडावाटर की खोज प्रसिद्ध वैज्ञानिक **प्रीस्टले** ने की थी। यह अधिक दाब पर जल में कार्बन डाइऑक्साइड को घोलकर बनाया जाता है। बाद में इस पेय में कृत्रिम मीठे और तरह-तरह की सुगंध डालकर अनेक ब्रांड नामों में पेय बनाए गए। इनका विशेष स्वाद शुरू में कुछ अजीब जरूर लगता है लेकिन शीघ्र ही यह जीभ को ऐसा पसंद आ जाता

है कि लोग इसे चाव से पीने लगते हैं। पश्चिम से शुरू हुए इस तरह के शीतल पेयों की पहुँच आज पूरी दुनियां में हो चुकी है। अनेक बहुराष्ट्रीय कंपनियाँ पानी में कार्बनडाइऑक्साइड को घोलकर और कृत्रिम मीटा और सुगंध मिलाकर सारी दुनिया को लूटकर मालामाल हो रही हैं। इस तरह की कंपनियों में ''कोका कोला', और 'पेप्सी कोला' प्रमुख हैं। 'कोका कोला' को तो 1977 में निकाल दिया गया था किन्तु बाद में अपनी तिकड़म के बल पर 'कोका कोला' ही नहीं 'पेप्सी' भी देश में प्रवेश कर गयी। आज ये दोनों कंपनियाँ न केवल खुलेआम देश को लूट रही हैं वरन् यहाँ की समृद्ध खान-पान परंपरा को भी तहस-नहस किए जा रही हैं।

शीतल पेय किसी भी दृष्टि से मानव स्वास्थ्य के लिए उपयोगी नहीं हैं। कुछ वर्षों पूर्व ही अपने देश के शीतल पेयों में बी.वी.ओ. (B.V.O) नामक पदार्थ मिले होने या न होने पर बड़ा बवाल मचा था। इस सम्बन्ध में पेप्सी और अन्य शीतल पेय निर्माता कंपनियों ने एक दूसरे पर दोषारोपण किया था। बी.वी.ओ. में ब्रोमिन (क्लोरीन की तरह का जहरीला तत्त्व) मिला होता है। जापान, केन्या, ब्रिटेन तथा स्वीडेन सहित विश्व के 129 देशों में बी.वी.ओ. के प्रयोग पर पाबन्दी है। परीक्षणों में पाया गया कि बी.वी.ओ. के सेवन से पाचन तंत्र हृदय रोग, प्रजनन शक्ति व याददाश्त कमजोर हो सकती है। यही नहीं, इससे कैंसर का भी खतरा बढ़ जाता है। भारत में 1 पी.पी. एम. (p.p.m) तक बी. वी.ओ. की मिलावट की छूट दी गई है। ऐसा इस आधार पर किया गया है कि कार्बोनेटेड और साइट्रस की महक वाले शीतल पेयों में बी.वी.ओ. मिलाने से पेय में प्रयुक्त तेल और पानी आपस में अच्छी तरह मिल जाते हैं।

कृत्रिम रंग और कृत्रिम मिठास की खोज ने तो शीतल पेयों की दुनियाँ में तहलका मचा दिया। फलों के जूस का कारोबार मँहगा पड़ने लगा। फलतः इस क्षेत्र में लगी कम्पनियों ने मानव स्वास्थ्य की परवाह न करते हुए कार्बोनेटेड जल में कृत्रिम मिठास और फलों की कृत्रिम खुशबू डालकर असली फलों जैसा जूस तैयार कर दिया। वैज्ञानिक परीक्षणों से यह बात सिद्ध हो चुकी है कि सभी कृत्रिम रंग स्वास्थ्य के लिए हानिकारक हैं। अनेक तो ऐसे हैं जिनसे कैंसर जैसी बीमारियाँ भी उत्पन्न हो सकती हैं। आजकल शीतल पेयों में कृत्रिम मिठास के रूप में सैक्रीन का उपयोग बहुतायत से किया जा रहा है जबकि सैक्रीन भी संदेह के घेरे वाला पदार्थ है। सैक्रीन में कुछ ऐसे तत्त्व पाए गए हैं जिनसे कैंसर हो सकता है। अमेरिका में सैक्रीन युक्त खाद्य पदार्थों के लेबल पर सैक्रीन की उपस्थिति सम्बन्धी सूचना लिखना जरूरी है लेकिन हमारे देश में **किसी भी शीतल पेय की बोतल पर न तो कृत्रिम मीठे का नाम लिखा मिलता है और न यह जानकारी ही मिलती है कि पेय कब भरा गया तथा यह कब तक प्रयुक्त हो सकता है।** आज दवाओं के क्षेत्र में दवा के निर्माण और प्रयोग की अवधि सम्बन्धी सूचना अनिवार्य रूप में लिखी जाती है। फिर यही नियम शीतल पेयों पर क्यों नहीं लागू हो रहा है? आश्चर्य का विषय है क्योंकि जनस्वास्थ्य की दृष्टि में शीतल पेयों पर ये सूचनाएँ लिखना ज्यादा जरूरी है।

शीतल पेयों में हानिकारक अम्लों की भरमार रहती है जिससे पाचन क्रिया में गड़बड़ी आ जाती है। फॉस्फोरिक एसिड अति आवश्यक पोषणतत्त्व को ग्रहण कर लेता है। ऐसी स्थिति में शरीर में कैल्सियम-फास्फोरस का संतुलन गड़बड़ा जाता है। एक सर्वेक्षण के अनुसार देखा गया है कि प्रति गिलास शीतल पेय में औसतन डेढ़ दो चम्मच चीनी होती है, विशेषज्ञों के मुताबिक अधिक मात्रा में और बार-बार शीतल पेय लेने वालों के दाँतों के लिए यह चीनी हानिकारक हो सकती है, क्योंकि चीनी की उपस्थिति से जीवाणुओं को क्रिया के फलस्वरूप एक तरह का अम्ल उत्पन्न होता है जिससे दाँत घुलने लगते हैं। अमेरिका की एक प्रयोगशाला में शीतल पेय को कोकाकोला पर अनेक प्रयोग किए गए। एक प्रयोग में देखा गया कि कोकाकोला में मानव दाँत को दो दिनों तक रखने पर दाँतों की ऊपरी चमकीली चिकनी परत घुल गयी।

आजकल के चमत्कारी विज्ञापन अब व्यवसाय के अभिन्न अंग बन चुके हैं। विज्ञापनों की बदौलत खराब से खराब और सड़ी गली चीज भी आसानी से उपभोक्ताओं के घर भेजी जा सकती हैं और उससे मनचाही रकम वसूली जा सकती है। खाद्य पदार्थों सम्बन्धी विज्ञापनों की आज यही स्थिति है। विज्ञापन के बल पर देशी-विदेशी कंपनियों ने केवल शीतल पेयों ही नहीं खाद्य पदार्थों की अनगिनत किस्मों से पूरे बाजार को पाट दिया। रंग-बिरंगे और आकर्षक पैकिंग करने वाले ये खाद्य पदार्थ कितने हानिकारक हैं इस सम्बन्ध में तो उपभोक्ता जानता नहीं। वह तो दूरदर्शन के पर्दे पर झांसे में आकर उसका गुलाम बन जाता है। इस तरह अनजाने में ही वह परंपरागत लेकिन अत्यन्त उपयोगी खाद्य पदार्थों से लगातार कटता जा रहा है।

फूलोपचार : नई दिशा*

रामचन्द्र मिश्र

वृक्षों पर लदे हुए लहलहाते-इठलाते फूलों में जब हम प्रकृति की सजीव मुस्कान देखते हैं तो मन सम्मोहित हो जाता है और शरीर की पीड़ा तथा मन की व्यथा उन क्षणों भूल जाती है। शाल्मली एवं टेंसू की शाखों पर सुर्ख अंगार जैसी लाली, पारिजात तथा मौलश्री से उत्सर्जित मादक सुगंध का हवा में हौले-हौले प्रवेश, और हरसिंगार द्वारा बिछाई गई गंधमान चादर से भला कौन आह्लादित नहीं होता? चाहे देवार्चना हो या कामायनी की रूपसज्जा, फूलों के साथ होने के मनोवैज्ञानिक प्रभाव का अवश्यमेव अनुभव होता है। प्राचीन विज्ञानियों ने सुवासित कमनीय पुष्पों में औषधीय गुणों को पहचाना था और साथ ही उनमें सत्यम्, शिवम्, सुन्दरम् की अनुभूति भी पाई थी। उस समय न तो विज्ञान और न ही लेखन एकांगी था। आखिर हम प्रथमतः मानव हैं और तत्पश्चात् विज्ञानी हो सकते हैं। यहां इन उल्लेखों का मंतव्य यह है कि फूल की उपर्युक्त भूमिकाएं प्रथम स्थान पर आती हैं और विज्ञानियों ने फूल के जिन भौतिक उपयोगों को अब सिद्ध किया है और जिनका वर्णन इस लेख में किया जाएगा, वे द्वितीयक हैं।

आज के जीवन में भी पूजा से लेकर भोजन, औषधि या शृंगार में यानी धर्म, अर्थ व काम में फूलों की एक विशिष्ट भूमिका होते हुए भी हम फूलों की मोहक मुस्कान के कायल हैं। प्रथम कोटि की राष्ट्रीय चेतना के महाकवि माखन लाल चतुर्वेदी ने फूलों की अभिलाषा को अभिव्यक्ति देकर फूलों को एक महान 'आत्मा' प्रदान की—...'मुझे तोड़ लेना वनमाली, उस पथ पर देना तुम फेंक/मातृभूमि को शीश चढ़ाने जिस पथ जावें वीर अनेक।' फूलों पर इस व्यापक दृष्टिकोण को प्राप्त करते हुए आइए हम 'फूलोपचार' की एक नई दिशा को पहचानें।

प्राचीनकाल से ही फूलों से सुगंधित एवं सुमधुर द्रव्यों के निर्माण की कला प्रचलित रही है। कालान्तर में आधुनिक विज्ञान द्वारा फूलों से विविध ऐरोमेटिक यौगिकों का निष्कर्षण संभव हुआ। यह कि कभी फूल हमारे शरीर के लिए आंतरिक शक्ति का स्रोत भी बनेंगे, हाल में साबित हुआ है। ज्ञात हुआ है कि फूलों से ऊर्जायुक्त स्पंदन

---

* विज्ञान, अक्टूबर 2000

का विकिरण होता है जिनमें कई भावनात्मक समस्याओं जैसे उन्माद, विषाद, सदमा, भय चिन्ता, विश्वास में ह्रास, बेचैनी आदि का शमन एक विशिष्ट 'फूलोपचार' क्रिया द्वारा हो सकता है। यह रोमांचक प्रयोग है जिसके देश-विदेश में उपयोग होने की संभावना नहीं है। तथाकथित फूलोपचार (Flower remedy) वस्तुतः प्रथम विश्व युद्ध के बाद एक अंग्रेज चिकित्सक डॉ. एडवर्ड बैच द्वारा खोजी गई थी जो विकसित होकर अब भी बैच फूलोपचार के रूप में जानी जाती है। इस विधि में सूर्य की उपस्थिति में क्वथन द्वारा बने हुए प्रातःकालीन फूलों के विशिष्ट सत्व बनाए जाते हैं जिनमें नैसर्गिक स्पंदनीय एवं सार ईश्वरीय ऊर्जा होती है। इन्हीं सत्वों एवं उनके सम्मिश्रणों में विविध रोगहर क्षमताएं पाई गई हैं।

विशिष्ट सत्वों की चार-पांच बूंदें दिन में कई बार सीधे जीभ पर डाली जाती हैं जिनका मन पर भावात्मक प्रभाव पड़ता है। यह मूलतः ऊर्जोपचार है और विभिन्न स्तरों पर विविध रूप से प्रभावित करता है। गत दशक में फूलोपचार पर अधिक प्रयोग हुए हैं जिनके अंतर्गत परंपरागत फूलों के अलावा अनेक जंगली और पहाड़ी फूलों के ईथरीय सत्व तैयार किए गए हैं। कुछ भावात्मक रोगों के अलावा प्रत्यूर्जता (एलर्जी), अम्लीयता, रक्तचाप, भ्रम, मासिक धर्म संबंधी अनियमितताएं, रजोनिवृत्ति-पूर्व क्लेश, वृक्कशोथ आदि के उपचार में यह पद्धति प्रभावी पाई गई है। फूलोपचार का प्रबल एवं शीघ्रगामी प्रभाव पाया गया जो एक आशातीत उपलब्धि है। ये प्रभाव बिना किसी दुष्प्रभाव के स्वंय संतुलित होते हैं और सभी उम्र के स्त्री-पुरुषों हेतु निरापद पाए गए हैं। इस विधि के संबंध में प्रयोग अमेरिका, कनाडा, आस्ट्रेलिया, फ्रांस, भारत और नीदरलैंड में किए गए हैं। वस्तुतः भारत में पुष्प-प्रजातियों की विशाल धरोहर होने से फूलोपचार की व्यावहारिक संभावनाएं उत्साहजनक हो सकती हैं साथ ही फूलोपचार को भारतीय चिकित्सा प्रणालियों से जोड़ने की अच्छी संभावना है। फिलहाल इसकी विस्तृत वैज्ञानिक जानकारी तथा तकनीकी विवरण संबंधित प्रयोगशालाओं एवं चिकित्सकों तक निहित हैं और व्यापक रूप से अनुपलब्ध होने से इसका प्रचार आगे नहीं बढ़ पाया है।

कथित फूलोपचार हेतु विभिन्न भारतीय पुष्पों के गुण और रोगहर प्रभाव निम्नलिखित हैं—

अशोक : यह नाम लेते ही रक्तवर्णीय पुष्प-गुच्छों से लदे कमनीय पल्लवयुक्त उस वृक्ष का चित्र आंखों के आगे साकार हो जाता है जिसकी छत्र-छाया में माता सीता ने लंका-प्रवास के समय अपने शोक का समय काटा था। तभी से आवेग-आनन्द का प्रतीक अशोक शोक का सहभागी माना जाने लगा। प्राचीन साहित्य में अशोक का नाम वसंत ऋतु और वसंत के देवता कामदेव से जोड़ा गया है। 'अशोक-षष्ठी' के दिन पुत्रवती स्त्रियां अशोक की कलियों से युक्त जल को पीती व फूल खाती हैं। अशोक के वैद्यकीय गुणों के कारण इसको महत्वपूर्ण माना जाता है।

अशोक के साथ मानव के संबंध जितने अंतरंग हैं उतना ही ज्यादा लाभदायक

है अशोक द्वारा फूलोपचार। मानसिक अभिघात, उदासी या व्यथा, मानसिक असमन्वय, अनुपात, सामान्य अस्वस्थता, विविक्ति, आक्रांति आदि के शमन की क्षमता अशोक के फूलों में पाई गई है। इसके सत्व के प्रभाव से मन में आह्लाद का प्रवाह होता है, सुखाभास एवं शांति का अनुभव होता है।

नीम : नीम यानी निम्ब, 'पिचुमर्ट', 'पिचमंद', 'पारिभद्र'...आदि का नाम कैकेयी रानी के साथ वैसे ही जुड़ा है जैसे सीता के साथ अशोक। कड़वाहट ही जिसकी शक्ति है उसके लिए कहा जाता है कि 'नीम का चढ़ा' कड़वाहट का भी अतिक्रमण। नीम के मोती जैसे नन्हें फूलों के गुच्छे वृक्ष को दूधिया श्वेत परिधान प्रदान कर खिली हुई कसैली किन्तु मीठी महक हवा में घोल देते हैं। कहां है नीम के तुल्य सौरभ जिसका रसास्वादन प्रेम की तरह की मधुरता देता हो? आम-तुलसी की तरह आम-नीम के विवाह की प्रथानुसार 'युगादि' पर्व पर नीम के फूल, इमली व गुड़ से 'षट्रस' पेय बनाया जाता था जिसमें नीम की कड़वाहट भी प्रिय लगती थी। वायुशोधन, कीट-नाशक, रक्त, चर्म-शोधन आदि गुणों से युक्त भारतीय धरती का सर्वाधिक पहचाना वृक्ष है नीम। तोते के झुंड नीम के फूलों की विशिष्ट महक से सम्मोहित हो खासकर गर्मियों में नीम पर अपना घोसला बनातें हैं तो दूसरी ओर नीम से फूलोपचार के क्या लाभ हैं, इसे जानें।

नीम का सत्व हृदय को सुख प्रदान करने वाला 'एसंस ऑफ हार्ट' कहलाता है। इसके द्वारा विशेषतः प्रमस्तिष्कीय बुद्धिजीवियों में परानुभूति एवं अनुराग पैदा होता है। सामान्यतः इसके फूलोपचार द्वारा प्रेममय व्यवहार, सहजबुद्धि, क्षमाशीलता और समझदारी की अभिवृत्ति पैदा होती है।

कमल : भारत की पांच हजार वर्ष पुरानी संस्कृति के इतिहास में एक अक्षय नाम है—कमल जो सौंदर्य एवं चिन्मयता के साथ विशालता एवं पूर्णता का द्योतक है और इसका संबंध पौराणिक गाथाओं एवं धार्मिक अनुष्ठानों से अंतरंग रूप में जुड़ा हुआ है। भगवान श्रीकृष्ण को 'कमलनयन' कहा गया है। जिसके साथ अक्षय सौंदर्य का दिव्य अर्थ जुड़ा हुआ है :

'त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्'

भारतीय संस्कृति में शुभ कार्य 'करकमलों' द्वारा होते रहे हैं। यह भाव कि कीचड़ में कमल खिलता है, दार्शनिक अवलंब प्रदान करता है। कमल की भीनी सुगंध दिव्यता एवं हर्ष का अनुभव प्रदान करती है। कमल द्वारा फूलोपचार से समान प्रभाव प्राप्त करना स्वाभाविक होगा। कमल वस्तुतः 'आध्यात्मिक-अमृत' जैसी क्रिया करने वाला माना जाता है। इसके सत्व से मानसिक उद्दीपन, शांति और संकेंद्रण प्राप्त होता है। शरीर के सभी 'चक्रों' (सूक्ष्म ऊर्जा केंद्रों) के संयोजन, ऊर्जाकरण एवं शुद्धि में इस सत्व की भूमिका पाई गई है। अतः इसे 'सुसंगत-सत्व माना गया है।

गुड़हल : वाटिका के हाशिये पर अक्सर सजावट के रूप में उगाया जाने वाला

चटक लाल फूल है, गुड़हल या जस्वंद (मराठी) जिसे 'देवी-फूल' भी कहा जाता है। दलित साहित्य में जस्वंद को 'गरीबों का गुलाब' कहा गया है। अपनी आराध्य देवी की अर्चना करती हुई एक पुजारिन कहती है कि उसके पास गुलाबी और गेंदा नहीं है, देवी उससे 'जस्सा' (जस्वंद) के फूल स्वीकार करें। यह रोचक बात है कि प्राचीन काल से ही लाल गुड़हल के वैद्यकीय एवं आर्थिक महत्व के उपयोग ज्ञात हैं और अब यह फूलोपचार में भी लाभदायक पाया गया है।

गुड़हल के फूल में तापहर एवं मृदुकारी गुण हैं और इसकी पंखड़ियों से बने फाण्ट का उपयोग शमक रूप में किया जाता है। पत्तियों में मृदुकारी, वेदनाहर एवं मृदु-विरेचक के गुण होते हैं। जड़ों से कफनाशक चाशनी बनाई जाती है। चीन में गुड़हल की पंखुड़ियों का उपयोग जूते की काली पालिश बनाने में किया जाता था। अतः इसे 'जूता-पुष्प' नाम दिया गया था।

गुड़हल के सत्व द्वारा परस्पर संबंधों में संगतता, प्रतिसंवेदन एवं भाप्रवणता उत्पन्न करने में उत्प्रेरण मिलता है। इन कारणों से इस सत्व द्वारा कामोत्तेजना भी प्राप्त होती है। **गुड़हल प्रथम फूल है जिसके उपयोग से फूलोपचार आरंभ हुआ था।**

फूलोपचार हेतु जिन विदेशी फूलों को लाभदायक पाया है उनका वर्णन निम्नांकित है : 'मिमुलस' (भयनिवारक, दर्दहर), 'ऐसूपन' (मनोवैज्ञानिक चिंताओं का प्रशामक), 'रेड-चेस्टनट' (पर-सरोकार संबंधी चिंता एवं भय), 'रॉकरोज' (तीव्र संत्रासहर), 'चेरी-प्लम' (तनाव, अनियंत्रण, उन्माद दूर करने वाला)।

विचारणीय है कि फूलोपचार संबंधी जांच कार्यों में 'वेगामशीन, 'इक्लोजन मशीन', 'किर्लियन फोटोग्रफी' आदि का प्रयोग किया गया है और फूलोपचार की उपयोगिता की पुष्टि की गई है।

फूलों का सौंदर्यशास्त्र तथा फूलोपचार का विज्ञान, इन दोनों का एक साथ अध्ययन करना वांछनीय है क्योंकि एक के बिना दूसरा एकांगी होगा। आवश्यकता है फूलों के साथ प्यार भरा संबंध बनाने की, फूलोपचार हेतु आवश्यक फूल ही कहीं खत्म न हो जाएं। फूलोपचार के संबंध में अंतिम विचार यह ध्यान में आता है कि हम फूलों से नए-नए रिश्ते जोड़ते रहें, फूलों जैसे खिले रहें!

रंगों की दुनिया*

डॉ. चन्द्रशेखर पाण्डेय

पृथ्वी के जन्म से लेकर आज तक सूर्य ही उसके लिए सब कुछ है। जन्म देकर इसे ठुकराया नहीं सूर्य ने। वह करोड़ों वर्षों से स्वयं से दूर भेजकर आज भी उसका पोषण करता आया है अपनी जीवनदायी किरणों के प्रकाश से। यह प्रकाश जो हमें रंगहीन या श्वेत लगता है, वास्तव में अनेक रंगों के प्रकाश का मिश्रण है। बचपन से ही हम देखते आए हैं कि सूर्य की किरणों को कांच के प्रिज्म से भेजने पर वह सतरंगी आभा देता है। ठीक ऐसा ही होता है पानी की बूंदों से सूर्य के प्रकाश का विच्छेदन होकर इन्द्रधनुषी रंगों का दर्शन। इसमें मुख्यतः सात रंग होते हैं। विज्ञान की भाषा में हम कहेंगे कि सूर्य के प्रकाश में विभिन्न आवृत्तियों वाले अनेक रंगों के प्रकाश की किरणें होती हैं जो प्रिज्म के आरपार जाने में अलग-अलग कोणों में मुड़ जाती हैं और रंगहीन प्रकाश मुख्य सात रंगों की छटा वाले स्पेक्ट्रम में विच्छेदित हो जाता है। इस स्पेक्ट्रम के एक छोर में है लाल रंग तथा दूसरे छोर में है बैंगनी रंग और बीच में आते हैं क्रमशः नारंगी, पीला, हरा, गहरा नीला और नीला। लालरंग की आवृत्ति सबसे कम होती है और बैंगनी रंग की सबसे अधिक। हमारे धर्मग्रंथों में सूर्य के रथ के सात घोड़ों की कल्पना की गई है, संभवतः यह इसी सतरंगी प्रकाश का प्रतीक है।

यदि स्पेक्ट्रम के सातों रंगों को एक साथ मिलाकर देखा जाए तो श्वेत रंगहीन प्रकाश दृष्टिगोचर होगा। यह सभी लोगों का अनुभव है कि श्वेत वस्त्रों को धोकर उन्हें हल्के नीले रंग की नील में डुबा दें तो अधिक श्वेत दिखाई देने लगते हैं। इसका कारण है कि नीले रंग के साथ मिलकर श्वेत वस्त्रों का हल्का पीलापन, श्वेत रंग का आभास देने लगता है। रंगों के इस जोड़े को पूरक (complementary) जोड़ा कहा जाता है। यदि पूरक रंगों को उचित मात्रा में मिला दें तो वे एक दूसरे को निष्प्रभावित कर देते हैं तथा श्वेत रंग या रंगहीनता का आभास होने लगता है। लाल, नीला तथा हरा तीन प्राथमिक रंग हैं। इन्हें अलग-अलग अनुपात में मिलाकर कोई भी मध्यस्थ रंग बनाया जा सकता है।

---

* विज्ञान, नवम्बर 2000

आखिर रंगहीन वस्तुओं में क्या गुण है कि वह हमें विशेष रंग का आभास देता हैं? उदाहरण के रूप में यदि किसी वस्तु के ऊपर श्वेत प्रकाश पड़ता है और वह हमें लाल रंग की दिखाई देती है, तो उसके माने यह होंगे कि वह अधिक आवृत्ति वाली अधिकांश किरणों को आत्मसात् कर लेती है। परिणाम यह होता है कि वस्तु जिन शेष किरणों की हमारी आंख को उपलब्ध कराती है, वह कम आवृत्ति वाले लाल रंग की किरणें होती हैं और वस्तु हमें लाल दिखाई देती है। इस आधार पर श्वेत दिखने वाला कागज, चूने से पुती दीवारें या हिम प्रायः सभी रंगों की किरणों का अस्सी प्रतिशत तक परावर्तित कर देते हैं। दूसरी ओर कोई वस्तु काली इसलिए दिखाई देती है कि उसमें सभी रंगों को समान रूप से नब्बे प्रतिशत तक सोख लेने का गुण होता है।

अब उन वस्तुओं पर दृष्टि डालें जो पारदर्शक है और जिनके आरपार जाने वाला प्रकाश हमें रंगीन दिखाई देता है। उदाहरण के लिए एक रंगीन कांच को लीजिए जिसके आरपार जाने वाला प्रकाश नीले रंग का दिखाई देता है। यहां पर हमें यह समझना चाहिए कि इस कांच के माध्यम से नीले रंग की किरणें तो बे-रोकटोक चली जाती हैं परंतु अन्य रंग की किरणों को यह रोक लेता है। ऐसे पारदर्शक पदार्थ फिल्टर के रूप में काम करते हैं मानो अनेक रंगों के मिश्रण यानी श्वेत प्रकाश को छान दिया गया हो। इनका उपयोग फोटोग्राफी तथा अनेक प्रकाशीय उपकरणों में किया जाता है। नाटक या नृत्य की पृष्ठभूमि में भावात्मक परिवर्तन लाने में रंगीन प्रकाश का प्रचुर उपयोग होता है।

जहां हम श्वेत प्रकाश की बात करते हैं हमारा इशारा होता है सूर्य के प्रकाश की ओर। इसे हम प्राकृतिक प्रकाश कहते हैं। कोई रंगीन पदार्थ सूर्य के प्रकाश में जैसा दिखाई देता है, उसे ही उसका वास्तविक रंग माना जाता है। आप साड़ियों की दुकान में जाते हैं। एक बढ़िया रंगीन साड़ी का असली रंग कैसा है इसे जानने के लिए उसे सूर्य के प्रकाश में देखने का आग्रह करते हैं।

रंगों का बोध केवल मनुष्यों को ही नहीं होता। जीव जगत के अनेक अन्य प्राणियों को भी इनका आभास होता है। चटकीले तेज रंगों को बंदरों की अनेक जातियां, कई पक्षी, मछलियां, सरीसृप (Reptiles) तथा कीड़े भी पहचान सकते हैं। पके हुए रंगीन फल केवल अपनी मिठास या गंध से ही बंदरों तथा पक्षियों को आकर्षित नहीं करते, इसमें रंगों की भी विशेष भूमिका है। इधर उन्हें मधुर फल खाने को मिलते हैं और बदले में पेड़ों की वंशवृद्धि के लिए बीजों का विकीरण हो जाता है। प्रकृति की सूझ-बूझ भी देखिए कि बीज जब तक परिपक्व नहीं होते, फल प्रायः हरे रंग के होते हैं और पत्तों के रंग में छिपे रहते हैं। न उनका रंग ही आकर्षक होता है न स्वाद! फूलों का रंग तितलियों, मधुमक्खियों व अन्य कीट-पतंगों को आकर्षित करता है तथा फूलों में परागण होता है जो पौधों की वंश वृद्धि का मूलक है।

रंगीन तितलियां भी प्रकृति की विचित्रता हैं। इनके मनोहर रंग व डिजाइनों का

संबंध इनकी सुरक्षा से है। तितलियों के पंखों की गहरी पृष्ठभूमि में तेज पीले, नारंगी या लाल रंग के धब्बे शत्रुओं को इस बात की चेतावनी देते हैं कि वह खाने योग्य नहीं। उष्ण प्रदेशों की तितलियों के पंखों ने ऐसे डिजाइनों का रूप ले लिया है जो न खाने योग्य वनस्पतियों से मिलता जुलता है या फिर यह रंग पृष्ठभूमि की मिट्टी, पत्तियों या वृक्षों की छाल की तरह दिखाई देते हैं। गिरगिट से कौन परिचित नहीं? अपना रंग बदलने की इसकी दक्षता का संबंध वातावरण के ताप तथा बाह्य उद्दीपन से होता है। इसका विधान भी बड़ा विचित्र हैं। गिरगिट के शरीर में रंगीन पदार्थों की लचीली पर्ते होती हैं जिन्हें यह त्वचा की ओर धकेल सकता है और उसका रंग बदल जाता है।

हमारे रंग बिरंगें मित्रों में सबसे बड़ा वर्ग पक्षियों का है। श्वेत से काले तक तथा स्पेक्ट्रम के सभी रंगों से सुसज्जित पक्षी प्रकृति में पाए जाते हैं। कुछ पक्षी इतने सुन्दर हैं कि सुंदरता ही इनके लिए अभिशाप बन गई है। पिछले सौ वर्षों में पक्षियों की अस्सी प्रजातियां मनुष्य के अमानवीय व्यवहार का शिकार हो कर नष्ट हो चुकी है। रंगों के नामकरण में भी पक्षी बसे हुए हैं। तोते का विशिष्ट हरा रंग (Parrot green), मोर का नीला रंग (Peacock blue), कैनरी पक्षी का पीला रंग (Canary Yellow) इत्यादि सुपरिचित उदाहरण हैं। रंगों के कई नाम सुपरिचित वस्तुओं के रंगों के आधार पर किए जाते हैं, जैसे आसमानी नीला, नील की भांति नीला (Indigo), पत्तियों की भांति हरा (Leaf green), धान की भांति धानी, जामुन की भांति जामुनी, मिट्टी की भांति मटमैला इत्यादि।

प्रकृति की गोद में रहने वाला आदि मानव इसके रंगों से आकर्षित हुआ। जब उसने इन्हें विंत्रित किया तो उसे रंगों की आवश्यकता हुई। उसने अनेक प्रयोग किए और पाया कि मिट्टी और खनिजों के रंगों में वनस्पति से उपलब्ध रंगों से अधिक स्थायित्व है। इसलिए गुफाओं तथा प्राचीन भवनों के भित्तिचित्रों में खनिज रंगों का प्रयोग हुआ। तांबा, लोहा, मैंगनीज, निकिल, कोबाल्ट इत्यादि सुपरिचित धातुएं ऐसी हैं, जिनके लवण तथा खनिज रंगीन होते हैं।

वानस्परिक मूल के रंगों में सबसे विशिष्ट स्थान नील का रहा है। नील के पौधे भारत और जावा में होते हैं। उन्नीसवीं सदी के मध्य में भारत से लगभग 90 लाख किलोग्राम नील का निर्यात होता था तथा इससे अनेक अन्य रंगों का निर्माण होता था। इसके बाद ही जर्मनी में संश्लेषित रंगों का विकास हुआ और नील की खेती लुप्तप्राय हो गई। यही हाल कई अन्य वानस्पतिक रंगों का भी हुआ। एक समय था जब अप्राकृतिक रंगों की खोज रसायनज्ञों का प्रिय विषय हुआ करता था। जर्मनी इसमें अग्रणी देश था।

रसायनिक रंगों का आधार कोलतार तथा बाद में पेट्रोलियम से प्राप्त रसायन रहे हैं। इन रंगों की विविधता तथा गुण अपरिमित हैं। कुछ सूती वस्त्रों को रंगते हैं तो कुछ ऊनी वस्त्रों को। रेशम, चमड़ा नाइलोन, पॉलीएलीएस्टर, एक्रिलिक सभी के लिए

रंग बने हैं। रासायनिक आधार पर इनमें विभिन्नता होती है। रंग कोई भी हो वह तभी अच्छा है जब वह पक्का (fast colour) हो यानी धोने से तथा प्रकाश में रहने से फीका न पड़े। यह स्थायित्व रंगों के अणुओं की विशेष रचना पर निर्भर करता है क्योंकि इसी के द्वारा वह रंगाई जाने वाली वस्तु से बंधन बनाता है। जितना ही बंधन मजबूत होगा उतना ही रंग पक्का होगा। रंगाई केवल वस्त्रों तक ही सीमित नहीं है। अब तो सिर के बालों को भी अनेक रंगों से रंगा जाता है। कथकली के नर्तक अपने चेहरे को गहरे रंगों से रंगते हैं। इसमें उनकी भाव-भंगिमा और भी मूर्त हो उठती है।

लकड़ी, सीमेन्ट तथा धातुओं की सतह को रंगने वाले पदार्थों को पेन्ट कहते हैं। पेन्ट अघुलनशील रंगीन पदार्थ का किसी सूखने वाले द्रव में बनाया हुआ मिश्रण है। इसमें कई पदार्थ भी मिलाए जाते हैं। सूखने पर इन सबकी एक पतली पर्त सतह पर बन जाती है। यह केवल न सुन्दरता बढ़ाती है, वरन् धातुओं को जग लगने से तथा लकड़ी को कीड़ों से सुरक्षा प्रदान करती है।

रंग केवल सुंदर लगने की भूमिका ही नहीं निभाते, प्राणीजगत से इनके और भी अनेक गूढ़ संबंध हैं। हम देख चके हैं कि रंगीन फल, फूलों तथा उन पर विचरने वाले कीड़ों और पक्षियों का पारस्परिक संबंध दोनों के लिए लाभदायी है। पत्तियों का हरा रंग क्लोरोफिल प्रकाश संश्लेषण द्वारा सूर्य की किरणों की ऊर्जा को अनेक उपयोगी पदार्थों में बदल देता है। इसे यदि पृथ्वी की सबसे चमत्कारी क्रिया कहें तो अतिशयोक्ति नहीं होगी। मनुष्य की त्वचा का रंग **मेलनिन** अंदरूनी अवयवों को सूर्य की पराबैंगनी किरणों से बचाता है।

रंग हमारे लिए निरापद हों यह बात नहीं। रंगाई उद्योगों से निकला हुआ अवशिष्ट रंग आज हमारे जल स्रोतों को प्रदूषित कर रहा है। बालों तथा वस्त्रों को रंगने वाले अनेक रंग अब विवाद के घेरे में आ गए हैं। इनसे कैंसर सदृश्य अनेक रोगों का संबंध जोड़ा गया है। अनेक पाश्चात्य देशों ने कुछ चुने हुए रंगों से रंगे जाने वाले वस्त्रों के आयात पर रोक लगा दी है। यह रंग अधिकतर संश्लेषित रंग है। इसलिए एक बार फिर लोगों का ध्यान वानस्पतिक रंगों की ओर गया है।

लाल, नीला तथा हरा तीन प्राथमिक रंग हैं, जिन्हें अलग-अलग अनुपात में मिलाकर कोई भी मध्यस्थ रंग बनाया जा सकता है। टेलीविजन के परदे पर लाल, नीले तथा हरे रंग में अलग-अलग चित्र बनते हैं। जब आंख इस मिश्रित चित्र को देखती हैं तो उसे वस्तु के वास्तविक रंगों के चित्र का आभास होता है। रंगीन फोटोग्राफी भी कुछ इसी प्रकार काम करती है। इस फिल्म में तीन पर्तें होती हैं जो लाल, नीले तथा हरे प्रकाश के अलग अलग चित्र उतारती हैं। मिश्रित चित्र वास्तविक रंगों की छटा देती हैं।

सचमुच रंग की महिमा अपार है और इसके अनेक रूप है।

चिंतनपरक

भारतीय वैज्ञानिकों का आह्वान*

डॉ. मुरलीमनोहर जोशी

भारतीय वैज्ञानिकों को अपनी दृष्टि, अपने अनुसंधानों का संबंध भारत की वर्तमान समस्याओं से और भारत की परंपराओं से जोड़ना चाहिए। रासायनिक क्षेत्र में हमारी उपलब्धियां बहुत हैं, मैं आज उनका उल्लेख नहीं करना चाहता। अगर आप भारत के प्राचीन रसायनशास्त्र के इतिहास को देखेंगे तो आपको स्वयं बड़ा गर्व होगा कि हमने आज से एक हजार साल पहले, कुछ मामलों में दो हजार साल पहले कितनी प्रतिष्ठा प्राप्त की थी और हमें यह विचार करना होगा कि अगर हम दो हजार साल पहले विश्व में प्रतिस्पर्धा कर सकते थे और हमारी उपलब्धियां विश्वमान्य थीं तो आज दो हजार सालों बाद क्यों नहीं, किस मात्रा में हैं और अधिक कैसे हो सकती हैं। मुझे प्रसन्नता है कि कुछ मामलों में इस प्रयोगशाला ने ऐसी समस्याओं की ओर ध्यान दिया है। स्वच्छ पेयजल लोगों को मिल सके, इसके लिए जो आपके यहां काम हो रहा है, वह इस दृष्टि से महत्वपूर्ण है। लेकिन ऐसे अनेक क्षेत्र और हैं जो भारतीय उद्योगों और भारतीय सामान्य नागरिक के जीवन के लिए बहुत महत्वपूर्ण हैं और हमारी दृष्टि उधर जानी चाहिए। मैं नहीं समझता कि इस मामले में सभी प्रयोगशालाओं के निदेशकों की कोई आपसी चर्चा होती है या नहीं, या आपकी अपनी प्रयोगशाला में कभी कोई ब्रेन स्टॉर्मिंग इस मामले में होता है या नहीं कि हमारे देश की कौन सी प्रमुख समस्याएं हैं—औद्योगिक क्षेत्र की और बाकी के क्षेत्रों की जिसकी ऐसी आवश्यकता है कि नई वैज्ञानिक और टेक्नोलॉजिकल उपलब्धियों से उसका सुधार किया जा सकता है। मैं चाहूंगा कि आप इस बारे में अपनी प्रयोगशाला में गहन विचार करें और ऐसे विषयों का निर्धारण करें, ऐसे समस्याओं का निर्धारण करें, ऐसी टेक्नोलॉजी का निर्धारण करें जो इस देश के लिए तत्काल या आने वाले दस-पांच सालों में उपयोगी हो सकती है। अच्छा हो कि प्रयोगशाला की ओर से उन उद्योगों से जीवित संबंध रखा जाए और उसे अधिक सघन किया जाए जहां आपकी टेक्नोलॉजी कारगर हो सकती है। आप टेक्नोलॉजी का आविष्कार

* विज्ञान, नवम्बर 2000

करते हैं, उनका परिष्कार करते हैं लेकिन अगर उनका विस्तार नहीं हुआ, उनका फैलाव नहीं हुआ, वह बाजार में नहीं गई तो जितना लाभ उनसे मिलना चाहिए उतना लाभ नहीं मिलेगा। इसलिए प्रयोगशालाओं को अनुसंधान के साथ-साथ मार्केटिंग के लिए भी प्रयत्न करने होंगे। अगर आप मार्केटिंग नहीं कर पाएंगे तो बढ़िया टेक्नोलॉजी का लाभ नहीं मिल सकेगा और आपका परिश्रम भी सार्थक नहीं हो सकेगा और आर्थिक दृष्टि से भी आप लाभान्वित नहीं होंगे। मैंने देखा है कि विश्व की अनेक प्रयोगशालाएं अब मार्केटिंग की तरफ ध्यान दे रही हैं। अभी मैं पिछले दिनों रूस गया था वहां की कई प्रयोगशालाओं से और वहां के वैज्ञानिकों से काफी गहन विचार हुआ उनके सामने भी यही समस्याएं थीं। वे कहते थे कि हमारे पास टेक्नोलॉजी तो है मगर उसे बाजार में हम नहीं ले जा सके। पिछले सालों में हमारे देश में यह कमी रही है कि जहां टेक्नोलॉजी का उपयोग है वहां मार्केटिंग करना हमारी प्रयोगशालाओं के पास व्यवस्था के अभाव में नहीं हो सका। सी.एस.आई.आर. को साधारण तौर पर और जो हमारी महत्वपूर्ण प्रयोगशालाएं हैं उनको खास तौर पर टेक्नोलॉजी के मार्केटिंग का विकास करना होगा। इस संबंध में आप अगर कोई सुझाव रखते हैं, कोई योजना रखते हैं तो उसको हम अवश्य बहुत ही सहानुभूति के साथ और सहायता के साथ क्रियान्वित करेंगे। प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है इसलिए इसमें बहुत जागरूक रहने की जरूरत है। अब केवल नए आए हुए छात्रों से या जो पी-एच.डी. के लिए काम कर रहे हैं, उनसे काम नहीं चलेगा। वरिष्ठ वैज्ञानिकों को स्वयं निरंतर प्रयत्नशील रहना होगा। एक कमी जो मैं अपने देश में विश्वविद्यालयों में और अधिकांश प्रयोगशालाओं में देखता हूं, वह यह है कि एक समय के बाद हमारे वरिष्ठ वैज्ञानिक स्वयं काम करना कम कर देते हैं और कुछ मामलों में तो बन्द कर देते हैं। विश्वविद्यालयों में तो अक्सर यही होता है। छात्र काम करता है और उसका सुपरवाइजर आराम करता है और शोधपत्र दोनों के नाम से प्रकाशित होते रहते हैं। लेकिन मैं दुनिया में जहां भी जाता हूं और जा रहा हूं, पहले भी जाता रहा हूं वहां मैंने देखा है कि वरिष्ठ वैज्ञानिक, नोबल पुरस्कार प्राप्त वैज्ञानिक अपनी प्रयोगशालाओं में रात-रात भर काम करते हैं; बैठे रहते हैं, छात्रों की समस्याओं को हल करते हैं और सतत प्रयत्नशील रहते हैं, जागरूक रहते हैं। हमें इस अच्छी बात को उनसे सीखना चाहिए। एक बड़ी कमी जो अपनी प्रयोगशालाओं में प्रतीत होती है वह यह कि हमारे मूर्धन्य वैज्ञानिक प्रयोगशालाओं से अपना संबंध कम कर देते हैं विश्वविद्यालयों में भी और प्रयोगशालाओं में भी। अब अगर ऑटोनोमी का नतीजा यह निकले कि बिल्कुल ही काम बंद हो जाए तो क्या फायदा होगा? ऑटोनामी के साथ-साथ एकाउंटेबिलिटी भी जरूरी है और वैज्ञानिक की एकाउंटेबिलिटी बहुत महत्वपूर्ण है क्योंकि आज ऐसे अनुसंधान निरंतर हो रहे हैं जो न केवल उद्योगों को और अर्थव्यवस्था को प्रभावित करेंगे बल्कि जो नैतिक आध्यात्मिक प्रश्न भी खड़े कर रहे हैं। **ह्यूमन जीनोम** से संबंधित जेनेटिक्स से संबंधित ऐसे अनेक क्षेत्र हैं जिन्होंने बड़े गहरे प्रश्न सामने खड़े

कर दिए हैं, नैतिकता के प्रश्न खड़े कर दिए हैं। क्या क्लोनिंग होनी चाहिए? क्या मनुष्य की क्लोनिंग की जानी चाहिए? क्या कोई मल्टीनेशनल क्लोनिंग के द्वारा अपनी आवश्यकता के लिए बिल्कुल एक से कर्मचारी पैदा करे और काम निकल जाने के बाद उनमें से कुछ को कब्रगाह में पहुंचा दे क्योंकि वह कहेगा कि यह मेरी क्लोनिंग है, मेरी प्रॉपर्टी है, मैं इसको रखूं या फेंकूं, इससे आपको क्या मतलब है—क्या ऐसा समाज और ऐसी व्यवस्थाएं हितकारी है? आज ये प्रश्न बड़े गहरे खड़े हो रहे हैं और इसीलिए अनुसंधान के क्षेत्र में और वैज्ञानिक आविष्कारों के क्षेत्र में कोई नैतिकता रहनी चाहिए या नहीं रहनी चाहिए, जीवन मूल्य रहने चाहिए या नहीं रहने चाहिए, साइंस न्यूट्रल रहे वैल्यू के क्षेत्र में, वैल्यू न्यूट्रल हो या साइंस के कुछ वैल्यूज होने चाहिए? पिछले साल यूनेस्को में अंतर्राष्ट्रीय सम्मेलन में इस पर विचार हुआ था। हमने वहां यह कहा था कि विज्ञान में जीवन मूल्य होने चाहिए। बहुतों का ख्याल यह है कि हां वैल्यू तो होनी चाहिए, मगर फाइनैंशियल वैल्यू होनी चाहिए, एकॉनॉमिक वैल्यू होनी चाहिए। मेरा मतलब उस वैल्यू से नहीं हैं, जीवन मूल्यों से है। नैतिकता के, सामाजिक व्यवहारों के मानव समाज के कुछ प्राकृतिक नियम हैं। क्या हम उनका उल्लंघन कर सकते हैं? क्या उसकी आजादी मिलनी चाहिए? इन प्रश्नों पर भी हमें सतत विचार करते रहना होगा कि हमारे द्वारा किए गए अनुसंधानों से कैसा समाज बन रहा है। इसलिए आज सवाल उठ रहे हैं कि केमिकल वेपन्स के मामले में रसायनशास्त्रियों की जिम्मेदारी बहुत है। क्या ऐसे आविष्कार होने चाहिए कि जिससे व्यापक रूप में नरसंहार किया जा सके? क्या यह उचित होगा? क्या सरकारों के हाथ में ऐसे वैज्ञानिक हथियार दिए जा सकते हैं जो समूचे मानव समाज के लिए संकट का कारण बन जाएं? ये कुछ ऐसे प्रश्न हैं जिन पर बराबर हमें विचार करते रहना चाहिए और भारतीय वैज्ञानिकों को तो विशेषकर के विचार करना चाहिए। क्योंकि हम मानव समाज को दूसरी दृष्टि से देखते हैं। आज से ठीक सौ साल पहले जगदीशचन्द्र बसु ने कुछ प्रयोग किए थे और उसमें उन्होंने यह सिद्ध किया था कि मानव मांसपेशियों में जैसी थकान होती है या उसमें जिस प्रकार की संवेदनाएं होती हैं, हर्ष और विषाद का प्रभाव होता है, विष का प्रभाव होता है उसी तरह से अनेक संवेदनाएं निर्जीव कही जाने वाली धातुओं में भी होती हैं और उन्होंने ये प्रयोग दिखाए थे कि धातुओं की थकान और प्राणियों की मांसपेशियों की थकान का ऑसिलोग्राफ में एक जैसा ही चित्र आता है। वनस्पतियों के साथ भी यही व्यवहार होता है। तब उन्होंने कहा था कि यह कहना मेरे लिए बड़ा कठिन है—Where the physical ends and the physiological begins. Where the physiological ends and the psychological begins. भारत की दृष्टि यही रही है कि हम सभी पदार्थों में या यह कहें कि विश्व के छोटे कण से लेकर बड़े से बड़े ब्रह्मांड तक में एक चेतना का अस्तित्व मानते रहे हैं। भौतिकशास्त्र के कुछ प्रयोग इसी दिशा की तरफ बढ़ रहे हैं और ऐसा प्रतीत होता है कि इस ब्रह्मांड का हर एक कण प्रत्येक दूसरे कण से चाहे

वह कितने ही प्रकाश वर्ष दूसरी पर क्यों न हो, जुड़ा हुआ है। क्वांटम भौतिकी इस तरफ संकेत कर रही है। पश्चिम के अनेक विद्वान इस बारे में भारतीय विद्वानों से चर्चा करना चाहते हैं। वे अध्ययन कर रहे हैं हमारे बहुत से दार्शनिक ग्रंथों का। **हिजेनबर्ग जैसे भौतिकशास्त्री से पूछा जाता था कि जब कभी आप विचारों की रिक्तता अनुभव करते हैं तो आप क्या करते हैं? तो उनका उत्तर था मैं तब भारतीय ग्रंथों की तरफ देखता हूं। श्रौडिंजर** जिन्होंने क्वांटम भौतिकी का सूत्रपात किया, वे निरंतर उपनिषदों का अध्ययन करते रहते थे और आज भी बौद्ध दर्शन और वेदान्त दर्शन के बारे में पश्चिम के वैज्ञानिक गंभीर अध्ययन करते हैं। विश्व और ब्रह्मांड को समझने के लिए, मानव को समझने के लिए, मानव और पर्यावरण के संबंध को समझने के लिए मूल कणों से, फंडामेंटल पार्टिकल से लेकर ब्लैक होल तक सबको समझने के लिए भौतिकशास्त्र एक नई दृष्टि की तरफ आगे बढ़ रहा है। भौतिकशास्त्र और रसायनशास्त्र मिले हुए हैं, एक दूसरे से जुड़े हुए हैं। ब्रह्मांड के रहस्यों को सुलझाने के लिए भी, उन्हें समझने के लिए भी हमें एक नई दृष्टि की जरूरत है। इस तरफ भी भारतीय वैज्ञानिकों का ध्यान आकृष्ट होना चाहिए। विज्ञान अब केवल प्रयोगशाला तक या छोटे प्रयोगों तक सीमित नहीं है। धीरे-धीरे दर्शन और विज्ञान—ये भी एक दूसरे के निकट आ रहे हैं। इसलिए हमारे जो मूर्धन्य वैज्ञानिक हैं उन्हें अपने अध्ययन की परिधि भी बढ़ानी होगी, समस्याओं को ठीक ढंग से पारिभाषित करने के लिए भी व्यवस्था करनी होगी और इस दृष्टि से जो भी आवश्यक स्वायत्तताएं हैं वे वित्तीय और प्रशासन दोनों की हैं। मैं उन पर विचार कर रहा हूं।